के चक्कर काट पुस्तकालयों में जा-जा कर पुस्तकों में से मेरे लिए नोट्स संग्रह किये। मेरी स्नेहिनी माँ ने मुझे भार तथा उत्तरदायित्व से मुक्त रख मुझे अध्ययन के लिए समय दिया। भाई और बहिनों ने सामग्री जुटाने में मदद की और मेरे पति श्री माता प्रसाद जी ने विवाह के पश्चात् मुझे एक वर्ष तक अध्ययन करने तथा इस ग्रन्थ की समाप्ति के लिए अनुमति दी। मैं इन सबकी ही अति अनुगृहीत हूँ तथा सदा रहूँगी।

इस ग्रन्थ के विषय में कुछ कहने का मेरा साहस नहीं। श्री सेठ गोविन्द दास जी ने जो कहा उसको भी मान्य मानने में मुझे अति संकोच होता है। उनके मुख्य कथन से मैं कभी-कभी शंका उठती है कि कहीं यह अतिरेक तो नहीं। उनको मैं धन्यवाद देने का साहस नहीं करती—मुझमें इतनी योग्यता नहीं। केवल प्रणाम भर करना चाहती हूँ यही वे स्वीकार कर लें।

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद सब के लिए पूज्य रहे। आचार्य गुरु मार्गदर्शक सलाहकार पिता उनके समस्त रूपों में संसार परिचित है। उनकी महानता से प्रभावित होकर ही उनको अपना ग्रन्थ समर्पण करने की आकांक्षा हुई। उनके निकट दर्शन भी इसी बहाने हुए। वह क्षण मेरे जीवन का अविस्मरणीय क्षण बन गया।

आधुनिक काल में प्रतिदिन भारतीय संस्कृति और सामाजिक इतिहास का महत्व बढ़ता जा रहा है। परन्तु इस विषय पर जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं वे प्रायः सामान्य से रूप पर लिखी जा रही हैं। प्रायः अधिक विश्वसनीय भी नहीं हैं। भारतीय संस्कृति का सच्चा स्वरूप हमारे सम्मुख तब तक स्पष्ट नहीं होगा जब तक संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक युग और प्रत्येक महान् लेखक की रचनाओं का विस्तृत एवं क्रमबद्ध सामाजिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन न हो जाय। प्रस्तुत प्रयत्न भी इसी दिशा में किया हुआ उद्योग है।

कवि कालिदास पर अब तक श्री मिराशी अरविन्द भाला एस एम भावे रामस्वामी शास्त्री चन्द्रबली पाण्डे आदि अनेक विद्वानों का साहित्य प्रकाशित हो चुका है। परन्तु सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं और अपना-अपना दृष्टिकोण। आलोचनात्मक दृष्टि से भी भगवतशरण उपाध्याय , ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है।

विषय-सूची

विषय-सूची

अध्याय | विषय | पृ सं

अध्याय	विषय	पृष्ठ

(२) आभूषण—प्रकार, विभिन्न मणियाँ स्त्री और पुरुष के आभूषणों में अंतर मुख्याभूषण पुष्पाभरण।

(३) शृङ्गार—केश-रचना मुख-सौन्दर्य सौन्दर्य के उपकरण शृङ्गार के अन्य उपकरण—पुष्प चन्दन अंगराग अवलेप के प्रकार, हरिताल मैनसिल तैल सुगन्धित द्रव्य सुगन्धित चूर्ण दर्पण आदि प्रसाधन-कला।

९ सामाजिक जीवन, रीतिरिवाज तथा आचार-व्यवहार २४२-२१३

सामाजिक जीवन (१) पारिवारिक जीवन—मुख्य सम्बन्धी मित्र मित्र का महत्त्व मित्रता करने में सावधानी मुख्य वर्ग।

गृह गृह-सम्बन्धी फर्नीचर तथा बरतन—गृह—पर्णकुटी पर्णशाला उटज सौध वेश्म प्रासाद आदि प्रकार। गृहों का विभाजन कक्षादि के प्रकार।

फर्नीचर—नाना प्रकार के आसन सिंहासन चौकियाँ मंच तल्प पर्यङ्क आदि।

बरतन—बरतनों के प्रकार—मिट्टी सुवर्ण तथा कीमती धातु निर्मित पात्र मुख्य बर्तनों के नाम।

वाहन—घोड़े हाथी सांड और खच्चर आदि कर्णीरथ और पालकी।

(२) राजकीय जीवन राजा के गुण राजकीय विभाग राजकीय कर्तव्य शासन प्रबन्ध कर, परराष्ट्रनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध राजा के सहायक—आमात्य मन्त्रियों के प्रकार, राजा की शिक्षा विनोद साधन राज चिह्न।

(३) स्वास्थ्य। रोग तथा [illegible]
स्वस्थ शरीर की [illegible]

पालम्पात त्रिपदिका पाखावज सन्ध रागकौशिक सारंग ललित आदि।

(ग) वाद्य संगीत—वाद्य यन्त्र के प्रकार तन्त्रीगत वाद्य—वीणा के प्रकार—परिवादिनी वल्लकी एओलियन हार्प। वीणा बजाने की विधि सुषिर अथवा रन्ध्रयुक्त वाद्य—वेणु, शंख तूर्य एओलियन फ्लूट, अवनद्ध वाद्य—मुरज पुष्कर, मृदंग दुन्दुभि पटह, मर्दल आदि। पुष्कर के सम्बन्ध में विभिन्न मत। घनवाद्य—घण्टा।

(घ) नृत्यकला नृत्य के तीन भेद—नृत्त नृत्य और नाट्य। नृत्य और नृत्त में भेद। नृत्य के प्रकार—चामर नृत्य अभिनयादि नृत्य और अभिनय। संगीत का उद्देश्य महत्ता और प्रभाव।

(३) चित्रकला—महत्ता कला में इसका स्थान चित्रकला के उपकरण—तूलिका वर्तिका धातुराग वस्त्र आदि। चित्र के प्रकार—सामूहिक चित्र व्यक्तिगत चित्र वस्तु चित्र। अनुकृति तथा स्मरण शक्ति से चित्र खींचना सफलता चित्रकला का उद्देश्य।

(४) मूर्तिकला—उत्कीर्ण मूर्तियाँ मृण्मय मूर्तियाँ—देवमूर्तियों की विशेषताएँ—प्रभामण्डल शंख पद्म कपालाभरणा लक्ष्मी सीता-रमित लक्ष्मी प्रज्ञापिका कामदेव यक्ष आदि की मूर्तियाँ शिव और बुद्ध की समानता बोधिसत्त्व के चित्र केश-विन्यास की विभिन्न प्रणालियाँ।

(५) वास्तुकला अथवा स्थापत्यकला—नगर, राजपथ राज-मार्ग प्रासाद के प्रकार—विमान प्रतिच्छन्द, भवितहर्म्य देव प्रतिच्छन्द देवमन्दिर समुद्रगृह सौध और हर्म्य गृह की रूपरेखा तोरण अलिन्द अट्ट और तल्प वातायन वीथिका गवाक्षनिर्माण स्नानागार अश्वशाला सोपान वासयष्टि और स्तम्भ।

अन्य इमारतें—विवाहमण्डप चतुष्क सभागृह चित्रशाला यज्ञशाला प्रतिमागृह। उपवन

[परिशिष्ट]

संकेत-सूची

ऋग्०	=	ऋग्वेद
तै० ब्रा०	=	तैत्तिरीय ब्राह्मण
रघु०	=	रघुवंश
अभि	=	अभिज्ञानशाकुन्तल
कुमार	=	कुमारसम्भव
तै० सं०	=	तैत्तिरीय संहिता
आ० ध० सू०	=	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आश्व०	=	आश्वलायन गृह्यसूत्र
माल०	=	मालविकाग्निमित्र
विक्रम०	=	विक्रमोर्वशीय
पूर्वमेघ	=	मेघदूत, प्रथम भाग
उत्तरमेघ	=	मेघदूत द्वितीय भाग
ऋतु०	=	ऋतुसंहार
पृ०	=	पृष्ठ
Fig.	=	Figure
p.	=	Page
vol	=	volume
ed.	=	edition
pt.	=	Part

नोट—समस्त ग्रन्थों में पहले सर्ग अथवा अंक का नम्बर है; तत्पश्चात् श्लोक नम्बर।

प्रथम अध्याय

संस्कृति

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय करने से संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है, भूषणभूत सम्यक कृति। अतः कारणात् भूषणभूत सम्यक कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। संस्कृति का क्षेत्र भी अतः भूषणभूत सम्यक कृतियों का सम्पूर्ण क्षेत्र ही है।

पशु, पक्षी कीट पतंगादि भोग योनियों में जीव की चेष्टाएँ स्वाभाविक होने के कारण उनमें सम्यक-असम्यक का भेद नहीं किया जा सकता। परन्तु मनुष्य योनि में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र माना गया है। अतः मनुष्य सम्यक-असम्यक दोनों प्रकार की चेष्टाएँ करने में समर्थ है। अतः मनुष्य की भूषणभूत सम्यक कृति या चेष्टा ही संस्कृति है।

भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ वे ही हैं जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शान्ति को प्राप्त कर। दूसरे शब्दों में आधि भौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति की सहायक व अनुकूल चेष्टाएँ भूषण-भूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। अथवा मनुष्य की वैयक्तिक सामाजिक आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक—समस्त क्षेत्रों में लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की चेष्टा ही संस्कृति है।

प्राकृतिक विधान के अनुसार संस्कार की हुई पद्धति 'संस्कृति' है। संस्कृति मानव की जीवन शक्ति प्रगतिशील साधनाओं की विमल विभूति राष्ट्रीय आदर्श की गौरवमयी मर्यादा व स्वतन्त्रता की वास्तविक प्रतिष्ठा है। श्री राजगोपालाचारी का कथन है कि किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति है।

श्री सम्पूर्णानन्द के मतानुसार संस्कृति समस्तिगत समान अनुभवों से उत्पन्न भूत पदार्थ है। एक ही भूभाग में पले एक ही राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक सुख-दुःख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक ही-सा होगा। एक-सी अनुभूतियों से आचार-विचार भी एक होंगे। अतः संस्कृति वह दृष्टिकोण है जिससे कोई समुदाय-विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि निक्षेप करता है। जो आज की अनुभूति है वह कल संस्कार के रूप में अवस्थित रह

जायेगी। लकड़ी पत्थर की तरह संस्कृति एक निश्चल पदार्थ नहीं है। यह एक बहती हुई धारा है जिसमें सदा कुछ-न-कुछ नवीन अंश जुड़ता रहता है और कुछ विलुप्त भी होता रहता है साथ ही कुछ किसी और रूप में भी परिवर्तित होता रहता है।

निरन्तर प्रगतिशील मानव-जीवन प्रकृति और मानव-समाज के भिन्न-भिन्न असंख्य प्रभावों व संस्कारों से संस्कृत व प्रभावित होता रहता है उन सबके सामूहिक प्रभाव को ही संस्कृति कहा जाता है। मानव का प्रत्येक विचार, प्रत्येक कृति संस्कृति नहीं है पर जिन कार्यों से किसी देश विशेष के समस्त समाज पर कोई अमिट छाप पड़े वही स्थायी प्रभाव ही संस्कृति है। संस्कृति वह आधारशिला है जिसके आश्रय से जाति समाज व देश का विशाल भव्य प्रासाद निर्मित होता है।

संस्कृति के लिए पाश्चात्य साहित्य में 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। भारतीय वाङ्मय और पाश्चात्य साहित्य में 'संस्कृति' व 'कल्चर' शब्द की परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। मूल भाव वही है, अन्तर है केवल कहने के ढंग में। श्री टी॰ एस॰ इलियट का कहना है कि कल्चर क्रिया एवं व्यापारों की समष्टि मात्र नहीं अपितु जीवन व्यतीत करने का विशेष प्रकार है[१]। यह स्व मानपत स्वतः उत्पन्न कोई पदार्थ नहीं अपितु उपार्जित तथ्य है। अतः प्रत्येक देश प्रत्येक काल व प्रत्येक व्यक्ति तक की संस्कृति में भेद हो जाता है। अनेक व्यक्तियों से सम्मिलित आचार-विचार का विनिमय संस्कृति को सदा परिवर्तित करता रहता है।

'कल्चर' शब्द की विशद व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि—'कल्चर' शब्द से मेरा आशय एक स्थान में रहनेवाले विभिन्न व्यक्तियों के समुदाय के रहने के ढंग से है। उनके सामाजिक आचार-विचार, स्वभाव आदत रीति-रिवाज कला सबमें संस्कृति के दर्शन होते हैं। यद्यपि हम सुविधा के लिए इन सब गुणों व व्यापारों के समूह को 'कल्चर' कह देते हैं पर वास्तविक रूप में यह 'कल्चर' नहीं बल्कि कल्चर के अंग हैं। जिस प्रकार शारीरिक अंगों का समूह मानव नहीं अपितु मानव इन सबके अतिरिक्त भी कुछ और है, उसी प्रकार 'कल्चर' भी रीति रिवाज रहन-सहन कला धार्मिक विश्वास आदि क्षेत्रों में सीमित नहीं हो सकती[२]।

१

श्री ई० बी० टायलर भी इसी मत के पक्षपाती हैं। उनके शब्दानुसार 'कल्चर' उस समष्टि को कहते हैं जिसमें ज्ञान विश्वास कला नैतिकता न्याय रीति-रिवाज तथा प्रत्येक उपार्जित गुण है जो मनुष्य समाज में एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है[१]।

एमसन किसी दूसरे को व्यथित न करने वाले आचार व्यवहार को संस्कृति कहते हैं। श्री मैथ्यू आनल्ड का मत है कि संस्कृति पूर्णता की ओर अग्रसर होने का मार्ग है। इसका माध्यम उन सब बातों का ज्ञान है जिनका हमारे साथ अधिक सम्बन्ध है। 'कल्चर' का उद्देश्य प्रकाश व कोमलता मधुरता की उत्पत्ति है। केवल इंजीनियर शिल्पकारों का निर्माण करने मात्र से काम समाप्त नहीं हो जाता। इनके मतानुसार 'कल्चर' मनुष्य को निराश एवं क्रोधी होने का अधिकार ही नहीं है[२]।

वास्तव में 'कल्चर' अथवा संस्कृति का बड़ा व्यापक अर्थ है। अतः किसी परिभाषा द्वारा इसको बाँधा नहीं जा सकता। यह सब कुछ है और इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है।

संस्कृति व धर्म—बहुत से विद्वानों में यह भ्रान्त मत फैला हुआ है कि धर्म और संस्कृति एक ही वस्तु के दो नाम हैं। संस्कृति में धर्म आ अवश्य जाता है, पर संस्कृति ही धर्म नहीं है। निस्संदेह धर्म का संस्कृति में

---

in their religion, but these things added together do not constitute the culture though we often speak for convenience as if they did. These things are simply the parts into which a culture can be anatomised as a human body can. But just as a man is something more than an assemblage of the various constituent parts of his body so a culture is more than assemblage of its arts, customs and religious beliefs

- Page 120 T S. Eliot-Notes towards the Definition of Culture.

१ "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art morals law customs and any other capabilities, and habits acquired by man as a member of Society"

—Taken from the book-Culture & Society—by Merril & Eldredge.

२. Culture and Society by G S Ghurye Ph. D., Prof and head of the deptt. of Sociology University of Bombay Page 62.

बहुत बड़ा हाथ है। धर्म ही मनुष्य को सदाचारी, दयालु, सहनशील, साहसी बनाता है और ये गुण ही मनुष्य को संस्कृत करते हैं। परन्तु फिर भी धर्म व संस्कृति पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। चीन में बौद्ध, हिन्दी तथा मुसलमान ये तीन प्रधान धर्म हैं परन्तु जाति सबकी एक है 'चीनी'। वहाँ का बौद्ध भी 'चाइ पुङ् गुन' और हिन्दी भी 'चाइ कम् चाइ' तथा मुसलमान भी 'चाइ चू तेह'। अर्थात् संस्कृति सबकी एक है। भारत में रहने वाले मनुष्य किसी भी धर्म के मानने वाले हों पर संस्कृति में भिन्नता नहीं मिलती। धर्म केवल शासन-सम्मत बातों का अनुमोदन करता है, पर संस्कृति में शासन से अविरुद्ध लौकिकता व अलौकिकता दोनों ही हैं। संक्षेप में इसमें दोनों का ही अन्तर्भाव हो जाता है।

संस्कृति व शिक्षा—इसी प्रकार एक भ्रामक मत यह भी है कि संस्कृति का आधार शिक्षा है। परन्तु जो उच्च शिक्षित है, यह आवश्यक नहीं कि वह सुसंस्कृत भी हो। बड़े-बड़े शिक्षित व धनवान् खाने-पीने, हँसने-बोलने आदि आचरण के साधारण सिद्धान्तों में बिल्कुल गँवार देखे जाते हैं। थोड़ा शिक्षित भी अति सुसंस्कृत हो सकता है।

संस्कृति व कला—बहुत-से विद्वान् कला को ही संस्कृति कहते हैं। अतः जिसको कला में जितनी अधिक निपुणता प्राप्त होती है वह उतना ही अधिक संस्कृत माना जाता है। उपरोक्त मतों की तरह यह भी अर्ध-सत्य ही है। बड़े से बड़ा कलाकार भी समस्त कलाओं में पारंगत नहीं होता। यही नहीं अधिकांश में कलाकार सबसे अधिक आचार-व्यवहार के सामान्य सिद्धान्तों से अनभिज्ञ देखे जाते हैं। एक बहुत अच्छा कवि व्यावहारिक क्षेत्र में बड़ा अनैतिक हो सकता है। अतः कला संस्कृति नहीं अपितु उसका एक अंग है।

संस्कृति व सभ्यता—संस्कृति और सभ्यता में बहुत से मनुष्य अंतर नहीं देखते। सच तो यह है कि संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द इतने सम्बद्ध हैं कि इन दोनों का प्रायः एक ही अर्थ में व्यवहार होने लगा है। फिर भी इनमें अंतर है, यद्यपि है अति सूक्ष्म। सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, तब संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। संस्कृति आभ्यंतर व सभ्यता बाह्य तत्त्व है। प्रत्येक सभ्य व्यक्ति आवश्यक नहीं कि सुसंस्कृत भी हो।

शब्द 'सभ्य' शब्द से बना है। सभ्य का एक अर्थ सदस्य या सभा
^। अतः सभ्यता

हम जिसे आधुनिक सभ्य 'जैंटिलमैन' कहते हैं उसमें आन्तरिक गुण हो भी सकते हैं होते भी हैं पर यह अनिवार्य नहीं है। संभव है वह कुछ लिखा-पढ़ा न हो या उसकी शिक्षा केवल ज्ञान-वृद्धि की ही सहायक हो। सभ्य व्यक्ति प्रायः भौतिक उन्नति को लक्ष्य मानता है। वह अपने स्वार्थ-साधन की ओर अधिक ध्यान देता है, दूसरे के कष्ट-निवारण की ओर नहीं। अतः सभ्य व्यक्तियों में रिश्वतखोरी छीन-झपट चालबाजी छल कपट धूर्तता बहुत अधिक हो सकती है। हाँ, वे लोग अपने कर्मों को इस प्रकार करते हैं कि साधारण मनुष्य की आँख में वह दोष सरलता से नहीं आता। पर इससे वस्तुस्थिति में अन्तर नहीं आता। बहुधा देखा जाता है कि रेल की यात्रा में सभ्य कहा जाने वाला व्यक्ति अपना बिस्तर जमा कर इतना स्थान घर लेता है कि दूसरे को बैठने का स्थान नहीं मिलता। पर जब वह स्वयं गाड़ी में चढ़ता है तब किसी का लेटा रहना उसे सहन नहीं होता। इसी प्रकार जब यूरोपियन लोग अपने आपको भारत वासियों अथवा अफ्रीका के मनुष्यों से अधिक सभ्य समझते हैं तो उनके सामने त्याग तथा परोपकार आदि कोमल भावनाओं की तुलना का प्रश्न नहीं होता। सांसारिक साधन, जिसके पास अधिक हैं भौतिक अथवा शारीरिक शक्ति में जो बलीयस् है, वही सभ्य है। अतः स्पष्ट है कि सभ्यता का अर्थ बाहरी वैभव, आचार विचार, रहन-सहन प्रमुख है।

श्री सम्पूर्णानन्द के कथनानुसार संस्कृति मानसिक है, आन्तरिक है, सभ्यता बाह्य व भौतिक। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है पर सभ्यता की नकल की जा सकती है। अफ्रीका का आदिम निवासी कोट-पतलून पहन सकता है, यूरोपियन ढंग के बंगलों में रह सकता है, फिर भी उसका सांस्कृतिक स्तर अविलम्ब वैसा नहीं हो सकता।

संक्षेप में संस्कृति में सभ्यता का अन्तर्भाव हो जाता है, पर सभ्यता में संस्कृति का नहीं। संस्कार रूप में अवशिष्ट सभ्यता संस्कृति बन जाती है। संस्कृति की अभिव्यक्ति सभ्यता है।

संस्कृति का क्षेत्र—संस्कृति एक व्यापक शब्द है, जिसको दो-चार शब्दों में भली भाँति समझा नहीं जा सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी सूझ व बुद्धि के अनुसार इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषा करता है परंतु प्रत्येक परिभाषा इसके सम्पूर्ण क्षेत्र की अभिव्यक्त नहीं करती।

यही नहीं, कालानुसार भी इसका अर्थ बदलता रहा है। आज वही संस्कृत समझा जाता है जो सामान्य रूप से आचार-विचार के सामाजिक नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ हो तथा जो राजनीति के ऊपर भी अपने विचार व्यक्त कर सकता हो। धर्म को आजकल कोई आस्था नहीं।

परन्तु प्राचीन काल में धर्म संस्कृति का प्रधान अंग था। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की महत्ता थी। आजकल की तरह आचार-विचार को प्रधानता दी अवश्य जाती थी पर इस आचार-विचार का धर्मानुकूल होना भी आवश्यक था। भारतीय संस्कृति के आदर्श पाश्चात्य देशों की तरह धनपति नहीं अरण्यवासी ऋषि हैं, जो त्याग को सर्वधर्म का मूल मानते हैं। यहाँ एक करोड़पति असभ्य एवं असंस्कृत समझा जायेगा यदि उसने धार्मिक आचार का परित्याग कर दिया है, और एक लंगोटीधारी दरिद्र शिष्ट व सुसंस्कृत माना जाएगा यदि वह धार्मिक मर्यादा का पालन करता है। इसके ठोस उदाहरण महात्मा गांधी हैं जो अर्धनग्न इंग्लैंड में राजा तक से मिलने पहुँच गए थे। अतः सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था आश्रमों में जीवन का विभाजन जीवन का नानाविध संस्कारों के द्वारा पवित्रीकरण विवाह व संतानोत्पत्ति में काम की अपेक्षा धर्म की प्रधानता गृहस्थ जीवन में पति-पत्नी का आदर्श कर्तव्य उत्तरदायित्व अतिथि-सत्कार नैतिकता का प्रश्न सब में यही मूल भावना अंकित थी।

जहाँ एक ओर धर्म जीवन को नानाविधि के रंगों से चित्रित करता रहा वहाँ दूसरी ओर शिक्षा इस सदाचार के भाव को प्रकाश देती रही। मनुष्य के व्यक्तित्व में उसकी वेश-भूषा आदत स्वभाव मनोरंजन के साधन सामाजिक रीति-रिवाज में इस विशेष प्रकार की शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ था। धर्मानुकूल शिक्षा देना गुरु का उद्देश्य था। शिक्षा का चरम लक्ष्य भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति था। अतः साहित्य दर्शन इतिहास प्रत्येक विषय मानव शिक्षा का अंग था।

संस्कृति के मूल में जहाँ विवेक सहित अध्यात्म था वहाँ लोक की सौन्दर्य-भावना भी थी। यह सौन्दर्य-भावना कला का पर्यायवाची शब्द है। अथवा कला के द्वारा उत्पन्न मूर्त सौन्दर्य-भावना से ही संस्कृति की काया पुष्ट होती है। ललित-कलाओं का संस्कृति के साथ यही पुष्ट सम्बन्ध है व था।

अतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संगठन में वर्ण-व्यवस्था आश्रमों में जीवन का विभाजन संस्कार विवाह, गृहस्थ जीवन खानपान वेशभूषा सामाजिक रीति-रिवाज नैतिकता ललित कलाएँ, शिक्षा धर्म आदि की —— क के अध्यायों में क्रमशः इसी दृष्टिकोण से कालिदास के आधार

दूसरा अध्याय

वर्ण-व्यवस्था

प्राचीन काल की वर्ण-व्यवस्था तथा आधुनिक काल के जाति-भेद में आकाश पाताल का अन्तर है। आधुनिक काल में जो जिस जाति में उत्पन्न होता है वह उसी जाति का कहलाता है विवाह व खानपान के लिए वह जाति विशेष और विवाह के लिए (इसमें भी सीमाएँ हैं) विचरण कर सकता है। हरेक जाति का निश्चित कोई पेशा नहीं है, फिर भी अधिकतर पैतृक जीविकाचार को ही धारण करना व्यक्ति अच्छा समझते हैं। दिन-प्रतिदिन यह जाति-भेद शिथिल होता जा रहा है। यहाँ तक कि खानपान विवाह आदि में भी इसको बहुत से व्यक्ति तोड़ते जा रहे हैं। शिक्षा और जीविकाचार का प्रत्येक भाग सबके लिए खुला है, केवल पुरोहिताई ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरी जाति नहीं कर सकती।

'वर्ण और 'जाति दोनों शब्द पृथक्-पृथक् हैं। चारों वर्णों के अनुलोम व प्रतिलोम विवाह के फलस्वरूप तथा अनार्य व आर्यों के मिश्रण से आने वाली सन्तान का कोई निश्चित वर्ण न रह सका। इस मिश्रण में मिश्रण होता ही चला गया यही जाति तथा उपजाति का उत्पादक हुआ। नाना प्रकार की लोकनीति से आधुनिक बहुत सी जातियों की व्युत्पत्ति मालूम हुई है। इस पर आगे यथा-स्थान प्रकाश डाला जायगा।

वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता व आधार—ऋग्वेद में वर्ण का अर्थ रंग माना है। अर्थात् आर्यों का वर्ण व दासों का वर्ण। 'यो दासं वर्णमधरं गुहाकः (ऋग्० २ का १२।४")। इसी प्रकार 'दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मण असुर्य शूद्र" (तै० ब्रा० १ २।६)। इससे यह स्पष्ट ही है कि वैदिक काल में वर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि का परिचायक नहीं था अपितु आर्य व दास का भेद दिखाने भर को ही था। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का वर्ग (व्यवसाय)-विभाजन था पर जाति नहीं। ऋग्वेद में देवापि की कहानी मिलती है। देवापि का छोटा भाई राजा हो गया। वह स्वयं वर्षा कराने के लिए यज्ञ का पुरोहित बन गया। इसी प्रकार के और भी प्रमाण ऋग्वेद में हैं।

संक्षेप में प्रारम्भ में वर्ण केवल दो थे आर्य व दास। दोनों में रंग व संस्कृति का भेद था। जब आर्यों ने दस्युओं को पराजित किया तो वेही शूद्र कहलाये। धीरे-धीरे विद्वत्ता के कारण ब्राह्मणों ने क्षत्रियों और वैश्यों पर आधिपत्य जमा लिया। संस्कृति के विकास से नए धन्धे कौशल व पेशे आए। इन्हीं के अनुसार व परस्पर सामाजिक मान्यता में नीचे व्यक्तियों के साथ विवाह के कारण तरह-तरह की जातियाँ उत्पन्न हुईं।

कालिदास और वर्ण-व्यवस्था—कालिदास तक आते-आते प्राचीन वर्ण परम्परा बहुत कुछ शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र के साथ-साथ वे धीवर, वणिक आखेटजीवी कुम्भक श्रेष्ठी सार्थवाह आदि का भी उल्लेख करते हैं। अर्थात् प्राचीन वर्णव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी और बहुत-सी उपजातियाँ सम्मुख आ गई थीं। परन्तु धर्म रूप में वर्ण-चतुष्टय की परम्परा अवश्य प्रचलित थी। कवि ने चतुर्वर्ण[1] वर्ण चतुष्टय[2] वर्ण[3] वर्णाश्रमाणां[4] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यही नहीं परम्परानुसार वर्ण और आश्रम की रक्षा का भार राजा पर था इसको भी वे नहीं भूले[5]। धार्मिक आचरण सब उचित रीति से पवित्रता से पालन करें इसका उत्तरदायित्व राजा पर था[6]। कवि के सम्मुख आदर्श अभी भी प्राचीन था। वे रघुवंशी राजाओं को ही आदर्श समझते थे जो स्वयं भी वर्णाश्रम के पालन करने वाले हों और दूसरों से भी वेही नियम पालन करवाएँ[7]।

---

१ चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्।—रघु० १०।२९

२ पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य।—रघु १८।१२

३ इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम्।—रघु १५।४८
यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।—अभि २।१३
न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।—अभि० ५।१०

४ वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे।—रघु० ५।१९

५. देखिये पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी ३ में रघु०, १५।४८, देखिये पादटिप्पणी २ रघु०, १८।१२

वर्ण-विभाजन—ब्राह्मण—वैदिक साहित्य में ब्राह्मण एक समुदाय अथवा वर्ग विशेष था परन्तु जाति नहीं। वे विद्वान् तथा पंडित होते थे। अतः यही वर्ग उस समय के समाज में परम आदरणीय माना जाता था। 'एते वै देवा प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः (तै० सं० १ का ७।३।१) आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि ब्राह्मणों ने बलात् दूसरों को अपने को देवता व ईश्वर के समान आदरणीय मानने के लिए विवश किया। बलात् इतना बड़ा काम नहीं हो सकता कि सारी जनता ब्राह्मणों को सर्वेसर्वा मान ले। वास्तविक महत्ता उनकी विद्वत्ता निस्स्वार्थता त्याग निष्ठा एवं सेवाभाव था। समस्त ब्रह्म विद्या एवं उच्च संस्कृति के वे कर्त्ता नियामक एवं व्यवस्थापक थे। उनके ही कन्धों पर समस्त वैदिक विद्या का भार था कि वे एक संतान के बाद दूसरी पीढ़ी को विद्यादान देते चले जायें। उनके सम्मुख आदर्श 'दान' था। सांसारिक ऐश्वर्य-सुख को त्याग कर निर्धनता में सन्तुष्ट रहना विद्यार्थियों को यदि वे कुछ दक्षिणा न भी दे पायें तब भी शिक्षा देना[1] उनका कर्तव्य एवं आदर्श था। अवश्य ही राजा इसमें सहायक था परन्तु धन व सांसारिक विलासों को न छूना उनके प्रति आकर्षित न होना लोभ को पास न आने देना कोई सरल काम न था। इन्हीं गुणों के कारण ब्राह्मण अति पूजनीय माने जाते थे। वे ही गुरु थे[2] राजपुरोहित थे[3]। अन्य वर्णों को शिक्षा देना कर्तव्य पालन करवाना उनका कार्य था। अध्ययन[4] अध्यापन[5] यजन[6] उनका आदर्श था।

---

१ समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ।—रघु ५।२०

२ अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥—रघु १।३५
अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषंगजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥—रघु० ८।७५
तपस्व्यपर्वं हृदि मोक्षणे प्रतिमातमिवान्तिकमस्य मुने ।—रघु०, ८।११

३ रघु० १।१८ रघु० ७।२० २८ रघु० १७।१३ रघु० १८।५४, कुमार० ७।४७

४ 'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा .. —रघु० ५।२४
कुशावतीं श्रोत्रियसात् स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।—रघु० १६।२५

५. अध्यापन—देखिए १, भरत व आयुष को शिक्षा महर्षियों ने ही दी।

६ ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः संतानकांक्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥—रघु० १०।४
तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥—रघु०, ११।२४

राजा तक ब्राह्मणों के सम्मुख झुकते थे ब्राह्मणों के वे शासक नहीं थे।

ब्राह्मणों के दो वर्ग—परन्तु कालिदास के समय तक आते-आते ब्राह्मणों के ये गुण बहुत कुछ लुप्त हो चुके थे। इस समय ब्राह्मणों के दोनों प्रकार स्पष्टता से देखे जाते थे। एक वर्ग अथवा प्रथम प्रकार में तपस्वी तथा कुलगुरु आते हैं जो अब तक प्राचीन आदर्शों का तत्परता के साथ पालन किया करते थे। कण्व ऋषि का तपोवन कुलगुरु वसिष्ठ विश्वामित्र का आश्रम विक्रमोर्वशी में आयुस ने जहाँ शिक्षा प्राप्त की थी यह तपोवन इन्हीं आदर्शों के प्रतीक हैं। इनमें ऋषि मुनि तथा रहनेवाले युवा छात्र तपस्वी संयमी व त्यागी थे। पुरोहित भी प्रथम वर्ग मे लिए जा सकते हैं। पुरोहित शब्द का कवि ने शकुन्तला में कई स्थानों में प्रयोग किया है। राजा दुष्यन्त पुरोहित से ही सम्मति लेता है कि मैं शकुन्तला को ग्रहण करूं कि नहीं।

'पुरोहित'—(राजानं निर्दिश्य) भो मोस्तपस्विन असावत्रभवान्धर्मारण्यमा रक्षिता प्रागेव मुक्तासनो व प्रतिपालयति। —अभि पृ० ८४

'पुरोहित'—(पुरो गत्वा)एते विधिवदर्चितास्तपस्विनः। —अभि पृ ८५

'पुरोहित'—विचार्य यदि तावदेवं क्रियताम्। —अभि पृ ६४

राजा के पास आए अतिथियों का स्वागत-भार इन्हीं पर था। यही अतिथियों को राजा के पास भेंट करवाने ले जाता था।

'राजा—तेन हि मद्वचनाद्विज्ञाप्यतामुपाध्यायः सोमरातः। अमुनाश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुमर्हतीति। —अभि पृ ८१

दूसरे वर्ग में ब्राह्मणों के पतन के चिन्ह पर्याप्त थे। निस्वार्थ भाव से शिक्षा दान करने के स्थान पर ब्राह्मणों ने वेतन लेकर पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था[1]। अपने आश्रम व एकान्त को छोड़कर वे नगर में राजमहल में ही रहा करते और पढ़ाया करते थे[2]। वे छोटी-छोटी बातों पर लड़ते थे झगड़ते थे वाद-विवाद करते थे[3]। वे पटु होते थे[4]। यद्यपि सिद्धान्त में उनका आदर्श अभी भी 'यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति'[5] था। परन्तु व्यावहारिक

कि मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।—माल प्रथम अंक पृ २७४

[2] माल० प्रथम अंक

— परा १ अंक

रूप में इसे जीविका का आधार मानकर चलने लगे थे। पहले दक्षिणा उनका आधार थी[1] अब वेतन[2]।

विदूषक की परम्परा—विदूषक की परम्परा से ब्राह्मणों की मूर्खता निर्बोधिता व पेटूपन ('वूर्ते विपणिकन्दुरिव मे प्रदरामस्तरं वह्यते।—माल० अंक २ पृ० २८१) ही प्रमाणित होता है। दुष्यन्त किस प्रकार माढव्य को शकुन्तला का झाँसा देता है उसे राक्षसों से डरा कर (प्रथमं सपरीवाहमासीत्। इदानीं राक्षस-वृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषित।—अभि अंक २ पृ० १८) अंतःपुर भिजवा देता है[3]। सेनापति का कहना 'प्रत्यक्षु एव वैधेय' [4] सदा खाने की सुन्दर वस्तुओं लड्डू[5] आदि का मन में होना आदि इसके प्रमाण हैं। विक्रमोर्वशी में दासी किस प्रकार विदूषक से राजा के मन में उर्वशी बसी है इसी कारण रानी की उपेक्षा कर रहे हैं रहस्य उगलवा लेती है[6]। उसकी मूर्खता से ही उर्वशी का प्रेमपत्र रानी के हाथ पड़ जाता है[7]। उसका पेटूपन 'तत्र पंच विवस्याम्यवहारस्योपनतसमारम्भ मोबमा प्रेक्षमाणाभ्यां धावयमुरूकंठो विनोदयितुम्' [8] से सिद्ध होता है। इसी प्रकार बमुक्षितस्य ब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां

---

१ समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥
निबन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्त।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥—रघु० ५।२ २१

२ किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम्।—माल० प्रथम अंक पृ० २७४

३ चपलोऽयं बटु: कदाचिदस्मत्प्रार्थनामन्तःपुरेभ्य: कथयेत्।
भवतु एनमेवं वक्ष्ये।—अभि २ अंक पृ० ४०
—क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावै: सममेधितो जन:।
परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वच:॥—अभि० २।१८

४ अभि० अंक २ पृ० ३०

५ किं मोदकखण्डिकानाम् तेन ह्यर्य सुगृहीत क्षण।—अभि० अंक २ पृ० २१

६ विक्रम० अंक २

७ 'प्रत्युषिनी तवैव कौमुदीमिव प्रतिभाति।
भट्टारकसुहृदयोद्यन्या वाम्यर्थ इति तर्कयामि।
आर्यमाणवक प्रमादेन वाक्योहस्तमागत इति।—विक्रम०, अंक २ पृ० १८७

८ विक्रमो० अंक २ पृ० १७१

मवान् समय बल स्नानमोजनं सेविनुम् १। प्राकृतिक सौंदय में भी उसे कोई खाद्य सामग्री ही दिखाई देती है। उदय होता चन्द्रमा उसके लिए लाड़ का लड्डू है[2]। यदि विदूषक में कुछ चतुराई है भी तो प्रेम-व्यापार म। मालविका को अग्निमित्र मे मिलाने में सबसे बड़ा हाथ विदूषक का ही था[3]। किस प्रकार वह से 'सांप ने काट खाया' झूठा बहाना बनाकर केतकी के कांटे से सांप के दांतों का चिह्न बनाकर रानी से अंगूठी मंगवा लेता है कि जहर उतारने के लिए ऐसी वस्तु चाहिए जिसमें नागमुद्रा बनी हुई हो ध्यान देने योग्य है। तत्पश्चात बन्दीगृह की कर्ता-धर्ता माधविका के पास जाकर कहा कि ज्योतिषियों ने महाराज से कहा है कि आपके ग्रह बिगड़े हुए है इसलिए सब बन्दियों को छुड़वा दीजिए। देवी ने यह सोचकर कि किसी और को भेजने से इरावती भी बुरा मान जायेगी मुझको ही आपके पास भेजा है जिससे इरावती भी यह समझें कि मै नहीं राजा छुड़वा रहे है। अंगूठी देखकर विदूषक की बात पर विश्वास कर मालविका वह मुक्त कर देती है। विदूषक राजा को चोर-रास्ते से ले जाकर मालविका से संकेत-गृह में भेंट करवा देता है। इसीलिए चोरी पकड़े जाने पर इरावती विदूषक से कहती है— 'मत्यममयमत्र ब्रह्मबन्धुना कृत प्रयोग'। इयमस्य काम तंत्रसचिवस्य नीति ४। विदूषक की बातो से हँसी अवस्य आती है पर यह हास्य उसकी मूर्खतापूर्ण बातो से उत्पन्न होता है।

समाज में ब्राह्मणों का स्थान—परन्तु इतना होने पर भी समाज मे ब्राह्मणो का यथेष्ट आदर था। कुलगुरु पुरोहित तपस्वी ऋषियों के प्रति सबकी विशेष आस्था थी[5]। द्वार पर उनका जाना गृहस्थ अपना सौभाग्य मम

---

१ विक्रमो अंक २ पृ १९०

२ ही ही भो एष खलु खंडमोदक सश्रीक उदितो राजा द्विजातीनाम्।
—विक्रम अंक ३ पृ० १९७

३ माल० अंक ४ पूरा।

करते थे और उनकी सम्मानपूर्ति व आतिथ्य-सत्कार में जी-जान लगा देते थे[1]। राजा ब्राह्मणों को गाँव आदि दान देते थे[2]। उनकी बात को वे ब्रह्मवाक्य मानते थे। [illegible] गणदास व हरदास को देखकर अग्निमित्र आदर करते हुए उन्हें स्थान देते हैं। दुष्यन्त शार्ङ्गरव आदि को देखकर आदर-अभ्यर्थना करते हुए कण्व का कुशल पूछते हैं। दुष्यन्त के हृदय में तपस्वियों के प्रति कितना सम्मान है यह इससे व्यक्त होता है—

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः[3] ॥

राजा दिलीप, रघु, राम आदि की वसिष्ठ, वाल्मीकि और ऋषि कौत्स के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा थी यह रघुवंश में भली भाँति व्यक्त की गई है[4]। यहाँ तक कि विदूषक जैसा मूर्ख डरपोक और पेटू भी राजा के द्वारा कभी अपमानित नहीं किया जाता। राजा उसे अन्तरंग मित्र समझकर अपने हृदय का द्वार सम्मुख खोलकर सम्मति लेते हैं[5]।

ब्राह्मणों की वस्त्र-भूषा—ब्राह्मण लोग यज्ञोपवीत पहनते थे[6]। दाएँ कान पर रुद्राक्ष की माला धारण करते थे[7]। वस्त्रों में अन्य पुरुषों की तरह धोती व

---

१ इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्ध्या विमृश्य सः ।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता ।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥—कुमार० ६।८७ ८८

२ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥—रघु० १।४४

३ अभि० २।१४

४ रघु० १।५७ (पूरा प्रथम सर्ग) ५।१-११ २१-२५, ११।१-६

५. अभि० अंक २ विक्रम० अंक २ माल० अंक १

६ पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणम् ।—रघु० ११।६४
मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कलाः ।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रिताः ॥—कुमार०, ६।६
गौरोचनानिकषपिङ्गजटाकलापः संलक्ष्यते शशिकलामलवीतसूत्रः ।
—विक्रम० ५।११

७ अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥—रघु० ११।६६

चमर का प्रयोग करते होंगे। उनके सिर पर चोटी अवश्य होती थी[1]। साधारण ब्राह्मणों से पृथक तपस्वियों की वेशभूषा होती थी। वे वल्कल वस्त्र पहनते थे। सिर पर जटा कमर में मेखला उनके लिए आवश्यक थी। हाथ में पलाश-दंड भी रहता था। तपस्वियों की वेशभूषा विस्तारपूर्वक वेशभूषा अध्याय में वर्णित की जायगी।

पेशा—ब्राह्मण अधिकांश में अध्यापन[2] का कार्य ही किया करते थे। वे छात्रों को ब्रह्मविद्या तथा अस्त्र-शस्त्र चलाना भी सिखाते थे[3]। नाटयकला की शिक्षा देना भी उनका पेशा था[4]। विदूषकों के विषय में पढ़ने से मालूम होता है कि राज-दरबार में भी वे पुरोहित मित्र बन्धु आदि के रूप में रहते थे[5]। वैसे भी यज्ञ करवाना[6] विवाहादि करवाना[7] अर्थात् धार्मिक कार्यों में इनका सबसे बड़ा हाथ था।

यही नहीं समय पड़ने पर वे राज्य का काम भी सँभालते थे। युग धर्म ब्राह्मणों का ही था[8]। स्वयं परशुराम ब्राह्मण-सन्तान होते हुए भी युद्ध करते थे।

क्षत्रिय—समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान उच्च था। 'ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यः'[9] इसका प्रमाण है। परन्तु प्रारम्भ में जैसे ब्राह्मण जातिविशेष न होकर वर्णविशेष था उसी प्रकार क्षत्रिय केवल वर्ण विशेष ही था।

---

१ भो वयस्य गृहीतस्य तथा परकीयैहस्तैः शिखण्डके ताड्यमानस्यापसरतो वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः।—अभि अंक ६ पृ० ८

२ भरत आयुस राम लक्ष्मण की शिक्षा ऋषियों द्वारा हुई थी। पूर्व उल्लेख—रघु ५।२०

३ देखिए, पादटिप्पणी नं ४

४ माल० अंक १

५ कवि के तीनों नाटकों में विदूषक।

६ और ७ रघु १।१८ रघु० ७।२० २८ रघु १७।११ रघु० ११।५४ कुमार० ७।४७

कालिदास ने स्वयं क्षत्रियों की जातिगत विशेषता 'क्षतात् किल त्रायते'[१] (अर्थात् दूसरों को जो नष्ट होने से बचाए) बताई है। अतः यह वर्गविशेष युद्ध करने के लिए, शत्रुओं से दूसरों की रक्षा के लिए ही था। अतः राजा जिसका काम रक्षा करना और प्रजा का पालन करना था क्षत्रिय ही होता था। राजा की परिभाषा कवि के अनुसार 'राजा प्रकृतिरंजनात्'[२] है। प्रजा को किसी प्रकार का दुःख न होने पाए, वह सदा ऐसा प्रयत्न किया करता था। चूँकि राजा क्षत्रियों का प्रतिनिधित्व करता था अतः उसके शस्त्र पीड़ितों की रक्षा के लिए थे निरपराध को मारने के लिए नहीं[३]। यही नहीं पृथ्वी का पालन करने की शक्ति क्षत्रियों में स्वाभाविक एवं जन्म से ही होती है[४]। क्षत्रियों का धर्म वीरत्व था सज्जनों की रक्षा और दुर्जनों का संहार। अतः क्षत्रियों की आकृति ही वीर थी अर्थात् वे लम्बे-चौड़े और पुष्ट शरीरवाले होते थे। कवि ने राजा दिलीप के सौंदर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि उनकी चौड़ी छाती साँड़ जैसे ऊँचे व भारी कन्धे शाल के वृक्ष जैसी लम्बी भुजाएँ और अपार तेज को देख कर ऐसा आभासित होता था मानों क्षत्रियों का धर्म वीरत्व उनके शरीर में यह समझकर *आ बसा हो कि सज्जनों की रक्षा व दुर्जनों का नाश करने का जो मेरा काम है* वह इसी शरीर से पूरा हो पायेगा[५]।

अतः राजा का काम एक ओर पृथ्वी का पालन करना और सज्जनों की रक्षा करना था दूसरी ओर दुर्जनों का संहार। अतः आदर्श राजा में 'शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता'[६] होना आवश्यक था। इससे यह प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के समान शास्त्र इत्यादि भी पढ़ते थे व विद्वान् भी होते थे और

---

१ रघु० २।५३। २ रघु० ४।१२।

३ तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥ —अभि० १।११
रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति॥—अभि० १।१३

४ शमयति गजानन्यान्गन्धद्विपः कलभोऽपि सन्
भवति सुतरां वेगोदग्रं भुजंगशिशोर्विषम्॥
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यलं परिरक्षितुं
न खलु वयसा जात्यैवायं स्वकार्यसहो भरः॥—विक्रम० ५।१८

५ व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥—रघु० १।१३

६ रघु० १।१९

युद्ध-विद्या में कुशल थी। एक ओर उनका उदार तथा दयालु होना आवश्यक था दूसरी ओर, अपक्षपाती, और न्याय में कठोर[1]।

धनुर्विद्या क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग थी[2]। क्षत्रिय शस्त्र को सदा अपने पास रखते थे चाहे वे बालक ही क्यों न हों[3]। जिस प्रकार ब्राह्मण उपवीत से पहचाने जाते थे उसी प्रकार क्षत्रिय धनुष से[4]। प्रणाम करते समय भी वे धनुष को अपने से पृथक नहीं करते थे अपितु दोनों हाथों के बीच में धनुष रख लिया करते थे[5]।

क्षत्रिय भी ब्राह्मणों के सदृश ही उच्च थे। अतः द्विज[6] शब्द का प्रयोग क्षत्रियों के लिए भी होता था। ब्राह्मणों की तरह जातकर्मादि संस्कार इनके भी होते थे[7]।

क्षत्रियों के विभिन्न कुल—क्षत्रियों के अनेक वंशों का कवि ने परिचय दिया है। इन कुलों में सूर्य वंश[8] सोम वंश[9] पुरु वंश[10] क्रथकैशिक[11] नीप

---

1 भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः॥—रघु॰ १।१६
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥—रघु॰ ४।८

2 रघु॰ १।१९ ३।३१ १ ७।६१–६२ ९।१० १२।९७–९९; अभि॰ १ अंक विक्रम॰ १ अंक रघु॰ २।२९, ३।१८ गृहीतविद्यो धनुर्वेदमभिविनीत (विक्रम॰ ५ अंक)।

3 धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ।—रघु॰ ११।५

4 पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।—रघु॰ ११।६४

5 चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति। (विक्रम॰ ५ अंक पृष्ठ २४५)

6 इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।—रघु॰ ५।२१
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव॥—रघु॰ ९।७६

7 रघु॰ ३।१८ ३३ (गोदान) रघु॰ १५।११ (नाम) विक्रम॰ ५ अंक (जातकर्म) अभि॰ ७ अंक (जातकर्म)
'वत्साभिषेककुमारस्य जातकर्मादिविधानं तवास्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्'
(विक्रम॰ ५ अंक) इनका उदाहरण संस्कार में सविस्तर मिलेगा।

वंश[1] पौरव वंश[2] प्रसिद्ध हैं। रघु दिलीप आदि सब सूर्यवंशी राजा थे। दुष्यन्त पुरुवंशी क्षत्रिय था। पुरुरवा सोमवंशी था। पार्थिव शब्द पार्थ धन पद से क्षत्रिय अर्थ में बना है।

वैश्य—कवि ने वणिक[3] नैगम[4] श्रेष्ठी[5] सार्थवाह[6] शब्दों का प्रयोग अपने ग्रन्थों में किया है। अवश्य ही ये शब्द वैश्य वर्ण के द्योतक हैं। वैश्य अधिकतर व्यापार ही करते थे अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाते थे और बेचते थे।

समाज में वैश्यों का स्थान—ब्राह्मण और क्षत्रिय के बाद वैश्य का समाज में स्थान आता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय की तरह इनके भी संस्कार होते थे[7]। ब्राह्मणों के ऊपर क्षत्रियों का प्रभुत्व नहीं था[8]। वे उनकी धन-सम्पत्ति नहीं ले सकते थे परन्तु वैश्यों के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं था। समुद्र-व्यवहारी सार्थवाह धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् चूँकि उसके कोई सन्तान न थी उसका धन राजकोष में आ जाना चाहिए, ऐसा मन्त्री ने राजा को लिखा था[9]।

शूद्र—आर्यों ने अपने शत्रुओं को पराजित करके उनको दास बना लिया था या उनकी सेवा किया करते थे। ऋग्वेद में दास अथवा दस्यु का बहुत अधिक वर्णन है। ये ही बाद में आगे शूद्र कहलाए। शूद्रों के विषय में मनुस्मृति का कहना है— 'शूद्रं तु कारयेद् दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा। दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयम्भुवा'[10]।

---

१ नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।—रघु० ६।४६
२ पौरवोऽप्समार्गमाश्रितस्यवहार ।—रघु० ६।५०
३ माल० १।१७ वणिक्
४ नैगम—विक्रम ४।१३
५ 'येन इदानीमेव सार्थेनस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निपुणिकया सार्थस्य भूयते'
—अभि० अंक ६
६ 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाहः धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः'
—अभि० अंक ६ पृ० १३१
७ देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४
८ राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्—(गौतम ११।१) तथा पशु पक्षि परिहार्या राजाः...परिहार्याश्चेति।
—गौतम ८।१२ ११
९ राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्।—अभि० अंक ६ पृ० १३१
१० मनुस्मृति अध्याय ८।४१३

समाज में स्थान—समाज में उनका क्या स्थान था यह इससे स्पष्ट हो जाता है—शूद्रं मनुष्याणामश्व: पशूनाम् तस्मात्तौ भूतसंक्रमिणावश्वश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त:[1] अर्थात् शूद्रों को किसी प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त न था। शूद्रों का वास्तविक धर्म द्विजों की सेवा करना था। इनका ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के समान कोई संस्कार नहीं होता था। ये वेद आदि नहीं पढ़ सकते थे। पवित्र मंत्रों को सुन भी नहीं सकते थे। इनके लिए विवाह आदि भी बिना वैदिक मन्त्रों के होते थे। मनु के अनुसार इनके समस्त धार्मिक कार्य बिना मन्त्र के होने चाहिए।[2] इनके लिए कुछ भी पाप नहीं है, धर्म में इनका कुछ भी अधिकार नहीं है, न किसी भी काम करने का प्रतिषेध है। ये किसी संस्कार के भी योग्य नहीं है।[3]

कालिदास अवश्य ही इस परम्परा के मानने वाले होंगे। उन्होंने चतुष्टय वर्ण का कई स्थलों में प्रयोग किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि शूद्र भी उनके साथ में रहे होंगे। जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य प्राचीन आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे उसी प्रकार वे भी करते होंगे। परन्तु चूँकि वर्ण-व्यवस्था तथा के बन्धन शिथिल पड़ गये थे इस कारण शूद्रों के बन्धन भी उतने कठोर न होंगे। मालविकाग्निमित्र में 'वर्णावर'[4] शब्द आया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि शूद्रों के साथ भी विवाह हो जाते होंगे। हाँ उनको यह सम्मान चाहे न मिलता होगा जो समान वर्ण में विवाह करने में। नीच वर्ण की स्त्री से विवाह करने पर उत्पन्न संतान उतने अधिकार भी न प्राप्त करती होगी जितने समान वर्ण से उत्पन्न संतान। 'सवर्णेतरो भ्राता' इसी प्रकार का दूसरे वर्ण की स्त्री से उत्पन्न भाई था।

चाण्डाल तथा अन्य जातियाँ—उक्त वर्ण के अतिरिक्त भी अन्य मनुष्य थे जो विशेष रूप से किसी भी वर्ण के नहीं कहला सकते थे क्योंकि यदि माता-पिता एक ही वर्ण के होते थे तो संतान का भी वही शुद्ध वर्ण रहता था अन्यथा इस प्रकार का वर्णसंकर धीरे-धीरे उपजाति व उपवर्ग को जन्म देने लगा था। एक पेशे एवं एक व्यवसाय के मानने वाले अपना-अपना पृथक्-

---

तैत्तिरीय संहिता ७। १ १ ७

पृथक समुदाय बनाने लग गए थे। यह भी आगे बढ़कर भिन्न-भिन्न जातियों का जन्म-दाता बना। उदाहरण के लिए लुहार सुनार कुलाल निषाद रथकार रूपकार धीवर, लुब्धक इसी प्रकार की जातियाँ सम्मुख आईं। अधिकतर इस प्रकार की जातियाँ अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाती थीं। शकुन्तला में यद्यपि धीवर का सबने उपहास किया था कि बड़ा अच्छा पेशा है, परन्तु उसने यही उत्तर दिया था कि जिस जाति को भगवान् जो काम देता है उसे छोड़ा नहीं जाता। पशुओं को मारना निन्दनीय है पर वेदज्ञ ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशुओं को मारते हैं[1]।

समाज में चांडाल का स्थान अति निकृष्ट था। चतुर्वर्ण के अतिरिक्त पाँचवें वर्ग में लुब्धक जालोपजीवी धीवर आदि आते हैं जिनसे समाज घृणा करता था। खान पान स्पर्श सबके ही नाते से त्याज्य थे। ये नगर के बाहर रहते थे। भारतीय इतिहासकारों ने चीनी यात्री फाह्यान का ऐसा ही लेख उद्धृत किया गया है। मनुस्मृति में अन्त्यज शब्द ऐसे ही बहिष्कृत (चाण्डाल) व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]।

आभीर—जिनको कालिदास ने घोष[3] कहा है, वे आभीर ही थे। आजकल इन्हीं लोगों को अहीर कहा जाता है। परन्तु आभीर एक जनपद भी था। यह सिंध में था। वहाँ के निवासी आभीर कहे जाते थे। मनुस्मृति में ब्राह्मण और अम्बष्ठ कन्या की सन्तान आभीर कही गई है[4]। इनका काम एवं व्यवसाय दूध, घी और मक्खन आदि का होता था। रघुवंश में दिलीप के वशिष्ठ-तपोवन जाते समय घोषवृद्ध ताजा मक्खन लेकर आते हैं और भेंट करते हैं[5]।

किरात—धर्मशास्त्र ने किरातों को शूद्र का ही अंग (सब-डिवीजन) कहा है[6]। मनुस्मृति के अनुसार किरात क्षत्रिय ही हैं। उपनयन आदि क्रियाओं के लोप से और ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि न देने के कारण से शूद्रता को

---

१ सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥—अभि० अंक ६ १

२ मनुस्मृति अध्याय ४ ६१

३ हैयंगवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।—रघु०, १।४५

४ मनुस्मृति अध्याय १० १५

५ देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ३

६ धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीय जिल्द भाग १ पृष्ठ ७०

प्राप्त हुए[1]। रघुवंश में रघु ने किरातों को हराया था[2]। किरात बड़ी वीरता के साथ लड़े थे। अतः ये क्षत्रिय ही होंगे ऐसी सम्भावना है। कुमारसम्भव में भी किरातों का प्रसंग है[3] जो मृगों की खोज में इधर उधर हिमालय पर्वत के वनों में घूमते रहते थे। कदाचित् शिकार करना और युद्ध करना इनका व्यवसाय था।

धीवर[4]—गौतम इसे प्रतिलोम विवाह की सन्तान मानते हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की संतान धीवर है, ऐसा ही उनका मत है[5]। ये नीच वर्ण के होते थे। इनका पेशा मछली पकड़ना था। शकुन्तला में भी धीवर मछली वाला ही कहा गया है[6]।

बन्दी,[7] चारण, भाट, मागध—ये सब लगभग एक ही हैं। इनका मुख्य काम राजा का यश-गान करना है। परन्तु कामों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। कालिदास के ग्रंथों में बन्दी सूतपुत्र वैतालिक का उल्लेख है। सूतपुत्र का काम राजा को जगाना था (रघु० ५।६५)। वैतालिक राजा की जय जयकार किया करते थे (अभि० १।७८, विक्रम० ५।२१ २२) पर वे समय की सूचना के लिए प्रधानतः नियुक्त थे (माल० २ अंक १२)। बन्दी और बन्दीपुत्र राजा की वंशावली और विरद बखान किया करते थे (रघु० ४।६ रघु० ५।७५ रघु० ६।८)। मागध और बन्दी (क्षत्रिय वणिक) प्रतिलोम विवाह की सन्तान हैं। वैश्य पुरुष और क्षत्रिय स्त्री की सन्तान बन्दी या मागध कहलाई। श्री काणे ने इस जाति का ऐसा ही इतिहास अपनी पुस्तक 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में प्रकाशित किया है[8]।

कुम्भक[9]—ये भी निम्न वर्ण के लोग हैं। इनका काम विविधा आदि

---

१ मनुस्मृति अध्याय १० ४३ ४४

२ शरवर्षैः किरातेभ्यः सर्वासुरैर्बराटरैः।—रघु० ४।७६

३ वसापुरभिप्रभूमे किरातरासेभ्यते भिन्नविवर्जितहः।—कुमार० १।१५

४ अभि० अंक ६

५ गौतम-धर्मसूत्र ४।१७ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ८४

६ अभि० अंक ६

पकड़ना था। व्याध एवं लुब्धक एक ही वर्ग अथवा एक ही जाति है। 'व्याध जनगीतगृहीतचित्तमेव हरिण्मैतन्न विज्ञातं मया।—माल० ३ अंक।

शौण्डिक[1]—लुब्धक की तरह ये भी निम्नवर्ण के मनुष्य थे। इनका व्यवसाय मदिरा बेचना था।

सौनिक[2]—कालिदास ने सौनिक शब्द के ही आशय में 'सूना परिसरचर' शब्द का प्रयोग किया है। इनका व्यवसाय मांस बेचना था।

सूत[3]—भी कामों ने गौतम बौधायन कौटिल्य मनु सबके ही आधार पर इसे प्रतिलोम सन्तान प्रमाणित किया है। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण स्त्री की संतान सूत कहलाई[4]। कवि ने सूत का काम रथ हाँकना ही कहा है। मनु भी इनका यही व्यवसाय मानते हैं[5]।

जालोपजीवी—जालोपजीवी से कालिदास का आशय धीवर का ही है। शकुन्तला में धीवर अपने को जालोपजीवी कहता है। जाल डाल कर मछली पकड़ना इनका पेशा था।

शिल्पकार[6]—मूर्ति तथा प्रासाद आदि का निर्माण करने वाले शिल्पकार

---

१ कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते।
तच्छौण्डिकापणमव मन्त्राम ॥—अभि० अंक ६ पृ १०१

२ 'भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्र आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—माल० अंक २ पृ० २८६

३ अभि० अंक १

४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ६८

५. मनुस्मृति १०।४७

६ रघुवंश के १६वें सर्ग में कवि ने उजड़ी अयोध्या का वर्णन किया है जहाँ चित्रित (मूर्ति में) हाथी हथिनियाँ मूर्तियाँ बावड़ियाँ आदि के पढ़ने से अनुमान किया जाता है कि शिल्पकार कोई अवश्य था। शिल्पीसंघ से शिल्पियों के अनेक वर्गों का अभिप्राय है। आगे चलकर सर्ग १६ ३८वें छन्द में निश्चित रूप से 'शिल्पिसंघा' इसकी पुष्टि कर देता है। शिल्पकार के लिए कवि ने 'शिल्पिसंघा' शब्द (रघु० १६।३२) प्रयुक्त किया है। इसके अन्तर्गत पाणिनि ने कुलाल बढ़ई धनुष्कार, रजक बनक बुनने वाले सुनार, मणि तराशने वाले लुहार आदि लिए हैं—(India as known to Panini by V. S. Agarwala Ch. Iv)। इन सबसे ही कवि का आशय हो सकता है यद्यपि जहाँ यह प्रयुक्त है वहाँ वास्तुकला के

कहलाते थे। इनकी उत्पत्ति किन जातियों के सम्मिश्रण से हुई कहा नहीं जा सकता। संभव है, पेशे से ही इनकी पृथक् जाति बन गई हो।

मल्लाह[1]—कालिदास ने 'आनायिन्' शब्द का प्रयोग किया है। मल्लिनाथ इसका अर्थ 'जालिका' ही करते हैं। जाल को आनाय कहते थे। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है (जालमानायः ३।३।१२४)।

नर्तकी[2]—इसका पेशा नाचना था। यह राजाओं के दरबार अथवा अन्तःपुर में नाचकर राजा का मनोरंजन किया करती थी। सम्भवतः यह समाज की अभिशापित स्त्रियाँ होंगी जिनसे कुलीन विवाहादि सम्बन्ध न करते होंगे। अतः जीविका के लिए ही वे इस पेशे को धारण करती होंगी।

उद्यानपालिका[3]—उद्यान के वृक्षादि की देखभाल करना पुष्प-चयन करना इनका काम था। प्रारम्भ में चाहे यह कोई जातिविशेष न हो पर धीरे धीरे यह जाति ही बन गई।

तस्कर[4] व कुम्भीरक[5]—अवश्य ही यह कोई जाति न थी न है ही परन्तु जीविका के लिए यह व्यवसाय ग्रहण अवश्य किया गया।

जानने वालों का साक्षात् प्रसंग है। शिल्पियों के औजारों में मणि छेदने के लिए वज्र का नाम है। वज्र एक विशेष औजार था। 'संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव' (अभि० ६।६) 'आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति' (रघु० ६।१२) से लगता है कि इनके कुछ विशेष औजार रहे होंगे। मालविकाग्निमित्र अंक १ में भी कवि सुनार के लिए शिल्पी का प्रयोग करता है (अहो बकुलावलिका। प्रति देष्या एवं शिल्पिसकाशादानीतं नागमुद्रासनाथमङ्गुलीयकं स्निग्धं निध्यायन्ती उपालम्भे पतितास्मि)।

१ स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।—रघु० १६।५५
तत्र समासापवरासु सर्वानानायिनस्तद्विषये नदीष्णान्।—रघु० १६।७५

२ रघु० १६।१४ विस्तृत उदाहरण 'ललितकला' के अध्याय में प्राप्त होगा।

३ 'भवतु अनयोरुद्यानपालिकयो तिरस्करिणी...... ।'
—अभि० अंक ६ पृ० १०२
'तथावत्प्रमदवनपालिकां मधुकरिकामन्विष्यामि'।—माल० अंक ३ पृ० २६०

वागुरिक—(रघु० ९।५३) इनका काम शिकारी कुत्तों के द्वारा शिकार करना था। कवि ने राजा दशरथ के मृगया-सहायतार्थ इनको वन में उनके साथ भेजा है।

नट[1]—निम्न वर्ग अन्त्यज में इनका स्थान आता है। इनका काम अर्थात् व्यवसाय रंगमंच पर नाटक करना था। इनमें स्त्री व पुरुष दोनों होते थे। स्त्रियाँ नटी कहलाती थीं।

वणिज[2]—यह वैश्यों का ही एक वर्ग था। इनका काम वस्तुओं का क्रय-विक्रय करना था।

नोट—ये सब जातियाँ पेशे के अनुसार ही बनीं। सब अपने पैतृक व्यवसाय को ही धारण करती थीं। शकुन्तला में 'किसी भी पेशे की निन्दा नहीं करनी चाहिए, ये सहज कर्म सभी भले हैं'—ऐसा कहा है[3]।

अनार्य जातियाँ—इन जातियों में हूण, शक, यवन आदि आते हैं। (मनु १०—४३—४५) और महाभारत (अनुशासन पर्व ३३ २१–२३, ३५ १७–१८) का ऐसा कहना है कि शक, यवन, शबर, किरात आदि विदेशीय जातियाँ वास्तव में क्षत्रिय ही थीं परन्तु चूँकि ब्राह्मणों के बनाए धर्म और नियम उन्होंने स्वीकार नहीं किए, चूँकि ब्राह्मणों के साथ उनका सम्पर्क नहीं हुआ इसलिए वे शूद्र समझे गए[4]।

कवि कालिदास ने विदेशीय अथवा अनार्य जातियों में 'पारसीक'[5] जिनकी स्त्रियों को उन्होंने यवनी[6] कहा है, हूण[7] और विशेषतः यवन का उल्लेख किया है। राजा की परिचारिका जो धनुष-बाण आदि लाकर देती थी कवि के मतानुसार यवनी[8] ही कहलाती थी। ये विदेशीय राजाओं को परास्त करने के बाद उनके यहाँ की ही स्त्रियाँ होंगी।

---

१ अभि० कवि ने 'नटी' शब्द लिया है।
२ माल० अंक १ १७
३ अभि ६।१ पूर्वोल्लेख।
४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० १००
५ 'पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना'—रघु० ४।६०
६ 'यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः'—रघु० ४।६१
७ 'तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्'—रघु० ४।६८
८ एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः ....।
—अभि० अंक २ पृ० २७

गन्धर्व,[1] किन्नर,[2] विद्याधर,[3] अप्सरा[4]—अभी तक ये सब देव
ातियाँ ही समझी जाती थीं परन्तु अभी हाल ही में श्री रांगेय राघव की
क पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' प्रकाशित हुई है, जिसमें
न्होंने इन सब पर अनेक प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि द्रविड़ जाति
ो बाहर की ही आई जाति है, जो यहाँ भारत के मूल निवासियों से उसी
कार घुल-मिल गई जैसे बाद में आर्य। इन्हीं मूल निवासियों में से यक्ष
र्ग किन्नर का नाम लेते है[5] (भूमिका पृष्ठ ख)। द्रविड़ युग में भारत के

यवनी—भर्त एतदस्त्राणासन्नहितं धरासनम्'—अभि० अंक ५ पृ ११४
'राजा—धनुर्धनुस्तावत्। यवनी—एपानेष्यामि'।
—विक्रम अंक ५, पृ २४१

रघु ५।५१–५६

रघु ४।७८ कुमार० १।८ १४ कुमार० १।१३ ३८ कुमार ५।५९ अभि अंक ७

कुमार० १।७ 'विद्याधर कामनसीनो पुत्तमिनिमक्तान्यीलीस'
—विक्रम अंक ८

रघु० ७।५१ राजा—'परस्वामात एव सखा अप्सरःसमवैया'
—अभि० अंक १

उत्सवसंगमगामिनां विलोक्य प्रीडिता सर्वा अप्सरस:—विक्रम० अंक १
'अस्समुपदीस्यप्सरा'—विक्रम अंक २

५ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार किरात भी मूलतः भारत से बाहर से आए थे। द्राविड़-भाषी 'दास-दस्यु' तथा दक्षिण-देशीय 'निषाद' जनों के अतिरिक्त जातों को संभवतः कुछ पीत मोट भाषी उपजाति गण भी (जिन्हें वैदिक काल से आर्य लोग 'किरात' कहते थे) हिमालय के पास के प्रदेश तथा पूर्वी-भारत के कुछ स्थानों में मिले। ये 'किरात' भारतीय मोंगोलाकार जन (Indo-Mongoloids) भारत में बहुत संभव है कि १००० वर्ष ई० पू० से भी बहुत पहले आ गये थे। उत्तर तथा पूर्वी-भारत के हिन्दू इतिहास और संस्कृति के विकास में इनका काफी बड़ा हिस्सा है।
—डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी १९५४ पृष्ठ ५१
किरात इस समय नेपाल की पूर्वी भाग में बसे हुए हैं। इनके चित्रों के देखने से ये मोंगोलोयड प्रतीत नहीं होते। भागवत पुराण के समय

उत्तर-प्रदेश म अनेक जातियाँ थीं ये यक्ष राक्षस गंधर्व किन्नर आदि ही थी (भूमिका पृ ८)। यक्ष और रक्ष का धातु-मूल एक है। राक्षस और कुबेर भाई-भाई कहे जाते हैं। इनके समाज में स्त्री विलास की वस्तु न थी। पहले नर-नारी सम्बन्ध स्वतन्त्र रहे थे जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बनने पर भी स्त्री को बच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं बना सकी। यही परम्परा थी (भूमिका पृष्ठ ८)। देव से तात्पर्य देवता का नहीं है। इस भूमि पर देव-जाति के अस्तित्व का भी स्वामी शंकरानंद ने उल्लेख किया है। अथर्ववेद म भी देव इसी पृथ्वी के वासी थे ऐसा कहा गया है। यह देव-जाति सोम पीती थी और साम गंधर्वों से खरीदा जाता था (पृष्ठ ९७) बाद म शत्रु के रूप में गंधर्वों का वणन किया जाता था। इसी देव-योनि म विद्याधर अप्सरा गंधर्व किन्नर आदि हैं—

विद्याधराप्सरोयक्ष रक्षोगन्धर्व-किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।।—पृ ७१

भी रांगेय राघव किरात को भी जातिविशेष ही मानते हैं। किरात-परिवार हिमालय के आस-पास फैला था। यह देव का सहायक था (पृ० ११५)। आय विदेशी थे। आय एक जाति नहीं अनेक कबीले या छोटी-छोटी जातियाँ थीं जो परस्पर भी लड़ती थी। ये लोग प्रारम्भ में ईरान में आकर बसे और यहाँ द्रविड़ जाति-समूह तथा किरात-परिवार—यक्ष गन्धर्व किन्नर आदि से सम्बन्ध हुआ (पृ० १२१)। गन्धर्व सेना का वणन कवि ने भी किया है— रथाङ्कतुगा गन्धर्वसेना समादिष्टा (विक्रम० अंक १)।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व—सामाजिक अराजकता न फैलने पाए, इसके लिए भारतवर्ष में सदा से ही वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है। पश्चिम में सदा नए-नए सिद्धान्त बने उनमें बढ़ती गई जिससे बाहर युद्ध और अन्दर हड़ताल बढ़ती गई, लेकिन भारत में यह उन्माद कभी न छाया। व्यक्तिगत आत्मिक शुद्धता आत्मपूर्णता मानव के कल्याण की भावना नैतिकता की रक्षा साथ ही पारिवारिक सुख-शान्ति समाज के लिए बहुत कुछ मूल्य रखती है। सामाजिक जीवन इन्हीं कर्तव्यों और आत्मा पर आधारित था। जब मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सुखी रहता है तथा आदश होता है तभी सामाजिक जीवन भी आदश रहता है। यदि व्यक्तिगत जीवन म आकांक्षाएँ बढ़ती जायें तो आर्थिक सङ्घर्ष भी बढ़ेगा। अतः कालिदास ने वर्ण-व्यवस्था से समाज में एकता संगठन और सन्तुलन स्थापित किया। सभी मनुष्य समाज में एक बड़े परिवार के विभिन्न सदस्यों की भाँति रहते थे।

गन्धर्व,[१] किन्नर,[२] विद्याधर,[३] अप्सरा[४]—अभी तक ये सब देव जातियाँ ही समझी जाती थीं परन्तु अभी हाल ही में श्री रांगेय राघव की एक पुस्तक 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास' प्रकाशित हुई है जिसमें उन्होंने इन सब पर अपेक्षित प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि द्रविड़ जाति भी बाहर की ही आई जाति है जो यहाँ भारत के मूल निवासियों से उसी प्रकार घुल-मिल गई जैसे बाद में आर्य। इन्हीं मूल निवासियों में से बहुत प्रकार गंधर्व किन्नर का नाम लेते हैं" (भूमिका पृष्ठ ङ)। द्रविड़ युग में भारत के

'यवनी—भर्त पुष्पस्तवकापसहितं शरासनम् —अभि॰ अंक १ पृ॰ ११४

राजा—अनुबनुस्तावत्। यवनी—एषाऽन्वेष्यामि।
—विक्रम अंक ५ पृ॰ २४१

१ रघु॰ ११९१-५२ ... कुमार॰ ५१८३ १८ कुमार॰

२ रघु॰ ४।७८ कुमार॰ ११८ १४ कुमार॰ ५१५१ अभि॰ अंक ७

३ कुमार॰ ११७ विद्याधर कानककोनो दुःखविनिगतबाण्पोत्पीड
—विक्रम॰ अंक ४

—अभि अंक १

४ रघु ७।११ राजा—'परस्ताल्लायत एव सखा अप्सरःसंभवैषा
—विक्रम॰ अंक १

उत्सवसंमवामिमां विलोक्य पीडिता सर्वा अप्सरस

अस्तपूर्वधीरप्सरा —विक्रम अंक २

५ डा॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार किरात भी मुख्य भारत में बाहर से आए थे। द्राविड़-भाषी दास-दस्यु तथा दक्षिण-देशीय 'निषाद' जनों के अतिरिक्त आर्यों को संभवतः कुछ पीत मोट भाषी उपजाति जन भी (जिन्हें वैदिक काल से आर्य लोग 'किरात' कहते थे) हिमालय के बाद के प्रदेश तथा पूर्वी-भारत के कुछ स्थानों में मिले। ये 'किरात' भारतीय मोंगलाकार जन (Indo-Mongoloids) भारत में बहुत संभव है कि १००० वर्ष ई॰ पू॰ से भी बहुत पहले आ गये थे। उत्तर तथा पूर्वी-भारत के हिन्दू इतिहास और संस्कृति के विकास में इनका काफी बड़ा हिस्सा है। भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी १९५४ पृष्ठ ११ ... नाटज्यों ... में बसे हुए हैं। इनके विभो

उत्तर-प्रदेश में अनेक जातियाँ थीं ये यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किन्नर आदि ही थीं (भूमिका पृ० क)। यक्ष और रक्ष का धातु-मूल एक है। राक्षस और कुबेर भाई-भाई कहे जाते हैं। इनके समाज में स्त्री विलास की वस्तु न थी। पहले नर-नारी सम्बन्ध स्वतन्त्र रहे थे जो व्यक्तिगत सम्पत्ति बनने पर भी स्त्री को बच्चा पैदा करने वाली मशीन नहीं बना सकी। यही परम्परा थी (भूमिका पृ० ङ)। देव से तात्पर्य देवता का नहीं है। इस भूमि पर देव जाति के अस्तित्व का भी स्वामी शंकरानन्द ने उल्लेख किया है। अथर्ववेद में भी देव इसी पृथ्वी के वासी थे ऐसा कहा गया है। यह देव जाति सोम पीती थी और सोम गंधर्वों से खरीदा जाता था (पृ० १७)। बाद में शूद्र के रूप में गंधर्वों का वर्णन किया जाता था। इसी देव-योनि में विद्याधर, अप्सरा, गंधर्व, किन्नर आदि हैं—

विद्याधराप्सरोयक्ष रक्षोगन्धर्व-किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ।।—पृ० ७१

श्री रांगेय राघव किरात को भी जातिविशेष ही मानते हैं। किरात-परिवार हिमालय के आस-पास फैला था। यह देव का सहायक था (पृ० ११५)। आर्य विदेशी थे। आर्य एक जाति नहीं अनेक कबीले या छोटी-छोटी जातियाँ थीं जो परस्पर भी लड़ती थीं। ये लोग प्रारम्भ में ईरान में आकर बसे और यहाँ द्रविड़ जाति-समूह तथा किरात-परिवार—यक्ष, गंधर्व, किन्नर आदि से सम्बन्ध हुआ (पृ० १२१)। गन्धर्व सेना का वर्णन कवि ने भी किया है—'चित्ररथानुगा गन्धर्वसेना समाविष्टा' (विक्रम० अंक १)।

समाज में वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व—सामाजिक अराजकता न फैलने पाए इसके लिए भारतवर्ष में सदा से ही वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व है। पश्चिम में सदा नए-नए सिद्धान्त बने, उलझनें बढ़ती गईं जिससे बाहर युद्ध और अन्दर हड़ताल बढ़ती गई लेकिन भारत में यह उन्माद कभी न छाया। व्यक्तिगत चारित्रिक शुद्धता, आत्मपूर्णता, मानव के कल्याण की भावना, नैतिकता की रक्षा साथ ही पारिवारिक सुख-शान्ति समाज के लिए बहुत कुछ मूल्य रखती है। सामाजिक जीवन इन्हीं कर्तव्यों और आदर्श पर आधारित था। जब मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सुखी रहता है तथा आस्था होती है तभी सामाजिक जीवन भी आदर्श रहता है। यदि व्यक्तिगत जीवन में आकांक्षाएँ बढ़ती जाएँ तो संघर्ष भी बढ़ेगा। अतः कालिदास ने वर्ण-व्यवस्था से समाज में दृढ़ संगठन और सन्तुलन स्थापित किया। सभी मनुष्य समाज में एक बड़े परिवार के विभिन्न सदस्यों की भाँति रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था का यही महत्त्व था। यह राष्ट्रीय सेवा और कार्यों का एक संगठन था, जिसमें सब एक-दूसरे पर निर्भर रहते थे। जातियों का अभिप्राय एक-दूसरे को दबाना नहीं अपने अधिकारों की वृद्धि नहीं अपितु सहयोग एवं एकता थी। मनु का आदर्श कवि के भी सम्मुख था और तत्कालीन मनुष्यों के सम्मुख भी। (रघु १।१७ रघु० १४।६७)

कालिदास ने बताया है कि ब्राह्मण लोग कैसे संयम और त्याग के साथ जीवन व्यतीत करते थे विद्या प्रदान करना उनका परम कर्तव्य था क्षत्रिय सबकी रक्षा करते थे आत्मसंयमी थे अपने सुन्दर सुचारु शासन से सबको प्रसन्न रखते थे।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥
—रघु २।५३

इसी प्रकार दुष्यन्त का कहना—

आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः । —अभि अंक २ १६

कवि ने वैश्यों के विषय में भी शकुन्तला में लिखा है कि वे अन्य देशों के साथ व्यापार कर देश के धन-धान्य की वृद्धि करते थे। शूद्र भी अपने व्यवहार में कुशल थे और अपनी पैतृक वृत्ति के प्रति अभिमानी थे। मछुआ कहता है—'सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयं। (अंक ६ श्लोक १)। चर्मकार, अहीर धीवर, कुम्हार आदि निम्नवर्ग के मनुष्य भी थे वे भी सभी समाज में रह कर उसके प्रति कर्त्तव्यों का पालन करते थे।

तीसरा अध्याय

आश्रम

जीवन में आश्रम की महत्ता एवं उपयोगिता—वर्ण-धर्म से बड़ा आश्रम-धर्म था। कवि-समाज की सुव्यवस्था एकता संगठन और सन्तुलन के लिए, वर्ण की तरह आश्रम की महत्ता स्वीकार करता है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति मानव जीवन का उद्देश्य है। अतः कवि मानव जीवन को इन्हीं चार उद्देश्यों के अनुसार बाँट देता है। यह समझना भूल है, कि प्राचीन काल के सब साधारण मनुष्य सांसारिक भोग के विरुद्ध थे। यदि ऐसा होता तो कवि गृहस्थ आश्रम को 'सर्वोपकारक्षमम्' (रघु० ५।१०) न कहता। धर्म अर्थ और काम तीनों ही मनुष्य-जीवन के लक्ष्य थे। तीनों को ही वे समान महत्त्व देते थे परन्तु इतना अवश्य है, कि उनकी दृष्टि में धर्म-रहित अर्थ-कामादि निकृष्ट थे। इसलिए वे कुमारसम्भव में शिव जी से कहलवाते हैं कि 'हे देवी आपके इस आचरण से ही मैं समझता हूँ कि धर्म अर्थ और काम में धर्म ही उत्तम है, क्योंकि आप अर्थ और काम को छोड़ कर इसी का आश्रय लिए हुए हैं।'[1]

यहाँ धर्म प्रधान था। मोक्ष की प्राप्ति चरम लक्ष्य थी। परन्तु सन्यास कवि का उद्देश्य नहीं था। मनोविज्ञान के पूर्ण पंडित कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि नैसर्गिक प्रवृत्तियों को दबाना उचित नहीं। प्रवृत्तियाँ दब जाती हैं पर नष्ट नहीं हो सकतीं। इनको जितना दबाया जायगा प्रतिक्रिया उतनी ही गहरी होगी। अतः युवावस्था में विवाह भोग और काम को भी वह उतना ही आवश्यक समझते हैं जितना वृद्धावस्था में संन्यास को। गीता के इस सिद्धान्त पर कवि की आस्था बड़ी गहरी लगती है कि आहार न मिलने से इन्द्रियाँ विषयों से विरत अवश्य हो जाती हैं परन्तु रस की भावना बनी ही रहती है। अतः वस्तु का भोग करने के पश्चात् यदि उसको छोड़ा जाय, तो

---

१ अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥

—कुमार० ५।३८

विरक्ति और त्याग ही सच्चा त्याग होगा[१]। कवि इसलिए गृहस्थाश्रम के
द् वानप्रस्थ और सन्यास कहता है। ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य ज्ञान और विद्या
पार्जन से अपने विवेक को संगठित करता है। इसी व्यवस्था में उसकी
इतनी परिष्कृत रहती है कि नई वस्तु सरलता से और सदा के लिए
। हो जाती है।

इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रमों की नींव पड़ी। प्रारम्भ में ब्रह्म
श्रम जिसमें विद्यार्थी गुरु के पास जाकर विद्या पढ़ता है, युवावस्था में
श्रम जिसमें व्यक्ति विवाह कर गृहस्थ जीवन आरम्भ करता है तत्पश्चात्
प्रस्थ जिसमें मनुष्य धीरे-धीरे सांसारिक मोह से अपना मन हटाकर भगवान्
ओर उन्मुख होता है और सबसे अन्त में सन्यास जिसमें सांसारिक भोग और
को बिल्कुल छोड़ मनुष्य भगवान् में ही अनुरक्त हो जाता है।

कवि भी इसी सिद्धान्त पर आस्था रखता है। आयु के चार विभाग कर
न चार आश्रमों की उसने स्थापना की। शैशव में विद्याभ्यास युवावस्था
भोग वार्धक्य (प्रौढ़ावस्था) में मुनिवृत्ति और अन्त में परमात्मा का ध्यान
े हुए योग से तनुत्याग[२]—इनका आदर्श था। कवि ने प्रथम आश्रम[३]
ीय आश्रम[४] अन्त्याश्रम[५] आदि शब्दों का व्यवहार किया है, जो क्रमशः
चर्याश्रम गृहस्थाश्रम व सन्यासाश्रम के द्योतक हैं। यह उनका विभाजन
ु के चार भागों से सर्वथा मेल खाता है।

सामान्य जनों के लिए यही मार्ग था परन्तु सब क्रमशः ब्रह्मचर्य से गृहस्थ
स्थ से वानप्रस्थ वानप्रस्थ से सन्यास लें ऐसा कोई कठोर नियम नहीं था। श्री
े ने अपनी पुस्तक धर्म-शास्त्र के इतिहास में[१] आश्रम के प्रसंग में समुच्चय
ल्प और बाधा तीन सम्मतियाँ बताई हैं। समुच्चय को सबसे बड़ा मानने

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥—गीता २।५९
'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्' ॥—रघु १।८
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा'।—कुमार
त्वं सम्भविनीयानुगतो गृहस्थ।

वाले मनु हैं। इस पक्ष वालों का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को चारों आश्रमों का पालन करना चाहिए। विकल्प में मनुष्य की इच्छा है, वह ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अथवा परिव्राजक बन जाय। जाबालोपनिषद् वसिष्ठ-धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र इसके समर्थक हैं। गौतम और बौधायन केवल एक ही आश्रम गृहस्थाश्रम मानते हैं ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम की तैयारी है और शेष दो गृहस्थाश्रम की समता में अति निकृष्ट हैं। यही तीसरी सम्मति बाधा है। श्री काणे ने इन सब मतों का विस्तृत विवेचन किया है[१]।

ये सभी ग्रन्थ अति प्राचीन और निस्सन्देह कालिदास के पूर्वकालीन ही हैं। अतः कवि भी किसी विशेष नियम के ऊपर नहीं चलता। कण्व आजन्म ब्रह्मचारी थे[२]। अतः ध्वनि निकलती है कि उनके समय में व्यक्ति यदि चाहते तो ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते थे। स्वयं शकुन्तला के लिए दुष्यन्त ने पूछा था कि शकुन्तला का यह तपस्विनी वेश विवाह होने तक ही रहेगा अथवा यह सारा जीवन इसी प्रकार इन हरिणांगनाओं के साथ ही व्यतीत कर देगी[३]। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विवाह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर था कर अथवा नहीं। यह भी सम्भावना हो सकती है कि वर्ण व्यवस्था के समान आश्रम-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गई हो। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों की सत्ता ने आश्रम-व्यवस्था को कदाचित् अव्यवस्थित कर दिया हो। इस प्रसंग में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। 'शैशवेऽभ्यस्त-विद्यानाम् यौवने विषयैषिणाम्' में शैशव शब्द बहुत कुछ इस अवस्था की ओर संकेत करता है। 'शैशव' शब्द से १६ १७ वर्ष तक की ध्वनि निकलती है, अतः २५ वर्ष वाला ब्रह्मचर्य जीवन अब नहीं रह गया था।

प्रथम आश्रम और छात्र-जीवन—प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम था। इसमें बालक गुरु के पास जाकर विद्या प्राप्त करता था। कालिदास के ग्रंथों में तपोवन ही ऋषियों के आश्रम थे। ये ही शिक्षा के केन्द्र भी थे। कण्व का आश्रम वाल्मीकि-आश्रम और वसिष्ठाश्रम इसी प्रकार के शिक्षा-केन्द्र थे। भरत

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४२४

२ 'भगवान्कण्वः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः' —अभि० अंक १ पृ० १२

३ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥
—अभि० अंक १ २५

कर वन से लौटते थे[1]। रात्रि में पर्णशाला में कुश की चटाई पर सब सोते थे[2] था पृथ्वी पर मृगचर्म बिछा रहता था उस पर सो जाते होंगे[3]। प्रकाश के ए हिंगोट के तैल का दिया जलता रहता था[4]। खाने के लिए उनको लमूल[5] मिलता था। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है, कि उनका आदर्श ादा जीवन—उच्च विचार था। खाना-पीना रहन-सहन सभी कृत्रिमता से दूर रल भावों से परिपूर्ण था। आश्रम के शान्त वातावरण में गुरु की सेवा करता आ तथा अत्यन्त सात्त्विक विधि से जीवन व्यतीत करता हुआ बालक विद्याध्ययन रता था।

प्रथम आश्रम का महत्त्व—यह शान्त वातावरण उसके चरित्र का विधा-क था। स्वभाव की चपलता और क्रोध नष्ट होकर बालक विनयशील नम्र और ाज्ञाकारी हो जाता था[6]। घर की चिन्ताओं से दूर रहकर बालक पढ़ाई में री तौर से मन लगाते थे। गुरु के पास उच्च शिक्षा प्राप्त कर हर प्रकार से म्पूर्ण हो वे गुरु की अनुमति प्राप्त कर पुनः गृह मे लौट आते थे[7]। कौत्स ऋषि इसका उदाहरण है।

विद्यार्थियों का समाज में स्थान—विद्यार्थियों का समाज मे बहुत आदर ा। यहाँ तक कि राजा भी ब्रह्मचारी का बहुत आदर करता था। उसकी त्येक इच्छा को पूरी करना न केवल गृहस्थ का कर्तव्य था अपितु राजा का ी। वरतन्तु के शिष्य कौत्स के पधारने पर रघु सिंहासन से उठकर खड़े हो ए। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् उन्होंने कहा कि आपके आने से मेरा मन ही भरा मुझे कुछ सेवा करने की भी आज्ञा दीजिए। यद्यपि रघु विश्वजित्

---

१ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥—रघु १।४९

२ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥
—रघु १।९५

३ तां इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपामास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यां सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेनुः ॥—रघु १४।८१

यज्ञ में सब कुछ दान कर चुके थे पर कौत्स के मुख से यह सुनकर कि उनको गुरुदक्षिणा के लिए १४ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की आवश्यकता है, वे निराश नहीं हुए न शिष्य को ही उन्होंने वापस लौटा दिया वरन् मुद्राएँ देकर ही विदा किया।

गृहस्थाश्रम—मनोविज्ञान में पूर्ण दक्ष कालिदास इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यौन भावों की तृप्ति के बिना व्यक्ति की इन्द्रियाँ आहार न मिलने के कारण विषयों से विरक्त चाहे हो जायें पर यह विरक्ति वास्तविक न होगी उनमे रस की भावना बनी ही रहेगी। अत आत्मा को संसार से विरक्त कर भगवान् में लगाना यदि थोड़ी-सी भी रस-लालसा अवशिष्ट है, तो ढोंग हो है। इसलिए उनकी दृष्टि में ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम अवश्य आना चाहिए— यदि वत्स उचितं त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे। द्वितीयमध्यासितु तव समय — (विक्रम अंक ५ पृष्ठ २४१)। उन्होंने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम की महत्ता बतानी है। महायोगी शिवजी को भी गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट कराया है और उनके मुख से कहलवाया है— क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्'[1]।

कवि की द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते'[2] इस उक्ति में अपनी ध्वनि अधिक है। सब आश्रमों में उन्होंने इसी आश्रम को सबसे ऊँचा स्थान दिया। मनु भी गृहस्थाश्रम को सब सुखों का सार कहते है। जिस प्रकार वायु से समस्त प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर ही अन्य आश्रम आश्रित हैं। चूँकि अन्य आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ के अन्न और दान पर ही निर्भर हैं अत यह आश्रम सबसे उत्तम है। जैसे नदियाँ समुद्र में जाकर शान्त हो जाती हैं उसी प्रकार अन्य आश्रमों के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम आधार है। इसी कारण वेद स्मृति सब इस आश्रम को उत्तम कहते हैं[3]। कालिदास के मत में सुखी वही है,

---

१ कुमारसम्भव ६।१३

२ रघु ५।१०

३ यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमा ॥—मनु ३।७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥—मनु० ३।७८
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानत ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठ स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥—मनु० ६।८९
यथा नदीनदा सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिण सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥—मनु०, ६।९०

जिसके पास उसकी प्रेयसी हो[1]। अपने प्रेमी के पास हो शरीर का सारा सुख है[2]। स्त्री के बिना सब सुखों का अभाव हो जाता है सम्पूर्ण आनन्द-उत्सव उसके बिना फीके पड़ जाते हैं[3]। समस्त ऋतुसंहार और मेघदूत इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं कि सबसे बड़ा सुख प्रिया का साहचर्य एवं प्रियालिङ्गनजन्य आनन्द है।

गृहस्थाश्रम की सफलता—कवि गृहस्थाश्रम की सफलता कामोपभोग और पुत्र में मानता है। महादेवजी ने पुत्र के लिए विवाह किया[4] परन्तु कामोपभोग भी उनका उद्देश्य था[5]। सम्पूर्ण अष्टम सर्ग शिवजी की रतिलीला से भरा पड़ा है। मेघदूत और ऋतुसंहार भी कामोपभोग गृहस्थाश्रम की सफलता है, इसके साक्षी हैं।

विवाह और गृहस्थाश्रम की सफलता पुत्रोत्पत्ति में थी। अतः पुत्र होने का आशीर्वाद ही सौभाग्यवती स्त्रियों और विवाहित पुरुषों को दिया जाता था[6]। राजा दिलीप की नन्दिनी-सेवा तथा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ इसकी पुष्टि करते हैं। न केवल वंश चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता थी[7] अपितु दाम्पत्य प्रेम की यह ग्रन्थि थी। सन्तानोत्पत्ति से दम्पति का प्रेम कम नहीं होता अपितु बढ़ता ही है। सन्तान की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि तपश्चर्या और दान का सुख तो इसी लोक में है, परन्तु शुद्ध सन्तान इस लोक और परलोक दोनों में ही सुख

---

१ मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।—मेघदूत ३

२ त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम्।—कुमार ४।१०

३ धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे॥—रघु ८।६६

४ सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रतियाचितः॥—कुमार० ६।२७
अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने।—कुमार ६।२८

५ पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।

देनेवाली है[1]। सन्तान स्त्री और पुरुष के प्रेम की मध्य शृंखला है[2]। पुत्र आह्लाद का विशेष कारण है। बच्चों की तुतली बोली उँगली पकड़कर चलना सिर झुकाकर बड़ों को प्रणाम करना आदि देख-देखकर माता-पिता को असीम आह्लाद प्राप्त होता है कवि की दृष्टि में यह अत्यन्त सुखद है[3]। निस्सन्तान दुष्यन्त भरत को देखकर सोचता है, यह नटखट बालक कितना प्यारा है! वह व्यक्ति भी धन्य है जिसकी गोद में बैठकर स्वभाव से हँसमुख कली के समान अस-फुटे दाँतों वाला यह तुतला कर बोलते हुए अपने अंग की धूल से उसकी गोद मैली कर देता होगा[4]। बालक को देखकर माता-पिता की आँखें वात्सल्य से भर जाती हैं और उसे हृदय से लगाने की अभिलाषा होती है[5]।

पुत्र की प्राप्ति आनन्द के लिए नहीं की जाती थी वरन् धर्म में भी इसका बहुत बड़ा ख्याल था। बिना पुत्र के पितरों के ऋण से छुटकारा नहीं मिल सकता था। यह शोक के अँधेरे को दूर करने वाली ज्योति थी[6]। पुत्र के अभाव में ऐसा विश्वास किया जाता था कि पितर तर्पण न पाकर नरक के भागी होते हैं। इसी कारण दुष्यन्त यह सोचता है कि मेरे पितर दुःखी होकर कि

---

१ लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे॥—रघु० १।६९

२ रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥—रघु० ३।२४

३ उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥
तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥—रघु० ३।२५,२६

४ आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥
—अभि० ७।१७

५ बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्ति इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः॥
—विक्रम ५।९

६ न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्॥—रघु० १०।२
पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।—रघु०, १८।२१

मेरे पीछे कौन तर्पण करेगा मेरे लिए जल के कुछ भाग से अपने आँसू धोते हुए और जो बच जाता होगा उसे पी जाते होंगे[१]।

गृहस्थाश्रम के कर्तव्य

अतिथि-सत्कार—गृहस्थों का सबसे बड़ा कर्तव्य अतिथि-सत्कार था। घर पर आए अतिथि की अर्घ्यादि से पूजा करना[२] उनकी कुशलता पूछना[३] तत्पश्चात् यदि वे किसी विशेष आश्रम से आए हैं तो उस आश्रम को पूर्ण करना उनका कर्तव्य था[४]। गृहस्थ अतिथि की सेवा और उसकी इच्छा-पूर्ति से ही संतुष्ट होते थे। द्वार पर अतिथि का आना और कुछ माँगना ही गृहस्थ होने का सच्चा फल था।[५] रघु का कौत्स ऋषि का सत्कार उनकी इच्छानुसार चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ देना, वनवासिनी सीता की वाल्मीकि-आश्रम में अतिथि सेवा, शकुन्तला और उसकी सखियों का दुष्यन्त के प्रति किया गया सत्कार आदि अनेक उदाहरण हैं। अतिथि-सत्कार वैसे ही सबका कर्तव्य कहा गया है परन्तु गृहस्थों का विशेषकर रघु की कौत्सपूजा[६] और हिमालय मेनका की ऋषियों की अभ्यर्थना कर कहना कि आज हमको गृहस्थ होने का सच्चा फल मिला है कि आप-जैसे अतिथि हमारे द्वार पर पधारे,[७] इसके बहुत अमूल्य और पुष्टिकारक प्रमाण हैं।

धार्मिक क्रियाएँ—गृहस्थ की जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सब बिना पत्नी के पूर्ण नहीं होतीं[८]। भारतवर्ष सदा से धर्म को बहुत महत्त्व देता रहा है। अतः पत्नी की महत्ता अथवा गृहस्थाश्रम का महत्त्व भी इसके द्वारा स्वतः स्वीकृत हो जाता है। पुरुष के लिए ही विवाह करना आवश्यक न था स्त्री

१ अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥ —अभि ६।२६

२ तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।

भी धार्मिक कृत्य बिना पति के सहयोग के नहीं कर सकती[१]। रामचन्द्र की यज्ञ में सीता की अनुपस्थिति में उनकी सुवर्ण-मूर्ति इसलिए रक्खी गई थी[२] कि बिना पत्नी के धार्मिक कृत्य हो नहीं सकता था।

सन्ध्या, तपण, होम और यज्ञ

सन्ध्या—प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय सन्ध्योपासना अथवा सन्ध्यावंदना गृहस्थ का कर्तव्य था। इसके अन्तर्गत गायत्री तथा अन्य मंत्रों का जाप मुख्य समझा जाता था। स्वयं शिव जी भी सन्ध्या के समय तपस्वियों को अर्घ्य और जाप आदि से व्यस्त देखकर पार्वती की अनिच्छा होने पर भी उन्हें छोड़ कर सन्ध्या करने चले जाते हैं और गृहस्थ का कर्तव्य पालन करते हैं[३]। यह सन्ध्या जैसा कि 'पाणिमुक्तजलपुष्प' (कुमार० ८।४७) से व्यक्त है, नदी में खड़े होकर की जाती थी। परन्तु कदाचित् गृहस्थों को घर के भीतर करने की भी अनुमति दे दी जाती होगी क्योंकि ऐसी सुविधा उनको प्राप्त नहीं हो सकती।

एक प्रकार से यह सूर्य-पूजा है, क्योंकि अर्घ्य सूर्य को ही दिया जाता है। सन्ध्या के अन्तर्गत अर्घ्य जाप उपस्थान अघमर्षण मार्जनादि का उल्लेख भी असाक्षात् रूप से कवि कालिदास ने किया है[४]।

होम—सन्ध्या के पश्चात् होम गृहस्थ का कर्तव्य है। दोनों समय सन्ध्या के समय पश्चात् होम किया जाना चाहिए। तपोवन जहाँ सभी सन्ध्या के समय होम करते थे होम-धूम से भर जाता था[५]। यह उस समय का प्रचलित विश्वास था कि मनुष्य का तीन ऋण चुकाना पड़ता है। देव-ऋण के लिए वह यज्ञ करता है तथा जीवन भर उसे अग्निहोत्र का करना आवश्यक है।

---

१ आप धर्मचरणेऽपि परवशोऽयं जन ।—अभि० पृ २१

२ स्वाम्यमस्यागोऽपि वैदेह्या पत्न्य प्राप्तांशकामिन ।
यज्ञस्थाने वैदेहीसोवर्ण्यारोपितामूर्तिवर्णयी ॥—रघु० १५।६१

३ अद्रिराजतनये तपस्विनः पावनाम्बुविहितांजलिक्रिया ।
ब्रह्मगूढमभिसन्ध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुण सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥—कुमार० ८।४७ ४८

४ विप मार्यतमस्यान्ते म इत्य तपानिधिम्—रघु १।५६
मल्लिनाथ—विनयपरोपायमुपानस्यान्ते समान....इसी की टीका

५ अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभि ॥—रघु० १।५३

ऋषि-ऋण के लिए वेदादि का स्वाध्याय तथा पितृ-ऋण के लिए विवाह, गृहस्थ का कर्तव्य है[1]।

देव-ऋण के सम्बन्ध में अग्निहोत्र का प्रसंग आता है। गृहस्थ के घर तीन पूजनीय अग्नियाँ सदा संचित रहती थीं जिनका नाम गार्हपत्य दाक्षिणात्य और आहवनीय है। ये संक्षेप में त्रेताग्नि कहलाती थीं[2]। जो एक बार इन अग्नियों को जला देता था उसका परम कर्तव्य था कि प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्या समय इसमें आहुति दे। विवाह के समय जो अग्नि प्रज्वलित की जाती थी वही वर, वधू के गृह से चलते समय अपने घर ले जाता था। इसकी पूजा वह उसकी पत्नी और उसके पुत्र प्रतिदिन किया करते थे।

ऋषि-ऋण में वैदिक स्वाध्याय आता है। यद्यपि कवि ने स्पष्टसंकेत नहीं किया परन्तु उसने तीन ऋणों के नाम अवश्य लिए हैं। अतः वह वैदिक स्वाध्याय पर भी विश्वास करता था[3]। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने पर भी वैदिक शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती थी। प्रतिदिन जितना उसने पढ़ा उसकी कंठस्थ पुनरावृत्ति आवश्यक थी। जितना भी अधिक-से-अधिक उसे याद हो वह प्रति प्रातःकाल दुहराया करता था। यदि उसे कुछ न आता हो तो केवल गायत्री मन्त्र का जाप करने से भी काम चल जाता था।

तर्पण—सन्ध्या के समय स्नान के साथ तर्पण किया जाता था। देवता ऋषि और पितृ तीनों को ही तर्पण दान करना गृहस्थ के लिए शास्त्रीय था। यह वैसे प्रतिदिन ही प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य था परन्तु मृत्यु के पश्चात् उसका तर्पण करना अवश्यम्भावी था।

पञ्च महायज्ञ—देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक था। देवयज्ञ देवताओं के प्रति भक्ति और श्रद्धा का परिचायक था। प्रतिदिन की अग्निपूजा देवयज्ञ का प्रतीक था। अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन और उनकी मधुर स्मृति में तर्पणादि करना पितृयज्ञ कहलाता था। समस्त भूत (प्राणी) कुत्ते और जाति के लिए

कुछ भोजन देना भूतयज्ञ था। मनुष्ययज्ञ में आए हुए अतिथि का आदर-सत्कार करना था। ब्रह्मयज्ञ में प्राचीन ऋषियों के द्वारा निर्मित धर्मग्रन्थ वेदादि का पाठ करना था। इस प्रकार देवता पूजन समस्त प्राणि-वर्ग—मनुष्य पशु पक्षी और प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा कृतज्ञता सहानुभूति सहनशीलता रखना पंच महायज्ञों का महत्त्व था।

परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया पंच महायज्ञों का महत्त्व परिवर्तित हो गया। मनु[1] इत्यादि ने कहा कि चूल्हा चक्की झाड़ू मूसल उदकुम्भ आदि के द्वारा मनुष्य अनजाने म न मालूम कितने जीवों की हिंसा का कारण बनते हैं। जो पंच महायज्ञ करेगा उसको इन पाँच स्थानों से अनजाने में किए हुए जीवहिंसा का पाप नहीं भोगना होगा।

संक्षेप में गृहस्थाश्रम का महत्त्व त्रिवर्ग की प्राप्ति था। अतिथि-पूजा जाप होम तर्पण सन्ध्या-वन्दना ही धर्म जीविकोपार्जन से अर्थ स्त्री और पुत्र की प्राप्ति से काम[2] यही धर्म अर्थ काम—त्रिवर्ग की उपलब्धि गृहस्थाश्रम का महत्त्व कहा जा सकता है।

तृतीय आश्रम

महत्त्व—गृहस्थाश्रम के समस्त सुख भोग लेने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम म धार्मिक क्रियाओं के रहते हुए भी अर्थ और काम प्रधान रहते थे। पूर्णरूपेण इन्द्रियजन्य तृप्ति पा जाने पर स्वत मनुष्य का मन धीरे-धीरे भोग-विलास से विरक्त हो जाता था दूसरी ओर पुत्र तथा पुत्रियों के समस्त उत्तरदायित्व सँभाल सकने की योग्यता आ जाने पर पारिवारिक कर्तव्य की भी इतिश्री हो जाती थी। अत वानप्रस्थ आश्रम में सांसारिक मोह और बन्धनों का त्याग करना चरम उद्देश्य माना गया। अपने पारिवारिक बन्धनों का परित्याग कर वन मे स्त्री के साथ जाकर तपस्या करना ईश्वर में मन लगाना और मुनिवृत्ति को ग्रहण करना ही वानप्रस्थ आश्रम की सार्थकता थी।

सामाजिक आदर्श यही था। रघुवंशी राजाओं ने तो अपना ध्येय ही बना लिया था कि वृद्धावस्था आ जाने पर मुनिवृत्ति लें[3]। अपने पुत्र के राज्य

---

१ पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥—मनुस्मृति ३।६८

२ धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन्।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः॥—रघु० १।७६

३ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥—रघु० १।८

कार्य सम्भालने की योग्यता आ जाने पर सभी वल्कल वस्त्रधारी होकर जंगल में चले जाते थे[१]। कालिदास इसी आदर्श के ऊपर पूर्णरूप से आस्था रखते थे। यदि ऐसा न होता तो रघुवंशी आदर्श राजाओं में ही इस परम्परा को सीमित कर सकते थे। परन्तु विक्रमोर्वशीय नाटक में भी इसी का संकेत है[२]। यही नहीं शकुन्तला के द्वारा यह पूछे जाने पर कि अब मुझे आश्रम के दर्शन कब होंगे कण्व यही उत्तर देते हैं कि पुत्र का राज्याभिषेक कर वृद्धावस्था में ही तुम यहाँ आ पाओगी[३]।

यथार्थ में युवावस्था में विलास भरी सामग्री से युक्त भवनों में रहना और वृद्धावस्था में स्त्री को साथ लेकर पेड़ों के नीचे रहना ही प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श था[४]।

वानप्रस्थ में वेश भूषा—मुनिवृत्ति धारण करने पर सांसारिक वैभव को छोड़ देना होता था। अतः गृहस्थ-जीवन का वेश-विन्यास इस जीवन में सदा के लिए परित्यक्त हो जाता था। कन्दमूल आदि का सादा भोजन करना सादा वेश वानप्रस्थ जीवन का मूल था। इस जीवन में वल्कल[५] आदि को

मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये।
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥—रघु ३।७०

१ गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥—रघु ८।११
पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव॥—रघु १८।२६
प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥
—रघु ७।७१

२ अहमपि तव सूनावद्य विन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि।
—विक्रम ५।१७

३ भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥
—अभि ४।२०

४ भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।

व्यक्ति धारण कर सकते थे। तपस्वियों के समान ही जीवन को व्यतीत करना उनका चरम लक्ष्य था।

वानप्रस्थों के रहने का स्थान—वानप्रस्थों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे जंगलों या तपोवन में ही जायें। यह उनकी अपनी व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर था कि वे नगर के बाहर कुटिया बनाकर रहें[1] या अरण्य में तपस्वियों के आश्रम में चले जायें[2]। वानप्रस्थ-आश्रम में स्त्रियाँ भी रहती थीं। अर्थात् अपनी स्त्री को साथ लेकर पुरुष तपस्वी-जीवन में प्रविष्ट हो सकते थे[3]। परन्तु स्त्री के अतिरिक्त अन्य कोई पारिवारिक बन्धु उनके साथ नहीं जा सकता था क्योंकि इससे वानप्रस्थ का चरमलक्ष्य मोह-त्याग सिद्ध न हो पाता। रहने भर के लिए उनको स्थान की आवश्यकता थी। ऐश-आराम से परिपूर्ण कोई भवन नहीं अपितु आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही वे या तो कुटिया बना लें[4] या पेड़ों के नीचे ऐसे ही रहें[5]। सोने के लिए कुश की चटाई[6] या मृगचर्म[7] और प्रकाश के लिए इंगुदी के तेल का दीपक वे प्रयुक्त कर सकते थे[8]।

---

१ स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।—रघु ८।१४

२ मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये ।—रघु ३।७०

—अहमपि तव सूनावायविन्यस्य राज्यं विचरितमृगयूथान्याश्रयिष्ये वनानि ।
—विक्रम० ५।१७

देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणियाँ नं० ३, ४ इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० २ में रघु० ३।७०

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥
—रघु० ७।७१

४ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥
—रघु० १।९५

ता इंगुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्मै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥—रघु० १४।८१

५ नियमैकपतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम् ।—अभि० ७।२

६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—रघु० १।९५,

७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—रघु० १४।८१

८ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—रघु० १४।८१

में नदी पशु-पक्षी वृक्ष-लता नीवार[1] आदि का सौन्दर्य तपस्वियों के आश्रम में ही सरलता से देखा जा सकता था। इस समस्त वातावरण को दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाते समय चित्रित करने का प्रयास करता है। पृष्ठभूमि में मालिनी नदी जिसकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों दोनों ओर हिमालय की तलहटी जहाँ हरिण बैठे हों एक पेड़ पर लटकते वल्कल और उस पेड़ के नीचे एक हरिणी अपने वाम नेत्र काले हरिण के सींग से रगड़कर खुजा रही हो बनाना उस वातावरण की सार्थकता थी[2]।

स्थान-स्थान पर पर्णकुटी[3] बीच-बीच में लतागृह कुंज[4] आदि जिनमें पत्थर की शिलाएँ[5] भी विश्रामार्थ पड़ी रहती थीं न केवल सौन्दर्य को बढ़ाती थी अपितु तपती दोपहरी में शान्ति भी देती थी।

शान्ति और सन्तोष आश्रम के वातावरण की विशेषता थी। उनकी अहिंसा वृत्ति और विश्वबन्धुत्व उनके इस सहज स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य का रहस्य कहा जा सकता है।

तपस्वी-जीवन—तपस्वियों के जीवन का सामारिक मनुष्यों से कोई संबंध नहीं था। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों के स्थान पर वल्कल पहनना[6] या यदि सूती

---

१ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥—रघु० १।५०
नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः ... —अभि० १।१४

२ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥—अभि ६।१७

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ रघु० १।५० तथा पीछे भी जहाँ कुटिया और पर्णशाला का प्रसंग आया है। 'गच्छोटजमुपगच्छामः'। —अभि० अंक १ पृ० १७

४ अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामंडपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम्। —अभि अंक ३ पृ० ४२

५ एषा मे मनोरथप्रियतमा शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते। —अभि अंक ३ पृ० ४३

६ देखिए, आगे अध्याय 'वेशभूषा'।

तपस्वियों के आश्रम—जहाँ पर तपस्वी लोग रहा करते थे वह स्थान तपोवन कहलाता था। संसार के कोलाहल और अशान्ति से दूर, नगर के बाहर स्थित तपोवन धार्मिक वातावरण से ही पूर्ण रहते थे। इन आश्रमों का वातावरण इतना शान्त और पवित्र रहता था कि उसके व्यक्ति जब नगर में प्रवेश करते थे तब उन्हें अरुचि उत्पन्न होती थी[1]।

तपोवन में प्रवेश करते ही वहाँ की शान्ति से मनुष्य का हृदय बिना प्रभावित हुए नहीं रहता था। दूर से ही चिड़ियों के घोसलों से गिरा नीवार, इंगुदी के बीजों को तोड़ने वाले पत्थर, विश्वासपूर्ण निर्भयता के साथ घूमते हुए मृग तथा वल्कल से टपके हुए जल-बिन्दुओं की रेखा को देखकर निश्चय हो जाता था कि तपोवन पास ही है।[2]

इस प्रकार तपोवन के वातावरण में कहीं कृत्रिमता नहीं थी। प्राकृतिक सौन्दर्य का वह पुञ्ज स्थल था। मृग आदि निर्भयता से इधर उधर घूमते थे[3]। लता-वृक्षादि से तपोवन भरा-पूरा रहता था। तपस्वी कन्याएँ इन वृक्षों को प्रतिदिन सींचा करती थीं[4]। वृक्षों की जड़ों के चारों ओर थाले रहते थे जिनमें पानी भरा रहता था। आश्रम के पक्षिगण इनमें से जल पीकर अपनी प्यास बुझाया करते थे[5]।

शकुन्तला की समस्त बाल्यावस्था ही मृग आदि पशुओं और वनज्योत्स्ना मल्लिका आदि लताओं तथा आम आदि वृक्षों के बीच में व्यतीत हुई थी। वास्तव

---

१ तथापीदं शश्वत्परिचितविविक्तेन मनसा जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव।

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव —अभि ५।१०
सुप्तम् बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि।—अभि ५।११
नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः

में नदी पशु-पक्षी वृक्ष-लता नीवार[1] आदि का सौन्दर्य तपस्वियों के आश्रम में ही सरलता से देखा जा सकता था। इस समस्त वातावरण को दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाते समय चित्रित करने का प्रयास करता है। पृष्ठभूमि में मालिनी नदी जिसकी रेती में हंस के जोड़े बैठे हों दोनों ओर हिमालय की तलहटी जहाँ हरिण बैठे हों एक पेड़ पर लटकते वल्कल और उस पेड़ के नीचे एक हरिणी अपने वाम नेत्र काले हरिण के सींग से रगड़कर खुजा रही हो बनाना उस वातावरण की सार्थकता थी[2]।

स्थान-स्थान पर पर्णकुटी[3] बीच-बीच में लतागृह कुंज[4] आदि जिनमें पत्थर की शिलाएँ[5] भी विश्रामार्थ पड़ी रहती थी न केवल सौन्दर्य को बढ़ाती थी अपितु तपती दोपहरी में शान्ति भी देती थी।

शान्ति और सन्तोष आश्रम के वातावरण की विशेषता थी। उनकी अहिंसा वृत्ति और विश्वबन्धुत्व उनके इस सहज स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य का रहस्य कहा जा सकता है।

तपस्वी-जीवन—तपस्वियों के जीवन का सांसारिक मनुष्यों से कोई साम्य नहीं था। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रों के स्थान पर वल्कल पहनना[1] या अति मूलो

---

१ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥—रघु० १।५०
नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः ...—अभि० १।१४

२ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥—अभि० ६।१७

३ देखिए, पादटिप्पणी न० १ रघु० १।५० तथा पीछे भी जहाँ कुटिया और पर्णशाला का प्रसंग आया है। मध्योटजमध्यमिममपमुपहर ।
—अभि० अंक १ पृ० १७

४ अस्मिन्वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपे संनिहितया शकुन्तलया भवितव्यम् ।
—अभि० अंक ३ पृ० ४३

५ एषा मे मनोरथप्रियतमा शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते ।
—अभि० अंक ३ पृ० ४१

१ देखिए, आगे अध्याय 'वेशभूषा'।

स्त्र पहनना हो तो काषाय रंग से रँग कर पहनना[1] उनकी प्रधान वेशभूषा थी। कमर में मूँज की बनी मेखला[2] (कभी-कभी यह कुश की भी होती थी[3]) अक्ष माला का वलय[4] कान पर दुहरी अक्षमाला[5] या हाथ में ही रहने देना[6] बैठने के लिए मृगचर्म[7] सोने के लिए मृगचर्म[8] कुश की चटाई[9] अथवा ऐसे ही स्थण्डिल भूमि का प्रयोग[10] इनकी प्रधान वेशभूषा थी। इनके हाथ मे पलाश दण्ड रहता था[11]। सिर पर जटाएं रहती थी[12]। सिर को चिकना करने के लिए वे इंगुदी का तेल प्रयोग म लाते थे[13]। घावों पर भी वे इसी तेल का प्रयोग करते थे[14]।

उषाकाल विद्याध्ययन का रहता था[15]। प्रातः और सायं समिधा कुश फल लाने के लिए ऋषि तपोवन से बाहर जाते थे। सन्ध्या के समय तपस्विगण समिधा कुश आदि लेकर तपोवन मे वापस आते थे[16]। ऋषिकुमार भी इस काम मे

---

१ ततो भगवतु शरीरमग्निसात्कृत्वा पुनर्दीक्षितैकवल्कलु तथा
मया त्वदीयं वेषमदतीय इमे काषाये गृहीते ।—माल० अंक १ प ११
२ प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम्।—कुमार ५।१
३ अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम्।—रघु० ३।२१
४ पयोऽग्रमालावलयं मृणाल्या कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् —रघु १३।४३
५ मुखेन मौनस्थमलाक्षमालं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।—कुमार० ३।४६
६ कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः।—कुमार ५।११
७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४ यथाजिनाषाढधरः—कुमार ५।३
८ तां इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः — रघु १४।८१
९ तस्मिन्स्वाध्ययननिवर्तितमुखानां संविशन् कुशशयने निशां निनाय।—रघु १।९५
१० अयत्न सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले।—कुमार ५।१२
११ अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनम्…… —कुमार० ५।३
१२ देखिए पादटिप्पणी नं १
१३ मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलमिश्रचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।
—अभि अंक २ पृ १४
१४ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
—अभि अंक ४ प १४

सहयोग दिया करते थे[1]। मृगादि भी इन ऋषि-कन्याओं के हाथ से नीवार खाने के अभ्यस्त थे (अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः —कुमार० ५।१५) सायंकाल के समय उनकी कुटिया भरे रहते थे[2]। ऋषि कन्याएँ पेड़-पौधों को पानी देती थीं[3] पक्षियों के पानी पीने का प्रबन्ध[4] करना मृगादि की देखभाल करना उनका कर्त्तव्य था[5]। मृगादि भी निर्भयता से सायंकाल के समय वेदी के चारों ओर बैठ जाते थे[6]। अतिथि-पूजा ऋषि-कन्याओं का प्रधान धर्म था[7]।

ऋषि-मुनि विवाह करते थे। अनसूया और प्रियंवदा आश्रम की ही कन्याएँ थीं और कण्व के मतानुसार उनका भी विवाह होना था[8]। परन्तु उनका मुख्य कर्त्तव्य और ध्येय तपादि धार्मिक क्रियाएँ थीं। तप के द्वारा वे आत्मा की शुद्धि करते थे। तपश्चर्या के विभिन्न प्रकार थे। पञ्चाग्नि तपस्या[9] शीतकाल में सम्पूर्ण रात्रि भर पानी में रहना[10] वर्षा में खुली चट्टानों पर सोना[11] बिना माँगे प्राप्त हुआ जल और फल खाकर रहना[12] मृग के समान केवल घास

---

१ अथ पुण्यधर्मिलतुमनिमित्तं ऋषिकुमारैः सह गतेनानेनाश्रमपदमाचरितम् ॥
विक्रम० अंक ५, पृ० २८६

२ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥
—रघु० १।५०

३ सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥—रघु० १।५१
—शकुन्तला, सीता व पार्वती का पौधे सींचना।

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३।

५. देखिए, पादटिप्पणी नं० २ शकुन्तला का मृग-प्रेम मृग के घावों में तेल लगाना आदि।

६ सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय। —रघु० १४।७९

७ तथाभिषेकप्रयता वर्तन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः। —रघु० १४।८२
विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि। —कुमार० ५।१७

८ इमेऽपि प्रदेये। —अभि० अंक ४ पृष्ठ ७५

९ शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा —कुमार० ५।२०
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटंतपसप्तसप्तिः। —रघु० १३।४१

१० निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा। —कुमार० ५।२६

११ शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु। —कुमार० ५।२५

१२ अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
..........बभूव तस्याः किल पारणाविधिः ॥—कुमार० ५।२२

खाना[1] मौन रहना[2] शरीर को भी अग्नि में हवन कर देना[3] पेड़ की शाखा पर उल्टा लटक कर नीचे जलती आग का धुआँ पीकर रहना[4] आदि घोर तप के प्रकार थे। तपस्या में वे इतने लीन हो जाते थे कि चिड़ियाँ उनके बालों में घोंसला बनाने लगती थीं शरीर पर साँप रेंगने लगते थे और दीमक की बाँबी उनके शरीर पर जम जाती थी[5]।

यह तप-साधना किसी फल-प्राप्ति के लिए होती थी[6]। इसके द्वारा वे भूत भविष्य वर्तमान सब कुछ जान जाते थे। दिलीप के पुत्र क्यों नहीं हुआ[7] दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग क्यों किया राम ने सीता को क्यों छोड़ा[9] यह सब वसिष्ठ मारीच और वाल्मीकि को योगबल से ही मालूम हुआ था।

क्रोधित होने पर वे शाप भी देते थे। परन्तु क्रोध अकारण नहीं होता था। दुर्वासा के शाप और श्रवणकुमार के माता-पिता के शाप का रहस्य अकारण क्रोध न था।

धार्मिक क्रियाओं में तल्लीन रहना उनकी दिनचर्या थी। सन्ध्या जाप[10] होम[11] आदि वे नियमित रूप से करते थे। होम के धुएँ से सारा तपोवन सुगन्धित

---

१ पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।—रघु० १३।३९

२ वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैव कम्पेन किंचित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।—रघु० १३।४४

३ अत्र शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय संतर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥—रघु० १३।४५

४ अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कंचिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥—रघु १५।४९

५. वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः । अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलम् यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥—अभि० ७।११

६ अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ।—कुमार ५।६

७ सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।—रघु १।७४

८. तदेव व्यामोहनगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं त्वया प्रत्यादिष्टा ।
—अभि० अंक ७ पृ० १४९

[illegible] भर्त्रा ।—रघु १४।७२

रहता था[1]। अहिंसा उनका मूलमन्त्र था। आश्रम के मृगों पर हाथ उठाने का किसी को अधिकार नहीं था[2]। आश्रम की मर्यादा के प्रतिकूल कार्य करने पर व्यक्ति को तपोवन के बाहर कर दिया जाता था[3]। विरक्तमनुष्य उनका लक्ष्य था। लता-वृक्षादि में भी उनकी आत्मीयता थी। विषय-भोग की विमुखता राग के ऊपर उठने की चेष्टा उनका ध्येय था[4]। वे यज्ञ भी करते थे[5]। अमंगल के परिहार के लिए विशेष व्रत-अनुष्ठान भी किया करते थे[6]।

तपस्विनी कन्याएँ भी इसी प्रकार का सादा जीवन व्यतीत करती थीं। वेष भूषा उनकी ऋषियों के समान वल्कल की ही थी। आभूषणादि व पुष्प के पहनती थीं[7]। अतिथि-सत्कार[8] वृक्ष-मृगादि के प्रति सौहार्द[9] उनकी विशेषता थी।

संन्यास-आश्रम—सबसे अन्तिम आश्रम संन्यास आश्रम कहलाता था। कालिदास इसको 'अन्त्य आश्रम' कहते हैं। यद्यपि अन्त्य के सम्बन्ध में टीकाकारों में मत की विभिन्नता है कि यह संन्यास है या वानप्रस्थ पर मल्लिनाथ इसका अर्थ संन्यास ही लेते हैं[10]।

उद्देश्य—संन्यास और वानप्रस्थ आश्रमों में बहुत अन्तर नहीं है। मोक्ष साधना और वैराग्य का वानप्रस्थ प्रारंभ है और संन्यास परिपक्वता है। मोक्ष पाने

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ११।

२ आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।—अभि० अंक १ पृ ७

३ गृहीतामिष इव गृध्र पादपशिखरे निलीयमानोऽनेन कस्यवृत्तो आश्रमस्य। तत उपलब्धवृत्तान्तेन भवता व्यवसिताः समादिष्ट निर्वासितैनमुपसीहरते स्थानमिति।—विक्रम अंक ५ पृ २७९

४ अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि।—अभि० अंक ५ ११

५ वीट्यवदिमप रसतमिनुभिरनुयीमपुपुभि प्रवृधिता।
संभ्रमी भवत्पोसक्मणामलिया व्युतविकंशतभुषाम्॥—रघु० ११।२५

६ इयमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।—अभि० अंक १ पृ० ९

७ देखिए, अध्याय 'वेषभूषा'।

८ शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं...
—अभि० अंक १ पृ० ९

९ अभि० अंक १ श्लोक ४।

१० स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ... —रघु० ८।१४
देखिए इसकी टीका भी।

के लिए तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्र-चर्चा[1] कुश के आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करना[2] योगबल से शरीर के भीतर रहनेवाले पाँचों पवनों को वश में करना[3] ज्ञान की अग्नि से कर्मों को राख कर डालना[4] धन के प्रति वैराग्य[5] प्रकृति के सत् रज तम को जीतना[6] आदि इस आश्रम के उद्देश्य थे। इस प्रकार की योगक्रिया से वे परमात्मा के दर्शन करने में समर्थ हो जाते थे[7]। इन्द्रियों को वश में कर[8] अन्त में योगमार्ग से शरीर छोड़ देते थे[9]।

योग और तपश्चर्या ही उद्देश्य की प्राप्ति का माध्यम थी। कालिदास ने विभिन्न प्रकार की योग-साधना और तपश्चर्या का उल्लेख किया है। पञ्चाग्नि तप शीतकाल में रात्रिभर जल में खड़े रहना वर्षा में खुली चट्टानों पर सोना मृग के समान केवल घास खाकर रहना मौन रहना शरीर का अग्नि में हवन करना पेड़ की शाखाओं पर उल्टा लटककर नीचे जलती अग्नि का धुआँ पीकर रहना आदि अनेक प्रकार थे जिनका उल्लेख किया जा चुका है। तपस्या में इतनी तल्लीनता आ जाती थी कि शरीर पर दीमकों की बाँबी आ जाती थी छाती पर साँप की केंचुलें पड़ी रहती थीं गले में बेलें उलझ कर सूख जाती थीं। कन्धों पर फैली जटाओं में चिड़ियाँ घोंसला बनाने लगती थीं[10]।

इस योगबल से ही कण्व[11] मारीच[12] वाल्मीकि वसिष्ठ ने भूत भविष्य

---

१ अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ।—रघु० ८।१७
२ परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ।—रघु० ८।१८
३ अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ।—रघु० ८।१९
४ इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ।—रघु० ८।२०
५ ६ रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ।—रघु० ८।२१
७ न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ।—रघु० ८।२२
८ इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ।।—रघु० ८।२३
९ तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ।।—रघु० ८।२४
योगेनान्ते तनुत्यजाम्—रघुवंशी आदर्श था ।—रघु० १।८
१० उल्लेख पीछे हो चुका है ।—अभि० ७।११
[illegible]

वर्तमान सब कुछ जान लिया था। इन तपस्वी-गणों के अतिरिक्त साधारण लौकिक मनुष्य भी प्रयास करने पर योग-विद्या से ही परमात्मा का दर्शन कर लेते थे[1]। रघु का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

जन-साधारण में चाहे इन आश्रमों का प्रचार अधिक न हो परन्तु मान्य अवश्य रहा था। मालविकाग्निमित्र में कवि ने परिव्राजिका[2] का प्रसंग दिया है जो इस आश्रम के मान्यता की पुष्टि करता है। यद्यपि इस ग्रन्थ से ऐसा अवश्य आभासित होता है कि गौतम बुद्ध के धर्म का प्रभाव जनता पर पड़ने लगा था और स्त्रियाँ भी परिव्राजिका बनने लगी थीं।

वर्णों की तरह आश्रमों के रक्षक भी राजा थे[3]। मनुष्य आश्रमों के प्रतिकूल काम न करें ऐसा उनका प्रधान कर्तव्य था।

शाश्वतीमुपगता तपोवनं व्यामाश्रमतोऽस्मि दुर्लभम् नाथानिर्मं तपस्विनी सहधर्मचारिणो त्वया प्रत्यादिष्टा मान्यपति। न चायमंगुलीयकदर्शनादस्मान्।

—अभि० अंक ७ पृ० २४९। (भरत के विषय में)—रथेनानुद्धतस्तिमितगतिना तीर्णजलधि पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथ। इहायं सत्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमन पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्।

—अभि० ७।३३

1 पीछे उल्लेख हो चुका है देखिए—रघु० ८।२२

2 सभी ग्रंथों में नाम आता है।

3 नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।—रघु०

—निगृह्य चोरं ...

४

चौथा अध्याय

संस्कार

आशय तथा उद्देश्य—प्राचीन वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि 'सम् पूर्वक कृ' धातु का उपयोग बहुधा देखा जाता है। इसमें 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग कर संस्कृत शब्द का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है[1]। शतपथ ब्राह्मण में 'स इदं देवेभ्यो हविः संस्कुरु साधु संस्कृतं संस्कुर्वित्येवैतदाह' (१ १ ४ १०) तथा 'तस्मादु स्त्री पुमांसं संस्कृते तिष्ठन्तमभ्येति' (३ का २ १ २२) आदि वाक्यों का उपयोग हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् ४ १६ १ २ में 'तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी। तयोरन्यतरां मनसा संस्करोति ब्रह्मा वाचा होता' आया है। संस्कार शब्द का प्रयोग जैमिनि के सूत्रों में बहुत अधिक मिलता है[2]। अधिकतर इस शब्द से उनका आशय यज्ञ में सम्पादित किसी क्रिया से है, जिससे मनुष्य की शुद्धि हो। ३ ८ ३ में इसका उपयोग केशान्त दन्तधावन नखकृन्तन क्रियाओं के लिए किया गया है जो यज्ञ करनेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक समझी जाती है। ९ १ २५ में प्रोक्षण के लिए, १० २ ४१ में क्षौर कर्म (Shaving of head & face) के लिए इसका उपयोग किया है। उपनयन के अर्थ में भी जैमिनि ने (६ १ ३५) इस शब्द का प्रयोग किया है—'संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः'। संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि विभिन्न मनीषियों की इस शब्द के अर्थ में पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। शबर स्वामी का कहना है कि संस्कार वह वस्तु है जिसके होने से कोई वस्तु या व्यक्ति किसी के योग्य बनता है (संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य)[3]।

---

१ ऋग्वेद, ५ ७६ २; ८.११ ६; १ ९८ ४

'योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्काराः इत्युच्यन्ते'[1] यही तंत्रवार्तिककार कुमारिल की धारणा है। शंकर का कथन है—'संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा'[2]। योग्यता के विषय में तंत्रवार्तिककार का कहना है कि यह योग्यता दो प्रकार की है। दोषों के अपनयन तथा गुणों के आधान से मनुष्य योग्य बनता है। 'योग्यता च सर्वत्र द्विप्रकारा दोषापनयनेन गुणान्तरोपजननेन च भवति'[3]। 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में भी काणे ने कहा है कि संस्कार नए गुणों का उत्पादक है और उससे पाप अथवा पाप-जन्य अपराध आदि का निवारण होता है। यद्यपि धर्मग्रन्थों में अभिनन्दित कार्यों को न करने से दोष माना जाता है। जिन बातों या कार्यों के करने का निषेध हो उन कार्यों को मनुष्य इस जन्म में अथवा गत जन्म में कर ही जाता है। इन कार्यों को करने से उत्पन्न दोषों का यदि परिहार न किया जाय तो वे व्यक्ति कितना ही निर्दोष यज्ञ करें उसका यज्ञ का फल प्राप्त न होने देंगे। इनका प्रभाव उस यज्ञ-फल पर अवश्य ही पड़ेगा[4]। संस्कार की परिभाषा करते हुए वीरमित्रोदय इसके दो विभाग कर देते हैं। जातकर्म आदि संस्कारों से शरीर की शुद्धि होती है और उपनयन आदि से अदृष्ट धर्मवाले कर्मों की योग्यता प्राप्त होती है। 'एते गर्भाधानादयः संस्काराः शरीरं संस्कुर्वन्तः सर्वेष्वदृष्टार्थेषु कर्मसु योग्यतामिमामं कुर्वन्ति। कर्मान्तरयोग्यतातिशयश्च'[5]।

संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि संस्कार से सर्वत्र शरीर की शुद्धि पवित्रता एवं रमणीयता की ध्वनि निकलती है। स्वयं कालिदास ने संस्कार शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग किया है। कुमारसम्भव सर्ग १, २८ में—

'संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च'

'संस्कारवत्या' की टीका करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं—

'संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिस्तद्वत्या गिरा वाचा.... ..

इसी ग्रन्थ के सर्ग ७, १० में—

---

१ तंत्रवार्तिक पृ० १०७८ तुलना कीजिए—'संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य'। महाभाष्य ४।१।२५। 'दत्तयोग रूपा हि क्रिया संस्कार इति मन्यते'। कैयट महाभाष्य ४।१।२५
२. वेदान्तसूत्र-शांकर १ १ ४
३ तंत्रवार्तिक पृष्ठ १११५ जैमिनी ३ ८ ९
४ धर्मशास्त्र का इतिहास अध्याय ६ पृष्ठ १९१
५. धर्मशास्त्र का इतिहास अध्याय ६ पृष्ठ १९१ (पादटिप्पणी)

संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधू सुखग्राह्य निबन्धनेन ।

संस्कार शब्द से संस्कृत अर्थ निकलता है, पर संस्कृत से संस्कृत भाषा के साथ-साथ (well purified) अच्छी तरह से जिसकी शुद्धि हो चुकी हो ऐसी भी प्रतीति होती है। प्रसिद्ध संस्कारों के अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग कालिदास ने क्रिया के रूप में 'संस्कारोभया प्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि' (रघु० 15।31) किया है। यही पवित्रता रमणीयता और शुद्धता रघुवंश सर्ग 15 71 में भी परिलक्षित होती है—

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरपूजयत् ॥

अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक 6 श्लोक 6 की गहराई में जाने से संस्कार का प्रयोजन एवं महत्त्व भली भांति समझ आता है—

जिन्ताबामरजप्रजान्तमप्रसन्नेमोगुबारात्मन ।
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥

जिस प्रकार खराद म से निकली हुई मणि क्षीण होने पर अलौकिक प्रभायुक्त हो जाती है, उसी प्रकार संस्कार हो जाने से व्यक्ति तेजस्वी हो जाता है, ऐसी ध्वनि निकलती है। यही भावना रघु० सर्ग 3 18 में—

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥

उद्देश्य—इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कार शुद्धि और योग्यता के लिए किए जाते हैं। मनु का कहना है कि द्विजातियों के बीज तथा गर्भ से उत्पन्न पाप गर्भावस्था में किए गए हुए होम के द्वारा जन्म लेने के पश्चात् जातकर्म चौल आदि के द्वारा शान्त हो जाते हैं[1]। याज्ञवल्क्य की भी ऐसी ही धारणा है— एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्[2]। इन दोनों विद्वानों की धारणाओं की ही मेधातिथि कुल्लूक आदि ने अपनी-अपनी तरह से व्याख्या की है। मेधातिथि बीज और गर्भ को पाप का कारण नहीं मानता वरन् मनुस्मृति अध्याय 2 श्लोक 27 में आए 'एन' का तात्पर्य अपवित्रता का लेता है[3]। कुल्लूक से तात्पर्य 'प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिप्र...

है 'मातृपितृगर्भवास'-जन्य पाप है[१]। याज्ञवल्क्य स्मृति का मिताक्षराकार पापी अथवा अपवित्र माता पिता से उत्पन्न बालक की शुद्धि के लिए संस्कार की आवश्यकता नहीं है, अपितु शारीरिक किसी व्याधि को जो माता-पिता में है, बालक में न आने देने के लिए होना चाहिए, ऐसा विश्वास करता है[२]। जो भी हो, शुद्धि एवं पवित्रता के लिए ही संस्कार की महत्ता है—इसमें कोई संदेह नहीं। हारीत भी इसी कथन की पुष्टि करता है कि गर्भाधान से प्रारम्भ ८ संस्कारों से व्यक्ति पवित्र हो जाता है[३]। संस्कारों पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से पवित्रता के साथ दूसरे भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। उपनयन आदि संस्कार सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक आशय से परिपूर्ण हैं जो वैदिक अध्ययन का मार्ग खोलकर व्यक्ति को धार्मिक विकास का अवसर देता है। यही कारण का कहना है कि संस्कारों की मनोवैज्ञानिक उपयोगिता भी है। संस्कार हो जाने के पश्चात् व्यक्ति स्वतः अपनी विशिष्टता समझ कर सम्मानित नियमों का पालन करने के लिए दत्तचित्त हो जाता है। संस्कार का एक और आशय भी है। मनुष्य के हृदय में उत्सव के प्रति रुचि स्वाभाविक है। नाचना, गाना, आनन्द मनाना हृदय के स्नेह एवं उमंग का परिचायक है। अतः नामकरण, अन्न-प्राशन आदि संस्कारों का यही आशय एवं उद्देश्य है। विवाह दो व्यक्तियों का एक कर सामाजिक उन्नति का कारण बनता है।

संक्षेप में संस्कारों के ४ आशय एवं उद्देश्य हैं (१) पवित्रता (२) वैदिक अध्ययन कर्तव्य आदि की उपयोगिता (३) उत्सव के प्रति अभिरुचि और (४) सामाजिकता।

महत्त्व—एक बात कहे बिना संस्कारों का महत्त्व अधूरा ही रह जाता है। जब तक उपनयन-संस्कार न हो तब तक बालक के लिए कोई बन्धन नहीं है। वह चाहे जहाँ जन्मा जाय, जैसा भी आचरण करे अपवित्र नहीं होता। संस्कार से पूर्व द्विज भी शूद्र ही होता है[४]। वसिष्ठ धर्म-सूत्र का यह वाक्य बौधायन सूत्र और

---

१ देखो टीका मनुस्मृति २।२७

२. बीजगर्भसमुत्पन्नं शुक्रशोणितसम्भवं मातापितृसंक्रान्तिनिमित्तं वा अनु पतितोत्पन्नत्वादि।—याज्ञवल्क्य स्मृति टीका श्लोक १३।

३ गर्भाधानवदुपेतो ब्रह्मगर्भं संदधाति। पुंसवनात्पुंसीकरोति फलस्नापनान्माता पितृजं पाप्मानमपाकरोति रेतोरक्तगर्भोपघातः पंचगुणो जातकर्मणा प्रथममपोहति नामकरणेन द्वितीयं प्राशनेन तृतीयं चूडाकरणेन चतुर्थं स्नापनेन पंचममेतैः रष्टाभिः संस्कारैर्गर्भोपघातात् पूतो भवतीति—संस्कारतत्त्व पृ० ८९३

४ न तस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात्।
वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते॥—वसिष्ठ, २।६

मनुस्मृति में भी प्रतिध्वनित है[1]। गौतम के अनुसार शूद्र और अन्य तीन वर्णों में अंतर यही है कि शूद्र एक जाति है, इसका कोई संस्कार नहीं होता। अन्य तीन द्विजाति हैं क्योंकि इनका संस्कार हो जाने के बाद पुनर्जन्म हो जाता है[2]। इस जन्म की बहुत अधिक महत्ता है क्योंकि माता-पिता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं पर संस्कारों से आत्मा की शुद्धि और विकास होता है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में इसी का विशद विवेचन है[3]। मनु व्यक्ति के तीन जन्म मानते हैं—१ माता से, २ उपनयन के बाद, ३ जब उसे यज्ञ की दीक्षा दी जाय[4]। अत्रि का कहना है—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव हि॥[5]

पाराशर ने इसी बात को उपमा के द्वारा अभिव्यक्त इस प्रकार किया है, जिस प्रकार नाना प्रकार के रंगों के प्रयोग से चित्रकला का सौन्दर्य प्रादुर्भूत हो उठता है उसी प्रकार ब्राह्मण्य विधिपूर्वक किए संस्कारों के द्वारा उज्ज्वलतर हो जाता है[6]।

संस्कारों का विभाजन—हारीत ने संस्कारों का दो भागों में विभाजन किया है—ब्राह्म-संस्कार तथा दैव-संस्कार[7]। गर्भाधान आदि संस्कार ब्राह्म-संस्कार कहलाते हैं जिनसे व्यक्ति शुद्ध एवं पवित्र होकर ऋषियों की समता को प्राप्त करता है और उनके साथ उनके ही लोक में रहता है। दैव-संस्कार में पाकयज्ञ तथा अन्य यज्ञ जिनमें सोम की आहुति दी जाती है, आते हैं। साधारणतः संस्कार के आशय ब्राह्म-संस्कारों ही से है।

संस्कारों की संख्या—संख्या के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। गौतम ने संस्कारों की संख्या ४ कही है गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन

---

१ बौधायन धर्म-सूत्र १।२।६; मनुस्मृति २।१७१, १७२
२ गौतम १०।१, ५१।
३ स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म।
शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। आ० ध० सू० १।१।१६–१८
२ देखें ... का इतिहास पादटिप्पणी पृ० १८६

जातकर्म नामकरण अन्नप्राशन चौल उपनयन ये आठ वेद के चार व्रत समावर्तन विवाह प्रतिदिन के पाँच महायज्ञ—देव पितृ मनुष्य भूत ब्रह्म सात पाक यज्ञ सात हविर्यज्ञ सात सोमयज्ञ[1]। गौतम निस्सन्देह संस्कारों का विस्तृत अर्थ लेते हैं। अंगिरस केवल २५ संस्कार ही कहते हैं। व्यवहार में संस्कारों की संख्या १६ ही मानी गई है। इनमें गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन विष्णु बलि जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चौल उपनयन वेदव्रत-चतुष्टय समावर्तन और विवाह।

मुख्य संस्कार

गर्भाधान संस्कार—वैखानस ऋतु संगमन और गर्भाधान को पृथक् पृथक् मानता है[2]। यही ऋतुसंगमन निषेक भी कहलाता है

ऋतौ संगमनं निषेकमित्याहुः[3]।

परन्तु मनु याज्ञवल्क्य और विष्णुधर्म-सूत्रों में गर्भाधान के लिए ही निषेक शब्द का प्रयोग हुआ है[4]। याज्ञवल्क्य ने गर्भाधानमृतौ का प्रयोग किया है। अवश्य ही ऋतु से तात्पर्य ऋतुसंगमन होगा[5]। पराशर और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में गर्भाधान का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके स्थान पर वहाँ चतुर्थी कर्म या चतुर्थी होम का नाम आया है।

इस संस्कार का आरम्भ अथर्ववेद[6] में मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र[7] और बृहद् उपनिषद् में गर्भाधान, पुंसवन अनवलोभन का वर्णन है। शांखायन गृह्य में चतुर्थीकर्म की विशद विवेचना है। विवाह की तीन रात्रियों के पश्चात् चौथी रात्रि को पति अग्नि में अग्नि वायु सूर्य आदि को आहुति देकर मन्त्रों आदि का पढ़ते हुए अन्त में—आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्य (अथर्ववेद ३।२३ २)—संभोग करे[8]। पाराशर गृह्य और आपस्तम्ब गृह्य में भी लगभग ऐसा ही है[9]। गृह्य लेखकों

---

१ गौतम धर्मसूत्र ८।१४–२४

२ देखिए, काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० १९५

३ वैखानस ६।२

४ मनु० २।१६ २६ निषेकादिश्मशानान्तो ....।

पूर्वेनिषेकादिद्विजन्मनां।—याज्ञ० २।१० निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां..

५ याज्ञ० ३।१२ गर्भाधानमृतौ पुंसः ...मिताक्षर ने 'ऋतौ' की व्याख्या 'ऋतु काले' की है।

६ अथर्ववेद ५।२५   ७ आश्वलायन गृह्य १।१३ १

८ देखिए, धर्मशास्त्र का इतिहास काणे पृ० २०१

९ धर्मशास्त्र का इतिहास काणे पृ २०१

ने चतुर्थी कर्म को वैवाहिक-संस्कार का ही एक अंग माना। कदाचित् बड़ी अवस्था में विवाह होने के कारण वह रजस्वला हो चुकी होगी ऐसा सोचकर विवाह के साथ ही यह संस्कार कर देते होंगे। बाद को जब छोटी अवस्था में विवाह होने लगा होगा तब विवाह के साथ यह न कर बाद को करते होंगे। इसका अतः पृथक नाम गर्भाधान-संस्कार रखा।

स्वयं कालिदास ने इस संस्कार का बहुत कुछ संकेत किया है। रघुवंश सर्ग २ के श्लोक ७५ तथा मल्लिनाथ की टीका पर यदि ध्यान दिया जाय तो यह संकेत स्वतः स्पष्ट हो जाता है। 'गर्भमाधत्तराज्ञी' इसी संस्कार की ओर संकेत करता है। समानतृष्णा होकर नारी गर्भ की स्थापना करती है ऐसा आचार्यों का निर्णय है। आधत्त से इसी की ओर संकेत है[1]। साहित्यिक सौन्दर्य और गर्भ के महत्त्व का संकेत-उदाहरण इससे बढ़कर अन्यत्र नहीं मिलेगा? इसी सम्बन्ध में कालिदास ने एक स्थान पर उपमा दी है—

तामिगम प्रजाभूत्यै बधे देवाग्र्यसंभवम् ।
सौरीमिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मय[2] ॥

इस असाधारण संकेत के अतिरिक्त निषेक शब्द का व्यवहार इस संस्कार की पुष्टि में सहायक है। कवि का अभिप्रेत ही ऐसा रहा होगा इसमें कोई संशय नहीं— 'पौषित्सु तद्गर्भनिषेकभूमि सैव धर्मेत्यारममुपोषितेषम्'[3]। इसी

---

१ 'गर्भमाधत्त राज्ञी' के सम्बन्ध में विद्वानों का कुछ मतभेद है। मल्लिनाथ कहते हैं अत्र आधत्त इत्यनेन स्त्रीकर्तृक धारणमात्रमुच्यते। तथा मंत्र च वृहस्पते यथेयं पृथिवी मह्यं तामा गर्भमादधे। एवं त्वं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे। गर्भ की स्थापना पुरुष करता है कि नारी करती है इस पर भी मतभेद है। प्राचीनकाल में 'धत्ते' या 'आधत्ते' का अर्थ स्थापन करना था यद्यपि आजकल इसका अर्थ धारण करना किया जाता है। आचार्यों का यह निर्णय है कि स्थापना नारी करती है। उनका कहना है कि संभोगतृप्ति प्राप्त कर नारी गर्भ की स्थापना करती है—'तृप्ता पत्नी रेतो धत्ते'। बाद के वैयाकरणों ने 'धत्त' में 'विकर्ष' अर्थ मान लिया है। उनके मत में 'धत्ते' का अर्थ है धारयति अर्थात् स्त्री गर्भ धारण करती है—

प्रकार गर्भाधान के समय की शुद्धता भी वे न भूले। इसका संकेत भी उन्होंने कुमारसम्भव में किया है[१]।

गर्भाधान-संस्कार गर्भ (गर्भस्थित बालक) का है अथवा स्त्री का इस पर मतभेद है। गौतम (अध्याय ८ २४) मनु० (अध्याय १ १६) इसे गर्भ का मानते हैं। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विश्वरूप कहते हैं कि सीमन्तोन्नयन के अतिरिक्त सभी संस्कार गर्भ के हैं अतः ये बार-बार प्रतिगर्भ में होने चाहिए

प्रतिगर्भ चापर्सीमन्तोन्नयशा प्रवतन्ते।
तस्य स्त्रीसंस्कारत्वात् ॥—विश्वरूप याज्ञवल्क्य स्मृति १।११

पुंसवन—रघुवंश ७ का ११ में सबसे पहले यह शब्द आया है—'सीमन्तस्य प्राक्तनाम पुंसवनं करम्।' गर्भाधान-संस्कार के बाद पुंसवन-संस्कार आता है। पुत्र की उत्पत्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है। स्वयं मल्लिनाथ ने पुंसवन की व्युत्पत्ति बताई है—'पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनम्[२]। हिन्दू-धर्म में पितृ ऋण से उद्धार करने वाला पुत्र ही होता है अतः सदा से ही पुत्र का बहुत अधिक महत्त्व है। स्वयं कालिदास ने इसका रघुवंश शाकुन्तल विक्रमोर्वशीय नाटकों में अनेक स्थानों में महत्त्व स्वीकार किया है[३]। अतः प्रत्यक्ष रूप से इस संस्कार का नाम लिया[४]।

गर्भ स्थापित हो जाने के पश्चात् पुंसवन-संस्कार किया जाता है। इसके समय के विषय में विद्वानों की पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। आश्वलायन गृह्य (१ का ११ श्लोक) ने तीसरे महीने में करने की सम्मति दी है। मल्लिनाथ कहते हैं—अत्र मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनम्[५]। पारस्कर के अनुसार 'पुमा

---

१ सा भूधराणामधिपेन हिमवता समाधिमत्या उदपादि भव्या।
सम्यक्प्रयोगात्परिरक्षिताया नीत्याविवोत्साहगुणेन सम्पत् ॥—कुमार० १।२२

२ टीका रघु ३।१ तत्र पुमान् सूयतेऽनेन कर्मणेति व्युत्पत्त्या यत्तस्य पुत्र फलात्मक कर्म विषयः—(शौनक)। पुमान् प्रसूयते येन तत्पुंसवनमीरितम्।
(संस्कार-प्रकाश)

३ मूर्तं मत्त परं कन्या पितृविज्ञातमपि च।
न प्रकाममुत्र भ्रातृस्वकामप्रहृतासरा ॥—रघु० १।६६
न कारणम् पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्—रघु १०।२
संतानदर्शं वशयित्वा न किमप्यस्य होमम्—विक्रम० अंक ५, पृ० २१६

४ पुत्रजन्म रघु ३।१० 'देव इदानीमेव साकेतम् भाविता दुहिता निवृत्तपुंसवना जायाऽस्य श्रूयते।—अभि० अंक ६ पृ० १२१

५. टीका रघु ३।१०

नयनेन चन्द्रमा भक्तः स्यात्'[1]। वैखानसगृह्ये—'अथ पुंसवनानवलोभने करोति मासि द्वितीये वा तृतीये वा (संस्कार-मयूख)। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने शौनक का उदाहरण दिया है—

व्यक्ते गर्भे द्वितीये तु मासे पुंसवनं भवेत्।
गर्भेऽव्यक्ते तृतीये चतुर्थे मासि वा भवेत्[2] ॥

आश्वलायन गृह्य (अध्याय १ १३।२ ७) में इसके मनाने की विधि इस प्रकार दी है। गर्भस्थिति के तृतीय मास में पति सारे दिन भर के उपवास की हुई पत्नी को गाय (जिसका बछड़ा उसी रंग का हो जिस रंग की गाय हो) के दही में एक यव की दाल और दो माष के दाने मिलाकर तीन बार पीने को दे और प्रत्येक बार उससे पूछे—'तुम क्या पी रही हो' पत्नी प्रत्येक बार कहे—'पुंसवनं पुंसवनं'।

अनवलोभन अथवा गर्भरक्षण—ये संस्कार पुंसवन के ही एक अंग थे। परन्तु आश्वलायन गृह्य में दोनों पृथक् पृथक् कहे गए हैं[3]। वैखानस गृह्य के अनुसार दोनों अर्थात् अनवलोभन और पुंसवन एक साथ ही एक दिन द्वितीय अथवा तृतीय मास में मना लेने चाहिए[4]। जैसा नाम स्वतः सिद्ध एवं स्पष्ट कर देता है, गर्भ नष्ट न हो अथवा गर्भपात न हो इसलिए इसकी उपयोगिता है। अव पूर्वक 'लुप्' धातु से अनवलोभन शब्द का निर्माण हुआ है[5]। शौनक कारिका के अनुसार भी यह संस्कार अनवलोभन कहलाता है जिससे गर्भ सुरक्षित रहे[6]।

कवि कालिदास ने किसी श्लोक में यद्यपि इसका प्रयोग नहीं किया पर साक्षात् संकेत अवश्य किया है।

'यथाक्रमं पुंसवनादिका क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः।'—रघु ३।१

---

१ टीका रघु० ३।१० (मल्लि०)

२ इंडिया इन कालिदास पृष्ठ ३२१।

३ 'चतुर्थेऽनवलोभनम्' इत्याश्वलायनः। अब चौथे महीने यह होना चाहिए, जब पुंसवन इसी स्थान पर द्वितीय या तृतीय मास में मनाना चाहिए—ऐसा लिखा है।—टीका रघुवंश सर्ग ३ १

[illegible] भी।

इसकी टीका करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं—"सवनादिका क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदि शब्देनानवलोभनसीमन्तोन्नयन गृह्यते ।
इसके मनाने की विधि[1] के विषय में आश्वलायन का कहना है कि हरे दूर्वादल के रस को पत्नी की नासिका के दाहिने छिद्र में छोड़े । किसी-किसी का यह भी कहना है कि इसको करते समय प्रजावत और जीवपुत्र[2] मंत्र पढ़े । प्रजापति की पूजा व आहुति देने के पश्चात् पत्नी के हृदय प्रदेश को छुए और मंत्र पढ़े कि वे उसके गर्भ की रक्षा करें । संक्षेप में नाक के छिद्र में दूर्वारस डालना पत्नी के हृदय प्रदेश को छूना और देवताओं से गर्भ की सुरक्षा के लिए प्रार्थना करना इस संस्कार के मुख्य अंग हैं ।

सीमन्तोन्नयन—जैसा अनवलोभन संस्कार के प्रसंग में कहा जा चुका है, कि कवि का आदि' शब्द से अभिप्रेत अनवलोभन के साथ-साथ सीमन्तोन्नयन से भी था[3] ।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र भारद्वाज गृह्यसूत्र और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र के अनुसार सीमन्तोन्नयन पहले है, तत्पश्चात् पुंसवन[4] । आपस्तम्ब के अनुसार गर्भ के प्रत्यक्ष होते ही सीमन्तोन्नयन होना चाहिए । परन्तु जैसा मल्लिनाथ ने अपनी टीका में कहा है— चतुर्थेऽनवलोभनम् इत्याश्वलायन षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम् इति याज्ञवल्क्य । इसके अनुसार पुंसवन के पश्चात् अनवलोभन तत्पश्चात् सीमन्तोन्नयन आता है । काठक गृह्यसूत्र में तीसरे मास में मानवगृह्यसूत्र में तृतीय षष्ठ अथवा अष्टम मास में आश्वलायन के अनुसार चतुर्थ मास में आदि आदि नाना विद्वानों की भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ हैं[5] ।

सीमन्तोन्नयन का शाब्दिक अर्थ ऊपर को ओर माँग निकालना है । यह संस्कार भी काणे के अनुसार सामाजिकता और उत्सवप्रियता का प्रकाशन है ।

---

१ काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २२१ अध्याय ६ ।

२. आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्य ॥
अग्निरेतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात् ।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् ॥
—धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० २२१ फुटनोट ।

३ रघु ३।१ , टीका

४ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २१८-२१९

५ काणे धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २२१

गर्भवती को प्रसन्न रखना ही इसका उद्देश्य समझा जाता है[1]। संस्कार प्रकाश[2] में ऐसा लिखा है, कि इस संस्कार का उद्देश्य गर्भ नष्ट करनेवाली चुड़ैल (Fem l gobl s) को भगाना था। कच्चे फल और दर्भ से पत्नी का माँग ऊपर को निकालना, गले में माला बाँधना, उसको सुगन्ध और घी से युक्त करना, गायक वेणा वीणागायिकों (Lute Pla,ers) से गाने का कहना, उत्सवप्रियता का ही परिचायक है। कच्चे फलों से आश्वलायन, पारस्कर आदि अनुसार प्रयोग करें ऐसा मानते हैं[3]।

सीमन्तोन्नयन को कुछ विद्वान् गर्भ का संस्कार मानते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कहना है, कि प्रत्येक गर्भ पर यह संस्कार होना चाहिए। किन्तु इसे स्त्री का संस्कार मानते हैं और कहते हैं कि यह केवल प्रथम गर्भ पर ही होना चाहिए[4]। आपस्तम्ब, भारद्वाज और बौधायन की भी ऐसी ही धारणा है कि यह प्रथम गर्भ में ही मनाना चाहिए।

जातकर्म—बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् यह पहला संस्कार है। श्री काणे ने जैसा तैत्तिरीय संहिता और बृहद् उपनिषद् का उदाहरण दिया है, उससे यह सिद्ध होता है कि जातकर्म पुत्र के उत्पन्न होने पर ही मनाया जाता था[5]।

इस संस्कार के विषय में मनु का कहना है— प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते[6]। आश्वलायन का कथन है कि माँ और बच्चे के अतिरिक्त किसी अन्य के स्पर्श करने के पूर्व यह संस्कार हो जाना चाहिए[7]। पारस्कर मनु की बात का ही समर्थन करते हैं[8]।

मनाने की विधि में भी सबका अपना-अपना विश्वास है। बृहद् उपनिषद् में लिखा है—'तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्र प्रतिलेहयन्ति स्तनं वा अनु

१ काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २२१
२ संस्कार-प्रकाश पृष्ठ १७२ १७३
३ धर्मशास्त्र का इतिहास (काणे लिखित) पृष्ठ २२४
४ तथा च विष्णु —
सीमन्तोन्नयनं कर्म तत् स्त्रीसंस्कार इष्यते।
कश्चित् गर्भस्य संस्कारो गर्भ गर्भ प्रयुज्यते।—स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय १ पृ १७

पद्यामन्त्रि'[१]। विस्तारपूर्वक जो भी वर्णित किया गया है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है इस संस्कार के कई अंग हैं यथा—(१) मंत्र पढ़ते हुए घृतयुक्त दही की अग्नि में आहुति देना (२) बच्चे के कान में तीन बार वाक् शब्द कहना (विश्वास यह है कि तीन बार समयानुसार बच्चे को स्पष्ट हो जायें) (३) सोने की छोटी चम्मच से घृत दही और शहद बच्चे को चटाना (४) बच्चे का एक नाम रखना जो गुप्त नाम रहे, (५) माता के स्तनों के पास ले जाना (स्तनप्रदान) और (६) माता के लिए (प्रसविनी) मन्त्रों का उच्चारण करना।

इस संस्कार के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं। पहली बात तो यह कि कुछ विद्वान् जैसे आश्वलायन और शांखायन जन्मदिवस के समय ही नाम दे देते हैं पृथक् नामकरण-संस्कार का उल्लेख नहीं करते। शांखायन अवश्य कहते हैं कि दसवें दिन व्यावहारिक नाम लिया जा सकता है (१ का २४ १)। दूसरी बात यह कि जातकर्म संस्कार में बहुत से विभाग हैं अथवा बहुत छोटे-छोटे संस्कारों—जैसे नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन आदि को मिला कर जातकर्म संस्कार कहते हैं। स जातकर्मण्यखिले तपस्विना —रघु ३।१८।

कविश्रेष्ठ कालिदास ने इस संस्कार का अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है[२]। मल्लिनाथ ने टीका में 'जातकर्मादिषु'[३] का समास कर इस बात को प्रमाणित किया है कि जातकर्म पैदा होने के समय का ही संस्कार विशेष नहीं अपितु नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन आदि आदि छोटे-छोटे संस्कारों की समष्टि मात्र है। आदि शब्द विक्रम० में भी प्रयुक्त है[४]।

---

१ बृहद् उपनिषद् अध्याय ६ ४ २ धौलपुर का इतिहास पृ० २२१ फुटनोट
२ स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते —रघु० ३।१८
कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्री स्तन्यपायिन ...—रघु १०।७८
इमा भविष्यत्सुतजन्मकर्मसंस्काराः... —रघु० १०।७९
—सखा न्यायमस्यापि जातस्य च मङ्गलम्।
स चकारायमप्राप्त्या मैथिलेया यथाविधि ।—रघु० १५।३१
—जातकर्म समय समवता मारीचेन कृता।—अभि अंक ७ पृ० १६६
—विधिवत्समाप्तिसमुचितजातकर्म पुत्र एष शाकुन्तलेय।—अभि० पृ० १८७
यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तस्य भगवता च्यवनेन ..
—विक्रम० अंक ५
३ जातकर्मादिषु—रघु० १०।७९ अन्य—रघु ३।१८
४ यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधानं तस्य भगवता च्यवनेन

इस संस्कार का महत्त्व स्वयं रघु ने स्वीकार किया है। जिस प्रकार खानों से निकाली मणि अपूर्व तेजयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार जातकर्मादि संस्कारों के पश्चात् दिलीप पुत्र पहले से कहीं अधिक आभा-सम्पन्न हो गए।

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥—रघु० ३।१८

जैसा पहले कहा जा चुका है कि जातकर्म के अंगों में स्तनपान एक अंग था। अथवा होमादि करने के पश्चात् बच्चे को स्तनों के निकट ले जाया जाता था। यही बात असाक्षात् रूप से कवि ने रघुवंश में एक स्थान पर व्यक्त की है—

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः —रघु० १०।७८

एक और बात भी अति महत्त्वपूर्ण है। कवि ने 'अखिल'[१] शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर दिया है कि जैसा प्राचीन ग्रंथों में संस्कार मनाया जाता बताया है वैसा ही उस समय भी होता था। साथ ही तत्कालीन समाज में जन्मोत्सव भी खूब मनाया जाता था। समृद्ध घरों में वेश्याओं के नृत्य होते थे (रघु० ३।१९) राजकुमारों के जातकर्म संस्कार के समय राज-बन्दी जेल से छोड़ दिए जाते थे (रघु० ३।२०)।

नामकरण—शंख का मत उसी दिन नाल कटने के पश्चात् नाम रखने का है। स्वयं मल्लिनाथ ने शंख की सम्मति रघु० ३।२१ में उद्धृत की है—'अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।' बृहदारण्यक, आश्वलायन, बाल्यायन आदि जिस दिन बालक उत्पन्न हो उसी दिन नाम रखने के लिए कहते हैं। आश्वलायन दो नाम रखने के लिए कहते हैं, एक व्यावहारिक नाम, दूसरा गुप्त नाम जिसे उपनयन-संस्कार तक केवल माता पिता ही जानें। कात्यायन का कहना है कि इस दिन केवल गुप्त नाम ही देना चाहिए। व्यावहारिक नाम जन्म-दिवस के दसवें दिन ही रखना चाहिए[२]। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (१५ अध्याय २, ३, ८) के अनुसार जन्मदिन पर नक्षत्र के अनुसार एक नाम रख देना चाहिए। यही गुप्त नाम है। व्यावहारिक नाम दसवें दिन ही रखना चाहिए। बौधायन, भारद्वाज और पारस्कर का भी ऐसा ही मत है[३]। मनु दसवें अथवा बारहवें दिन नाम रखने को कहते हैं[४]। स्वयं बाण ने कादम्बरी में चन्द्रापीड का नाम दसवें दिन रखाया है[५]।

पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० २, —रघु०, १०।७८

स्वयं कालिदास ने नामकरण-संस्कार का उल्लेख न करते हुए भी बालक के उत्पन्न होने के बाद लगभग सभी स्थानों पर पिता के द्वारा नाम रखाया है[1]। यही नहीं नाम रखने के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से जो नियम प्रचलित है जैसे नाम सार्थक और योग्य हों उसी का उन्होंने भी पालन किया है। जैसे—

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसंभवम्॥—रघु० ३।२२

यह कहना कि कवि ने ऐतिहासिक नाम ही तो लिये हैं उसमें क्या नियम—क्या विनियम अनुचित है। ऐतिहासिक नामों में भी नाम क्यों रखे गए किस प्रकार गुणों को व्यक्त करने वाले सार्थक हुए बताकर प्राचीन नाम किस प्रकार रखने चाहिए, बताते हुए परम्परा का पालन किया है साथ ही अपनी अद्वितीय कुशलता का परिचय दिया है। इसी प्रकार—

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥—रघु० १०।६७

बौधायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि ऋषि देवता अथवा पूर्वजों के नाम पर नाम रखना चाहिए[2]। यही बात कवि के शब्दों में अज नाम ब्रह्मा के नाम पर रखा गया, देखिए—

अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार।—रघु० ५।३६

लव और कुश नाम सीता जी की प्रसव-पीड़ा इन वस्तुओं से दूर हुई थी अतः इसी कारण इन्हीं के नाम पर रखे गए[3]। शकुन्तला-पुत्र भरत का सर्वदमन और भरत नाम अपने अर्थ की पुष्टि एवं सार्थकता को सिद्ध करता है, तथा भविष्य में तेजस्वी होगा इसका परिचायक है यह स्वयं कवि ने मारीच के मुँह से

---

१ राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥—रघु० १०।६७
ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार॥—रघु०, ५।३६

२ *ऋष्यनूकं देवतानूकं वा। अपि वैषां पूर्वपुरुषाणां नामानि स्युः—(बौधा० १ १ २८ ११)* । यशस्य नामधेयं देवताभिधं नक्षत्राभिधं देवतायाश्च प्रत्यक्षं प्रतिषिद्धम्। (मानव गृह्यसूत्र १ का १८)

३ स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः॥—रघु० १५।३२

कहलवाया है।[1] तात्पर्य यह है कि कालिदास के युग में नामकरण कुलपरम्परा के अनुकूल होता था और सार्थक नाम रखने का प्रयत्न किया जाता था।

निष्क्रमण, अन्नप्राशन तथा वर्षवर्द्धन (अब्द पूर्ति)—जैसा पहले कहा जा चुका है कि कवि कालिदास ने और टीकाकार ने जातकर्मादि मन्त्र का व्यवहार किया है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदि से तात्पर्य इन सब छोटे-छोटे संस्कारों से होगा।

निष्क्रमण वह शुभ दिन है जिस दिन बालक सबसे पहली बार घर से बाहर निकाला जाता है और सूर्य दिखाया जाता है। इसके विषय में मनु का कहना है—'चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।'—(मनु २।३४)।

पारस्कर भी इसी बात पर विश्वास करते हैं—'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।'—(पारस्कर १।१७)।

संस्कार-प्रकाश में तीसरे मास में सूर्य का और चौथे में चन्द्र का वर्णन किया है।

अन्नप्राशन नाम के अनुसार बच्चे को सबसे प्रथम इस दिन खाना (अन्न) देना है। आश्वलायन का कहना है कि बकरे की बसा तीतर अथवा चकोर का माँस या मछली का माँस या उबले चावल दही घी और शहद में मिलाकर पिता बच्चे को चटाए[2]। आश्वलायन भी यही कहते हैं केवल मछली का मांस नहीं बताते[3]। आपस्तम्ब केवल दही घी और शहद चावल में मिलाकर चटाना धर्म स्कर समझते थे[4]।

जो भी हो इस संस्कार का मुख्य अंग बच्चे को अन्न देना था। कुछ लेखक ब्राह्मणों को खाना खिलाना होम व मन्त्रपाठ आशीर्वाद भी करने को कहते हैं पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सब हृदय के आनन्द और उल्लास को व्यक्त करने के लिए ही हैं।

कब होना चाहिए, इसके विषय में साधारणतः सबका मत षष्ठ मास ही है—'षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले' (मनु २।३४) 'षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम्' (याज्ञवल्क्य २।१२)। हाँ वैसे मानवगृह्यसूत्र में पंचम अथवा षष्ठ है। वर्षवर्द्धन अथवा अब्दपूर्ति के विषय में किसी का कहना है कि

एक वर्ष तक प्रतिमास मनाया जाय, तत्पश्चात् प्रत्येक वर्ष। "कुमारस्य मासि मासि संवत्सरे सांवत्सरिकेषु वा पर्वसु अग्नीन्द्रौ द्यावापृथिव्यौ विश्वान्देवाँश्च यजेत्" (गोभिलगृह्य सूत्र २ ८ १९ २०)। शांखायन भी इसी बात का समर्थन करते हैं[1]।

जो भी हो बात बिलकुल मनोवैज्ञानिक है। जब तक बच्चा एक वर्ष का नहीं होता तब तक ही सब कहते हैं आज यह दो महीने का हो गया आज चार महीने का हो गया। बच्चे के प्रति स्वभावत माता-पिता का स्नेह होता है, न दिन गिनते ही हैं अब यह इतना बड़ा हो गया। स्वभावत हृदय के उल्लास आनन्द और अरमान को शान्त और पूर्ण करने के लिए बढ़िया-बढ़िया भोजन आदि खिलाना भी एक बहाना मात्र है। यथार्थ में निष्क्रमण अन्नप्राशन और वर्षवर्धन आदि कोई संस्कार विशेष नहीं आनन्द और उत्सव मनाने के बहाने मात्र ही है।

चूडाकर्म अथवा चौल—आजकल की भाषा में यही मुंडन संस्कार कहा जाता है। श्री काणे ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है चूडा के अर्थ शिखा है। इस मुंडन के पश्चात् केवल शिखा भर ही सिर पर रह जाती थी (और आजकल भी जो मानते हैं वे ऐसा ही करते हैं)। अत चूडाकर्म वह संस्कार है जिसके पश्चात् शिखा या चोटी रखी जाती है। 'चौल' शब्द 'चूडा' से बना है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'ड' के स्थान पर ल बहुधा आ जाता है, अत चौल शब्द बन गया[2]।

मनाने के विषय में आश्वलायन आपस्तम्ब मनु याज्ञवल्क्य सब ही तृतीय वर्ष कहते हैं। मनु प्रथम अथवा द्वितीय भी कह देते हैं[3]। याज्ञवल्क्य तो 'चूडाकार्या यथाकुलम्' भी कहते हैं (अध्याय २ १२)।

भारद्वाज तो इस संस्कार का सम्बन्ध वैदिक काल से जोड़ते हैं[4]। जो भी हो कालिदास ने इस संस्कार का एक स्थान पर बिलकुल साक्षात् तथा अन्य स्थानों पर यथाशक्य अंकित किया है—

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वित ... (रघु० ३।२८)

१ धर्मशास्त्र का इतिहास काणे पृष्ठ २५८

२ धर्मशास्त्र का इतिहास काणे पृष्ठ २६० इस पृष्ठ का फुटनोट भी देखिए।

३ चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मत।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥—मनु २।३५

४ अथास्य सांवत्सरिकस्य चौलं कुर्वन्ति यथार्षि यथोपनयने वा।
विज्ञायते च यत्र बाणा सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ॥
—भारद्वाज गृह्यसूत्र १।२८

इस पर मल्लिनाथ की टीका पर भी ध्यान देना आवश्यक है— चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्या श्रुतिचोदनात् । इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे चूडाकर्म निष्पन्नचूडाकर्मा सन् । तदनन्तरमेव । स रघु प्राप्ते तु पंचमे वर्षे विद्यारंभं च कारयेत् इति वचनात् पंचमे वर्षे चलकाकपक्षकै पंचवर्षिकाः 'बालानाम् तु शिखा प्रोक्ता काकपक्ष शिखंडक' इति हलायुध । ये ही काकपक्ष और शिखंडक[१] शब्द उन्होंने एक नहीं अनेक स्थानों पर प्रयुक्त किए हैं । क्यांचित् काकपक्षधारी बालक कवि को प्रिय ही बहुत थे । यह ठीक है कि कवि ने इसके मनाने की विधि का कहीं संकेत नहीं किया परन्तु इस संस्कार का मुख्य अंग बाल कटवाना ही है । अन्य बातें जैसे होम ब्राह्मणों को भोजन कराना दक्षिणा देना आदि को ऐसे स्थान पर गड़वाना या फेंकवाना सब गौण ही है । वैसे भी लगभग सभी संस्कारों में होम भोजन आदि कराना दक्षिणा देना सबका बच्चे को आशीर्वाद देना सामान्य ही है । लगभग सभी स्मृतियों में ऐसा ही उल्लेख है ।

विद्यारम्भ संस्कार—प्राय स्मृतियों म चौल के बाद सीधे उपनयन संस्कार का नाम दिया है । चौल-संस्कार जन्म के तीसरे वर्ष हो जाता था और उपनयन प्राय आठवें वर्ष । इस बीच म क्या होता था और क्या होना चाहिए, इस पर स्मृतियों ने कुछ प्रकाश नहीं डाला । उपनयन के बाद विधिपूर्वक शिक्षा चलती प्रारम्भ हो जाती थी । गुरु वेद आदि पढ़ाना प्रारम्भ कर देते थे । इससे यह संभावना की जा सकती है, कि आठ वर्ष से पर्व बच्चा लिखना-पढ़ना सीख जाता होगा तभी गुरु इस अवस्था म वेदोंपर ध्यान दे सकते होंगे ।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे यह लिखा है, कि चौल के बाद राजपुत्र वर्ण माला और अकगणित पढ़ते थे तथा उपनयन के बाद वे वेद वार्ता आन्वीक्षिकी और दंडनीति तब तक पढ़ते थे जब तक वे सोलह वर्ष के न हो जाते थे । इसके पश्चात् गोदान-संस्कार होता था और उनका विवाह हो जाता था[३] ।

१ काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वय समीक्ष्यते ।—रघु० ११।
—दी प्रणामचलकाकपक्षकौ

कालिदास ने भी रघुवंश में अज के विषय में ऐसा ही लिखा है। प्रथम अज ने वर्णमाला सीखी तत्पश्चात् वे संस्कृत-साहित्य-सागर में प्रविष्ट हुए[1]।

श्री काणे ने अपरार्क और स्मृतिचन्द्रिका के उद्धरणों से पुष्ट किया है कि जन्म के पाँचवें वर्ष विद्यारंभ-संस्कार होना चाहिए। देवी-देवताओं की पूजा करने के बाद ब्राह्मणों का सत्कार करना चाहिए और दक्षिणा देनी चाहिए। इसके पश्चात् गुरु बालक को पहला पाठ दे। श्री काणे ने संस्कार-प्रकाश और संस्कार रत्नमाला से भी इसी बात की पुष्टि की है कि पाँचवें वर्ष उपनयन से पूर्व यह संस्कार होना चाहिए[2]।

उपनयन—संस्कारों में उपनयन का महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि जैसा गौतम (२ का १) का कहना कि इससे पूर्व बालक किसी भी तरह का आचरण करे कोई दोष नहीं होता। वसिष्ठ-धर्मसूत्र भी इसी का अनुमोदन करते हैं 'न ह्यस्मिन् विद्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात्। वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायते' (२ का ६)। एक धर्मसूत्र का उदाहरण है 'प्राङ्मौञ्जिबन्धनाद् द्विज शूद्रसमो भवति'। इसी से मिलती-जुलती बात मनु भी (२ का १७२ १७१) कहते हैं। अतः यह संस्कार एक ओर व्यक्ति को नियमबद्ध जीवन में प्रविष्ट कर धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है, दूसरी ओर वह विद्या का मार्ग खोलकर मानसिक और बौद्धिक विकास में सहयोग देता है।

यदि शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दिया जाय तो इसका आशय (उप + नी धातु) पास ले जाना अथवा पास ले आना है। इसका वास्तविक अभिप्राय इस संस्कार का आचार्य के पास बालक को शिक्षा के लिए ले जाना था। जिस संस्कार के द्वारा बालक छात्र-रूप में प्रविष्ट होता था वही उपनयन-संस्कार कहलाता। आचार्य बालक को गायत्री मंत्र देकर उसे शिक्षा प्रारम्भ करता था।

उपनयन किस अवस्था में होना चाहिए इस पर बहुत कुछ मतभेद है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है 'अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्। एकादशे क्षत्रियम्। द्वादशे वैश्यम्। आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य'। (१ का १९. १-६)। पारस्कर ने भी आठवें वर्ष ही लिखा है यद्यपि वे वंश के चलन के अनुसार भी करने की स्वतंत्रता

मार्गशिष्यस्तेभ्यो दक्षिणीर्नि वस्त्रभूषणम् ।
गुरुश्च वाचोच्चारयेत् । ततो गोदानं दारकर्म च ।—अपरार्क १।१२

1 स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥—रघु ३।२८

2 धर्मशास्त्र का इतिहास अध्याय ६ पृष्ठ २६६ २६७

दे देते हैं (२ का २)। शांखायन आठवें अथवा बारहवें में करने की अनुमति दे देते हैं (२ का १ १)। आपस्तम्ब का कहना है—'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्' (१० का २)। मनु यद्यपि पहले कह देते हैं 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम् गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः' पर इसके आगामी श्लोक में कहते हैं 'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे' (२ का ३७)। वैखानस ५, ८ अथवा ९ कहते हैं (२ का ३)। अतः आठवें में तो प्रायः सबकी ही सम्मति है।

इस संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचारी हो जाता है। अतः उसकी वेशभूषा और दैनिक जीवन बहुत संयमित हो जाते हैं। वेशभूषा में ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था। अजिन पलाश यज्ञोपवीत मेखला उसकी वेशभूषा के प्रधान अंग थे। इनके द्वारा ही वह ब्रह्मचारी पहचाना जाता था। जैसा कि कालिदास ने ब्रह्मचारी की वेशभूषा कुमारसंभव में वर्णन की है—

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।

विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥—(सर्ग ५ १)

ब्रह्मचारी की वेशभूषा अजिन पलाश यज्ञोपवीत मेखला आदि की उपयोगिता और महत्त्व दैनिक संयमित जीवन ब्रह्मचारी धर्म वैदिक अध्ययन आदि के विषय में पृथक् अध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम और शिक्षा के अन्तर्गत विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा।

कालिदास ने रघु का उपनयन-संस्कार वर्णन किया है। यद्यपि मनाने की विधि पर किसी तरह का प्रकाश नहीं पड़ता परन्तु यज्ञोपवीत अथवा उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्यों ने रघु को विधिपूर्वक शिक्षा पढ़ानी प्रारम्भ कर दी इसका उल्लेख है—

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।

—(रघु० सर्ग ३ ‑

इस संस्कार में यज्ञोपवीत का धारण

संस्कार को कम

कि उस समय से पहले सभी पहनते थे पर तब केवल ब्राह्मण। परन्तु आजकल यह हिन्दुत्व का चिह्न है, इसे उच्च वर्ण के सभी पहनते हैं यद्यपि विशेषकर ब्राह्मण ही। उनके लिए अत्यावश्यक है।

भारद्वाज गृह्यसूत्र (१ का १) का कहना है कि पहले बालक यज्ञोपवीत पहन लेता था तब होम प्रारम्भ होता था। बौधायन (२ का ५ ७) कहते हैं कि बालक को यज्ञोपवीत देकर कहा जाता था कि यज्ञोपवीत बहुत पवित्र है, इस मंत्र का उच्चारण करो। इस समय फिर उसका मुंडन होता था। आश्वलायन के अनुसार अन्त में कमर में मेखला बाँध दी जाती थी और हाथ में पलाशदंड दे दिया जाता था। आपस्तम्ब होम के बाद फौरन ही मेखला और दंड दे देते हैं। आचार्य छात्र रूप में दीक्षित बालक का हाथ पकड़कर देवी-देवताओं को उसे समर्पित कर कल्याण करने की प्रार्थना करता हुआ विद्या-अध्यापन प्रारम्भ कर देता था[1]।

केशान्त अथवा गोदान—वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर यह संस्कार होता था। जैसा कवि ने स्वयं कहा है कि गोदान के पश्चात् रघु का विवाह हो गया[2]। अतः ब्रह्मचर्य की समाप्ति और गृहस्थाश्रम के बीच की यह कड़ी है। मल्लिनाथ ने इस संस्कार के विषय में कहा है 'गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते[3]। चूँकि केशान्त के पश्चात् गुरु को गाय दक्षिणा-रूप में दी जाती थी अतः इसका नाम गोदान भी पड़ गया। इस संस्कार में प्रथम बार क्षौर कर्म होता था। आश्वलायन केश का अर्थ श्मश्रु लेता है। जहाँ चौल में आश्वलायन गृह्यसूत्र में मंत्र है 'अदिति केशान् वपतु' वहाँ गोदान में 'अदिति श्मश्रूणि वपतु' मंत्र है। चौल में आश्वलायन गुच्छ को केश के दाहिनी ओर रखते हैं, इसमें श्मश्रु पर[4]।

प्रत्येक सूत्रकार का कहना है कि इसके मनाने की विधि वही है जो चौल में थी। अन्तर यही है कि चौल में बालक माँ की गोद में बैठता है, इसमें माँ उसके बाईं ओर रहती है। इसी प्रकार के कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन हैं। अधिकतर स्मृतिकार सोलहवें वर्ष में यह संस्कार करने को कहते हैं— 'केशान्तः षोडशे वर्षे'

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ २८९

२ अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद्गुरुः।—रघु० ३।३३

३ टीका रघु० ३।३३

४ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ ४०४, फुटनोट

ब्राह्मणस्य विधीयते राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः (मनु २ का ६५)। आश्वलायन सोलहवें अथवा बारहवें वर्ष कहते हैं। गोदान के कितने समय पश्चात् विवाह होता था कहा नहीं जा सकता। कालिदास की कृति रघुवंश (सर्ग ३ । ३३) से ऐसा लगता है कि एक ही दिन विवाह से पहले हो जाता था।

स्नान अथवा समावर्तन—वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर गुरु की अनुमति प्राप्त कर ब्रह्मचारी स्नान कर पिता के घर लौट आता था। तत्पश्चात् किसी अनुकूल कन्या से विवाह कर लेता था[१]। स्नान से आशय यही स्नान था जो अध्ययन की समाप्ति पर किया जाता था और समावर्तन गुरुकुल से पिता के घर को लौट आना था। स्नान वही करता था जो वैदिक अध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का इच्छुक होता था। जो आजीवन पढ़ना चाहता था वह इस संस्कार को नहीं करता था। इसी प्रकार जिसने पिता से ही सब विद्याएँ पढ़ी उसके लिए क्या समावर्तन[२], वह केवल स्नान करता था। अतः समावर्तन को मनु के टीकाकार मेधातिथि विवाह का मुख्य अंग नहीं मानते।

वैदिक अध्ययन की समाप्ति पर स्नान के पश्चात् ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था—ऐसा भी काणे का कहना है[३]। कालिदास ने यद्यपि इस संस्कार का कहीं साक्षात् उल्लेख नहीं किया पर उन्होंने स्नातक शब्द का उपयोग अवश्य किया है[४]। जो केवल वेद पढ़ता था—व्रत नहीं वह विद्या-स्नातक कहलाता था जो केवल व्रत पढ़ता था वेद नहीं वह व्रत-स्नातक और जो दोनों वह विद्याव्रत स्नातक[५]।

विवाह संस्कार—उपनयन के पश्चात् यह दूसरा अति महत्त्वपूर्ण संस्कार है जो व्यक्ति को गृहस्थ बनने का मार्ग खोल देता है। स्वयं कालिदास ने गृहस्थाश्रम को 'सर्वोपकारक्षमम्'[६] कहकर विवाह का महत्त्व बता दिया है। उन्होंने अनेक स्थानों पर पुत्र की उपयोगिता और महत्त्व समझाया है[७]। दूसरे शब्दों में वे पुत्र के लिए ही विवाह का उद्देश्य[८] वर्णित करते हैं और पुत्र उनके

---

१ मनु० ३।४

२

'पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्'[1] है। अतः दिलीप का दुःखी होना, दुष्यन्त का पश्चात्ताप करना सत्य ही है। पुत्र के लिए ही पुत्रेष्टि यज्ञ[2] और पुत्रोत्पत्ति[3] उत्सव का प्रसंग देकर वे गृहस्थाश्रम का महत्त्व बढ़ा देते हैं। कालिदास के ग्रन्थों में स्त्री पुत्रवती होने का आशीर्वाद बहुधा दिया जाता है[4]। वैवाहिक आदि शुभ अवसरों पर सौभाग्यवती तथा पुत्रवती स्त्रियाँ शुभ मानी जाती हैं[5] वे ही मंगल

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते॥
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः॥—रघु० १।६६, ६७, ६८

इसके पश्चात् भी ४ श्लोक इसी प्रसंग में हैं।

स चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम्।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम्॥—रघु० १०।२

सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः॥—कुमार० ६।२७

अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं
धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति॥—अभि० ६।२५

१ द्र० उपरोक्त —रघु० १०।२

२ ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः।—रघु० १०।४

३ रघु० २ सर्ग पूरा विशेषकर—
'तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।—रघु० २।७३

४ वत्से वीरप्रसविनी भव।—अभि० पृ० ६२
ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।
सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि॥—अभि० ४।७
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच।—रघु० १४।७१
वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति।—कुमार० ७।८७

५. तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः।—कुमार० ७।६

शृंगार करती है। सम्राट् को भी 'चक्रवर्ती पुत्र हो' ऐसा ही आशीर्वाद देने की चाह[1] है। ये सब बातें पुत्र की महत्ता के साथ-साथ विवाह की आवश्यकता पवित्रता पर अधिक प्रकाश डालती हैं।

कालिदास ने विवाह-संस्कार कितने प्रकार से मनाया जा सकता है इसके कितने भेद हैं, संस्कार की विधि क्या है, इसके लिए क्या-क्या उपकरण प्रयुक्त किये जाते हैं आदि अनेक बातें स्पष्ट रीति और रूप से अभिव्यक्त की हैं। अतः इस संस्कार को सविस्तार पृथक् अध्याय में लिया जायगा।

अन्त्येष्टि-संस्कार—कालिदास ने अन्त्येष्टि-संस्कार के लिए 'मैथिल' शब्द का भी प्रयोग किया है[2]। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् अन्तिम बार शव को पुष्प-आभूषण आदि से सजाया जाता था। कवि इस अन्तिम साज-सज्जा को अन्त्यमंडनम्[3] अथवा मृत्युमंडनम्[4] कहते हैं।

अग्नि-संस्कार—शव को कफन (इसे कवि प्रतवीवर कहता है) उढ़ा कर[5] उसका अग्नि-संस्कार[6] कर दिया जाता था। राजकुल के व्यक्तियों के लिए चन्दन की चिता बनाई जाती थी[7]। परन्तु योगी भूमि में गाड़े जाते थे। (रघु ८।२५)।

मृत्यु के पश्चात् जब तक शुद्ध आदि नहीं हो जाता था अशौच-दिवस रखते थे। अशौच-दिवस की अवधि के विषय में मल्लिनाथ मनु तथा पाराशर की सम्मति उद्धृत करते हैं। इन दिवसों का कवि दशाह कहता है[8]। मनु का कहना है कि ब्राह्मण दस दिन के बाद शुद्ध हो जाते हैं और क्षत्रिय बारह दिन के बाद। स्वयं मल्लिनाथ मनु के नियम का उल्लंघन नहीं करते अपितु कहते हैं—

---

१ जन्म यस्यापुरोर्भ से पुण्यरूपमिदं तव। पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥ —अभि १।१२

२ विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ।—रघु ८।२५

३ विससर्ज तदन्त्यमंडनामनलायागुरुचन्दनैधसे ।—रघु ८।७१

क्रियतां कथमन्त्यमंडनं परलोकान्तरितस्य ते

४ अथवा

'गुणवत्तनियस्य तु दशाहेन शुद्धिम्'। पाराशर कहते हैं— 'क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वकर्मनिरतः शुचिः'[१]।

श्राद्ध-संस्कार[२]—श्राद्ध में मृत व्यक्ति को जो वस्तु प्यारी होती है, वह अवश्य दी जाती है। रति ने वसन्त से आग्रह किया था कि वह आम की मंजरी जो कामदेव को बहुत प्यारी थी अवश्य दे[३]।

श्राद्ध-संस्कार को मल्लिनाथ 'पिण्डोदकादि कर्म'[४] कहते हैं। जल की अंजलि[५] देने का कवि ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। तिल-उदक का[६] मृत व्यक्ति को तर्पण किया जाता है। पिण्डदान[७] भी किया जाता है।

अपवाद—योगियों का अग्नि-संस्कार नहीं किया जाता[८]। शौनक का कहना है— सर्वसंगनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं नैव पिण्डोदक क्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव बिले भिक्षोः कलेवरम्। प्रोक्षणं खननं चैव सर्व तेनैव कारयेत्[९] ॥

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ८ में वर्णित श्लोक की टीका।

२ अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकांक्षिणः ॥—रघु० ८।२६
—हस्तारोपितपुत्रास्ते पत्नीनां कनेष्वरा।
मत् लोकप्रणम्नाता निवापान्विदधुः क्रमात् ॥—रघु० १२।११

३ देखिए पिछले पृष्ठ का पादटिप्पणी नं० १ में रघु० १२।५१
परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवा।
निवपेः सहकारमंजरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥—कुमार० ४।३८

४ देखिए, इसी पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० २ में रघु० ८।२६
अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥—रघु० ८।८६

५ मनुजास्यमि वारदुधितं परलोकोपनतं जलांजलिम् ।—रघु० ८।६८
इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्यांजलिरेक एव नौ ।—कुमार० ४।३७

६ देखिए, रघु० ८।२६ टीका
अस्मात्परं बत यथाश्रुति संभृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति ॥
—अभि० ६।२५

७ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

८ विरचे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ।—रघु० ८।२५

९ रघु० ८।२५ ((टीका))

विश्वास—जब कुटुम्बी बहुत रोते हैं तो प्रेतात्मा को बहुत कष्ट होता है[1]। याज्ञवल्क्य का कहना है 'श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुंक्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रिया कार्याः स्वशक्तितः'[2]।

स्त्री-पुरुषों के संस्कारों में अन्तर—मनु[3] याज्ञवल्क्य[4] और आश्वलायन[5] तीनों का ही कहना है कि जातकर्म से लेकर चूडाकर्म तक सभी संस्कार लड़कों के समान लड़कियों के भी होने चाहिए। अन्तर यही है कि लड़कियों के संस्कारों में मंत्रों का उच्चारण नहीं होना चाहिए।

जातकर्म—परन्तु काणे जी ने[1] जातकर्म में तैत्तिरीय संहिता और बृहद् उपनिषद् का जो मंत्र उद्धृत किया है उसमें पुत्र शब्द साफ लिखा है। अतः मुख्यभाग और महत्त्व निस्संदेह पुत्र के ही जातकर्म को दिया जाता था।

नामकरण—नामकरण के विषय में आश्वलायन (१ का १५, ११) का कहना है कि यात्रा से लौटने पर पिता पुत्र को गोद में लेकर 'अमर' 'अंगर' कहे और उसके शीर्ष का तीन बार चुम्बन करे। आपस्तम्ब भी लगभग ऐसी ही क्रिया कहते हैं केवल इतना और, कि उसके दाहिने कान में एक पवित्र मंत्र कहे। बृहद् उपनिषद् (२ का ११) में लिखा है कि यात्रा से लौटकर पिता 'अंगर' 'अमर' कहते हुए सिर स्पर्श करे और 'अश्मा भव' कहे। लड़कियों के सम्बन्ध में न सिर को सूँघा जाता था न कान में किसी मंत्र का ही कहना था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लड़कियों की उपेक्षा तो नहीं की जाती थी पर वास्तव में अधिक महत्त्व पुत्र को दिया जाता था।

चूडाकर्म—आश्वलायन (१ का १७ १८) का कहना है कि लड़कियों का चूडाकर्म अवश्य होना चाहिए, पर वैदिक मंत्रों के पाठ के बिना। मनु (२ का ६७) याज्ञवल्क्य[6] (१ का ११) का भी ऐसा विश्वास है कि शरीर की शुद्धि के लिए जातकर्म से चौल तक सभी संस्कार लड़कियों के बिना वैदिक मंत्रों के होने चाहिए।

---

१ अपमोक्ष्मना

उपनयन—हारीत धर्मसूत्र के अनुसार जैसा काणेजी ने[1] उद्धरण दिया है, स्त्रियों के दो वर्ग होते थे ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू। ब्रह्मवादिनी का उपनयन-संस्कार होता था वे वैदिक अध्ययन करती थीं। सद्योवधू का विवाह से पहले केवल संस्कार भर होता था इसके बाद विवाह। गोभिल[2] के अनुसार लड़की विवाह के समय उपनयन-संस्कार के चिह्न यज्ञोपवीत का धारण करती थी। पर टीकाकार का कहना है कि उसके ऊपर का वस्त्र यज्ञोपवीत की तरह लटका रहता था।

समावर्तन—आश्वलायन स्त्रियों का वैदिक अध्ययन मानता था। अतः समावर्तन भी लिखा है[3]। हारीत ने संस्कार-प्रकाश में 'प्राग्रजसः समावर्तनम्' (पृ० ४०४) लिखा है। अतः ब्रह्मवादिनी का उपनयन आठवें वर्ष में होकर ऋतुमती होने से पूर्व उसकी विद्या समाप्त हो जाती थी। मनु ने उपनयन समावर्तन आदि पर ध्यान नहीं दिया। तब तक आते-आते शायद यह स्त्रियों का न भी मनाया जाता हो या मंत्ररहित हो। अतः कालिदास ने भी स्त्री-संस्कारों में विवाह और श्राद्ध के अतिरिक्त किसी संस्कार का वर्णन नहीं किया।

विवाह—स्त्रियों का विवाह-संस्कार वैदिक मंत्रों के साथ धूमधाम के साथ मनाना न केवल मनु[4] और याज्ञवल्क्य[5] ने कहा अपितु कवि कालिदास ने भी[6] जहाँ पार्वती के जातकर्म से विवाहारम्भ-संस्कार नहीं लिखा जातकर्मादि का वर्णन धूम से नहीं किया पर उनका विवाह बड़ी धूम से किया। इसी प्रकार इन्दुमती के विवाह में भी मन्त्र-उच्चारणों सहित विवाह संस्कार का उल्लेख किया[7]।

श्राद्ध—पुरुषों के समान स्त्रियों का श्राद्ध नियमपूर्वक मनाया जाता स्पष्ट कहा है। अज द्वारा इंदुमती[8] का और राम द्वारा अपनी माताओं का श्राद्ध[9] विधिपूर्वक किया गया था। तर्पण पिण्डदान एक-सा ही था।

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० २९४

२ गोभिल २।१।१९। धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० २९४

३ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० २९४–२९५

४ मनु० २।६७। ५. याज्ञ० १।१२।६ कुमार० सर्ग ७।७ रघु० सर्ग ७।

८. अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥—रघु० ८।७१

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम्।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥—रघु० ८।७३

९. स्वर्गारोहितभर्तृणां जननीनां जनेश्वरः।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधे क्रमात् ॥—रघु० १५।९१

पाँचवाँ अध्याय

विवाह

संस्कारों में सबसे अधिक महत्त्व विवाह को ही दिया गया। 'विवाह' के अतिरिक्त उद्वाह, परिणय परिणयन पाणिग्रहण आदि शब्द भी इस संस्कार के पर्यायवाची ही हैं। शास्त्रों में ये सभी शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त किए गए[1]।

विवाह का उद्देश्य—ऋग्वेद के अनुसार विवाह का उद्देश्य गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो देवकार्यों को करने का अधिकार प्राप्त करना तथा वंशानुक्रम के लिए सन्तान-प्राप्ति थी[2]। ऐतरेय ब्राह्मण[3] तथा शतपथ ब्राह्मण[4] भी सन्तान प्राप्ति को ही पूर्णता समझकर विवाह को महत्त्व प्रदान करते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[5] विवाह के दो उद्देश्य कहता है पत्नी के सहयोग से धार्मिक कार्यों को सम्पादित करना तथा सन्तान प्राप्ति। मनु अपत्य धर्मकार्यों को करने की क्षमता उत्तम रति पितरों एवं अपने लिए स्वर्ग प्राप्ति ये उद्देश्य विवाह के मानते हैं[6]।

कल्पना युक्तिसंगत है कि कालिदास ने अपने पूर्वजों का ही अनुकरण किया। मनु के उद्देश्य नवीन नहीं थे पिछले उद्देश्यों की ही पुनर्व्याख्या थी और कालिदास के ग्रन्थों का यदि समीचीन रूप से अध्ययन किया जाय तो मनु के ही स्वर में उनका स्वर मिला हुआ मिलेगा।

(१) कालिदास ने स्वयं अपने ग्रन्थों में गृहस्थाश्रम का महत्त्व स्वीकार

एवमुपयमनपाणिग्रहणमवरपरिणयनशब्दोऽपि वक्तव्यमेतेन शास्त्रेषु प्रयुज्यते (अपरार्क पृ ११)

ऋग्वेद १०, ८ ...

किया है। वे गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठ मानते हैं[१]। धार्मिक कार्यों को बिना विवाह करने का अधिकार नहीं था[२]। इसी से गृहस्थाश्रम एवं विवाह की महत्ता भली-भाँति परिलक्षित हो जाती है।

प्रत्येक धार्मिक काम में पत्नी का सहयोग परमावश्यक समझा जाता था। 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्'[३] कालिदास के विश्वासों का साक्षात् प्रतीक है। पत्नी को इसी कारण धर्मपत्नी[४] कहा जाता था। पत्नी को कवि-कुल गुरु प्रतिष्ठा कहते हैं 'संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा' (अभि० ६।२४)। विवाह के समय पुरोहित कन्या से कहता था कि तुम पति के साथ सब प्रकार के धार्मिक कार्यों को करना[५]। धार्मिक कार्यों में पत्नी का कितना स्थान था इसकी पुष्टि राम के द्वारा यज्ञ के समय सीता की सोने की प्रतिकृति रखना कर देता है[६]।

(२) विवाह का दूसरा उद्देश्य कवि भी वंश-प्रतिष्ठा ही समझते हैं। विवाह को बहुत पवित्र समझा जाता था। संसार के समस्त सुखों के समुपस्थित रहते हुए भी यदि व्यक्ति के पुत्र न हो तो सब फीका एवं निस्सार ही समझा जाता था। पुत्र की महत्ता में वंश का अन्तर्भाव है। पुत्र का न होना सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझा जाता था। स्वयं मनु भी जिस कन्या के कोई भाई न हो उससे विवाह करने के पक्ष में न थे।

राजा दिलीप के पास सभी सुख-भोग की सामग्री थी फिर भी वे पुत्र के बिना कितने दुःखी थे इसको कवि ने रघुवंश प्रथम सर्ग में भलीभाँति व्यक्त किया है[७]।

दुष्यन्त समुद्र-व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के पश्चात् यह सोचकर कितना दुःखी होता है कि निस्संतान होना कितना दुःखदायी है, मेरे पीछे पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी की भी यही दशा होगी[८]।

---

१ सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते—रघु० ५।१०

२ 'मम धमचरणेऽपि परवशोऽयं जनः'—अभि० अंक १ पृ २१

३ कुमार० ६।१३

४ 'तपोवनवासिनामपत्यमस्याः प्रतिगृहाण सहधर्मचरणायेति'—अभि० अंक ५ पृ० ८६। 'दिष्टया धर्मपत्नी समागमेन .... —अभि पृ० १४३

५ 'शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति'—कुमार० ७।८३

६ धर्मपत्न्याः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी। रघु० १५।६१

७ रघु० सर्ग १ ६५ से ७१ श्लोक। पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'।

८ 'कष्टं खलु अनपत्यता। ममाप्यन्ते पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।
—शाकु० अंक ६ पृ० १२२

पुत्र को वंश की प्रतिष्ठा कहा गया है[1]। वैदिक विधि से तर्पण करने का उसको ही अधिकार दिया गया है[2]। पुत्र ही वंश और कीर्ति को बढ़ाने वाला होता था[3]। पितरों के ऋण से छुटकारा दिलाने में पुत्र ही सहायक होता था[4]। तपस्या करने ब्राह्मणों और दीनों को दान देने से जो पुण्य प्राप्त होता है, वह केवल परलोक में ही सुख देता है परन्तु शुद्ध सन्तान सेवा-शुश्रूषा द्वारा इस लोक में भी सुख देती है साथ ही तर्पण और पिण्डदान से परलोक में सुख देने में समर्थ होती है[5]। पुत्र परिवार का बीज—कुलांकुर समझा जाता था[6]। पुत्र की क्रीड़ाओं से माता-पिता कितने प्रसन्न होते थे रघु की क्रीड़ाएँ इसका प्रमाण है[7]। भरत को देख कर दुष्यन्त के मुख से ये शब्द निकल ही जाते हैं कि वे माँ-बाप भी धन्य हैं जिनकी गोद में बालक खेला करते हैं[8]। पुरूरवा[9] और

---

१ अत्र वस्तु में वंश प्रतिष्ठा—अभि० अंक ७ पृ० १४७
२ अभि० ६।२५, रघु० १।६६—७२ पूर्वोल्लेख देखिए, संस्कार का अध्याय।
३ वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ।—रघु २।६४
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ।—रघु ३।२७
४ असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।—रघु १।७२
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ।—रघु० १ ।२
५ लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।।—रघु १।६९
६ महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे ।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः ।।—अभि० ७।१५
अनेन कस्यापि कुलांकुरेण स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।—अभि ७।१९
७ उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ।।
तमंकमारोप्य शरीरयोगजैः
उपान्तसंमीलितलोचनो

दुष्यन्त[1] पुत्र को न पहचानने पर स्वाभाविक रीति से पुत्र-प्रेम से प्रभावित हो जाते हैं । उर्वशी भी जोकि पुत्र-प्रेम से भीग गई थी[2] ।

अपने ही सदृश पुत्र प्राप्त करने की सब की साध होती थी[3], अतः पुत्रवती होने का आशीर्वाद स्त्रियों को दिया जाता था[4] । यही आशीर्वाद पुरुषों के लिए भी सबसे उत्तम आशीर्वाद समझा जाता था[5] । राजा दशरथ ने श्रवण कुमार के माता-पिता के शाप का भी वरदान माना था ।

पुत्र की इसी महानता के कारण पुत्रेष्टि-यज्ञ[6] और पुत्रोत्पत्ति-व्रत[7] का बहुत मूल्य था । रघुवंश में राजा भोग-विलास के लिए नहीं अपितु पुत्र की प्राप्ति के लिए ही विवाह किया करते थे[8] । कुमारसंभव में भी यद्यपि शिवजी पार्वती के अनन्य सौन्दर्य से आकर्षित हो गये थे पर विवाह का कारण वे यही स्पष्ट करते हैं कि देवता लोग मुझसे पुत्र उत्पन्न कराना चाहते हैं[9] । रघुवंशी 'पुत्र सन्तानकामी' (रघु० १८।३१) सन्तान की इच्छा से ही विवाह करते थे । उनका आदर्श 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' (रघु० १।७) था ।

संक्षेप में धर्म, अर्थ और काम तीनों ही उनकी समझ में विवाह के उद्देश्य हैं । धर्म और अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति ऊपर दी जा चुकी है । काम को भी उन्होंने सम्मुख करने में कोई कसर नहीं उठा रखी । इन्दुमती स्वयंवर में भोग सौन्दर्य-प्रधान है ।

---

१ किं न खलु बालेऽस्मिन्नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः ।—अभि० ७।१७

२. इदं च ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती
स्तनांशुकम्—विक्रम० ५।१२

३ रघु० १।६५ पूर्वोल्लेख
—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥—रघु० ३।२३

४ 'वत्से वीर प्रसविनी भव'—अभि०, अंक ४ पृ० ६६
—तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥—रघु० १४।७१

५. जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव ।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि ॥—अभि० १।१२

६ रघु० १०।४ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

७ रघु० सर्ग २ दिलीप द्वारा नन्दिनी की सेवा ।
—रघु०, १।५२ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

८. रघु० १०।२५, पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार'

९ कुमार० ६।२७ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'संस्कार

'मृगवने वैकरवासमूले निर्विशन्ती सुन्दरि यौवनश्री'[1]

जिसकी टीका मल्लिनाथ ने इस प्रकार की है—'मृगवनगमनसमय इत्यादि हे सुन्दरि ! यौवनश्रीयौवनमन्मथं निर्विशन्ताम् मुञ्चताम् ।

इसी प्रकार—'सुरतश्रमसंभृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते'[2] में प्रकट काम है। विवाह पश्चात् कुमारसंभव का सम्पूर्ण अष्टम सर्ग इस बात का साक्षी है कि विवाह के उद्देश्यों में काम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

वर और वधू का चुनाव

वर के आवश्यक गुण—वर के सम्बन्ध में उसमें भिन्न-भिन्न गुणों का होना आवश्यक है, अनेक ग्रन्थों ने प्रकाश डाला है। आश्वलायन गृह्यसूत्र की सम्मति है, 'बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्'[3]। आपस्तम्ब उत्तम कुल सच्चरित्र स्वस्थता और विद्या सबको आवश्यक समझते हैं[4]। बौधायन सद्गुणों को ही सर्वस्व मानता है[5]। स्मृतिचन्द्रिका में यम वर के सात गुणों का विवाह की कसौटी पर रखते हैं—उत्तम परिवार सच्चरित्र रूप कीर्ति विद्या या पाण्डित्य धन इष्टमित्र और बन्धुओं का सहयोग[6]। मनु,[7] याज्ञवल्क्य[8] और आश्वलायन[9] तीनों समस्त गुणों में कुल की उच्चता पर अधिक जोर देते हैं।

स्वयं कालिदास भी इस विषय की उपेक्षा नहीं कर सके—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥—कुमार० ५।७२

इस श्लोक के द्वारा कुल रूप और वित्त तीन ही वर की योग्यता के प्रमाण हैं, अपने इस सरल विश्वास को सहसा वे कह गए। शील और सद्गुण यदि

---

१ रघु० ९।६०　　　२ रघु० ८।५१

३ आश्वलायन गृह्यसूत्र १ ५ २

४ 'बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोग इति वरसम्पत्'
—आपस्तम्ब

५. बौधायन धर्मसूत्र ४ १ १२

कुछ उम्र है तो अवश्य ही वर में उपस्थित होंगे। शील से ही व्यक्ति रूपवान् लगता है और शीलवान् अपने भरण-पोषण के योग्य वित्त को उपार्जित करने में समर्थ हो जाता है। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल में अनसूया ने शकुन्तला के विषय में दुष्यन्त से एक स्थान पर कहा है—

'गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः संकल्पः'[1]

दूसरे शब्दों में कवि के विश्वास आश्वलायन बौधायन आपस्तम्ब मनु आदि की ही प्रतिध्वनि कहे जा सकते हैं। वर के अन्य गुणों में समान उम्र और समान रंग भी था। अर्थात् समान रूप समान वय समान कुल और समान यौवन का विवाह प्रशस्त माना जाता था—

, कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।

त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥—रघु० ६।७६

परन्तु काले और गोरे का संयोग भी कालिदास ने अच्छा माना है—

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।

अन्योन्यशोभा परिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥—रघु० ६।६५

कन्या मुख्यरूप से वर के रूप पर, जिसमें पुरुषत्व हो लट्टू होती है। कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा में वर्णित पुरुष-सौन्दर्य ही उनके आकर्षण का रहस्य है। पति का अपूर्व पौरुष अधिक स्पृहणीय था (पतिमासाद्य तमप्रमपौरुषम्—रघु० ८।२८)। मल्लिनाथ ने 'अप्रमपौरुषं' पर यों टिप्पणी की है, 'महापराक्रममुत्कृष्ट भोगसक्तिं च'। विशाल शरीर पुष्ट और स्वस्थ मांसल देह उनकी तुला है। इंदुमती भी सर्वांगसम्पन्न अज (रघु० ६।६६) पर ही मुग्ध होती है। 'क पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्....' (अभि० १।२३) दुष्यन्त के इस पुरुषत्व पर ही शकुन्तला ने उसे देखकर मन में कहा—'किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता'।

वधू-चुनाव—वधू के सम्बन्ध में भी उसके रूप शील चरित्र स्वस्थता और परिवार को देखना चाहिए। इस विषय में कात्यायन का कहना है—

'उन्मत्तः पतितः कुष्ठी तथा षण्ढः स्वगोत्रजः।
चक्षुः श्रोत्रविहीनश्च तथापस्मारदूषितः।
वरदोषाः स्मृता ह्येते कन्यादोषाश्च कीर्तिताः ॥

—स्मृतिचन्द्रिका, पृ० १ ४६

मनु भी सम्मति शुभलक्षणों वाली कन्या से विवाह करने में है। यह समय उनके ही शब्दों में—

---

१ अभि अंक ४ पृष्ठ ६८

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम् ॥[1]
अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥[2]

इस विषय में भरद्वाज की सम्मति सराहनीय है। उन्होंने चार बातें ही विशेष समझीं—धन सौन्दर्य बुद्धिमत्ता और परिवार। यदि ये चार एक स्थान पर न मिलें तो सबसे प्रथम धन की उपेक्षा करनी चाहिए, तत्पश्चात् सौन्दर्य की[3]।

गौतम[4] वसिष्ठ[5] और याज्ञवल्क्य[6] आदि का कहना है कि कन्या को वर से छोटी होना चाहिए। कामसूत्र के अनुसार यह अन्तर कम-से-कम तीन वर्ष का होना चाहिए[7]। इसके अतिरिक्त ऐसी कन्या से विवाह न करना चाहिए जिसके कोई भाई न हो[8]। गौतम[9] वसिष्ठ[10] मनु[11] और याज्ञवल्क्य[12] का कहना है कि उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो कुमारी हो और उसी जाति की हो परन्तु सजातीय होने पर भी वह सपिण्ड न हो[13] न ही वर वधू एक गोत्र के हों[14]। सपिण्ड के सम्बन्ध मे शास्त्रकारों का कहना है कि सात पीढ़ियाँ पिता की और पाँच पीढ़ियाँ माँ की छोड़ देनी चाहिए[15]। वेदव्यास

---

१ मनुस्मृति ३।८ २. मनुस्मृति ३।१०

३ 'चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति। तानि चेत्सर्वाणि न लभ्यन्ते वित्तमुत्सृजेत्ततो रूपं प्रज्ञायां च तु बान्धवे च विवदन्ते। बान्धवमुख्येतित्येके आयुरप्रज्ञेन हि न संवास'

—भारद्वाज गृह्यसूत्र १ का ११

४ गौतम धर्मसूत्र ४ का १ ५. वसिष्ठ धर्मसूत्र ८.१

६ याज्ञवल्क्य स्मृति १ का ५२ ७ कामसूत्र ३ का १२

८. मानव गृह्यसूत्र १.७.८ मनु० ३।११ याज्ञवल्क्य १।५३ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४३५

९. गौतम धर्मसूत्र ४.१

१० वसिष्ठ धर्मसूत्र ८.१ ।

११

स्मृति के अनुसार उस कन्या से विवाह करने में भी निषेध है, जिसकी माँ का गोत्र और वर का गोत्र एक हो[1]।

कालिदास कन्या के अछूते सौन्दर्य पर जोर देते हैं। उनकी सभी नायिकाएँ अनन्य सुन्दरी हैं[2]। अतः बाह्य सौन्दर्य उनकी दृष्टि में सब कुछ है। परन्तु इस बाह्य सौन्दर्य के साथ वे पवित्रता को भी आवश्यक समझते हैं। 'अनाघ्रात पुष्पं किसलयमलूनं अनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्'[3] आदि अनूठी उक्तियाँ इस अछूते सौन्दर्य की मान्यता में प्रमाण हैं।

अतः धनादि की परवाह न कर, राजपुत्र अनन्य सुन्दरी स्त्रियों के साथ विवाह कर लेते थे। स्वयंवर-प्रथा से आभासित होता है कि कन्या पति पर माला डाल दे तो कोई भी बिना किसी बन्धन के, विवाह कर सकता है।

कालिदास अच्छी पत्नी की परिभाषा 'गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'[4] करते हैं। अतः पत्नी गृहकाम में दक्ष, सुन्दर सम्मति देने वाली मित्र कलाविद् होनी चाहिए। कन्या में ये ही गुण होने पर आवश्यक हैं। संक्षेप में जो धर्म अर्थ और काम तीनों की सहचरी हो ऐसी ही कन्या उनकी दृष्टि में उत्तम है।

कन्या के सौन्दर्य-ज्ञान के साधन—आजकल की तरह प्राचीनकाल में भी फोटो या चित्र भेजे जाते थे। दूतियाँ भी कन्या को देखने जाती थीं और वे आकर उसके विषय में बता देती थीं[5]।

विवाह-योग्य अवस्था—अधिकतर वैदिक शिक्षा की समाप्ति पर पुरुष विवाह कर गृहस्थ हो जाते थे। स्वयं कालिदास शिक्षा की समाप्ति पर गोदान-संस्कार तथा इसके पश्चात् विवाह करा देते हैं। परन्तु शिक्षा की अवधि कुछ निश्चित नहीं थी। कोई समस्त वेद पढ़ता था कोई एक ही और कोई एक वेद का भी एक ही भाग। प्रायः आठवें वर्ष में या इसके आसपास ही उपनयन संस्कार होता था। अधिकतर बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का रहता था इसलिए बीस या इसके आसपास ही पुरुष विवाह कर लेते होंगे ऐसा अनुमान

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृष्ठ ४२७

२ देखिए, अध्याय वेशभूषा—कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिमा।

३ अभि० २।१० ४ रघु० ८।६७

५ प्रतिहस्तिरचनाभ्यां दूतिसन्दर्शिताभ्यां समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः॥
—रघु० १८।५३

किया जाता है। मनु का इस विषय में कहना है कि तीस वर्ष का पुरुष बारह वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है।

रघु के विषय में कवि का कहना है कि जैसे वत्स का बछड़ा बड़ा होकर साँड़ हो जाता है; हाथी का बच्चा गजराज, वैसे ही रघु ने भी जब बाल्यावस्था व्यतीत कर युवावस्था में पैर रखा तब उसका शरीर और भी खिल उठा। राजा ने गोदान-संस्कार कर उसका विवाह कर दिया[1]। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समय उसकी अवस्था बीस और पच्चीस के बीच की होगी। अध्ययनावधि की समाप्ति पर पूर्ण युवा हो जाने पर गुरु की अनुमति पाकर ही पुरुष विवाह करते थे (रघु० ५।१०)। विक्रम० में भी तापसी कहती है कि यह (आयुष) कवच धारण करने योग्य हो गया है (अंक ५)। राजा भी कहता है तुम ब्रह्मचर्य में रह चुके अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में रहना चाहिए (अंक ५)। अतः क्षत्रिय पूर्ण युवा होने पर विवाह करते थे। वैसे पुरुष सभी अवस्था में विवाह कर लिया करते थे। उदाहरण के लिए दुष्यन्त की कई रानियाँ पहले ही थी उसके पश्चात् शकुन्तला से उसका विवाह हुआ था। अवश्य ही वे प्रौढ़ होंगे और शकुन्तला और उनकी वयस में यथेष्ट अन्तर होगा। यह सीमा मालविकाग्निमित्र में बहुत बड़ी दिखाई पड़ती है। धारिणी जो अग्निमित्र की सबसे बड़ी रानी थी का पुत्र वसुमित्र युद्ध में गया था और उसने बड़ी वीरता से शत्रुओं को दूर भगाया और अश्वमेध के घोड़े को शत्रुओं के हाथ से मुक्त किया। इसके अनुसार अग्निमित्र की अवस्था अवश्य ही चालीस पैंतालीस के आसपास होगी। जिस समय का यह प्रसंग है उसी समय मालविका, जो युवती परन्तु कुमारी थी और राजा का प्रेम-व्यापार भी चलता है और राजा के साथ अन्त में उसका विवाह भी हो जाता है।

अतः पुरुषों के विवाह के लिए कोई भी बन्धन नहीं था। उनकी उम्र नहीं देखी जाती थी। वे किसी भी अवस्था में और चाहे जितने विवाह कर सकते थे। इसका एक और भी कारण था। वंश चलाने के लिए ही विवाह किया जाता था, अतः यदि पुत्र न हो तो वे दूसरा

कर सकते थे।

स्त्रियों के विवाह के सम्बन्ध में दो बातें बहुत महत्वपूर्ण हैं। पहली बात यह कि विवाह को समझने को उनमें यथेष्ट बुद्धि होती थी यानी वे समझदार होती थीं। इसका तात्पर्य यह कि विवाह छोटी अवस्था में नहीं होता था।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि भ्रातृहीन कन्या के साथ विवाह अच्छा नहीं समझा जाता था। ऋग्वेद[1] तक में उदाहरण है कि इस प्रकार की कन्याएँ पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती थीं। यदि इस बात को छोड़ दिया जाय तो अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में साफ-साफ पूछता है कि यह आजन्म हिरणियों के साथ वैखानसी रहेगी या विवाह होने तक ही इसका तपस्विनी वेश रहेगा[2]? इसका उत्तर प्रियंवदा देती है कि 'गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने संकल्पः[3]'। मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है कि यदि योग्य वर न मिले तो आजन्म कन्या पिता के पास रहे। किसी भी अवस्था में अयोग्य वर के हाथ पिता को कन्या नहीं सौंपनी चाहिए[4]। इन बातों से साफ व्यक्त होता है कि विवाह अवश्य ही हो ऐसा कोई नियम एवं सख्त बंधन नहीं था। कालिदास के समय में भी यह बन्धन नहीं था अन्यथा दुष्यन्त के मुख से वे इस प्रकार का वाक्य नहीं कहलवाते।

अब प्रश्न आता है कि स्त्रियों का विवाह किस अवस्था में होता था। ऋग्वेद में स्त्रियाँ अपने पति स्वयं चुनती थीं इसका स्थान-स्थान पर संकेत है[5]। काणे की सम्मति के अनुसार युवती होने से कुछ पहले या बाद में विवाह हो जाता था[6]। इसकी पुष्टि धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र भी करते हैं। अधिकांश में सभी गृह्यसूत्रों में कहा गया है कि शादी होने के पश्चात् दम्पति यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम तीन रात ब्रह्मचर्य अवस्था में रहें। अर्थात् तीन रात्रियों के पश्चात् संभोग करें[7]। यदि विवाह-योग्य अवस्था आठ या दस वर्ष मानी जाय

---

१ ऋग्वेद २।१७।७

२ वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद्व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तमेव मदिरेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥
—अभि० १।२५

३ अभि० अंक १ पृ० २१ ४ मनु० ९।८९ ९०

५ ऋग्वेद १०।२७।१२ ऋग्वेद १०।८५, २५–२७

६ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४४०

७ पारस्कर गृह्यसूत्र १।८ आश्वलायन गृह्यसूत्र १।८।१०, आपस्तम्ब ८।८–९, मानव गृह्यसूत्र १।१४।१४...

तो इसका फिर कुछ अर्थ ही नहीं रहता। अतः रजस्वला होने के समय के आस पास ही विवाह होता होगा या रजस्वला होने के पश्चात्। आश्वलायन गृह्यसूत्र के टीकाकार हरदत्त ने जो लगभग बारहवीं शताब्दी में हुए, इसी बात की पुष्टि की है कि तीन रात्रियों के बाद दम्पति का समागम हो[1]।

एक और बात भी *विशेष महत्वपूर्ण* है। विवाह होने के बाद चौथे दिन 'चतुर्थी कर्म' संस्कार का सभी गृह्यसूत्रों में उल्लेख है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि चतुर्थी कर्म और गर्भाधान संस्कार एक ही बात है। गर्भाधान-संस्कार का चौथे दिन होना ही स्त्रियों का युवती होना प्रमाणित करता है। ऊपर की सभी बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अवस्था कम-से-कम सोलह वर्ष की अवश्य होगी।

याज्ञवल्क्य स्मृति तक ऐसी ही अवस्था मिलती है पर इसमें रजस्वला होने से पहले अवश्य ही विवाह हो जाना चाहिए, ऐसा जोर दिया गया है, अन्यथा प्रत्येक रजोदर्शन पर माँ-बाप को भ्रूण नष्ट करने का पाप लगेगा[2]। इसका (स्मृति का) समय २ ईसवी शताब्दी माना जाता है। तब से ही बाल-विवाह का प्रचार हुआ। कालिदास के समय पर भी इससे बहुत अधिक प्रकाश पड़ता है। स्वयं कालिदास ने अपनी सभी नायिकाओं को पूर्ण युवती दिखाया है। इन्दुमती का अपनी पसन्द से वर चुनना[3] पार्वती का शिव के लिए तपस्या करना[4] प्रमाणित करता है कि उन्हें सब बातों का पूर्ण ज्ञान होता था। विवाह के समय ध्रुवतारा दिखाना लड़की की स्वीकृति देना[5] लड़की का बुद्धिमती होना व्यक्त करता है। शकुन्तला का दुष्यन्त को स्पर्श के लिए रोकना[6] तत्पश्चात् उसका गर्भवती होना कुमारसम्भव में विवाह के पश्चात् तत्काल ही शिव-पार्वती की रति-क्रीडा[7] लड़की की परिपक्व अवस्था का ही द्योतक है। शकुन्तला की सखियाँ भी सब कुछ जानती थीं दुष्यन्त के आ जाने पर किसी बहाने से शकुन्तला को अकेला छोड़ना[8] उसकी गर्भावस्था को जानना[9] तथा पहले दुष्यन्त के सम्मुख अव्यक्त रूप से ध्यान रखना 'वयस्य बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते'। यहाँ भी

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४४१ २ याज्ञवल्क्य स्मृति १।६४

३ रघु० सर्ग ६ ४ कुमार सर्ग ५

प्रियसखी अनसूयमसोचनीया न भवति तथा निवद्य[1] उसका पूर्ण युवती होना बताया है। कण्व भी शकुन्तला की विदा के समय उसके नगर-प्रवेश पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि इसका भी अभी विवाह होना है[2]।

उसकी, मालविका कोई भी बात इस वय को बालिका नहीं दीखती। प्रेम बाणों से विद्ध होना आदि उनकी परिपक्व अवस्था का ही द्योतक है। अतः यदि यह मान भी लिया जाय कि विवाह छोटी अवस्था में होता था तब भी चौदह से पहले लड़की और बीस से पहले लड़के का विवाह न होता होगा। प्रमाण यद्यपि कालिदास ने क्षत्रियों के लिए है और उन्होंने सभी नायक-नायिकाएँ क्षत्रिय रखी हैं पर यह नियम सामान्य ही होगा। स्त्री का विवाह युवती होने पर ही होता था। कालिदास की सभी नायिकाएँ उपभोगक्षमा हैं। शकुन्तला का उठता यौवन 'प्रियंवदा (सहासम्)—अत्र पयोधरविस्तारयितृ आत्मनो यौवनमुपालभस्व। मां किमुपालभसे'[3] तथा अनसूया पुरस्तादवमाता अवनमीरवोत्पदवात् (१।६) से व्यक्त होता है। मालविका की पूर्ण युवावस्था—'शिखिडोल्लसस्तनपुट मध्य पार्श्वमितो नितम्बिवदन'[4] स्थान-स्थान पर व्यक्त की है। 'नवकुसुमयौवना नवमल्लिका बद्धफलतयोपभोगक्षम सहकार'[5] वाक्य से नवकुसुमयौवना न मालिक वन होने का संकेत है और बद्धफलतया में सहकार के पुष्ट बीज फलत उपभोग की क्षमता स्पष्ट कही गई है। अर्थात् शकुन्तला का मन संभोग सुख की ओर अग्रसर हो रहा है इस बात को कवि ने प्रकृति के व्याज से कहलवाया है। इसी प्रकार—

> 'तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः'[6]
>
> मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
> आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥[7]
>
> अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
> मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥[8]

आदि के द्वारा पार्वती को खिले यौवनवाली बताया है।

इससे कहा जा सकता है रजस्वला होने के बाद विवाह होता होगा अर्थात् सोलह वय के पहले नहीं। कालिदास का सम्पूर्ण नवविलास-वर्णन इसका प्रमाण है। स्वयंवर में लड़की काफी समझदार होनी चाहिए। यह दूसरा प्रमाण

---

१ अभि॰ अंक ३ पृ॰ ९१ २ अभि॰ अंक ४ पृ॰ ७१ पूर्वोक्तैस

३ अभि॰ अंक १ पृ १३ ४ माल॰ २।३

५ अभि॰ अंक १ पृ॰ १४ ६ कुमार॰ १।३८

७ कुमार॰ १।३९ ८ कुमार॰ १।४०

करते हुए पुरोहित को दे दी जाती है, तब दव विवाह कहलाता है। आर्ष विवाह में पिता वर से एक अथवा दो जोड़ा गाय का लेकर कन्या को दे देता है (परन्तु यह शुल्क नहीं है)। विवाह के समय पिता वर-कन्या से यदि यह कहता है कि तुम दोनों समस्त धार्मिक कृत्य एक साथ करो तो यह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। आसुर विवाह में पिता वर से अपने इच्छानुसार धन लेकर कन्या को देता है। केवल काम भावना के वशीभूत होकर वर-कन्या यदि परस्पर संयुक्त हो जायें तो यह गान्धर्व विवाह कहलाता है। इसका उद्देश्य संभोग ही है। कन्या के बान्धवों की हत्या कर बलात्कार घर से कन्या को हर लाना और उसकी अनिच्छा से विवाह करना राक्षस विवाह है। पैशाच सोती हुई मत्त-प्रमत्त (पागल) बेहोश स्त्री से एकान्त में संभोग करना है। यह प्रकार सबसे अधम है।

प्रथम चार में वर को कन्या-दान दिया जाता है। दान का आशय भी कार्णे की सम्मति[1] में पिता का उत्तरदायित्व वर के उत्तरदायित्व में स्थानान्तरित होना है। जहाँ कन्या-दान है, वहीं कन्या वस्त्राभूषण से अलंकृत ही दी जाती है। ब्राह्म विवाह सबसे उत्तम समझा जाता है, क्योंकि इसमें कन्या का पिता वर से किसी प्रकार का कोई धन उपहार नहीं लेता। आर्ष इसीलिए इससे निकृष्ट है, इसमें गाय-बैल का जोड़ा चाहे वह शुल्क रूप में न हो पर पिता लेता अवश्य है। दैव केवल ब्राह्मणों में ही सम्भव है। प्राजापत्य में पति जब तक पत्नी जीवित रहे, दूसरा विवाह नहीं कर सकता न हो उसके जीवन-काल में वानप्रस्थ या संन्यास ले सकता है। शेष चार निन्दनीय हैं। आसुर में लड़की बेची हो जाती है। गान्धर्व में पिता का कोई हाथ ही नहीं है, न ही पवित्रता है अपितु काम है। राक्षस और पैशाच में न पिता की ही सम्मति रहती है न कन्या की।

राक्षस पैशाच आदि से यह न समझना चाहिए कि प्राचीन ऋषियों ने इनको भी विवाह के अन्तर्गत ठहराया था। विवाह के आठ प्रकार न कहकर यदि इसे पत्नी बनाने के आठ प्रकार कहें, तो अधिक उपयुक्त है। वसिष्ठ[2] का यहाँ तक कहना है कि यदि बलात्कार लड़की को हर लाया गया है और मंत्रों के साथ विवाह नहीं हुआ तो वह कुमारी के ही समान है, उसका दूसरे स्थान पर विवाह [illegible] जा सकता है। मनु तो ऐसे व्यक्ति के लिए कड़े दंड की भी व्यवस्था करते

में ग्रहण करे, यदि वह इसे स्वीकार न करे, तो लड़की का विवाह दूसरे स्थान पर कर दिया जाय और उसे बहुत कड़ा दंड दिया जाय[1]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि होम सप्तपदी आदि विवाह चाहे जिस प्रकार का भी हो आवश्यक है। स्वयं कालिदास[2] ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर के बाद अज और इन्दुमती का विधिपूर्वक विवाह कराया था। सभी स्मृतियों का कहना है कि प्रथम चार ब्राह्म दैव आर्ष और प्राजापत्य प्रशस्त हैं। सभी इनमें पैशाच को सबसे अधम कहते हैं। मनु ने तीन सम्मतियाँ दी हैं पहली धारणा[3] यह कि प्रथम चार ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त हैं। दूसरी धारणा[4] के अनुसार राक्षस और पैशाच के अतिरिक्त छः प्रकार के विवाह ब्राह्मण लोग कर सकते हैं। आसुर, गान्धर्व राक्षस और पैशाच क्षत्रिय लोग गान्धर्व राक्षस और पैशाच वैश्य और शूद्र लोग कर सकते हैं। तीसरी[5] धारणा के अनुसार प्राजापत्य गान्धर्व और राक्षस सभी वर्णों के लिए मान्य हैं परन्तु पैशाच और आसुर किसी भी वर्ण का कोई न करे। फिर भी मनु वैश्य और शूद्रों को आसुर विवाह की भी अनुमति दे देते हैं।[6] उनका यह भी कथन है कि गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के लिए बहुत उत्तम हैं (क्षत्रियों के लिए लड़की को स्वयंवर में से हर लाना सामान्य बात थी रुक्मिणी अम्बालिका सुभद्रा संयुक्ता आदि-आदि........) या दोनों का मिला-जुला रूप हो अर्थात् लड़की किसी विशेष व्यक्ति से प्रेम करती हो और माता-पिता प्रस्तुत न हों ऐसी अवस्था में बलात्कार लड़की को हर लाना बुरा नहीं है[7]।

कालिदास ने गांधर्व विवाह उर्वशी और शकुन्तला का दिखाया है। चाहे न पक्ष में न हों परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजघरानों में यह एक साधारण बात थी।

संक्षेप में विवाह के आठों प्रकारों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वर्ग में उस प्रकार के सभी विवाह आते हैं जिनमें पिता का समस्त उत्तरदायित्व रहता था और वह अपनी इच्छा से योग्य वर ढूँढ कर उसे कन्या दे देता था—ब्राह्म प्राजापत्य आसुर, दैव आर्ष। दूसरे वर्ग में वे विवाह आते थे जहाँ पिता योग्य वर प्राप्त नहीं कर पाता था और लड़की को अपना वर ढूँढने की अनुमति दे दी जाती थी या वह अपनी इच्छा से ही वर ढूँढ कर विवाह कर लेती थी या कोई हर ले जाता था। इसमें गान्धर्व विवाह राक्षस विवाह, जिसमें

१ मनु० ८।३६६ २ रघु० सग ७ ३ मनु० ३।२४
४ मनु ३।२३ ५. मनु० ३।२५ ६. मनु० ३।२४ ७ मनु० ३।२६

कभी-कभी लड़की की इच्छा भी रहती थी जाते हैं। इन विवाहों में पिता का कुछ उत्तरदायित्व नहीं था।

दूसरे वर्ग में 'स्वयंवर' का स्थान है। इसमें भी दो भेद हो जाते हैं एक में किसी प्रकार की शर्त रख दी जाती थी जिस प्रकार सीता और द्रौपदी के साथ हुआ। इसमें लड़की को पूरी स्वतन्त्रता नहीं होती थी। दूसरा वर्ग वह है जहाँ लड़की को पूरा अधिकार था जिसमें सावित्री दमयन्ती का नाम लिया जा सकता है। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के जिस स्वयंवर का वर्णन किया है वह भी इसी वर्ग में आता है।

विवाह की पवित्रता और उत्तमता का प्रभाव सन्तान पर पड़ता था। इस विषय में मनु का कहना है कि प्रथम चार प्रकारों के विवाह से उत्पन्न सन्तान रूप गुण और धन से युक्त और कीर्तिशालिनी होगी। वह धीमति और धर्मिष्ठ होगी। अन्य चार की क्रूर कर्म करने वाली मृषाभाषिणी और वेदद्वेषिणी होगी[1]।

कालिदास और विवाह—उपर्युक्त वर्णित विवाह के प्रकारों में कालिदास ने चार प्रकार के विवाहों का स्पष्ट संकेत किया है

(१) स्वयंवर—रघुवंशी राजाओं का विवाह स्वयंवर की रीति ही से हुआ था। राम-सीता का और अज इन्दुमती का इसी वर्ग में आता है।

(२) प्राजापत्य—कुमारसम्भव में पार्वती का महादेव जी के साथ विवाह इसी रीति से हुआ था। वस्त्राभूषणों से अलंकृत पार्वती महादेव जी को पिता के द्वारा विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण सहित कन्यादान-स्वरूप दे दी गई थी।

(३) गान्धर्व—शकुन्तला-दुष्यन्त का विवाह इसी वर्ग में आता है। पुरूरवा और उर्वशी को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है।

(४) आसुर विवाह—इसका संकेत केवल एक ही स्थान पर[2] है यद्यपि इस प्रकार के विवाह का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

(५) कभी-कभी किसी राजा से डरकर दूसरे राजे अपनी कन्या उसे विवाह के रूप में दे देते थे। कालिदास के युग में ऐसी घटनाएँ अवश्य घटित होती होंगी। कुश और कुमुद्वती के विवाह में कालिदास ने इसका संकेत किया है।

(६) कभी-कभी पराक्रमी राजे दूसरे की [illegible] को बलात् छीन लेते

समाग प्रमथामिर्य उपानुत्य पन्थानमजस्य तस्थौ' (रघु०, ७।११) इस श्लोक में किया है।

विवाह में प्रेम का स्थान—कालिदास ने विवाह किसी भी प्रकार का क्यों न दिखाया हो पर सर्वत्र उन्होंने प्रेम एवं आकर्षण को प्रश्रय दिया। प्रेम के सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति प्रणय-व्यापार मदन-लेख काम विरह इसी बात की पुष्टि करते हैं कि वस्तुतः विवाह से पूर्व के आकर्षण एवं प्रेम की उत्पत्ति को सफल विवाह की पहली सीढ़ी समझते थे। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला प्रभावित हो गई थी[1]। उसका यह प्रभावित होना दुष्यन्त से छिपा भी नहीं था। मित्र विदूषक से वह कहता है—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥[2]

ऐसा ही प्रभाव शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त पर भी पड़ा था। उसके विरह में शकुन्तला की तरह वह भी दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था[3]।

इसी आकर्षण को इन्दुमती के स्वयंवर में भी देखा जा सकता है। दासी सुनन्दा एक-एक कर सभी राजपुत्रों के गौरव के गीत सुना रही थी परन्तु अज को देखकर उसके अनवद्य सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसके मन में आगे जाने की इच्छा नहीं हुई जिस प्रकार षट्पदावली सहकार के पास पहुँचकर किसी अन्य वृक्ष के पास जाने की इच्छा नहीं करती[4]।

उर्वशी के सौन्दर्य को देखकर पुरूरवा कम प्रभावित नहीं हुआ। उसके शरीर का स्पर्श उसे बार-बार रोमाञ्चित ही कर रहा था[5]। उर्वशी ठीक शकुन्तला की तरह पुरूरवा से प्रभावित हो गई थी। राजा को देखती हुई सनिःश्वास

---

१ किं नु खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।
—अभि०, अंक १ पृ० १७

२ अभि० २।१२

३ इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते ॥
—अभि० ३।११

४ तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥—रघु० ६।६९

५ यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।
स्पृष्टं रोमाञ्चकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव ॥—विक्रम० १।११

वह चली जाती है और बड़ी चाह के साथ राजा को देखकर मन में सोचती है—'अपि नाम पुनरप्युपकारिणमेतं प्रेक्षिष्ये'[1]। पुरूरवा को ऐसा प्रतिभासित हुआ कि आकाश में उड़कर जाती हुई उसके मन को भी बलपूर्वक खींचे लिए जा रही है[2]।

मालविका का सौन्दर्य भी कम प्रभावशाली न था। उसको देखकर राजा को भास होता है कि चित्रकार उसकी सच्ची तस्वीर उतार ही नहीं पाया[3]। उसकी प्रत्येक मुद्रा राजा पर प्रभाव डाल देती है[4]। उसकी तिरछी चितवन राजा का हृदय समस्त रानियों की ओर से खींच लेती है[5]। राजा को देखकर मालविका का भी यही हाल होता है। अकेले में वह सोचती है—'अविज्ञातहृदयं भर्तारमभिलष्यात्मनोऽपि तावल्लज्जे। कुतो विभवः स्निग्धस्य सखीजनस्येमं वृत्तान्तमाख्यातुम्। न जानेऽप्रतिकारगुरुका वेदना कियन्तं कालं मदनो मां नेष्यतीति'[6]।

मनुष्य तो मनुष्य देवता भी इस आकर्षण और प्रेम से अपने को न बचा पाए। महादेव भी पार्वती को देखकर इतने आकर्षित हुए कि वह एक क्षण तक उनके बिम्बाफल के समान ओठों पर अपनी ललचाई दृष्टि डाले रहे और पार्वती भी फूले हुए नए कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम व्यक्त करती हुई लजीली आँखों से अपना सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके खड़ी रह गईं[7]।

---

१ विक्रम० अंक १, पृ० १६५

२ एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥—विक्रम० १।२०

३ चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥—माल० २।२

४ अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति तथा हि—
वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम् ॥—माल० २।६

५ सर्वान्तःपुरवनिताव्यापारप्रतिनिवृत्तहृदयस्य।
सा वामलोचना मे स्नेहस्यैकायनीभूता ॥—माल० ३।१४

प्रेम और सौन्दर्य—निस्सन्देह इस प्रेम और आकर्षण में सौन्दर्य का बहुत बड़ा हाथ है। कालिदास ने अपनी सभी नायिकाओं को अनन्य सुन्दरी चित्रित किया है। अनन्य सुन्दरी उर्वशी कवि के शब्दों में 'सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगति... [१]।

दूसरी ओर मालविका—'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयो'... [२]।

निसर्ग-कन्या शकुन्तला का सौन्दर्य तो अनुपम है—

'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू'... [३]।

प्रेम और आध्यात्मिकता—कवि सौन्दर्य की सार्थकता प्रेम में समझता है, 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' [४] उसका दृढ़ विश्वास है। शारीरिक सौन्दर्य निस्सन्देह प्रेम का महत्त्वपूर्ण अंग है, परन्तु प्रेम की कसौटी नहीं। इसी कारण सौन्दर्य से जीतने में असमर्थ होकर पार्वती को शिव की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या करनी पड़ी। विवाह जैसी लौकिक वस्तु में भी कवि धर्म को प्रथम देता है। अतः शारीरिक सौन्दर्य के साथ आध्यात्मिक सौन्दर्य का सम्मिश्रण प्रेम में निखार लाता है।

कवि का विश्वास है कि प्रेम की उत्पत्ति पूर्वजीवन के संस्कारों के कारण होती है। मधुर एवं आकर्षक वस्तुओं को सम्मुख देखकर भी कभी-कभी मनुष्य उत्कण्ठित हो जाता है, इसका मूल कारण पूर्वजीवन के अचेतन प्रेम की स्मृति ही है [५]। प्रेम जन्म-जन्मान्तर तक संग चलता है [६]।

धर्म पर आश्रित प्रेम ही फलता है। पार्वती के तप को अपनाने पर ही शिव प्रसन्न होकर कहते हैं—'अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि... [७]। प्रेम की महत्ता नैतिकता और पवित्रता में है। वे अरुन्धती को पति की तपस्या का साकार रूप कहते हैं। 'क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्' [८] उनके इसी विश्वास और आस्था का द्योतक है। पवित्र एवं

---

१ विक्रम० ४।२६   २ माल० २।३

३ अभि० १।२१   ४ कुमार० ५।१

५. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥
—अभि ५।२

६ मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्—रघु० ७।१५
मामिहापि सुगतिर्विरहितोऽस्मि प्रसूतेश्चरितुं...—रघु १४।६६

७ कुमार ५।३८   ८. कुमार० ६।१३

गुणाचारवाली कन्या का प्रेम ही जीवन में पूणता लाता है। केवल काम भावना से उत्पन्न प्रेम कभी जीवन में सफलता नहीं ला सकता। अवश्य ही वे प्रेम में विश्वास करते थे परन्तु एकान्त में बिना गुरुजनों की अनुमति से बिना उनकी सम्मति लिए, बिना आगा-पीछा सोचे किया गया प्रेम उनकी दृष्टि में अवश्य निन्दनीय है[१]।

प्रेम के अंग—प्रेम के साधारण व्यापार तथा सूक्ष्म अंगों पर कवि ने भरपूर दृष्टि डाली। प्रेमी को जो आनन्द अपनी प्रिया में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। उसके लिए वह देवी है जिसकी सेवा के सदृश संसार का कोई आनन्द नहीं। मेघ-सन्देश में यक्ष अपनी प्रिया को अपना प्राण और जीवन कहता है[२]। पुरूरवा अपने साम्राज्य से अधिक महत्ता प्रेमिका के संसर्ग और उसके लिए किए गए कार्य को देता है[३]। निराश प्रेमियों के लिए जो संसार अंधकारमय है, वही संसार युवक-प्रेमियों के लिए आनन्दमय[४] है। चन्द्रमा की वे ही किरणें अनंग के वे ही विशिमुख जो दुःखी एवं निराश प्रणयी के लिए अग्नि-स्वरूप हैं। वे सुखी दम्पति के लिए आनन्दास्पादक है[५]। जैसे धूप का सताया मनुष्य छाँह में अति शीतलता को प्राप्त करता है उसी प्रकार दुःख भरे वियोग के पश्चात् संयोग दुगुने आनन्द को उद्दीप्त कर देता है। प्रेमी चाहता है कि वे ही रात्रियाँ जो वियोगावस्था में अति लम्बी लगती थी वे इस संयोगावस्था में उतनी ही लम्बी हो जाँय[६]। प्रेमी अपनी ही आँखों से संसार को देखता है, प्रिया की हर चेष्टा उसे अपने प्रति प्रेम व्यक्त करती हुई प्रतिभासित होती है[७]।

---

१ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः —अभि० ५।२४

२ तां जानीथा परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम् ।
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ॥—उत्तरमेघ २१

३ सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रमवने न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः ॥
—विक्रम ३।१९

४ पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः ।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत् त्वत्संगमेन मम तत्तदिवानुनीतम् ॥
—मदीयोपगतं दुःखात्सुखं तरसमतरम् ।
...प्य हि विपिप्सा ॥

तन्मयता—प्रेम की तन्मयता दिखलाने में भी कवि चूका नहीं। प्रेम में जब तन्मयता आ जाती है तब व्यक्ति का हृदय उसमें स्थिर हो जाता है। 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'[१]। प्रेम की धारा रुद्ध होने पर भी अपना मार्ग नहीं छोड़ती मार्ग बदल चाहे ले[२]।

शारीरिक व्यक्तीकरण—प्रेम का शारीरिक व्यक्तीकरण अपनी ही सत्ता रखता है। प्रेम के विकास के सम्बन्ध में उसका कथन है कि प्रेम-तरु का मूल प्रिया के सौन्दर्य का श्रवण सुनना है, पल्लवित होना प्रिया को देखना है, उसमें कलियाँ तब आती हैं जब प्रिया के स्पर्श से रोमांच होता है[३]। हृदय से पृथक न रहनेवाली प्रिया के अभाव में व्यक्ति दुःखी ही रहता है यद्यपि वह मन को समझाना चाहता है कि शरीर का क्षीण होना ठीक है क्योंकि उसे आलिंगन का सुख नहीं प्राप्त हो पाया। नेत्र भी अश्रुपूर्ण हो सकते हैं क्योंकि प्रिया के दर्शन नहीं हो पाते परन्तु हृदय क्यों दुःखी है जब एक क्षण के लिए भी प्रिया उससे पृथक न हुई[४]।

स्वभावतः प्रेम की उत्पत्ति हो जाने पर भी पहले स्त्री कभी वचनों द्वारा उसको व्यक्त नहीं करती उसके शारीरिक हाव-भाव ही उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं[५]। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री प्रेम में विभोर होकर प्रिय छवि को देखना चाहती है परन्तु वह लज्जावती अधिक होती है—'कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः'[६]। उसके वचन सीमित ही रहते हैं—'प्रविरला इव मुग्धवधूकथा'[७] लज्जा से झुकी मुख को आधा मोड़े हुए अपने प्रेम को सलज्ज दृष्टि से व्यक्त कर खड़ी रह जाती है[८]। लज्जा से बात न कह पाने पर भी

---

१ कुमार० ५।८२

२ नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥—विक्रम ३।८

३ तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामास्थया लब्धमूलः सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥—माल ४।१

४ शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥—माल ३।१

५. स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु—मेघदूत १ २४।

६ माल, अंक ४ प १२५, ७ रघु० ९।३४

८. विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥—कुमार ३।६८

पुष्पावचायकी कन्या का प्रेम ही जीवन में पूर्णता लाता है। केवल काम-भावना से उत्पन्न प्रेम कभी जीवन में उज्ज्वलता नहीं ला सकता। अवश्य ही वे प्रेम में विश्वास करते थे परन्तु एकान्त में बिना गुरुजनों की अनुमति से बिना उनकी सम्मति लिए, बिना आगा-पीछा सोचे किया गया प्रेम उनकी दृष्टि में अवश्य निन्दनीय है[1]।

प्रेम के अंग—प्रेम के साधारण व्यापार तथा सूक्ष्म अंगों पर कवि ने भरपूर दृष्टि डाली। प्रेमी को जो आनन्द अपनी प्रिया में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं। उसके लिए वह देवी है जिसकी सेवा के सदृश संसार का कोई आनन्द नहीं। मेघ-सन्देश में यक्ष अपनी प्रिया को अपना प्राण और जीवन कहता है[2]। पुरूरवा अपने साम्राज्य से अधिक महत्ता प्रेमिका के संगम और उसके लिए किए गए त्याग को देता है[3]। निराश प्रेमियों के लिए जो संसार अंधकारमय है, वही संसार सुखद-प्रेमियों के लिए आनन्दमय[4] है। चन्द्रमा की वे ही किरणें अनंग के वे ही शिलीमुख जो दुःखी एवं निराश प्रणयी के लिए अग्नि-स्वरूप हैं। वे सुखी दम्पति के लिए आनन्ददायक हैं[5]। जैसे धूप का सताया मनुष्य छाँह में अति शीतलता को प्राप्त करता है उसी प्रकार दुःख भरे वियोग के पश्चात् संयोग दुगने आनन्द को उद्दीप्त कर देता है। प्रेमी चाहता है कि वे ही रात्रियाँ जो वियोगावस्था में अति लम्बी लगती थीं वे इस संयोगावस्था में उतनी ही लम्बी हो जाँय[6]। प्रेमी अपनी ही आँखों से संसार को देखता है, प्रिया को दूर बैठा उसे अपने प्रति प्रेम व्यक्त करती हुई प्रतिभासित होती है[7]।

— —

१ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः —अभि० ५।२४

२ तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयम्।
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्॥—उत्तरमेघ २१

३ सामन्तमौलिमणिरञ्जितपादपीठं एकातपत्रमवने न तथा प्रभुत्वम्।
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्तं आज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥
—विक्रम० ३।१९

४ पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत् त्वत्संगमेन मम तत्तदिवानुनीतम्॥
—यदैवापनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
५ हि विशेषतः॥

तन्मयता—प्रेम की तन्मयता दिखलाने में भी कवि चूका नहीं। प्रेम में जब तन्मयता आ जाती है तब व्यक्ति का हृदय उसमें स्थिर हो जाता है। 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते'[१]। प्रेम को जरा भ्रष्ट होने पर भी अपना भाव नहीं छोड़ती भाव भरत चाहे ले[२]।

शारीरिक व्यक्तीकरण—प्रेम का शारीरिक व्यक्तीकरण अपनी ही सत्ता रखता है। प्रेम के विकास के सम्बन्ध में उसका कथन है कि प्रेम-तरु का मूल प्रिया के सौन्दर्य का वचन सुनना है, पल्लवित होना प्रिया को देखना है, उसमें कलियाँ तब आती हैं जब प्रिया के स्पर्श से रोमांच होता है[३]। हृदय से पृथक न रहनेवाली प्रिया के अभाव में व्यक्ति दुखी ही रहता है, यद्यपि वह मन को समझाना चाहता है कि शरीर का क्षीण होना ठीक है क्योंकि उसे आलिंगन का सुख नहीं प्राप्त हो पाया। नेत्र भी अश्रुपूर्ण हो सकते हैं क्योंकि प्रिया के दर्शन नहीं हो पाते परन्तु हृदय क्यों दुःखी है जब एक क्षण के लिए भी प्रिया उससे पृथक न हुई[४]।

स्वभावतः प्रेम की उत्पत्ति हो जाने पर भी पहले स्त्री कभी शब्दों द्वारा उसको व्यक्त नहीं करती उसके शारीरिक हाव-भाव ही उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं[५]। प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में स्त्री प्रेम में विभोर होकर प्रिय छवि को देखना चाहती है परन्तु वह लज्जावती अधिक होती है—'कुतूहलवानपि निसर्गशालीनः स्त्रीजनः'[६]। उसके प्रश्न सीमित ही रहते हैं—प्रविरला इव मुग्धवधूकथा[७] लज्जा से झुकी मुख को आधा मोड़े हुए अपने प्रेम को सहज दृष्टि से व्यक्त कर खड़ी रह जाती है[८]। लज्जा से बात न कह पाने पर भी

---

१ कुमार० ५।८२

२ नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति ॥—विक्रम० ७।८

३ तामाश्रित्य श्रुतिपथगतामास्थया बद्धमूलः सम्प्राप्तायां नयनविषयं रूढरागप्रवालः।
हस्तस्पर्शैर्मुकुलित इव व्यक्तरोमोद्गमत्वात्कुर्यात्कान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञं फलस्य ॥—माल० ५।१

४ शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम् ॥—माल० ५।१

५. स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु—मेघदूत १ २४।

६ माल० अंक ४ ५० १२५, ७ रघु० ९।३४

८. विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥—कुमार० ३।६८

प्रेम के कारण उसके शरीर में रोमांच हो आता है[1]। युवक दम्पति लज्जा के कारण कनखियों से एक-दूसरे को देखते हैं और दृष्टि-विनिमय होते ही सिटपिटा कर नेत्र नीचे कर लेते हैं[2]।

लज्जा के साथ प्रेम की अभिव्यक्ति सबसे सुन्दर शकुन्तला में है, जहाँ कवि दुष्यन्त के शब्दों में कहता है—

'वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः'[3]॥

इसी भाव का दूसरा उदाहरण—

'अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम्।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः'[4]॥
दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्'[5]॥

परिपक्व प्रेम में यह लज्जा नहीं रखी जाती है[6]।

प्रेम की अभिव्यक्ति पुरुषों की भी कवि ने वर्णित की है। स्त्री के प्रथम स्पर्श से उसके शरीर में किस प्रकार का रोमांच हो आता है[7] स्त्री को आकर्षित करने के लिए वे क्या-क्या चेष्टाएँ करते हैं आदि-आदि उन्होंने स्थान-स्थान पर दिखाया है[8]।

प्रेम के अन्य व्यापार उदाहरणार्थ स्वप्न[9] प्रतीक्षा तन्मयता सुधबुध छोड़कर कल्पना में लीन होना[10] आदि भी उन्होंने प्रदर्शित किए हैं।

---

१ सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥—रघु० ६।८१

२ तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥—रघु ७।२३

३ अभि० १।२९ ४ अभि० २।११ ५ अभि २।१२

६ पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्।—रघु २।१९

७ आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी।—रघु ७।२२
—रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्।—कुमार ७।७७
—यदिदं रथसंक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया
[illegible] मन्मथेनेव।—विक्रम० १।११

मदन-लेख एवं प्रेम-पत्र—अवश्य ही प्रेम में मदन-लेख का अति महत्त्व है। प्रेम के सूक्ष्म अंगों पर दृष्टि रखने वाले ने इसको भुलाया नहीं। शकुन्तला का पत्र-लेखन[1] और उर्वशी का भूर्जपत्र पर लिखा प्रेमसन्देश[2] इसके प्रतीक हैं।

दूती—युवक प्रेमियों को मिलाने के लिए किसी मध्यस्थ का होना भी आवश्यक है। शकुन्तला और दुष्यन्त के सम्मिलन में अनसूया और प्रियंवदा का हाथ था। इसी प्रकार उर्वशी और पुरूरवा के संयोग में उर्वशी की सखी चित्रलेखा का योग था। स्वयं कवि ने दूती[3] शब्द का प्रयोग किया है जो प्रणय-प्रकाशन में सहायता देती थी। पार्वती ने भी शिव के पास दूती रूप में सखी भेजी थी[4]।

विवाह के पूर्व प्रणय में कवि को आस्था अवश्य थी। पर इस सम्बन्ध में एक बात सदा याद रखनी चाहिए—कवि प्रेम हो जाने पर भी विधिपूर्वक सबके सम्मुख विवाह हो जाने के पक्ष में है। शिव-पार्वती का आकर्षण और प्रेम विधिपूर्वक विवाह के द्वारा पूर्ण किया गया। मालविका के प्रति भी अग्निमित्र का कम आकर्षण और प्रेम नहीं था। इसकी भी समाप्ति विवाह में धारिणी और इरावती के सम्मुख हुई। शकुन्तला के प्रेम और गुपचुप कार्य की कवि ने निन्दा ही की है[5]।

विवाह-संस्कार—विवाह संस्कार के तीन भाग किए जा सकते हैं—(१) विवाह से पूर्व प्रारम्भिक क्रियाएँ (Preliminaries) (२) मूल संस्कार, पाणिग्रहण होम अग्नि-प्रदक्षिणा और सप्तपदी (३) कुछ अन्य बातें—यथा ध्रुव तारे की ओर देखना लोकाचार आदि।

विवाह के पूर्व की प्रारम्भिक क्रियाएँ—प्रथम वर-वधू की गुण-परीक्षा कन्या के पिता के पास वर की ओर से किसी का आना और कन्या के माता

हर्म्येष्वस्मिन्नवतीय साध्वसवशागम्यामनाना बलात्
आनीयत पतालयं अनुरया सख्या ममोपान्तिकम्। —विक्रम॰ ३।११

१ अभि॰ अंक ३ ३।२४ मन्मथ लेख

२ स्वामिन्संभाविता यथाहं त्वया अज्ञाता तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि
कि मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति नन्दनवनवाता अप्युपुष्णका शरीरके।
—विक्रम॰ २।१२

३ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगार चेष्टा विविधा बभूवुः ॥—रघु॰ ६।१२

४ अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥—कुमार॰ ६।१

५ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम् ॥—अभि॰ ५।२४

विवाह कर देने की याचना करना वाग्दान आदि है। स्वयं कालिदास ने शंकर के द्वारा सप्तर्षियों को राजा हिमालय के पास भिजवाया है तथा प्रार्थना करवाई है कि वे अपनी पुत्री पार्वती का विवाह उनके साथ कर दें[1]। विवाह का प्रस्ताव लेकर जानेवालों में स्त्री भी हो सकती थी—

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति ।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥[2]

वाग्दान से विवाह निश्चित् हो जाता है और इसके पश्चात् अन्य मांगलिक क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। स्वयंवर विधि में भी गले में जिसके माला डाल दी जाती है उसके साथ विवाह निश्चित हो जाता है। गले में माला डालना वाग्दान का ही पर्याय है।

वाग्दान के पश्चात् विवाह-सम्बन्धी क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती थीं। मंडप करण *वधू-गृहगमन मधुपर्क स्नापन परिधापन प्रतिसर बन्ध वधू-वर निष्क्रमण* इन्हीं मांगलिक क्रियाओं में आते हैं। ये सब सभी गृह्यसूत्रों और धर्म सूत्रों म एक-से ही मिलते हैं *और कालिदास ने भी इन सबका ऐसा ही उल्लेख किया* है। यह सब सविस्तर यथास्थान स्वयंवर और प्राजापत्य विवाह के प्रसंग में बताया जायगा।

मूल विवाह-संस्कार—इसमें कन्यादान अग्निस्थापन होम पाणिग्रहण लाजाहोम अग्निपरिणयन अश्मारोहण सप्तपदी मूर्धाभिषेक आदि आते हैं। सविस्तर यथास्थान इनका भी उल्लेख किया जायगा।

विवाह के पश्चात् की मांगलिक क्रियाएँ

कौतुक-गृह लोकाचार—इसमें सुवासिनी स्त्रियाँ आर्द्राक्षतरोपण तत्पश्चात् कुछ अभिनयादि से वरवधू का विनोद करती जाती हैं। इसके पश्चात् कौतुकागार में वर-कन्या पहुँचा दिये जाते हैं जहाँ वे रात्रि में शयन करते हैं।

विवाह की *मांगलिक सामग्री*—*इन सामग्रियों में* मृगरोचन दूर्वा तीर्थमृत्तिका सोम गोरोचन आदि का प्रसंग कवि ने शकुन्तला की विदा के समय पार्वती और इन्दुमती के स्वयंवर के पूर्व तथा विवाह प्रसंग के बीच में यथाप्रसंग दिया है।

स्वयंवर—कालिदास ने स्वयंवर का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। वैसे मूल विवाह और क्रियाओं में चाहे स्वयंवर हो या माता-पिता के द्वारा

वैवाहिक चर्चा—चूँकि इसमें कन्या के ऊपर ही समस्त चुनाव का उत्तरदायित्व था अतः माता-पिता का यही काम था कि वे अपने विश्वासपात्र दूत अच्छे योग्य राजपुत्रों के पास भेजकर उनको स्वयंवर में आने के लिए निमन्त्रित करें[1]। जिनके साथ माता-पिता अपनी कन्या का सम्बन्ध करना अच्छा समझते थे उनको ही निमन्त्रित करते थे[2]। राजपुत्र अपने माता-पिता की अनुमति पाकर अपनी सेना के साथ कन्या के गृह की ओर प्रस्थान कर देते थे[3]। मार्ग में स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए अन्त में वे कन्या के देश में प्रवेश करते थे[4]।

स्वागत—कन्या के पिता को जब यह समाचार मिलता था कि अमुक राजपुत्र आया है तो वह नगर के बाहर उसके पड़ाव में आकर उसका स्वागत करता था[5]। इसके पश्चात् राजपुत्र को अपने साथ लेकर नगर में प्रवेश करता था[6]। राजसेवक आकर पहले ही से मनोनीत किए महल में राजपुत्र को विश्रामार्थ ले जाते थे[7]। प्रत्येक के ठहरने के लिए पृथक्-पृथक् प्रबन्ध रहता था और प्रत्येक राजमन्दिर के द्वार पर चौकियों पर जल से भरे मंगलकलश रखे रहते थे[8]। प्रत्येक प्रकार के आराम के साधनों से राजमन्दिर भरपूर रहता था। यहीं वे रात्रि भर विश्राम कर प्रातःकाल उठकर नहा-धोकर अपने को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर निश्चित समय पर स्वयंवर के वितान में प्रवेश करते थे[9]।

---

१ अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः॥—रघु० ५।३९

२ तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम्॥—रघु० ५।४०

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० २   ४ रघु० ५।४१-४९

५ तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली॥—रघु० ५।६१

६ प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम्॥—रघु०, ५।६२

७ तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास॥
—रघु० ५।६३

८ देखिए पादटिप्पणी नं ७

९ कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम्।—रघु०, ५।७६

स्वयंवर में नागरिक जन भी आते थे और राजपुत्रों को देखते थे[१]। स्वयंवर में चारण रहते थे जो राजपुत्रों की वंशावलियों और गुणों का बखान करते थे[२]।

स्वयंवर-शोभा—नगर के बाहर बड़ा-सा शामियाना[३] लगाया जाता था जिसमें प्रत्येक राजा और राजपुत्र के लिए मंच बनाए जाते थे[४]। प्रत्येक मंच पर एक सिंहासन रखा जाता था[५]। मंच और सिंहासन (सिंहासन सोने के बने होते थे उनमें रत्न भी जड़े रहते और उस पर रंग बिरंगे वस्त्र बिछे रहते थे[६]।) दोनों ही खूब सजे रहते थे[७]। मंच के ऊपर सिंहासन तक जाने के लिए सीढ़ियाँ[८] बनी रहती थीं। इन्हीं बहुमूल्य सिंहासनों पर सज-धजकर ठाटबाट से राजा लोग बैठते थे[९]। शामियाना झंडियों (वैजयन्ती) और बन्दनवारों से सजा रहता था[१०]। मंगल-वाद्य बजते रहते थे[११]। मंचों के बीच में राजमार्ग[१२] रहता था। इसी राजमार्ग पर से होती हुई पालकी पर बैठी वैवाहिक वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या स्वयंवर के लिए आती थी[१३]। राजपुत्री के साथ उसकी दासियाँ और सखियाँ भी रहती थीं[१४]।

---

१ नेत्रव्रजा पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतु ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफा ॥—रघु ६।७

२ अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञै सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।—रघु ६।८

३ प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमंडलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥—रघु० ६।८६

४ स तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥—रघु० ६।१

५ परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं स ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥—रघु ६।४

६, ७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ५

८ वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमार क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम् ।—रघु० ६।३

९. तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्य ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्त पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव ॥—रघु० ६।५
—तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजात ॥—रघु० ६।६

स्वयंवर—राजपुत्री के साथ विवाह करने को आतुर राजकुमार अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह-तरह की शृंगार चेष्टाएँ करते थे[1]। सखी राजपुत्री को एक एक राजपुत्र के पास बारी-बारी से ले जाती थी और प्रत्येक के गुण और वंशादि के विषय में विस्तारपूर्वक बताती जाती थी[2]। जो राजपुत्र उसे पसंद आता था उसके पास पहुँच कर वह फिर आगे नहीं जाती थी[3]। निश्चय करते ही अपनी सखी के हाथों से उसके गले में स्वयंवर की माला पहनवा देती थी[4]। यह माला दूब में गुँथी महुए के फूलों की होती थी[5] और इसके डोरे में रोली लगी रहती[6] थी। माला पहनाने के पश्चात् वर निश्चित हो जाता था। निश्चित वर और उसका पक्ष प्रमुदित हो जाता था शेष सब उदास[7]।

वैवाहिक मांगलिक क्रियाएँ—स्वयंवर हो चुकने के बाद शेष सभी राजा अपने-अपने सेनानिवास में चले जाते थे[8]। वर और कन्या को लेकर कन्यापक्ष का कर्त्ता-धर्ता नगर में प्रवेश करता था[9]।

नगर की सजावट—सत्कारार्थ सारा नगर भली भाँति सजाया जाता था। इन्द्रधनुष के समान रंग बिरंगे तोरण स्थान-स्थान पर लगाए जाते थे[10]। स्थान-स्थान पर झंडियाँ लगाई जाती थीं[11]। वर कन्या के नगर में प्रवेश करते

---

१ रघु० ६।१२–१९ २. रघु० ६।२०–७९

३ तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥—रघु० ६।८२

४ स चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरू ।
आसंजयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥—रघु० ६।८३

५ एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।—रघु०, ६।२५

६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४

७ देखिए, पृष्ठ नं० १०४ की पादटिप्पणी ३

८ सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।—रघु०, ७।२

९. अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥—रघु० ७।१

१० तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥—रघु० ७।४

११ देखिए, पादटिप्पणी नं० १०

ही स्त्रियाँ मकानों से उनको देखने के लिए दौड़ पड़ती थी[1]। वर हथिनी के ऊपर रहता था[2]। सम्भवतः कन्या पहले की तरह पालकी पर।

मधुपर्क—किसी सम्माननीय अतिथि के स्वागत और सत्कारार्थ उसके हाथों में मधु भेंट किया जाता था। शाब्दिक अर्थ 'मधु' का 'सरल' है। किसी अतिथि के आने पर आसन, चरण धोने के लिए जल, अर्घ्य, आचमन के लिए जल, मधुपर्क और गाय दी जाती थी। गृह्यसूत्रों[3] के अनुसार ऋत्विक्, आचार्य, वर, राजा, स्नातक तथा कोई जन मधुपर्क के पात्र होते थे। कुछ गृह्यसूत्रों में इन ६ व्यक्तियों में सातवाँ अतिथि और जुड़ा हुआ है[4]। यह कहा जाता है कि वर्ष में एक बार ही मधुपर्क दिया जाता है, परन्तु यदि घर में शादी हो यज्ञ हो तो मधुपर्क चाहे वे व्यक्ति उसी वर्ष में आ भी चुके हों फिर भी उनको देना चाहिए[5]।

मधुपर्क विवाह में विशेष स्थान रखता है। मधुपर्क में क्या-क्या होना चाहिए इसमें मतभेद है। आश्वलायन और आपस्तम्ब दही और शहद का मिश्रण अथवा घी और दही के मिश्रण को मधुपर्क कहते हैं[6]। पारस्कर मधुपर्क में दही घी और शहद तीनों का योग होना चाहिए ऐसा कहते हैं[7]। आपस्तम्ब किसी अन्य की सम्मति उद्धृत करते हैं कि दही, शहद और घृत के अतिरिक्त यव या जौ भी होना चाहिए[8]।

वर स्वयंवर के पश्चात् राजभवन में आता था[9]। राजभवन मंगल सामग्रियों की सजावट से जगमगाता रहता था[10]। वर को सम्बन्धी-गण अन्दर

---

१ ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—रघु० ७।५

२ ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।—रघु० ७।१७

३ मानव गृह्यसूत्र १ ६ १ याज्ञवल्क्य स्मृति १ का ११०

४ बौधायन गृह्यसूत्र १ २ ६५ गौतम धर्मसूत्र ५ २६ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १३ १९–२० आपस्तम्ब धर्मसूत्र २ ४ ८ ५–६ बौधायन धर्मसूत्र २ ३ ६३–६४—मनुस्मृति ३ का ११९
धर्म इतिहास पृ० ५४३

चौक में ले जाकर सिंहासन पर बिठा देते थे[1]। वहाँ वर को दुकूलयुग्म रत्नयुक्त अर्घ्य और मधुपर्क भेंट की जाती थी[2]। इसके पश्चात् विवाह-संस्कार के लिए वर को कन्या के पास ले जाया जाता था[3]।

विवाह-संस्कार

(अ) कन्यादान—जैसा पहले कहा जा चुका है माता पिता जब वर ढूँढने में असमर्थ होते थे तब कन्या को स्वतंत्रता दे देते थे कि वह अपना वर स्वयं ढूँढ ले अतः उत्तरदायित्व स्वयंवर में माता पिता का न होकर स्वयं कन्या का होता था। यही कारण है कि इसमें कन्यादान का कोई महत्त्व नहीं रहता। कवि ने संभवतः इसी कारण कन्यादान का यहाँ उल्लेख नहीं किया।

(ब) अग्नि स्थापन और होम[4]—कन्यादान के पश्चात् मान्य पूज्य पुरोहित घी आदि सामग्रियों से हवन कर उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर वधू को संयुक्त कर देता था। अग्नि घी और शमी के पत्तों से सुगन्धित हो जाती थी (रघु० ७।२६)।

(स) पाणिग्रहण[5]—वर वधू के हाथ पकड़ता था कदाचित् स्वीकृति की सूचना भर हो।

(द) अग्नि-परिणयन[6]—वर और वधू दोनों विवाह के समय स्थापित की हुई अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे।

(य) लाजाहोम[7]—तत्पश्चात् कन्या पुरोहित के कहने से अग्नि में खीलें डालती थी।

---

१ वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ।—रघु० ७।१७

२ महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥—रघु० ७।१८

३ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥—रघु०, ७।१९

४ तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥—रघु० ७।२०

५. हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।—रघु० ७।२१

नोट वर-वधू का वेश और विवाह-संस्कार प्राजापत्य विवाह हो या स्वयंवर एक-सा ही रहता था।

६ प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।—रघु० ७।२४

७ नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥—रघु० ७।२५

नोट काणे ने धर्मसूत्रों के अनुसार पाणिग्रहण के पश्चात् लाजाहोम तत्पश्चात् अग्नि-परिणयन दिया है पर कालिदास ने लाजाहोम को अग्नि-परिणयन के पश्चात्[1]। पाँचवीं-छठी शताब्दी के आसपास अग्नि-परिणयन के बाद ही लाजाहोम का उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट ने राज्यश्री के विवाह में अग्नि-प्रदक्षिणा के बाद लाजा-हवन का निर्देश किया है— हुते च हुतभुजि प्रदक्षिणाप्रवृत्तामिर्वधूवरविलोकनकुतूहलिनीभिरिव ज्वालाभिरेव सह प्रदक्षिणं बभ्राम। पात्यमाने च लाजाञ्जलौ लाजमयूखवलयितगुरुधूमर्वधू वरकर्ण विलासमस्मर इवादुत्थत विभावसु।

—हर्षचरित पृ २०८ बम्बे संस्कृत सीरिज

सप्तपदी—कालिदास ने इसका कोई संकेत नहीं किया।

विवाह-संस्कार के बाद की क्रियाएँ—फेरे हो चुकने पर थोड़ी बहुत अन्य मांगलिक क्रियाएँ भी होती थी। जिनमें ध्रुव तारे को वधू को दिखाना और आर्द्राक्षतारोपण आदि आता है। कालिदास ने इन्दुमती के विवाह का विस्तारपूर्वक वर्णन किया पर ध्रुवतारा दर्शन का कहीं प्रसंग नहीं दिया यद्यपि पार्वती के विवाह पर इसका नाम दिया है।

आर्द्राक्षतारोपण[2]—विवाह-संस्कार के पूरा हो चुकने पर वर वधू के ऊपर स्नातक कुटुम्बी और सौभाग्यवती नारियाँ सभी बारी-बारी से आर्द्राक्षतारोपण करते थे।

विवाह-संस्कार की समाप्ति पर स्वयंवर में जितने राजा आते थे वे सब कन्या पक्ष के द्वारा अनुमति पाकर उनकी दी हुई सामग्री को भेंट के बहाने लौटा कर अपने-अपने देश लौट जाते थे[3]। बीच में ईर्ष्यावश ये राजा वरपक्ष से युद्ध भी करते थे[4]।

वर वधू को लेकर अपने देश लौट जाता था। कन्यापक्ष के कर्ता-धर्ता अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन आदि देकर उनको सम्मानपूर्वक विदा करते थे[5] और कुछ दूर तक उन्हें पहुँचा भी आते थे[6]।

---

१ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ३१४

२ कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्।—रघु० ७।२८

३ वेदभमामन्त्र्य ययस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन।—रघु० ७।३०

प्राजापत्य विवाह

इस प्रकार के विवाह में समस्त उत्तरदायित्व माता-पिता का रहता है। माता-पिता विवाह निश्चित कर वर और कन्या से कहते हैं कि तुम दोनों समस्त धर्म के कार्यों को साथ एक करो।

वैवाहिक-चर्चा—विवाह निश्चित करना माता-पिता के हाथ में ही रहता है, अतः पार्वती ने यद्यपि हृदय से शिवजी को वर लिया था परन्तु फिर भी उसने अपनी सखी से कहलवाया कि मेरा विवाह करनेवाले या न करनेवाले मेरे पिता हैं। यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं उनको जाकर मना लीजिए[1]।

वरदूत-प्रेषण—अतः शिवजी ने सप्तर्षियों को स्मरण किया और उनसे कहा कि आप मेरी ओर से राजा हिमालय के पास जाकर उनकी पुत्री पार्वती का माँग कीजिए[2]। प्राचीन काल में वर की ओर से ही कन्या के लिए प्रस्ताव होता था। आगे भी राज्यश्री को माँगने के लिए प्रभाकरवर्द्धन के पास राजा दूत भेजने लगे, ऐसा बाण ने लिखा है[3]। विवाह का प्रस्ताव स्वीकार करते समय पिता अपनी पत्नी से भी राय लेता था

'प्रायेण गृहिणी नेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ..' —कुमार० ६।८५

वाग्दान—वर दूत भेज कर विवाह निश्चित करा लेता था। इसके पश्चात् वाग्दान के द्वारा सब कुछ निश्चित हो जाता था[4]। इसी समय कन्या-पक्ष के लोग विवाह की शुभतिथि भी निश्चित कर लेते थे[5]। विवाह प्रस्ताव के तीन दिन बाद भी विवाह हो सकता था।

वैवाहिक तैयारियाँ

नगर की सजावट—नगर की सड़कों को झण्डियों बन्दनवारों और फूलों से अच्छी तरह सजाया जाता था। राजा के घर यदि शादी है तो सम्पूर्ण नगर

१ कुमार० ६।१ पूर्वोल्लेख २ कुमार० ६।२९ पूर्वोल्लेख

३ गामने च दिवसे प्रहवर्मणा कन्यां प्रार्थयितुं प्रपितस्य पूर्वागतस्यैव प्रधान दूतपुरुषस्य करे सकलराजकुलसमक्षं दुहितृदानजलमपातयत् ... ...
—हर्षचरित ४था उच्छ्वास

४ इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्धया विमृश्य सः।
आददे वचसामन्ते मंगलालंकृतां सुताम् ॥
एहि विश्वात्मने वत्से भिक्षासि परिकल्पिता।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥—कुमार० ६।८७ ८८

५ वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥—कुमार० ६।९३

सजाया जाता था[1]। साधारणतः गृहस्थ लोग केवल अपना घर और आसपास का स्थान सजा लेते होंगे।

वधू-शृंगार और वैवाहिक वेशभूषा—कन्यापक्ष के सभी सम्बन्धी-गण कन्या को आशीर्वाद देते और गोद में बिठा कर कोई-न-कोई आभूषण दिया करते थे[2]।

स्नापन परिधापन—विवाहवाले दिन प्रातःकाल ही से कन्या का शृंगार प्रारम्भ हो जाता था। पति और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या का श्वेत सरसों और दूर्वा के अंकुरों से शृंगार करती थीं[3]। तत्पश्चात् 'निर्नाभि कौशेय' पहनाकर बाण बाँध दिया जाता था[4]। सौभाग्यवती और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या के शरीर पर लगे तेल को लोध्र की बुकनी से सुखाकर सुगन्धित द्रव्यों से युक्त अंगराग लगाती थीं[5]। इसके पश्चात् उसको स्नान के लिए ले जाया जाता था। स्नान के लिए पृथक वस्त्र दिया जाता था[6]।

चौकी पर कन्या को बिठा कर गाते-बजाते हुए कन्या को नहला दिया जाता था[7]। स्नान के पश्चात् पूर्व की ओर कन्या का मुख कर वैवाहिक-शृंगार होता

---

१ सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥—कुमार ७।३

२ अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त।—कुमार ७।५

३ मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम्।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलंचकार॥—कुमार० ७।६-७

४ देखिए पादटिप्पणी नं ३ में—कुमार ७।७

५. देखिए, पादटिप्पणी नं ३ में—कुमार ७।६ (पतिपुत्रवत्य)
तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम्।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः॥—कुमार ७।९

नोट 'बाण—क्षत्रिय लोग बाण को कमर में खोंसते होंगे। बाण क्षत्रिय जाति का प्रतीक है।

था। मंगल वेदी पर आसन बिछा कर कन्या को बिठाकर अगरु, चन्दन के धूम से बाल सुखाकर बालों में फूल गूंथ दिए जाते थे। जूड़ा बनाकर दूब में पिरोई पीले महुए के फूलों की माला जूड़े पर लपेट दी जाती थी[1]। शरीर पर श्वेत अगरु का बना अंगराग लगाकर गोरोचन से शरीर पर चित्रकारी (पत्र-रचना) की जाती थी[2]। कपोल पर लोध्र पराग लगा कर गोरोचन से पत्र-लेखा बनाई जाती थी[3]। कानों में यवांकुर पहना दिए[4] जाते थे। चरणों में महावर[5] आँखों में काजल[6] होंठों पर लाली[7] लगाकर सुवर्ण चाँदी और मोतियों आदि के गहने पहना दिए जाते थे[8]। माथे पर हरताल और मैनसिल का तिलक लगा दिया जाता था[9]।

कौतुकहस्त सूत्र—कौतुकहस्त सूत्र को आधुनिक काल में कंगन कहते हैं। कालिदास ने रघुवंश में विवाहकौतुक[10] और ऊर्णवलय[11] शब्द का प्रयोग किया है परन्तु यह कब बाँधा जाता था इसको नहीं बताया। कुमारसंभव में वे विवाह वाले दिन पार्वती की माँ के हाथ से ऊर्णामय कौतुकहस्त सूत्र[12] पहनवाते हैं। वर-वधू दोनों के हाथों में यह सूत्र बाँधा जाता था[13]।

---

१ धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम्।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥—कुमार ७।१४

२ विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।—कुमार ७।१५

३ कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥—कुमार ७।१७

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

५ सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।—कुमार० ७।१९

६ न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ।—कुमार० ७।२०

७ रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।—कुमार० ७।१८

८ सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकाशे ॥—कुमार० ७।२१

९ अथांगुलिभ्यां हरितालमार्द्रं मांगल्यमादाय मनःशिलां च ...।—कुमार ७।२३
—तमेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥—कुमार ७।२४

१० अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।—रघु० ८।१

११ तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
मांगल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।—रघु० १६।८७

१२ धात्र्यंगुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ।—कुमार० ७।२५

१३ अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥—कुमार० ५।६६

सजाया जाता था[1]। साधारणतः गृहस्थ लोग केवल अपना घर और आसपास का स्थान सजा देते होंगे।

वधू-शृंगार और वैवाहिक वेशभूषा—*कन्यापक्ष के सभी सम्बन्धी-गण* कन्या को आशीर्वाद देते और गोद में बिठा कर कोई-न-कोई आभूषण दिया करते थे[2]।

स्नापन परिधापन—विवाहवाले दिन प्रातःकाल ही से कन्या का शृंगार प्रारम्भ हो जाता था। पति और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या का श्वेत सर्षप और दूर्वा के अंकुरों से शृंगार करती थी[3]। तत्पश्चात् 'निर्नाभि कौशेय' पहनाकर बाण कोंस दिया जाता था[4]। सौभाग्यवती और पुत्रवती स्त्रियाँ कन्या के शरीर पर लगे तेल को लोध्र की बुकनी से सुखाकर सुगन्धित द्रव्यों से युक्त अंगराग लगाती थी[5]। इसके पश्चात् उसको स्नान के लिए ले जाया जाता था। स्नान के लिए पृथक वस्त्र दिया जाता था[6]।

चौकी पर कन्या को बिठा कर गाते-बजाते हुए कन्या को नहला दिया जाता था[7]। स्नान के पश्चात् पूर्व की ओर कन्या का मुख कर वैवाहिक-शृंगार होता

---

१ सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥—कुमार ७।३

२ अंकाद्ययावंकमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुंक्त।—कुमार० ७।५

३ मैत्रेमुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः॥
सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम्।
निर्नाभि कौशेयमुपात्तबाणमभ्यंगनेपथ्यमलंचकार॥—कुमार ७।६ ७

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३ में —कुमार ७।७

५ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३ में —कुमार० ७।६ (पतिपुत्रवत्यः)
तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम्।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः॥—कुमार ७।६

नोट 'बाण'—क्षत्रिय लोग बाण को कमर में बांधते होंगे। बाण क्षत्रिय जाति का प्रतीक है।

था। मंगल वेदी पर आसन बिछा कर कन्या को बिठाकर अगरु, चन्दन के धूम से बाल सुखाकर बालों में फूल गूँथ दिए जाते थे। जूड़ा बनाकर दूब में पिरोई पीले महुए के फूलों की माला जूड़े पर लपेट दी जाती थी[1]। शरीर पर श्वेत अगरु का बना अंगराग लगाकर गोरोचन से शरीर पर चित्रकारी (पत्र-रचना) की जाती थी[2]। कपोल पर लोध्र पराग लगा कर गोरोचन से पत्र-लेखा बनाई जाती थी[3]। कानों में यवांकुर पहना दिए[4] जाते थे। चरणों में महावर[5] आँखों में काजल[6] होठों पर लाली[7] लगाकर सुगन्ध चाँदी और मोतियों आदि के गहने पहना दिए जाते थे[8]। माथे पर हरताल और मैनसिल का तिलक लगा दिया जाता था[9]।

कौतुकहस्त सूत्र—कौतुकहस्त सूत्र को आधुनिक काल में कंगन कहते हैं। कालिदास ने रघुवंश में विवाहकौतुक[10] और ऊर्णावलय[11] शब्द का प्रयोग किया है परन्तु यह कब बाँधा जाता था इसको नहीं बताया। कुमारसंभव में वे विवाह वाले दिन पार्वती की माँ के हाथ से ऊर्णामय कौतुकहस्त सूत्र[12] पहनवाते हैं। वर-वधू दोनों के हाथों में यह सूत्र बाँधा जाता था[13]।

---

१ धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम्।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥—कुमार ७।१४

२ विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।—कुमार० ७।१५

३ कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥—कुमार० ७।१७

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

५ सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ।—कुमार० ७।१९

६ न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ।—कुमार० ७।२०

७ रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।—कुमार० ७।१८

८ सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकाशे ॥—कुमार० ७।२१

९ धात्र्यङ्गुलीभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च... ।—कुमार० ७।२३
—तामेव मेना दुहितुः कथंचिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ॥—कुमार० ७।२४

१० अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।—रघु ८।१

११ तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।—रघु० ११।७

१२ धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम् ।—कुमार ७।२५

१३ अवस्तुनिर्बन्धपरे कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः ।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम् ॥—कुमार० ५।६६

वैवाहिक वस्त्र—वैवाहिक वस्त्र क्षौम के प्रयुक्त किए जाते थे[1]। हंसचिह्न दुकूल का भी उल्लेख है (कुमार० ५।६७)। क्षौम नवीन होता था। सफेद रंग का होता था। कालिदास ने उसकी शुभ्रता चन्द्रमा की शुभ्रता से व्यक्त की है (क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु—अभि० ४।५)। उस पर कलहंस के चिह्न पड़े रहते थे। प्रायः एक जोड़े क्षौम वस्त्र पहनाए जाते (परिधत्स्व क्षौमयुगलम् —अभि० पृष्ठ ६८)। वस्त्र पहनाने के साथ ही कन्या के हाथ में एक नवीन दर्पण थमा दिया जाता था[2]। हाथ में दर्पण धराना उस समय का लोकाचार जान पड़ता है।

वैवाहिक साज-सज्जा के पूरे हो जाने पर कुल-रीति के अनुसार कन्या कुल-देवताओं को प्रणाम करती थी। तत्पश्चात् अन्य सौभाग्यवती स्त्रियों को[3]। स्त्रियाँ आशीर्वाद देती थीं कि 'पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो'[4]।

वर-शृंगार तथा वेशभूषा—वधू की तरह वर के शरीर पर सिताङ्गराग[5] लगाया जाता था। हंस दुकूल वस्त्र पहनाया जाता था[6]। माथे पर हरताल का तिलक[7] सिर पर चूड़ामणि[8] शरीर पर तरह-तरह के आभूषण[9] शोभा दिया करते थे।

बरात की शोभा—वर के साथ उसके मित्र और बन्धुगण रहते थे[10]। वर किसी सवारी पर सम्भवतः हथिनी[11] पर जाता था। शिव जी बैल पर

---

१ क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना ।—कुमार० ७।२६

२ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

३ तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ॥—कुमार० ७।२७

४ अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।—कुमार० ७।२८

५ बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः ।
दुकूलभावः ॥—कुमार० ७।३२

आरूढ़ थे। आगे-आगे मंगल-वाद्य बजते रहते थे[1]। वर के ऊपर छत्र[2] रहता था। आस-पास चँवर[3] डुलाए जाते थे। विवाह कराने के लिए पुरोहित वर पक्ष का ही रहता था[4]।

वर-पक्ष का स्वागत—कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष की आगे बढ़कर अगवानी करते थे[5] और सजे हुए नगर में वर तथा उसके पक्ष के लोगों को प्रविष्ट करवाते थे[6]। नगर में बारात के प्रवेश करते ही स्त्रियाँ गवाक्षों से बारात देखने दौड़ पड़ती थीं[7]।

मधुपर्क—कन्या-पक्ष के द्वार पर बारात के पहुँच जाने पर पुर स्त्रियाँ लाजमुष्टि[8] डालती थीं। वर को वाहन से उतार कर सम्मान के साथ महल अथवा घर के अन्दर ले जाया जाता था[9]। वहाँ वर को कन्या-पक्ष के पिता रत्न अर्घ्य मधु, दही और नवदुकूल मधुपर्क-रूप में भेट करते थे[10]। इसके पश्चात् दुकूल पहने हुए वर को कन्या के पास वैवाहिक-संस्कार के लिए ले जाते थे[11]।

विवाह-संस्कार—अग्नि-स्थापन[12] और होम के पश्चात्, जैसा स्वयंवर

---

१ ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः ।—कुमार० ७।४०
२ उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।—कुमार० ७।४१
३ मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।—कुमार० ७।४२
४ विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ।—कुमार० ७।४७
५ तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥—कुमार० ७।५२
६ स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥—कुमार० ७।५५
७ तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—कुमार० ७।५६
८ केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ।—कुमार० ७।६९
९ तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥—कुमार० ७।७०
१० तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥—कुमार० ७।७२
११ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।—कुमार० ७।७३
१२ प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ॥—कुमार० ७।७९

वैवाहिक वस्त्र—वैवाहिक वस्त्र क्षौम के प्रयुक्त किए जाते थे[1]। कलहंस दुकूल का भी उल्लेख है (कुमार० ५।६७)। क्षौम नवीन होता था। सफेद रंग का होता था। कालिदास ने उसकी धुक्लता चन्द्रमा की धुक्लता से व्यक्त की है (क्षौमं केनाचिदिन्दुपाण्डु—अभि ४।५)। उस पर कलहंस के चिह्न पड़े रहते थे। प्रायः एक जोड़े क्षौम वस्त्र पहनाए जाते (परिघत्स्व क्षौमयुगलम् —अभि० पृष्ठ ९८)। वस्त्र पहनाने के साथ ही कन्या के हाथ में एक नवीन शपथ थमा दिया जाता था[2]। हाथ में शपथ धराना उस समय का लोकाचार जान पड़ता है।

वैवाहिक साज-सज्जा के पूरे हो जाने पर कुल-रीति के अनुसार कन्या कुल-देवताओं को प्रणाम करती थी। तत्पश्चात् अन्य सौभाग्यवती स्त्रियों को[3]। स्त्रियाँ आशीर्वाद देती थीं कि 'पति का अखण्ड प्रेम प्राप्त करो'[4]।

वर शृंगार तथा वेशभूषा—वधू की तरह वर के शरीर पर सिताङ्गराग[5] लगाया जाता था। हंस दुकूल वस्त्र पहनाया जाता था[6]। माथे पर हरताल का तिलक[7] सिर पर चूड़ामणि[8] शरीर पर तरह-तरह के आभूषण[9] शोभा दिया करते थे।

बरात की शोभा—वर के साथ उसके मित्र और बन्धुगण रहते थे[10]। वर किसी सवारी पर सम्भवतः हथिनी[11] पर जाता था। शिव की बैल पर

---

१ क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना।—कुमार ७।२६

२. देखिए, पादटिप्पणी नं १

३ तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम्।।—कुमार० ७।२७

४ अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा।—कुमार ७।२८

५ बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्री।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दुकूलभावः।।—कुमार ७।३२

ाते थे। आगे-आगे मंगल-वाद्य बजते रहते थे[1]। वर के ऊपर छत्र[2] रहता
ा आस-पास चँवर[3] डुलाए जाते थे। विवाह कराने के लिए पुरोहित वर
क्ष का ही रहता था[4]।

वर-पक्ष का स्वागत—कन्या-पक्ष के लोग वर-पक्ष की आगे बढ़कर अगवानी करते थे[5] और सजे हुए नगर में वर तथा उसके पक्ष के लोगों को प्रविष्ट करवाते थे[6]। नगर में बारात के प्रवेश करते ही स्त्रियाँ गवाक्षों से बारात देखने दौड़ पड़ती थीं[7]।

मधुपर्क—कन्या-पक्ष के द्वार पर बारात के पहुँच जाने के पूर्व स्त्रियाँ लाजमुष्टि[8] डालती थीं। वर को वाहन से उतार कर सम्मान के साथ महल अथवा घर के अन्दर ले जाया जाता था[9]। वहाँ वर को कन्या-पक्ष के पिता रत्न, अर्घ्य, मधु, दही और नवदुकूल मधुपर्क-रूप में भेंट करते थे[10]। इसके पश्चात् दुकूल पहने हुए वर को कन्या के पास वैवाहिक-संस्कार के लिए ले जाते थे[11]।

विवाह-संस्कार—अग्नि-स्थापन[12] और होम के पश्चात् जैसा स्वयंवर

---

१ ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः ।—कुमार० ७।४०
२ उपान्तरे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।—कुमार ७।४१
३ मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।—कुमार० ७।४२
४ विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ।—कुमार ७।४७
५ तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥—कुमार० ७।५२
६ स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ॥—कुमार ७।५५
७ तस्मिन् मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥—कुमार० ७।५६
८ केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ।—कुमार० ७।६९
९ तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः ।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥—कुमार ७।७०
१० तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥—कुमार० ७।७२
११ दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।—कुमार० ७।७३
१२ प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ॥—कुमार० ७।७९

विवाह में कहा है, पाणिग्रहण[1] होता था। इसके पश्चात् अग्नि प्रदक्षिणा[2]। जब अग्नि के तीन फेरे हो चुकते थे तब वधू से लाजाहोम पुरोहित करवाते थे[3]। लाजाहोम का धूम वधू सूँघती थी[4]। यही अग्नि विवाह की साक्षी समझी जाती थी। पुरोहित कन्या से कहता था कि हे वत्से! यह अग्नि तुम्हारे विवाह की साक्षी है, आज से तुम सब प्रकार की शंका छोड़ कर पति के साथ धार्मिक कृत्य करना[5]।

विवाह-संस्कार के पश्चात् की क्रियाएँ और लोकाचार

(अ) ध्रुवदर्शन[1]—वर कन्या को ध्रुवतारे की ओर देखने को कहता था। इसका आशय यह था कि तुम ध्रुवतारे की तरह अपने पति के प्रति तन मन धन से सच्ची तथा अटल रहो।

(ब) आर्द्राक्षतारोपण[2]—विवाह-संस्कार के पश्चात् वर-कन्या अन्दर चौक में लाये जाते थे और वहाँ दोनों पर सम्बन्धीगण और इष्टमित्र गीले अक्षत छिड़कते थे। सम्भवतः मनोविनोद के लिए नाटक अभिनय आदि भी कराया जाता था[8]।

कौतुक गृह[9]—विवाह के पश्चात् विमानाथ और सयनाथ वर-कन्या एक कमरे में पहुँचा दिए जाते थे। वहाँ सेज बिछी रहती थी भक्ष्य भरा थाल रहता

---

१ तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम्॥—कुमार ७।७६
—रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य॥—कुमार ७।७७

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १२

३ स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।—कुमार ७।८

४ सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय।—कुमार ७।८१

५ वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति॥—कुमार० ७।८३

६ ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच॥—कुमार ७।८५

७ जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्।—कुमार० ७।८८

था। संक्षेप में कौतुकगृह उस कमरे को या घर को कहा जा सकता है जहाँ वर वधू जाकर अपनी सुहागरात मनाते हैं।

कामक्रीड़ा—रति के प्रधान तीनों अंगों का (आलिंगन, चुम्बन एवं संभोग) कवि ने सम्यक विवेचन किया है। नई ब्याही बहू का घबराते हुए पति के निकट जाना और पति का प्रारम्भ में सदय रति का प्रश्रय लेना जिससे कि वह घबराए नहीं, पति का वधू के द्वारा बाधित होने पर भी अधर रस का तृप्ति के साथ पीना, धीरे-धीरे मन्मथ रस के ज्ञात हो जाने पर वधू की रतिविषयक सलज्जता का विलुप्त हो जाना, तत्पश्चात् विपरीतरति—केशों का अस्त-व्यस्त हो जाना, अधर का गाढ़ दंशन, नखक्षत से शरीर भर जाना आदि आदि प्रत्येक बात का कवि की कृतियों में पूर्ण उल्लेख है[1]।

गान्धर्व विवाह

गान्धर्व विवाह प्रेम-विवाह था। इसमें किसी प्रकार का कोई संस्कार नहीं होता था। वर-कन्या आप ही एकान्त में अपना विवाह निश्चित कर लेते थे। माता-पिता अथवा गुरुजनों की कोई सम्मति नहीं लेता था[2]।

इस प्रकार के विवाह में काम-भावनाओं की सन्तुष्टि ही प्रधान उद्देश्य थी। आवेग मात्र में काम हो जाता था अतः बाद में अपनी भूल मालूम होने पर पश्चात्ताप होता था[3]। गुरुजन भी इसे अच्छा नहीं समझते थे और इस प्रकार के विवाह की निन्दा करते थे। शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर गौतमी और शार्ङ्गरव ने उसे फटकारा था कि बिना सोचे-समझे जो काम किया जाता है उससे ऐसा ही दुःख मिलता है। गुप्त प्रेम बहुत समझ-बूझ कर करना चाहिए। किसी अपरिचित के साथ बिना उसके स्वभाव आदि को समझे हुए यदि मित्रता की जाती है तो वह शत्रुता ही बन जाती है[4]। अब शीलवती कन्याएँ अपनी

---

१ विशेष विवरण के लिए देखिए परिशिष्ट २ कालिदास के समय में काम भावना के अन्तर्गत प्रथम-मिलन तथा रति प्रसंग।

२. नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य ॥—अभि॰ ५।१६

३ किं कृतकार्यद्वेषो धर्मं प्रति विमुखता कृतावज्ञा।—अभि॰ ५।१८
—मुग्धे तावत्त्वं स्वच्छन्दचारिणी इत्यसि भावमस्य
पुरुषहृदयत्वेन मुग्धमनोहृदयगम्भीरविरसस्य हस्ताभ्यासमुपगता।
—अभि॰ अंक ५ पृ॰ ९२

४ अभि॰ ५।२४ पूर्वोल्लेख

इच्छा के अनुसार रूप और गुण वाले वर को चुनकर भी विवाह के लिए पिता की आज्ञा ले लेना चाहती है जिससे कोई भूल न हो[1]।

शकुन्तला के पूर्व भी गान्धर्व विवाह हुए थे ऐसा दुष्यन्त ने कहा अवश्य है—

गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः ।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः[2] ॥

परन्तु किसी अन्य का कहीं प्रसंग न मिलने के कारण सम्भव है कि दुष्यन्त ने उसको राजी करने के लिए ही अपने स्वार्थवश कह दिया हो।

यदि माता-पिता न स्वीकार करें तो सम्भवतः उनको अधिकार था कि वे किसी अन्य के साथ अपनी कन्या का विवाह करें। यह माता-पिता की इच्छा पर था कि स्वीकार करें और अनुमति दें अथवा नहीं[3]।

आसुर विवाह[4]

विस्तार से इसका संकेत कालिदास ने कहीं किया ही नहीं है। एक स्थान

---

१ सा शाकिमपापि पुरोऽनुना वीरेण कन्या पितुराज्ञयैव।—रघु० ५।१८

२ अभि० ३।२१

३ बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवद्देया यथा कन्या तथैव सा ॥—वसिष्ठ १७-७३

यदि कन्या के इच्छानुसार लड़का उसके साथ सम्भोग करे (गान्धर्व विवाह) तो पिता को दण्ड-स्वरूप यदि वह जुर्माना चाहे तो देना होगा। मेधातिथि का कहना है यदि पिता न चाहे तो राजा को दण्ड-स्वरूप जुर्माना दे कि लड़की उसे दे दी जाय। यदि लड़की उसे (वर) न चाहे तो उसका विवाह अन्यत्र किया जा सकता है, यदि लड़का उसे स्वीकार न करे तब भी उसका विवाह अन्यत्र होगा अथवा—

अनुरूपेण कन्योत्तरं गोधनं । प्राभृतो शुल्को दण्डो वा ।
अथ कन्यायाः का प्रतिपत्तिः । तस्मा एव देया ।
निवृत्ताभिलाषा चेदन्यस्मै प्रतिपाद्या । ... ...
अथ चेन्निवृत्ताभिलाषो हठात् प्राजापत्यम् । ...
—मनु० ८ ३६६ ३६७ (मेधातिथि की टीका)

[illegible] की ओर नेपाल में अब भी प्रचलित

पर 'गुहितु शुल्क संस्था'[1] से अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास के समय में इस प्रकार के विवाह का प्रचार रहा होगा। इस प्रकार के विवाह में वर कन्या के अभिभावक पिता आदि को उनके द्वारा माँगा हुआ धन देकर ही लड़की के साथ विवाह कर सकता है।

वधू-प्रस्थान—विवाह के पश्चात् वर श्वसुर के घर एक मास तक रहता था[2] पर अपने इच्छानुसार चाहे तो जल्दी भी कर सकता होगा। अज इन्दुमती के घर कितना रहा कहा नहीं जा सकता। हाँ शिवजी अवश्य एक मास रहे थे।

मधुयामिनी (हनीमून) मनाने के लिए नवदम्पति सुन्दर प्राकृतिक प्रदेशों में जाते थे[3]। माता-पिता अपनी कन्या को इतना प्यार करते हैं कि क्षण भर के लिए भी उनको अपने से पृथक रहना नहीं चाहते। यह सोचते ही कि आज कन्या चली जाएगी हृदय उदास तथा आँसुओं से कण्ठ रुद्ध हो जाता है। मुख से शब्द नहीं निकलते। स्वयं कण्व जो वनवासी और त्यागी थे उदास होकर कहते हैं कि जब मुझ वनवासी को इतनी व्यथा हो रही है तब उन गृहस्थों

है। इस बीच में दोनों साथ रहते हैं। लड़का अपने माँ-बाप से अलग रहता है। वह अपने जीविका-निर्वाह के बाद जो बचे लड़की के माँ-बाप को हर महीने सारी जिन्दगी कुछ-न-कुछ भेजता रहता है। इसी बीच में वे दोनों निश्चय करते हैं कि हमको विवाह करना है कि नहीं। यदि लड़की गर्भवती भी हो जाय तब भी नहीं। तत्पश्चात् दोनों एक दिन लड़की के माँ-बाप के पास जाकर कह देते हैं कि हमारा विवाह कर दो। यदि दोनों का विवाह अस्वीकार हो तब भी कोई बात नहीं पर लड़की गर्भवती न हो। लड़का लड़की को माँ के घर छोड़ आयेगा। ऐसा चलता ही रहता है। वहाँ चाहे कभी भाभी किसी स्त्री के पाँच सात बच्चे भी हों तब भी कोई पुरुष चाहे तो उसके पति को जितना वह कहे, हर्जाना देकर उस स्त्री को ले जा सकता है और बच्चे बाप के साथ रहेंगे माँ के साथ नहीं जायेंगे। यदि वर कन्या को देखने आवे और कन्या को मना कर दे कि मुझे पसन्द नहीं है और उसकी छोटी बहिन तैयार हो जाय तो वर माँ-बाप और बड़ी बहिन दोनों का हर्जाना देगा।

१ रघु० ११।३८

२. एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसद्वृषध्वजः ॥—कुमार० ८।२०

३ कुमार० सर्ग ८ श्लोक २ के पश्चात्।

को कितना कष्ट होता था पहले-पहल अपनी कन्या को विदा करते होंगे[1] परन्तु विवाह पश्चात् कन्या को अपने पास रखने से सर्वत्र निन्दा होती है। मनुष्य नाना प्रकार की बातें कहा करते हैं। अतः विवाह बाद पति पत्नी को चाहे रक्खा नहीं पर पत्नी का पति के घर में चाहे वह दासी के ही रूप में रहे रहना उचित समझा जाता था[2]। माता-पिता लड़की को पराया धन ही समझते हैं। अतः पति के घर भेज कर ही उन्हें सच्ची शान्ति प्राप्त होती है[3]। अपनी कन्या के यौवन को पति के द्वारा भोगा जाता देखकर उन्हें सन्तोष होता है और जब वे देख लेते हैं कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है तब उनका जी हल्का हो जाता है[4]। अतः कन्या को जी से प्यार करते पर भी वे वर के द्वारा इच्छा प्रकट किए जाने पर कन्या को तत्काल विदा कर देते हैं[5]।

विदा के समय वधू की वेशभूषा—प्रातःकाल बहुत जल्दी ही कन्या स्नान कर लेती थी[1]। उसके बाद उसकी सखियाँ उसका मंगल शृंगार करती थीं[2]। मांगलिक शृंगार के लिए गोरोचन, तीर्थमृत्तिका, दूर्वाकिसलय, केसर

---

१ यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥—अभि ४।६

२ सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः॥—अभि ५।१७
—तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी॥—अभि ५।२९

३ अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥—अभि० ४।२२

४ नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत्।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः॥—कुमार० ८।१२

५ सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखखेदितम्।
तत्र-तत्र विजहार संपतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता॥—कुमार ८।२१

माङ्गलिक शुभ सामग्री थी[1]। चरणों में महावर[2] और शरीर के अंगों में आभूषण[3] शोभायमान रहते थे। वस्त्र में क्षौमयुगल[4] का प्रयोग होता था। इसके ऊपर उत्तरीय भी रहता था। इसी का अवगुंठन समयानुसार प्रयुक्त किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्दे की प्रथा न रहने पर भी गुरुजनों के सम्मुख पति के सम्मुख स्त्रियाँ मुख नहीं खोलती थीं[5]।

विदा के समय की कुछ रीतियाँ—विदा के समय घर के सभी गुरुजन कन्या को आशीर्वाद देते थे। आशीर्वाद में प्रायः पति के अखंड प्रेम को प्राप्त करो[6] 'अखण्डितं प्रेम लभस्व' (कुमार ७.२८) 'वत्से भर्तुः बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व' (अभि॰ अंक ४ पृ ६५) तथा यदि वह गर्भवती होती तो 'वीरप्रसविनी भव'[7] आशीर्वाद दिया जाता था। चलने से पूर्व सद्योहुति से युक्त अग्नि की प्रदक्षिणा कन्या करती थी[8]। कन्या का मार्ग कल्याणकारी हो ऐसी ही शुभकामना और आशीर्वाद दिया जाता था[9]।

कन्या को पहुँचाने उसके सम्बन्धी कुछ दूर तक जाते थे। इन्दुमती को पहुँचाने विदर्भराज गए थे[10]। कण्व और शकुन्तला की सखियाँ भी शकुन्तला की विदा के समय कुछ दूर तक पहुँचाने गई थीं। सम्भवतः जलाशय तक प्रिय जनों को विदा करने के लिए सम्बन्धी-गण जाया करते थे[11]।

---

१ अभि॰ अंक ४ पृ॰ ६४   २ अभि ४।५   ३ अभि॰ ४।५

४ इन्दुपाण्डुतरुणा क्षौमं—क्षौम सफेद का विदा के समय प्रयोग।—अभि॰ ४।५

५. अपनयामि तावदवगुंठनम् ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।

—अभि॰ अंक ५ पृ ८८

६ भर्तुर्बहुमता भव—अभि॰ ४।७ अंक ४ पृ॰ ६५

७ अभि॰ अंक ४ पृ॰ ६५

८. वत्से इतः सद्योहुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व —अभि अंक ४ पृ ६६

९ अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥
रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः॥

—अभि ४।१०, ११

१० पूर्वोल्लेख

११ भगवन्नोदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते।
तदिदं सरस्तीरम् अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि।—अभि॰ अंक ४ पृ॰ ७१

अविवाहिता लड़कियाँ सब जगह और सब स्थानों पर नहीं जाती थीं। इसी कारण शकुन्तला के कहने पर कि ये यहीं से लौट जाएँगी कण्व ने कहा था कि हाँ इनका भी विवाह होना है¹।

कन्या की विदा हाथी पर की जाती थी² या पालकी में भी बिठा कर उसे भेज दिया था। यह पालकी चार मनुष्य उठाते थे³।

ऐसा प्रतीत होता है कि कन्या एक बार जाकर फिर पिता के घर नहीं लौटती थी। विदा के समय जब शकुन्तला पिता से पूछती है कि अब इस आश्रम के दर्शन कब होंगे ? तो वे यही कहते हैं कि 'वानप्रस्थ में पुत्र के ऊपर राज्य भार छोड़ कर ही तुम इस आश्रम में आ पाओगी⁴।

पिता का पुत्री को उपदेश—ममतामयी वात्सल्य की गोद में पली तथा दुलारी पुत्री के भविष्य के विषय में पिता को अपार चिन्ता रहती थी। कन्या को पति के हाथ में अर्पित करते हुए उसके हृदय में एक ही अभिलाषा रहती थी कि वह अन्य पत्नियों की तरह इसका भी आदर करे। पति के प्रेम को प्राप्त करना ही पुत्री का सौभाग्य समझा जाता था अतः जिस प्रकार वह स्नेह को प्राप्त करने में समर्थ हो ऐसी ही कन्या की शिक्षा-दीक्षा रहती थी। विदा के समय पिता पुत्री को उपदेश देता था कि पति के घर पहुँच कर समस्त गुरुजनों का आदर करना उनकी सेवा-शुश्रूषा करना अपनी-जैसी पति की अन्य स्त्रियों को बहन के समान समझना। अपने ऊपर अभिमान कर सेवकों के प्रति अनुदार न होना। पति के तिरस्कार करने पर भी उनकी विमुखता में भी प्रतिकूल आचरण मत करना अपनी पुत्री को सच्ची सुगृहिणी बनाना ही माता पिता के उपदेश का सार था⁵।

---

१ वत्स इमे अपि प्रदेये। न युक्तमनयोस्तत्र गन्तुम्।—अभि० अंक ४ पृ० ७-१

२ इभं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया।—कुमार० ५।७०

३ मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥—रघु० ६।१

४ भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥
—अभि०, ४।२०

कन्या की विदा के समय उपहार और आशीर्वाद (दहेज)—अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन सुवर्ण रत्न आभूषण वस्त्र देना उस समय भी प्रचलित था। विदर्भराज अपनी बहन इन्दुमती के विवाह के पश्चात् अज को अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर विदा करता है[1]। स्वयंवर में आए राजा भी भेंट देते थे[2]। कुमारसम्भव में भी विवाह से पूर्व सुन्दर रत्न और सुवर्णाभूषणों से पार्वती सजाई जाती है[3]। पार्वती का परिवार की सभी स्त्रियाँ गहने और आशीर्वाद देती हैं[4]। शकुन्तला की विदा के समय भी—

> क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
> निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
>
> अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
> र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ।।[5]

आशीर्वाद—पति के प्रेम को प्राप्त करना स्त्री का सौभाग्य था। इसी का आशीर्वाद सर्वत्र है।

(१) अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्यु ... ।[6]
(२) भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व ।[7]
(३) वत्से भर्तु बहुमता भव ।[8]

---

१ भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ।।—रघु० ७।३२
२ तैरस्तमानस्य पपुस्तदीयां प्रत्यन्य पूजामुपदाच्छलेन ।—रघु० ७।३०
३ सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकाशे ।।—कुमार० ७।२१
४ अंकाद्ययावंकमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
सम्बन्धभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ।।—कुमार० ७।५
५. अभि० ४।५ ६ कुमार० ७।२८
७ अभि० अंक ४ पृष्ठ ६६ ८. अभि० ४।७

छठा अध्याय

गृहस्थ जीवन

दाम्पत्य जीवन—दाम्पत्य जीवन का सुख पति-पत्नी के प्रेम पर आश्रित था। दाम्पत्य प्रेम का आदर्श रूप 'चकवा चकवी' था। कवि 'रथांगनाम्नोरिव भावबन्धनम्' कह कर अपने हृदय का उद्गार व्यक्त कर देता है[1]। पति-पत्नी का अत्यन्त अधिक घुल-मिल जाना एक-दूसरे की बड़ाई करते भी सन्तुष्ट न होना क्षण भर के लिए भी पृथक होने पर एक-दूसरे के लिए तड़पना शुद्ध प्रेम का रहस्य था[2]। इस दाम्पत्य सुख में सन्तति प्रेम अटूट शृंखला बन जाती थी। दोनों का पारस्परिक प्रेम यद्यपि सन्तान पर बँट जाता था परन्तु इससे प्रेम में गहराई आती थी[3]।

वास्तविक जगत् में इन आदर्शों का लोप हो चला था। जीवन में पर्याप्त विलासिता आ चली थी और पातिव्रत तथा पत्नीव्रत निभाना कठिन हो चला था। कवि ने अनेक प्रसंगों में इसकी पुष्टि की है। पुरुष अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए विवाह-पर-विवाह करते जाते थे। दुष्यन्त पुरूरवा अग्निमित्र आदि सब इसके प्रमाण हैं। रघुवंशी अग्निवर्ण की कामवासना-तृप्ति और कामुकता का कवि ने नग्न चित्र उपस्थित किया है। इसके व्यभिचार में स्त्रियों का भी बहुत उत्तरदायित्व था। दूती दासियाँ सभी यथावसर अपनी प्यास की शान्ति अग्निवर्ण से कर लेती थीं[4]।

१ परस्परामयम्।

परन्तु प्रायः स्त्रियाँ पातिव्रत निभाती थीं। पुरुषों को विवाह-पर-विवाह करते देखकर कुढ़ती, खीझती और उपालम्भ देती थीं[1]। अवश्य ही वे मन-ही-मन दुःखी रहती थीं परन्तु पति के सुख के लिए दूसरी स्त्री से विवाह करने की अनुमति भी दे दिया करती थीं। पुरूरवा की रानी काशी-नरेश की पुत्री तथा धारिणी के चरित्र (माल०) इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

पुरुष अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य ललनाओं से भी सम्पर्क रखते थे। इस प्रकार की स्त्रियों और भावनाओं के लिए कवि ने पारिभाषिक शब्दों का अनेक स्थानों पर व्यवहार किया है। अवश्य ही यह शब्द और यह ओछी संस्कृति कवि के समय प्रचलित होगी। यदि किसी स्त्री से केवल एक बार संगम किया रहता था तो उसे 'सकृत्कृतप्रणय'[2] शब्द से व्यक्त किया जाता था। 'समापन्न'[3] शब्द भी कुछ ऐसे ही प्रसंगों के लिए प्रचलित था। बूढ़ों के हृदय भी तरुणों के समान शृंगार-चेष्टा करने से विमुख नहीं हुआ करते थे[4]। सुन्दर स्त्री को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे भी एड़ी से चोटी तक का जोर लगाया करते थे। इस प्रकार की शृंगार-चेष्टा को प्रणयाभिव्यक्ति समझा जाता था[5]। एक ही समय कई स्त्रियों से प्रेम करना और उसे निबाह ले जाना कुशल नागरिक का काम समझा जाता था। नागरिक वृत्ति[6] और दाक्षिण्य[7] इसी अर्थ में रूढ़ थे। दो स्त्रियों से एक साथ प्रेम करने वाला और दोनों को ही प्रसन्न रखने

---

१ अभि० माल० विक्रम तीनों नाटकों में इसके दृष्टान्त हैं।

२ सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः —अभि० अंक ५, पृष्ठ ८०

३ तं निवेश्य समतिगताम्भसि सामसाम्यमतरन्न्यगाहत् ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥—रघु० ११।३३

४ कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥—रघु० ६।१८
—रघु० ६।१२–१९ तक सभी शृंगार चेष्टाओं के प्रमाण हैं।

५ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥—रघु० ६।१२

६ अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥—अभि० ५।१
—गच्छ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्—अभि० अंक ५, पृ० ८०

७ अपि मुखे अप्रसन्नात्मप्रभावा नागरिकाचारपर्यायमपि दक्षिणा भवन्ति।
नार्हति भवानस्य गुणराशेर्दाक्षिण्यमेकपदे पृष्ठतः कर्तुम् ॥
—विक्रम० अंक ३ पृ० २२४

वाले चतुर पुरुष की उपमा कवि ने दक्षिण पवन से देकर दाक्षिण्य शब्द को भली भाँति समझा दिया है। 'इस वायु का दक्षिण कहलाना ही ठीक है क्योंकि माधवी लता को सींचता हुआ और कुन्द लता को नचाता हुआ यह पवन ऐसा प्रतीत होता है मानो सबसे प्रेम करने वाला और सबको प्रसन्न करता हुआ कोई कामी हो'[1]। यदि किसी विवाहित पुरुष को किसी अन्य स्त्री में आसक्ति उत्पन्न हो जाती थी तो वह नई प्रेयसी से प्रायः ऐसा कहा करता था 'मैं तो केवल कहने के लिए उसका पति हूँ मेरा यथार्थ प्रेम तो तुमसे है'[2]। कालिदास ने खंडिता नायिकाओं की चर्चा की है[3] जो एक ओर पुरुषों की धृष्टता और कामुकता प्रदर्शित करती है और दूसरी ओर स्त्रियाँ पुरुषों के इन कार्यों को अच्छी तरह जानती थीं इसका भी परिचय दिया है। दूसरी स्त्री के पास से तत्काल आए हुए पति को 'आर्द्रापराधी'[4] और ऐसे अपराध को 'आर्द्रापराध'[5] की संज्ञा दी गई है। यदि किसी पुरुष की किसी कुमारी या स्त्री के साथ अफवाह उड़ जाती थी तो इसे कौलीन[6] कहा जाता था। स्त्रियाँ अवश्य ही पुरुषों की बनावटी बातों को पहचानती थीं[7]। इस प्रकार की बनावटी और फुसलाने वाली बातें 'उपचार' कहलाती थीं[8]।

---

१ निर्विचन्माधवी अमी लता कौन्दीं च नाटयन्।
स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात्कामीव प्रतिभाति मे ॥—विक्रम० २।४

२ ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ।—रघु० ८।५२

३ प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखंडनव्यथा ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥—रघु० १९।२१

—भूयश्चाह त्वमपि शयने कंठलग्ना पुरा मे ।
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ॥
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे ।
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥—उत्तरमेघ ५४

४ ५. नवकिसलयरागेणाग्रपादेन बाला स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन ।
अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा प्रणिहितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम् ॥
—माल० अंक ३ १२

६ कौलीनं गौरवं वदत ।—माल० अंक ३ प० २११

उपरोक्त वर्णित दाम्पत्यकी तथा अभिसारिका मतकी अप्सरा आदि की ग्रन्थों में भरमार इस बात की साक्षी है कि गार्हस्थ्य जीवन भीतर से खोखला हो रहा था परन्तु आदर्श अभी भी परम्परागत वही पुराना था। दूसरे की स्त्री की ओर दृष्टिपात न करना उसके विषय में न सोचना उच्च चरित्र के प्रतीक थे[1]। दूसरे की स्त्री का स्पर्श पाप समझा जाता था (परस्त्रीस्पर्शपांसुल —अभि ५।२८)। ऐसा जान पड़ता है कि दाम्पत्य जीवन का मुख्य उद्देश्य काम-सुख ही था। 'प्रजायै गृहमेधिनाम्'[2] सन्तान की कामना से स्त्री-सम्भोग की चर्चा भी अवश्य पर सम्पूर्ण मेघदूत अजविलाप रतिविलाप विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र आदि में स्त्री-पुरुष के काम संसार के अतिरिक्त गृहस्थ के किसी उच्च उद्देश्य की व्यंजना नहीं है। एक-दूसरे के अभाव को याद करना सम्पर्कजन्य सुख को याद कर रोना आदि कामक्रीड़ा मूल ही है। अवश्य ही हृदय की उदारता और प्रेम की प्रगाढ़ता का वर्णन होते हैं पर काम-सुख से ऊपर उठकर व्यापक जीवन को सामने रखकर कोई पात्र कुछ करता हुआ कभी नहीं दिखाई पड़ता। कालिदास के ग्रन्थों में दाम्पत्यजीवन का विलासमय पक्ष धार्मिक एवं सामाजिक पक्ष से कहीं प्रबल और व्यापक है। तत्कालीन भारतीय संस्कृति धर्म की अपेक्षा कला और सौन्दर्य में मस्त हो रही थी। कला और सौन्दर्य दोनों का अधिष्ठान युवती नारी थी। दुष्यन्त के 'दारसंग्रहे'[3] में वृद्धा की उपेक्षा की पर्याप्त व्यंजना है। जहाँ गृहिणी कामपूर्ति में असमर्थ रहती थी वहाँ गणिका अप्सरा आदि से तृप्ति कर लिया करता था।

पत्नी का कर्तव्य और उत्तरदायित्व—पत्नी का प्रमुख क्षेत्र गृह था। घर गुरुजनों की सेवा करना गृहस्थी के कार्यों में संलग्न रहना और सन्तान की उत्पत्ति करना उसका मुख्य कर्तव्य था[4]। पति ही उसका देवता अधिष्ठाता तथा

—हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम्।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनंग कथमक्षता रतिः ॥—कुमार० ४।९

१ मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ।—रघु० १६।८ बलिना हि परपरिग्रहमात्मेव पराङ्मुखी वृत्ति ।—अभि ५।२८ अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्। —अभि० अंक १ पृष्ठ ८४

२. यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।—रघु० १।७

३ दारसंग्रह ।—अभि० अंक ५, पृष्ठ ९१

४ शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥—अभि० ४।१८

सर्वस्व था। उसकी सन्तुष्टि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना उसका ध्येय था[1]। वे सौत लाने के लिए भी तैयार हो जाती थीं। पत्नी का पति के सम्मुख अति उच्च स्थान था। गृहिणी पद पर शोभित सभी बातों का उत्तरदायित्व उस पर था। उस उत्तरदायित्व में वह अपने पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के बिछुड़ने का दुःख भूल जाया करती थी[2]। पति के लिए पत्नी न केवल गृहिणी ही थी अपितु सचिव भी थी एकान्त-सखी थी ललितकलाओं में शिष्या थी[3]। पत्नी सच्ची सहधर्मचारिणी थी। धार्मिक-क्रियाएँ बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकती थीं[4]। पति पत्नी से गृहस्थी के कार्यों में सलाह लिया करते थे। कन्या का सम्बन्ध कहीं स्थिर करते समय पत्नी की सम्मति का बहुत ध्यान रखा जाता था[5]। स्त्रियाँ पति की इच्छा से बाहर कभी कार्य नहीं किया करती थीं[6]।

अतिथि का स्वागत करना प्रधान-कर्तव्य था। कण्व की अनुपस्थिति में अतिथि-सत्कार का सम्पूर्ण भार शकुन्तला पर आ पड़ा था[7]। पार्वती भी शिवजी के ब्रह्मचारी के वेश में आने पर उनका उचित सत्कार करने से पीछे नहीं हटतीं[8]। गृहस्थ होने का सच्चा फल अतिथि को प्रसन्न करना था[9]।

---

१ अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य
समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्।
—विक्रम, अंक ३ पृष्ठ २०५
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम अंक ३ पृष्ठ २०९

२ अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम
विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥—अभि ४।१९

३ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु ८।६७

४ क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।—कुमार ६।१३

५ प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।—कुमार० ६।८५

६ भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।—कुमार ६।८६

७ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय
नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।—अभि अंक १ पृ० ९

स्त्री पति की सम्पत्ति थी अतः पति को अपनी पत्नी के सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार के अधिकार प्राप्त थे[1]। स्त्रियों के लिए भी अच्छा यही समझा जाता था कि विवाह होने के पश्चात् पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसके पास दासीवृत्ति में रहे। पिता के घर रहने से कहीं अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था[2]।

कार्यक्षेत्र—गृह के बाहर भी पत्नी पति का साथ दिया करती थी। पति के आमोद-प्रमोद में उद्यान-क्रीडा जल-विहार, उत्सवादि देखने में वे पति की सहभागिनी थीं[3]। साधारण घरों की स्त्रियाँ खेत[4] उद्यानादि में भी काम किया करती थीं। पुष्पलावी[5] शब्द उद्यान में काम करने वाली स्त्रियों अर्थात् मालिनों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। उद्यान-पालिका शब्द का भी यही आशय है[6]।

राजा के अन्तःपुर में स्त्री परिचारिकाएँ, यवनी आदि का उल्लेख है। इसके

---

१ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।—अभि ५।२६

२ अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।—अभि ५।१७
—अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।
—अभि० ५।२७

३ रघु० १६।६८।६९ जलक्रीड़ा।
इच्छाम्यायपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तदात्मनोऽनमेव गच्छाव।—माल० अंक ३ पृ २९१ उद्यानक्रीड़ा।
जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसद्दर्शनेन समारम्भः सफलः क्रियतामिति।—माल० अंक ३, पृ १४२ उत्सव

४ त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं।
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥—पूर्वमेघ १६
—इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु० ४।२०

५. गंडस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्।—पूर्वमेघ २८

६ तत प्रविशत्युद्यानपालिका—माल अंक ३ पृ २१
—अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करणी ......—अभि० अंक ६ पृ १०२

सर्वस्व था। उसकी सन्तुष्टि के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना उसका ध्येय था[1]। वे सौत लाने के लिए भी तैयार हो जाती थी। पत्नी का पति के सम्मुख अति उच्च स्थान था। गृहिणी पद पर शोभित सभी बातों का उत्तरदायित्व उस पर था। उस उत्तरदायित्व में वह अपने पिता एवं अन्य सम्बन्धियों के बिछुड़ने का दुःख भूल जाया करती थी[2]। पति के लिए पत्नी न केवल गृहिणी ही थी अपितु सचिव भी थी एकान्त-सखी थी ललितकलाओं में शिष्या थी[3]। पत्नी सच्ची सहधर्मचारिणी थी। धार्मिक-क्रियाएँ बिना पत्नी के सम्पन्न नहीं हो सकती थी[4]। पति पत्नी से गृहस्थी के कार्यों में सलाह लिया करते थे। कन्या का सम्बन्ध कहीं स्थिर करते समय पत्नी की सम्मति का बहुत ध्यान रखा जाता था[5]। स्त्रियाँ पति की इच्छा से बाहर कभी काम नहीं किया करती थी[6]।

अतिथि का स्वागत करना प्रधान-कर्तव्य था। कण्व की अनुपस्थिति में अतिथि-सत्कार का सम्पूर्ण भार शकुन्तला पर आ पड़ा था[7]। पार्वती भी शिवजी के ब्रह्मचारी के वेश में आने पर उनका उचित सत्कार करने से पीछे नहीं हटीं[8]। गृहस्थ होने का सच्चा फल अतिथि को प्रसन्न करना था[9]।

---

१ अद्य प्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्र प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य
समागमप्रणयिनी तया सह मया प्रीतिबन्धेन वर्तितव्यम्।
—विक्रम, अंक ३ पृष्ठ ९०२
—अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रं निर्वृतशरीरं कर्तुमिच्छामि।
—विक्रम० अंक ३ पृष्ठ २९

२ अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम
विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥— अभि ४।१९

३ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु ८।६७

४ क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्। —कुमार ६।१३

५ प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः। —कुमार ६।८५

६ भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः। —कुमार ६।८६

७ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय
नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि अंक १ पृ० ६

स्त्री पति की सम्पत्ति थी अतः पति को अपनी पत्नी के सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार के अधिकार प्राप्त थे[1]। स्त्रियों के लिए भी अच्छा यही समझा जाता था कि विवाह होने के पश्चात् पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसके पास दासीवृत्ति में रहे। पिता के घर रहने से कहीं अधिक क्षेमस्कर समझा जाता था[2]।

बाह्यक्षेत्र—गृह के बाहर भी पत्नी पति का साथ दिया करती थी। पति के आमोद-प्रमोद में उद्यान-क्रीडा जल-विहार, उत्सवादि मनाने में वे पति की सहयोगिनी थीं[3]। साधारण घरों की स्त्रियाँ खेत[4] उद्यानादि में भी काम किया करती थीं। पुष्पलावी[5] शब्द उद्यान में काम करने वाली स्त्रियों अर्थात् मालिनों के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है। उद्यान-पालिका शब्द का भी यही आशय है[6]।

राजा के अन्तःपुर में स्त्री परिचारिकाएँ, यवनी आदि का उल्लेख है। इसके

---

१ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।—अभि० ५।२६

२ अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः।—अभि० ५।१७
—अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।
—अभि ५।२७

३ रघु० १६।९८-१६७ जलक्रीडा।
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम्। तत्प्रमदवनमेव गच्छाव।—माल० अंक ३ पृ २९१ उद्यानक्रीडा।
जयतु जयतु भर्ता। देवी विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसंदर्शनेन समारम्भः सफलः क्रियतामिति।—माल० अंक ५, पृ १४२ उत्सव

४ त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं।
किंचित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥—पूर्वमेघ १६
—इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु० ४।२०

५. गंडस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्।—पूर्वमेघ २८

६ तत प्रविशत्युद्यानपालिका—माल० अंक ३ पृ ९६
—अनयोरेवोद्यानपालिकयोस्तिरस्करणी ...—अभि० अंक ६ पृ० १०२

दिन तो किसी तरह उसका व्यतीत हो जाता था परन्तु रात्रि बड़े कष्ट से बीता करती थी। वही रात्रि जो जी भर कर संभोग कर वह क्षण भर के समान बिता देती थी वियोग की चिन्ता में क्षीण सूने पलंग पर एक करवट लेटी गरम-गरम आँसुओं में बिताया करती थी[1]। धरती पर लेटी उनींदी अवस्था में प्रयत्न करती थी कि किसी प्रकार निद्रा आ जाय[2]। अतीत के दिनों की याद करती हुई वह काल्पनिक संभोग के आनन्द का मन-ही-मन रस लिया करती थी[3]। वह निद्रा का आवाहन ही इसलिए किया करती थी कि किसी प्रकार स्वप्न में ही प्रिय से संभोग हो परन्तु अनवरत रोते रहने से उसको निद्रा भी प्राप्त नहीं होती थी[4]।

विरहिणी आभूषण पहनना बिल्कुल छोड़ देती थी[5]। मोतियों की करधनी आदि सब पहनना छोड़ देती थी (मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या—उत्तरमेघ ३८)। अंजन न लगाने से उसकी आँखें रूखी हो जाती थीं मदिरापान न करने से भ्रूविलास संकुचित हो जाता था[6]। जिस दिन पति विदेश जाता था उस दिन जो वेणी बाँधी जाती थी वह प्रिय के आगमन पर ही खुलती थी। स्वयं प्रिय ही उसे खोला करता था। उसमें फूल नहीं गुँथे रहते थे और बहुत दिनों तक बँधे रहने के कारण वह वेणी कठिन रूक्ष और विषम हो जाती थी। इस उलझी और बिखरी वेणी को वह अपने बढ़े हुए नखों वाले हाथों से (विरहा

---

१ आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥—उत्तरमेघ ३१

२ मार्सीदेये मुखयितुमलं पस्य सान्ध्यीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ।—उत्तरमेघ २८

३ मत्संगं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ।—उत्तरमेघ २०

४ मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा

वस्था में नख नहीं काट पाते थे) अपने मुख से बार-बार हटाती थी[१]। वेणी एक ही ओर आती थी। ऐसा आभास होता है कि वह पीठ की ओर न होकर एक कपोल की ओर ही घूमी रहती थी। कवि ने वेणी के बार-बार कपोल पर आने का संकेत किया है[२]। अन्य अलकें केश में तेल न पड़ने के कारण मुख पर बिखरी रहती थीं। शुद्ध स्नान का आशय ही बिना तैलादि लगाए कोरे जल से स्नान करना है[३]। रूखी अलकें पीले कपोल पर फैली रहती थीं और पुष्पों से शून्य होती थीं इसका संकेत रघुवंश में भी है[४]।

विरहावस्था में पूर्वाभ्यास के कारण शीतलतादायिनी वस्तुओं यथा वातायन से प्रविष्ट होती चन्द्रमा की किरणों से विरहिणी अपने तप्त शरीर को शान्त करना चाहती थी पर विरह के कारण वे भी अत्यन्त दुःखी करने वाली हैं ऐसा देखकर आँसुओं से भरी आँखें बन्द कर लेती थी। कवि इस प्रकार की सती की तुलना उस स्थलकमलिनी से देता है जो न खिली ही है और न बन्द ही[५]।

रूपसादृश्य से ही किसी प्रकार मन बहलाया जाता था। यद्यपि पत्नी के पत्र में इसका प्रमाण नहीं मिलता परन्तु मेघदूत में पत्नी का रूपसादृश्य देखकर भी प्रकृति के सौन्दर्य से यक्ष की शान्ति नहीं होती। उसे पत्नी के सौन्दर्य के सम्मुख उसके सादृश्य की सभी वस्तुएँ फीकी लगती हैं[६]। इसी प्रकार अज भी इन्दुमती

---

१ आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्ती
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण॥—उत्तरमेघ ३४

२ भूयो भूय कठिनविषमां सारयन्ती कपोल-
दामोक्तम्यामयमितनखेनैकवेणी करेण।—उत्तरमेघ ३०
—स्पर्शक्लिष्टा........—उत्तरमेघ ३४

३ निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्ती
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।—उत्तरमेघ ३१

४ पश्चादिमिवर्द पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार।—रघु० ६।२१

५ पादानिन्दोरमृतशिशिरान् जालमार्गप्रविष्टा
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं संनिवृत्तं तथैव।
चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्ती
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥—उत्तरमेघ ३२

६ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।

के वियोग में विलाप करते हुए कहता है कि तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने ले ली, मदमस्त गति कलहंसिनियों ने ले ली, तुम्हारी चंचल चितवन हरिणियों को मिल गई, तुम्हारी चंचलता वायु से हिलती लताओं में पहुँच गई। यद्यपि मन बहलाने के लिए तुमने ये गुण यहीं छोड़ दिए, पर मेरे हृदय को किसी प्रकार भी संतोष नहीं मिल रहा है[1]।

संक्षेप में प्रोषितभर्तृका क्रीडा, शरीरसंस्कार, समाजोत्सवदर्शन, हास्य दूसरे के घर गमन आदि छोड़ देती थी[2]। यही उसका आचार था। विरहिणी शकुन्तला का चित्र खींचकर कवि ने विरहिणी स्त्री की मनोदशा और मनोभावों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मलिन वस्त्र व्रतादि के कारण शुष्क मुख और एक वेणी विरहिणी का स्वरूप अंकित कर देते हैं[3]।

विरहपीडिता का सौम्य चित्र शकुन्तला में मिलता है। पति के वियोग में गालों का मुरझा जाना मुँह का सूख जाना स्तनों की कठोरता का विलोप हो जाना देह का पीला पड़ जाना कन्धों का झुक जाना उसके विरहजन्य असह्य दुःख के वाचक हैं[4]। इष्टप्रवासजनित अबला-जनों का दुःख निस्सन्देह दुःसह ही है,[5] परन्तु इस आशा से कि मिलन कभी होगा वे दुःख सहने में समर्थ हो पाती हैं[6]।

विरहरत स्त्री के उपचार के लिए उशीर का अनुलेप मृणाल और नलिनी

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥—उत्तरमेघ ४९
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
१ पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥—रघु० ८।५९,६
क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
२ हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥—मल्लिनाथ टीका रघु० १।२१
३ वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
...र्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥—अभि० ७।२१

धन का प्रयोग किया जाता था[1]। यद्यपि अधिक उद्विग्न होने पर इससे कोई काम नहीं होता था।

गर्भिणी पत्नी—गर्भावस्था में पत्नी पीली पड़ जाती थी। क्षीणता एवं दुर्बलता के कारण वह गहनों का भार सह सकने में असमर्थ हो जाती थी[2]। मुख लोध्र के फूल की तरह पीला पड़ जाता था[3]। उसकी उपमा कवि रात से देते हैं, जिसमें भी फटते समय कुछ तारे अवशिष्ट रह गए हों और चन्द्रमा की शोभा फीकी पड़ गई हो[4]। यद्यपि मुख शरपत्र के समान पीला पड़ जाता था परन्तु नेत्रों में चमक आ जाती थी[5]। आँखों का अलसाया रहना, लवलीदल के समान मुख की पाण्डुता और पयोधर का अग्रभाग पहले से अधिक श्याम पड़ जाना पति को इङ्गित कर देता था कि पत्नी गर्भवती है[6]। पति पत्नी का आदर करता था कि इस समय दोहद[7] की पूर्ति के लिए विशेष प्रयत्नशील रहा करता था[7]।

बहुधा गर्भावस्था में स्त्रियाँ मिट्टी खाने लगती हैं अतः मिट्टी खाने से पत्नी का सोंधा मुख पति के लिए विशेष आह्लादकारी हो जाता था[8]। गर्भ के प्रारंभिक कष्ट-चिह्नों के व्यतीत हो जाने पर पत्नी का सौन्दर्य पूर्ववत् हो जाता था जैसे वसन्त ऋतु में पुराने पत्तों को गिराकर लताएँ नवीन सुशोभित होती हैं[9]। गर्भ के बढ़ने पर उठने-बैठने में कठिनाई का इतना अधिक होना

---

१ कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते।
—अभि० अंक ३ पृ० ४१

२ शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥—रघु० ३।२

३,४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २

५. अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।—रघु० १४।२६

६ आविलपयोधराग्रं लवलीदलपाण्डुराननच्छायम्।—विक्रम० ५।८
—तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।—रघु० १४।२७
—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।—रघु० ३।८

७ अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥—रघु० १४।२६
—उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।—रघु० ३।६

८. तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।—रघु० ३।३

९ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव संनद्धमनोज्ञपल्लवा॥—रघु० ३।७

कि पति के स्वागत के लिए हाथ जोड़ने में थक कर निकलना पति की अति प्रसन्नता प्रदान किया करता[1]। पति पत्नी के सुख का इतना ध्यान रखता था कि वह चतुर चिकित्सकों से किस प्रकार सरलता से प्रसव हो उपाय करवाता रहता था[2]।

विधवाओं की अवस्था—कालिदास ने विधवाओं की अवस्था पर भरपूर प्रकाश नहीं डाला परन्तु नववैधव्यदुःख[3] कितना असह्य होता है इस उक्ति से उनकी दयनीय अवस्था व्यक्त होती है। मांगलिक कार्यों में उनकी उपस्थिति अशुभ समझी जाती थी। अतः विवाहादि अवसरों पर शृंगारादि सधवा स्त्रियाँ ही किया करती थी[4]। राजा-महल की विधवाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। सैनिक उनको लूट के जाते और दूषित कर देते थे।

परन्तु फिर भी सतीप्रथा का अधिक प्रचार न रहने के कारण कवि ने अनेक स्थानों पर विधवाओं का उल्लेख किया है। मालविकाग्निमित्र की परिव्राजिका अभिज्ञानशाकुन्तल में व्यापारी धनमित्र की स्त्री अग्निवर्ण की मृत्यु के पश्चात् उसकी गर्भवती रानी का गद्दी पर बैठना विधवाओं के प्रमाण हैं। पति की मृत्यु होने पर यदि गर्भ है तो गर्भस्थ शिशु ही पिता के धन सम्पत्ति और राज्य उत्तराधिकारी हुआ करता था[5]।

सती-प्रथा—निस्सन्देह सौभाग्यवती स्त्रियों का सम्मान विधवाओं की तुलना में बहुत अधिक था। यदि पत्नी के जीवित रहते हुए पति का देहान्त

नोट दोहद—गर्भ को दोहद कहते हैं। मल्लिनाथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं 'स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी'। तत्सम्बन्धित्वाद्गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते।—टीका रघु ३।१

१ सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥—रघु ३।११

२ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव॥ रघु० ३।१२

३ अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता।
[illegible] नववैधव्यमसह्यवेदनम्॥—कुमार ४।१

हो जाता था तो पत्नी आभूषणों आदि से अलंकृत कर चिता पर रख दी जाती थी[1] परन्तु विधवाओं के प्रसंग और उनकी दयनीय अवस्था से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सतीप्रथा का अधिक प्रचार नहीं था परन्तु आदर्श यही परम्परागत पुराना था। प्रशंसनीय यही मार्ग था। अतः रति कामदेव की मृत्यु के उपरान्त उसके साथ सती हो जाने की कामना करती हुई वसन्त से अपने लिए चिता चुनने का अनुरोध करती है[2]। कवि ने इस मार्ग को स्त्रियों के लिए इतना स्वाभाविक कहा है कि न केवल चेतन अपितु जड़ पदार्थों में भी यही भावना दिखाई देती है। शशि के साथ चाँदनी मेघ के साथ बिजली इसी के प्रमाण हैं[3]।

परदे की प्रथा—कालिदास के समय में परदे का आशय विनयशीलता और उच्च संस्कृति का प्रतीक था। शकुन्तला अपने गुरुजनों के सम्मुख दुष्यन्त के साथ जाने में लज्जा का बोध कर रही थी[4]। दुष्यन्त के सम्मुख राजदरबार में उसका मुख अवगुंठन से ढका था अतः राजा को कौतूहल हुआ था कि यह अवगुंठनवती कौन नारी है[5]। इसी लज्जा को सम्बोधित करते हुए गौतमी ने उससे कहा था कि क्षण-मात्र के लिए अपनी लज्जा त्याग दे मैं तेरा अवगुंठन खोल देती हूँ जिससे तेरा स्वामी तुझे पहचान ले[6]।

यद्यपि स्त्रियों के लिए स्वच्छाचार अच्छा नहीं समझा जाता था परन्तु कहीं भी आने-जाने की उनके लिए रोक-टोक नहीं थी। व बन्धु-बान्धवों के

---

१ अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम्।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे॥—रघु० ८।७१

२ अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ॥
कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य गतस्त्वमावयोः।
कुरु संप्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम्॥—कुमार० ४।३४ ३५

३ शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥—कुमार० ४।३३

४ जिह्रेमि आर्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि० अंक ७ पृ० १३२

५. कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।—अभि ५।१३

६ जाते मुहूर्तं मा लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम्।
ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।—अभि० अंक० ५, पृ० ८८

गृह-उत्सव में सम्मिलित हुआ करती थीं[1] जलविहार, स्नान[2] आदि में भी पति के साथ रहती थीं। खेतों की रखवाली करती गीत गाती थीं[3]।

इन सब बातों की भी सीमा थी। स्त्रियाँ अन्तःपुर में स्वतंत्रता से रहती थीं पर वहाँ पुरुषों का प्रवेश सीमित और मर्यादित था। स्त्रियों के रहने का स्थान पुरुषों के स्थान से पृथक् रहता था। अग्निमित्र मालविका को अन्तःपुर में सरलता से नहीं देख पाया था।

समाज में नारी-स्थिति—भारतीय परम्परा में नारी भोग्यपदार्थ है। स्रक् चन्दन के साथ नारी की गणना भी होती आई है[4]। कालिदास नारी को इन्द्रियार्थ-तृप्तिसाधन मानते हैं[5]। अतः भोग्यवस्तुओं में ही उनकी दृष्टि में नारी का स्थान है।

समाज में स्त्रियों का यथेष्ट आदर था। सुन्दर स्त्रियाँ अपने पति पर प्रभुता रखती थीं[6]। पति के समान ही स्त्रियाँ आदर और सम्मान प्राप्त करती थीं[7]।

---

१ सम्बन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥—कुमार ७।५
—ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥—रघु ७।१७

२ धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।—पूर्वमेघ १७
—कुश की रानियों के साथ जलक्रीड़ा—रघु १६।५६–७०
—मौक्तिकोन्मथितकामिनीस्तनक्षोभकेसरमसारच दीर्घिका ।
मूढमोहनगृहास्तदम्बुभि स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥—रघु १९।९

३ इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ।—रघु ४।२०

४ इन्द्रियार्थास्स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयाः परीय इति किमुत वक्तव्यम् ।
—टीका मल्लिनाथ रघु ७।११

५ निर्विशत्य भानत्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छम् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥—रघु० १४।३५
—आरास्यमानं प्रमदामिषं तदासाद्य पन्थानमजस्य तस्थौ ।—रघु ७।११
—प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु । 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति

शंकर ने अरुन्धती का पुरुष समान ही आदर किया था। पति स्वयं पत्नी का बहुत अधिक आदर करता था[1]। इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप कि तुम ही मेरी एकान्त की सखी, सम्मतिदाता ललितकलाओं की शिष्या भी प्रेम के साथ नारी का भी स्थान व्यक्त कर देता है[2]। मेघदूत में यक्ष के विलाप से भी इसी बात की पुष्टि होती है। राम सीता से कितना स्नेह करते थे यह सीता का परित्याग कर देने पर भी लक्ष्मण के मुख से समस्त वृत्तान्त सुन अश्रु बहाना व्यक्त करता है[3]। सीता के प्रति आदर और स्नेह की पराकाष्ठा यज्ञ में सोने की मूर्ति का रखवा देना है[4]।

परन्तु नारी के विषय में समाज में अपसत्य प्रचलित थे। यद्यपि पत्नी सह धर्मचारिणी धर्मपत्नी सुगृहिणी अनन्य प्रेमिका सती-साध्वी होती थी पर स्त्रियों के विषय में कुछ विशेष प्रकार की उक्तियाँ भी सुनने को मिल जाती हैं, यथा स्त्रियों की सेवा का काम बहुत टेढ़ा है,[5] स्त्रियों का स्वभाव बहुत कठोर होता है,[6] स्त्रियाँ स्वभाव से ही बड़ी चालाक होती हैं[7] स्त्रियाँ जब अधिक कामासक्त हो जाती हैं तब उनको ज्ञान नहीं रहता कि हमको क्या करना चाहिए, क्या नहीं[8]? स्त्रियों की प्रकृति ही कुत्सा की है। शकुन्तला के ऊपर दुष्यन्त ने यथेष्ट कटाक्ष किया है जैसे 'इसे कहते हैं स्त्रियों की प्रत्युत्पन्नमति'[9] अपना काम साधनेवाली स्त्रियों के मीठे फुसलावे में कामी लोग ही आते हैं[10] स्त्रियाँ बिना सिखाए ही बहुत चतुर हो जाती हैं तब जो समझवाली हैं उनका क्या कहना!

---

१ अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।—रघु० १०।५५

२ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु० ८।६७

३ बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।—रघु० १४।८४

४ सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृति सखो यत्क्रतूनाजहार।—रघु० १४।८७

५. सेवाकारा परिणतिरभूत्स्त्रीषु कष्टाधिकार।—विक्रम ३।१

६ कठिना खलु स्त्रियः।—कुमार० ५।५

७ निसर्गनिपुणा स्त्रियः।—माल० अंक १ पृ० २६४

८ बलवत्त्वो हि नारीणामकामज्ञो मनोभवः —रघु० १२।३२

९. इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति यदुच्यते।—अभि० अंक ५ पृ० ९०

१० एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनामनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।
—अभि० अंक ५, पृ० ९१

जब तक कोयल के बच्चे उड़ना नहीं सीखते तब तक वह दूसरे पक्षियों से ही अपने बच्चों का पालन करवाती है, आदि-आदि[1]।

परन्तु यह सब कथामात्र ही है। किसी दुष्ट स्त्री का चरित्र उनके ग्रन्थ में नहीं मिलता अतः अवश्य ही उन्हें समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। पत्नी और पुत्री सबके प्रति ही आदर की भावना थी। पराई स्त्री पर आँख न डालने का आदर्श था[2]। इसके अतिरिक्त स्त्री का आदर बिना किसी भेदभाव के होता था। उदाहरण के लिए शंकर का अरुन्धती के प्रति सद्भाव[3] पार्वती की तपस्या के समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों का उससे मिलने आना[4] मेना का मुनियों द्वारा सम्मान[5] आदि। विदुषी स्त्रियाँ समान आदर की पात्री होती थीं। उनका निर्णय सबको मान्य होता था। कौशिकी का निर्णय सबने ही स्वीकार किया[6]। यद्यपि एक-दो उदाहरण यथा दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति स्त्रियों की स्वाभाविक धृष्टता कहकर आरोप लगाना[7] तथा अग्निमित्र को मालविका से दिल बहलाते देख कर इरावती का रसना से ताड़ित करने का प्रयत्न करना है,[8] तथापि वे अपवाद ही हैं। पति को विश्वासघात करते देख और दासी से दिल बहलाते देख क्रोध का आना स्वाभाविक है पर जैसा बाद में देखा गया पत्नी स्वयं स्वामी को

---

१ स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजातमन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति॥
—अभि० ५।२२

२ अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम् —अभि० अंक ५, पृ० ८५

३ तामगौरवभेदेन मुनीश्चापश्यदीश्वरः।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्॥—कुमार० ६।१२

४ व्रताभिषेकं हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासंगवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥—कुमार० ५।१६

५ मेनां मुनीनामपि माननीयाम् —कुमार० १।१८

६ मध्यस्था भगवती नौ गुणदोषतः परिच्छेत्तुमर्हति।—माल० अंक १ पृ. २७२

७ इदं तावत्पुनरप्यमति स्त्रीत्वमिति मनुष्यन्ते।—अभि० अंक ५, पृष्ठ ९०

[illegible] विषयिण।

दूसरा विवाह करने की अनुमति दे देती है। धारिणी का पुत्र इतना बड़ा है कि युद्ध करने जाता है, विजयी होता है। अवश्य ही अग्निमित्र अवस्था में काफी बड़े होंगे और मालविका उनके सम्मुख बालिका ही होगी पर फिर भी पति की अनुरक्ति देखकर धारिणी मालविका के साथ अग्निमित्र का विवाह कर देती है। इरावती भी इसका समर्थन करती है[1]। अतः इरावती की ताड़ना कोमल ही थी।

नारी-जीवन पर सांगोपांग दृष्टि—नारी के तीन रूप हैं पुत्री पत्नी तथा माता। कहना असंगत न होगा कि कालिदास ने तीनों ही रूपों को अपनाया तथा सम्यक् दृष्टि डाली।

कन्या-रूप—पुत्र की तरह ही कन्या का परिवार में मान था। सुपुत्री से पिता धन्य हो जाता था[2]। उसके जन्म के समय भी पुत्रोत्पत्ति की तरह ही आनन्द मनाया जाता था। पुत्र के समान ही कन्या भी माँ-बाप का स्नेह पाती थी[3]। पार्वती माता-पिता दोनों की ही दुलारी थी। कन्या ही परिवार का जीवन और आनन्द थी (कन्येयं कुलजीवितम्—कुमार० ६।६३)। बाल्यावस्था में अपनी सखियों के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करतीं कभी गेंद खेलतीं[4] कभी बालू तट पर वेदी बनातीं[5] कभी गुड़िया सजतीं[6] और कभी बालू का घर बनाना आदि खेला करती थी[7]।

शिक्षा—पुत्र की तरह ही कन्या को भी शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के अतिरिक्त उनको ललितकलाओं की शिक्षा दी जाती थी। शकुन्तला कविता करना जानती थी इसका दृष्टान्त उसका पत्र-लेखन है[8]। प्रसाधनकला अनसूया

---

१ इरावती पुनर्विज्ञापयति—भर्तृदेवता प्रमादवत्या ।
तद् वचनं सत्यमिदं न व्यपदेशेऽन्यथावगतु इति ।—माल० अंक ५, पृष्ठ १६५

२ प्रभा महत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥—कुमार० १।२८

३ महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।—कुमार० १।२८

४ मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥—कुमार १।२९

५,६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४

७ तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु मया सिकताकल्पितैर्वेदीभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोत्पलवती नाम तेन राजर्षिणा निष्कासितेति श्रुता वयम् ।
—विक्रम० अंक ४ पृ० २११

८ तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रिमपि ।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥—अभि०, ३।१४

और मिश्रकेशी दोनों जानती थीं[1]। मालविका नृत्य-संगीत-विशारदा थी। परिव्राजिका न केवल संगीतकला की मर्मज्ञा थी अपितु वैद्यकशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान रखती थी[2]। यक्ष-पत्नी का पति-वियोग में चित्र बनाना[3] वीणा पर गाते-गाते मूर्च्छना आदि भूल जाना[4] उसके ललितकला-सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है।

कर्तव्य—शकुन्तला का नित्यप्रति वृक्ष सींचना[5] पार्वती का पूजा के निमित्त पुष्प चुनना वेदी को धोना पोंछना नित्यकर्म के लिए जल और कुश लाना[6] व्यक्त करता है कि लड़कियों को प्रत्येक प्रकार का काम सिखाया जाता था। अतिथि-सत्कार उनका सबसे बड़ा कर्तव्य था। शकुन्तला की सखियों का दुष्यन्त का सत्कार शिष्ट मानव उनकी उच्च शिक्षा और संस्कृति की अभिव्यक्ति है। कण्व ने शकुन्तला पर अतिथि-सत्कार का भार छोड़ा था[7]। पार्वती का ब्रह्मचारी वेश में आए शिव का सत्कार भी अतिथि-सेवा के कर्तव्य को व्यक्त करता है[8]। राजा हिमालय ने अपनी पत्नी और कन्या को सप्तर्षियों के आगमन पर अतिथि-सत्कार के लिए अर्पित किया था[9]।

---

१ अपि अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः।
चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः।—अभि० अंक ४ पृ० ६७

२ छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥—माल० ४।४

३ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।—उत्तरमेघ २५

४ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ २६

५ त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षका प्रियतरा इति तर्कयामि येन
— — त्वमप्येतेषां आलवालपूरणे नियुक्ता।—अभि०

— [illegible]

शिक्षा का आदर्श—शिक्षा का आदर्श बालिकाओं को योग्य गृहिणी और माता बनाना था। कण्व का उपदेश इसका साक्षी है[1]। उमा की शिक्षा के विषय में बताता हुआ कवि विभिन्न शास्त्रों के विषय में बताता है जो उसे गत जीवन में स्वतः प्राप्त हो गए थे[2]। शकुन्तला की शिक्षा उसकी उच्च संस्कृति थी। उसका शिष्टाचार, संयम सहनशीलता दुःख के कारण उद्वेलित न होना आदि उसकी वास्तविक शिक्षा के प्रतीक हैं। शकुन्तला का वृक्ष स्नेह[3] और हरिणों से प्रेम[4] उसके हृदय की विशालता को अभिव्यक्त करता है। कवि 'निसर्गनिपुणा स्त्रियः'[5] कह कर ही उनकी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की प्रशंसा कर देता है।

सेवा—समृद्ध घरों की कन्याएँ गृह में ही रहती थीं पर सामान्य वर्ग या छोटी जातियों की कन्याएँ खेतों में काम करतीं[1] राजाओं और समृद्ध व्यक्तियों के घरों में काम करती थीं। प्रायः रानी की परिचारिकाएँ कुमारी ही होती थीं[6]। मालविकाग्निमित्र में उपवन पालिका[7] सौरमाधरक्षिका[8] तथा अन्य परिचारिकाओं मालिकाओं बकुलावलिका यवनी आदि का प्रसंग है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीय में भी यवनी और अन्य परिचारिकाओं का उल्लेख है। प्रायः इन नौकरानियों का चरित्र दूषित हो गया था क्योंकि राजा इनसे अपनी कामुकवृत्ति की शान्ति कर लिया करते थे[9]।

---

१ शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥—अभि० ४।१८

२. स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः।—कुमार० १।३०

३ न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु।
—अभि० अंक १ पृ० १२

४ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते॥
—अभि० ४।१४

५ माल० अंक ३ पृष्ठ २६४

६ इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु, ४।२०

७ बालिका आयपुत्रवचनमनुतिष्ठ—माल० अंक ४ पृष्ठ ३२१

८. तत्र प्रविश्य उद्यानपालिका।—माल० अंक ३ पृ २९०

९. समाहरमाधवृक्षव्यापारिता माधविका देव्या संदिष्टा।—माल० अंक ४ पृ० ३१९

१० वसुमपुष्पशयनान्यत्रमूल्यापराण्यरतिवचनाध्वान्तरागः।
बन्धकूतपरिवर्तनारतं साक्षरोवमपवारपूरतम्॥—रघु० १९।२३

कुमारी-जीवन के आदर्श—भारतीय बालक नारी का चित्रण वाल्मीकि के अतिरिक्त किसी कवि ने पूर्णरूप से नहीं किया। कुमारसम्भव की उमा आदर्श बालिका है। लड़कों की बाल्यावस्था से उसका कहीं अधिक मनोहारी रूप दर्शाया गया है। जहाँ वह उसकी बालक्रीड़ाओं का उल्लेख करता है वहाँ उसके नित्य प्रति उपचीयमान सौन्दर्य और छवि का वर्णन साहित्य की अभिनव वस्तु है। अतः हिन्दू बालिकाओं के जन्म से घृणा करते हैं यह इसके वचन से असत्य सिद्ध होता है। लड़कों का महत्त्व आध्यात्मिक आश्रम के कारण है। प्रेम की सुकुमारता और मुग्धता पुत्री के जन्म से ही पूर्ण होती है पुत्री ही पिता में कोमल अनुभूति उत्पन्न करती है क्योंकि वह कुछ समय के लिए ही परिवार को आनन्द दे पाती है। वसन्त की भावमयता वहाँ उसके उच्च नाद से टकराई वह दूसरे गृह की ही सुषमा बन जाती है। जब कण्व जैसे वनवासी और विरागी मनुष्य भी शकुन्तला को विदा करते समय 'आज शकुन्तला चली जाएगी' सोचकर और दुःखभरे अश्रुओं से इतने व्यथित हो रहे थे तब उन गृहस्थों का कितना कष्ट होगा जो पहले-पहल अपनी कन्याओं को विदा करते होंगे[1]। इसका अनुमान पाठकों को दुःख में डुबा देता है। कन्या दूसरे का धन है, अतः पति के गृह में भेजकर पिता के हार्दिक सन्तुष्टि होती है[2]। कन्या के सम्बन्ध में इन विचारों ने पिता और पुत्री के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रेम के मिश्र सुकुमार, कोमल उच्च तथा भावुकतर रूप की सृष्टि की अवश्य ही यह कालिदास का आदर्श था।

युवती : पत्नीरूप

कर्तव्य और आदर्श—समाज में युवती नारी का स्नेहमय सम्मान था। मुग्धत्व और यौवन के बीच की अवस्था अत्यन्त स्पृहणीय थी[3]। यह सौन्दर्य

---

१ यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥—अभि० ४।६

२ अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः।

पुरुष के लिए सबसे अधिक आकर्षक वस्तु थी। उनके विभ्रम और प्रणय चेष्टाओं से सारा समाज मुखरित था। यौवन बीतने पर लौट कर नहीं आता अतः इसका उपभोग करना ही वांछनीय है[१] ऐसा ही युवतियों के सम्मुख आदर्श था। जो अपने यौवन का उपभोग नहीं करती थी, उन्हें 'रत्न भरी मंजूषा' की संज्ञा दी जाती थी। जैसे 'रत्न भरी पिटारी' रत्न होते भी उनका भोग नहीं करती वैसे ही बिना भोग किया हुआ यौवन भी व्यर्थ है[२]। सुन्दरी स्त्री सुन्दर गुणों से युक्त भी समझी जाती थी[३]।

पत्नी धर्म-पत्नी थी[४]। पति के मनोनुकूल आचरण करना उसका सबसे बड़ा धर्म था। स्वेच्छाचारिता उसके लिए अच्छी नहीं समझी जाती थी[५]। के प्रत्येक काम में सहायता देना[६] गुरुजनों की परिचर्या करना गृह-संचालन करना उसका परम कर्तव्य था[७]। पति ही उसका सर्वस्व था। उसके घर में दास्यवृत्ति भी पिता के घर रहने से कहीं श्रेयस्कर थी[८]। पति का पत्नी पर पूर्ण अधिकार था[९] पर पत्नी अपने अनन्य प्रेम से उसको जीत लेती थी। पति के लिए ही उसका समस्त शृंगार था[१०]। पति के अबाध प्रेम को प्राप्त करना ही उसका चरम लक्ष्य था[११]। पति के प्रेम को प्राप्त करने के लिए वे

---

१ त्यजतमानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः।—रघु० ९।४७

२ सुवेशाली मंजूषेव रत्नभांडं यौवनमपि वहसि।—माल० अंक ४ पृ० १२५

३ यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥
—कुमार—०, ५।३६

४ क्रियेत धर्मो ननु धर्मचर्यो कार्यो त्वया मुक्तविचारयेति।—कुमार० ७।८३
—किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः।—कुमार० ८।११

५. किं पुरोभागे स्वातंत्र्यमवलम्बसे ?—अभि० अंक ५ पृ० ९४

६ मर्वास्वव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः।—कुमार० ६।८६

७ शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
पत्युर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥—अभि० ४।१८

८ पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।—अभि० ५।२९

९ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।—अभि० ५।२६

१० स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः।—कुमार० ७।२२
—प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।—कुमार०, ५।१

११ अवाप्तव्यं प्रेम समस्तं पत्युः—कुमार० ७।२८

सब कुछ त्याग करने को प्रस्तुत हो जाती थीं यहाँ तक कि सौत बनने को भी तैयार हो जाती थीं[1]। वे सती-साध्वी और सच्चरित्रा होती थीं। पति उनके लिए देवता थे[2]। उनके पाप पर ध्यान न देती हुई वे अपने को ही अपराधिनी समझ अपने भाग्य की निन्दा किया करती थीं। सीता ने राम द्वारा परित्यक्त होने पर राम की निन्दा न करते हुए अपने भाग्य को ही कोसा[3]। व दूसरे जन्म में भी उसी पति को पतिरूप में प्राप्त करना चाहती थीं[4]। पति का अनादर उनको असह्य था। उनके पातिव्रत का यही सच्चा आदर्श था। सती ने पिता द्वारा पति के लिए अपमानसूचक शब्दों को सुन योग से अपना शरीर छोड़ दिया[5]।

पति की प्रसन्नता और सन्तोष उनके जीवन का सच्चा सुख था। अपना अहंकार और सर्वस्व छोड़कर प्रिय जिसे प्यार करे उसे प्यार करने को प्रस्तुत हो जाना उनके त्याग की पराकाष्ठा थी[6]। यह सब सैद्धान्तिक नहीं अपितु व्यावहारिक था। वे सपत्नियों के साथ स्नेहपूर्ण और आदरपूर्ण व्यवहार करती थीं इसके दृष्टान्त मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में हैं[7]। सपत्नी के

---

१ प्रतिपक्षेणापि पतिं सेवन्ते भर्तृवत्सलाः साध्व्यः
अन्यसरितामपि जलं समुद्रगाः प्रापयन्त्युदधिम्। माल० ५।१९

२ तमलभन्त पतिं पतिदेवताः।—रघु० ९।१७

३ न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि।
आत्मानमेवास्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द।।—रघु० १४।५७

४ साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।।—रघु० १४।६६

५. यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज।
तदाप्रभृत्येव विमुक्तसंगः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्।—कुमार० १।५३
—अथावमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे।।—कुमार० १।२१

६ अद्यप्रभृति यां स्त्रियमार्यपुत्रः प्रार्थयते या चार्यपुत्रस्य समागमप्रणयिनी तया

आदर के कारण ही उर्वशी अपने पुत्र से बड़ी माँ को प्रणाम करने को कहती है[1]। पति के लिए प्रियानुप्रसादन व्रत भी किया करती थी[2]। स्त्रियाँ अपने पति के मार्ग का अनुसरण करती हैं यह केवल में नहीं अपितु जड़ पदार्थों में भी है[3] इससे उनके प्रेम की गहराई व्यक्त होती है। अतः पति के घर जाती शकुन्तला को तापस स्त्रियाँ यही आशीर्वाद देती हैं कि वह पति के सम्मान और स्नेह की प्राप्ति में सफल हो[4]। उर्वशी को भी यही आशीर्वाद मिलता है[5]।

कवि के मतानुसार नारी का आदर्श पत्नीत्व और मातृत्व है, अतः पति और पुत्रवती स्त्रियों का बहुत सम्मान होता था। सुयोग्य पति को दी गई कन्या दूसरे गृह को भी ज्योति बन जाती है साथ ही अपने पूर्व गृह को भी आलोकित करती है[6]। स्त्री और पुरुष दोनों ही समान हैं। समाज के सम्मान में यह स्त्री है, अतः इसका सम्मान न किया जाय ऐसा नहीं होता था। शकुन्तला को आश्रमवासी का उतना ही सम्मान दिया था जितना उनके स्थान पर कोई पुरुष होता तो उसे देते[7]। पार्वती का सम्मान सभी मुनिगण करते थे यद्यपि वह अवस्था में बहुत छोटी थी[8]। मेना योगियों तपस्वियों आदि के द्वारा भी पूजी जाती थी[9]। पूजा और आदर चरित्र के कारण होता है, जाति के कारण नहीं[10]।

विवाहादि मामलों में पत्नी की सलाह लेना[11] स्त्री को गृहिणी सचिव

---

१ ज्येष्ठमातरमभिवन्दस्व।—विक्रम० अंक ५ पृ० २५९

२ किं नामधेयमस्यैतद्व्रतम्? मम प्रियानुप्रसादनं नाम।
—विक्रम० अंक ३ पृ० २०४

३ शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि।—कुमार०, ४।३३

४ भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।—अभि० अंक ४ पृ० ६६

५ विक्रम० अंक ५ पृ० २४२

६ प्रयोज्या हि पितुः कन्या सद्भर्त्रे प्रतिपादिता।—कुमार० ६।७९

७ स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्।—कुमार० ६।१२

८ तदासिषेवे कुलमातवेदर्भ त्वमुखरममतनीमवीतितीम्।
न्यिबसतामुपयोन्मुरागमन्म चमहुकतु यम समीर्य्यते।।—कुमार० ५।१६

९ न मानसी मन्मन पितृणां कन्या कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञा।
मेना मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे।।—कुमार० १।१८

१० देखिए, पादटिप्पणी नं० ७

११ शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।।—कुमार०, ६।८५

१

सखी प्रियशिष्या कहना¹ उसके प्रति पति के सम्मान को व्यक्त करता है यही नहीं धार्मिक अनुष्ठानों का उसके बिना न होना² दूसरा विवाह करने के पूर्व ज्येष्ठा पत्नी से याचना करना उसकी अनुमति पर ही विवाह करना³ (Kalidas his genius ideas & influence by Ram Swami Shastri Page 222) इसका पुष्ट प्रमाण है।

यह कहना कि उस समय नारी का कोई व्यक्तित्व नहीं था उसका यही काम था कि वह जैसा पति कहे करती जाय ठीक नहीं। कालिदास ने कहा है कि स्त्रियों का अधिकार है कि वे आवश्यकता समझें तो पति को किसी बात से रोकें⁴। स्त्रियाँ किसी कारण से ही पति पर क्रोध करती हैं⁵। यह उनके अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की पुष्टि करता है परन्तु अहंकार का समावेश किसी अवस्था में न होना चाहिए⁶। शकुन्तला को पिता का यही सबसे बड़ा उपदेश है कि अहंकार न करना⁷।

स्त्रियाँ पति के अतिरिक्त अपनी सास के प्रति भी विनयशील थी। सासें भी बहुओं से प्रेम करती थीं⁸। पत्नी की स्नेहशीलता और विनय प्रशंसनीय थी।

---

१ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु० ८।६७
२ क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्।—कुमार ६।१४
३ धारिणी (मालविका हस्ते गृहीत्वा) इदमायपुत्र प्रियनिवेदनानुरूपं पारितोषिकं प्रतीच्छ। ... मालविकामवगुणवती कृत्वा आर्यपुत्र इदानीमिमां प्रतीच्छतु। प्रतीच्छत्विति। राजा—स्वच्छसमालम्बुता एव वयम्।—माल० अंक ५, पृ० १२८-१२९
राजा की मालविका के प्रति अनुरक्ति देखकर देवी कहती हैं—यदि
४ राजकार्येषु ईदृशमुपायनिपुणतार्यपुत्रस्य तत् शोभनं भवेत्।
—माल० अंक १ पृ० २०९
५ अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः॥—माल० ३।१८
... एवागर्न धाममपि कोपपात्रताम्।—माल० ५।१९
... ५।१८

वे स्वाभाविक लज्जा से ओतप्रोत होती थीं। गुरुजनों के सम्मुख पति के साथ जाने में संकुचित होती थीं[1]। पति को वे आर्यपुत्र कह कर सम्बोधित करती थीं।

मनोरञ्जन के साधन—मनोरञ्जन के लिए वे उपवन में विहार करतीं[2] झूला झूलतीं[3] जल-क्रीडा करतीं[4] वीणा पर गीत गातीं[5] चित्र बनातीं[6] कथा सुनातीं[7] तथा नदी किनारे बालू में टीले बनाकर खेल खेला करतीं[8]। मदिरा-पान भी कभी-कभी करती थीं[9]।

मातृ-रूप—पति के वंश को चलाने के लिए पत्नी ही एकमात्र कारण थी। और पति के समान स्त्रियाँ और पुत्र की माता बनने को भी लालायित रहती

---

१ जिह्रेम्यार्यपुत्रेण सह गुरुसमीपं गन्तुम्।—अभि० अंक ७ पृ १४१

२ राजा के प्रेम में संतप्त मालविका मन बहलाने के लिए उपवन में आती है। वहाँ अपने मन में छिपे प्रेम को अस्फुट शब्दों में व्यक्त कर मन को हल्का करती है। प्रमदवन का उद्देश्य उपवन-विहार ही था। प्रमदवन सभी नाटकों में आया है।

३ नववसंतावतारव्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—
इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति।
—माल० अंक ३ पृ० २६१
—मालविके गौतमचापलाद्दोलापरिभ्रष्टाया सख्यौ मम चरणौ।
—माल० अंक ३ पृ० २६९

४ कुश की रानियों के साथ जलक्रीडा—रघु १६।५६-७०

५ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।—उत्तरमेघ २६

६ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।—उत्तरमेघ २५

७ भगवति! रमणीयं कथावस्तु। ततस्ततः। प्रवात शयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन भगवत्या कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।—माल० अंक ४ पृ० ३१७

८ तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु सिकतापर्वतकेलिभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिकोदयवती नाम तेन राजर्षिणा निध्यातेति कुपिता उर्वशी।
—विक्रम० अंक ४ पृ० २११

९ चटि निपुणिके शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनमिति।
(अवस्थासदृशं परिक्रम्य) चटि मदेन वर्धमानमात्मानमार्यपुत्रस्य दर्शने हृदयं त्वरयति चरणौ पुनर्न मम प्रसरतः।—माल० अंक ३ पृ० ३०१

नोट यथास्थान इनका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

थी। अतः पुत्रवती होने का ही उनको आशीर्वाद दिया जाता था[१]। वीर पुत्र की माँ जननी में वे गौरव अनुभव करती थीं। मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र की विजय पर परिव्राजिका धारिणी को बधाई देती है तब धारिणी यही कहती है कि मुझे यही सुख है कि मेरा पुत्र पिता के समान पराक्रमी निकला[२]। माँ अपने पुत्र की विजय के लिए व्रत रहती थी दक्षिणादि देती थी[३]। कौसल्यादि अपने पुत्रों की चोट देखकर इतनी कातर हो गईं कि उनको माँ कहलाना अच्छा नहीं लगा। यह उनके पुत्र-प्रेम की पराकाष्ठा है[४]। पुत्र-प्रेम से उनके स्तनों से दूध की धार टपक-टपक कर चोली को भिगो देती थी[५]।

मातृ-रूप का समाज में यथेष्ट सम्मान था। पति पत्नी के दोहद की पूर्ति प्राण-पण से करता था[६]। सन्तान के प्रति ममता किस प्रकार की होती है

---

१ वत्से। वीर प्रसविनी भव।—अभि० अंक० ४ पृ० ६५
—कस्यापि वीरप्रसवा भव।—कुमार० ७।८७
—तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच॥—रघु० १४।७१

२ अवेहि-वीरपत्नीनां श्लाघ्यानां स्थापिता धुरि।
वीरसूरिति शब्दोऽयं तनयात्त्वामुपस्थितः॥—माल० ५।१६
—भगवति! परितुष्टास्मि यत्पितरमनुयातो मे वत्सकः।
—माल० अंक ५ पृ १२१

३ अत प्रभृति सेनापतियज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो मम दारको वसुमित्रस्तत्र प्रभृति तस्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणा देवी दक्षिणार्थं परिग्राहयति।
—माल० अंक ५ पृ ११८
—देव्याज्ञापयति स्वामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति।
तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावितव्येति।—अभि० अंक २ पृ १८

४ ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥—रघु० १४।४

५ इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकनतत्परा।
स्नेहप्रस्रवनिर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्॥—विक्रम० अंक ५, १२

६ न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।

इनको सिंचाने के लिए घड़ों से पौधों को सींचना सिखाया जाता था। सीता से वाल्मीकि ने इसी कारण पेड़ सींचने को कहा था[1]। पार्वती को भी स्तनों के समान घड़ों से सींचे गए पौधों के प्रति इतना अनुराग हो गया था कि बाद में कार्तिकेय के जन्म उपरान्त भी इन पौधों पर वात्सल्य कम नहीं हुआ[2]।

---

१ पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्ते स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ —रघु० १४।७८

२ अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥—कुमार०, ५।१४

सातवाँ अध्याय

खान - पान

भोज्य पदार्थों के प्रकार—खान-पान के सम्बन्ध में कालिदास की कृतियों में पर्याप्त चर्चा नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन दिनों की सभ्यता के अनुसार खान-पान की चर्चा काव्य में करना ग्राम्य माना जाता था। वैसे ही नाटकों में भोजनादि को रंगमञ्च पर दिखाने का निषेध था। अतः सामाजिक मनोरञ्जन के लिए ही विदूषक के पेटू होने की अभिव्यक्ति है।

पाणिनि के समय में भोज्य और भक्ष्य में भेद माना जाता था परन्तु पतञ्जलि (२१० ई० पू०) के समय में यह भेद टूट चला था। जैसा कि महाभाष्य के निम्न अवतरण से ज्ञात पड़ता है—

'भक्षिरयं खरविशदे एव वर्तते तेन द्रवे न प्राप्नोति। नावश्यं भक्षिः खरविशदे एव वर्तते। किं तर्हि। अन्यत्रापि वर्तते। तद्यथा वायुभक्षः। —महाभाष्य ७।१।११

अर्थात् यह कहना कि भक्ष धातु का प्रयोग जो खर विशद हो उसी के साथ होता है, जो द्रव या पेय हो उनके साथ नहीं ठीक नहीं है; क्योंकि जो खर विशद नहीं है, उसके लिए भी भक्ष धातु का प्रयोग होता है जैसे अब्-भक्षण वायु भक्षण। आज भी बंगाली जल खाओ' कहते हैं।

कालिदास के पक्ष में कोई बात निश्चय कर नहीं कही जा सकती।

वात्स्यायन ने सम्पूर्ण खान-पान को एक पंक्ति के द्वारा अभ्यवहारस्य पञ्चविधित्वं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपानीयभेदेन' पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है। कालिदास भी वात्स्यायन के ही पक्षपाती हैं। उन्होंने स्वयं 'पञ्चविधस्याभ्यवहारस्य' पद इसी कारण प्रयुक्त किया है। इस दृष्टिकोण से सम्पूर्ण खाद्य पदार्थ पाँच वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। भक्ष्य वर्ग में व पदार्थ आते हैं जिनको काटकर

मधु आदि चाटकर खानेवाले पदार्थ आते हैं, चोष्य में गन्ना आदि चूस कर खाने वाली वस्तुएँ और पानीय में पेय-पदार्थ।

कालिदास ने यद्यपि प्रत्येक खाद्य पेय छोटी-छोटी वस्तुओं का वर्णन नहीं किया तथापि जौ चावल तिल आदि अनाज, दूध दही मक्खन मधु गुड़ तथा मोदक मत्स्यण्डिका आदि मिठाइयों का परिचय दिया है। 'रसोईघर में पाँच प्रकार के पकवानों को देखने-भर से हमारी उदासी दूर हो जायेगी'[1]— विदूषक के इस कथन से आभास होता है कि कालिदास के समय में मनुष्य खाने-पीने के शौकीन थे। कालिदास ने अपने समस्त नाटकों में विदूषक को खाने की वस्तुओं से रुचि रखने वाला दिखाया है, यह केवल नितान्त हास्य के निमित्त नहीं अपितु तत्कालीन जनसाधारण की रुचि-प्रदर्शन के हेतु ही किया। विदूषक एक स्थान पर कहता है कि मेरा पेट हलवाई की कड़ाई की भाँति जला जा रहा है[2]। इस उपमा से यह कहा जा सकता है कि तरह-तरह की मिठाइयाँ, पकवान आदि हलवाई की दूकान पर निरन्तर बनते रहते होंगे तभी उसकी कड़ाई सदा जलती रह सकती है।

निरामिष तथा सामिष दोनों प्रकार के भोजनों का प्रचलन था। उस समय के ब्राह्मण तक मांसाहारी थे अतः मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था। इस पर यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा।

सुविधा के लिए समस्त खाद्य-पदार्थों को अनाज, दूध तथा दही, मधु आदि नाना मिष्ठान्न, शाक फल, इलायची, काली मिर्च, लौंग, नमक आदि मसाले, पान सुपारी आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अनाज—मुख्य रूप से कालिदास जौ, चावल और तिल तीन ही अनाजों का नाम लेते हैं। मुख्य अनाज, गेहूँ तक का कहीं संकेत नहीं है। सम्भव है उनके वर्णित प्रदेशों और स्थानों में गेहूँ की उत्पत्ति नहीं होती हो, इसी कारण कहीं प्रसंग नहीं आ पाया।

यव—यव का कवि ने अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर इसका प्रयोग बहुधा किया जाता था। कानों में लटकते जौ के अंकुर न केवल विवाह की शोभा थे[3] अपितु समस्त ऋतु में

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १

२. एष विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।—माल० अंक २ पृ० २८१

३ तस्याः कपोले परभागलाभाद् बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः।—कुमार० ७।१७
—वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद्बभूव॥—कुमार० ७।८२
—तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम्।—रघु० ७।२७

विलासी पुरुषों के आकर्षण-केन्द्र भी थे[1]। राज्याभिषेक के समय बड़ की छाल और दूर्वादल के साथ यवांकुर भी आरती उतारने के लिए शुभ समझे जाते थे[2]।

चावल—चावलों के कई प्रकारों का कवि ने वर्णन किया है। जिनमें—शालि, नीवार, कलम और श्यामाक मुख्य हैं।

(१) शालि[3]—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यह एक प्रकार का चावल है, जो जाड़ों में पैदा हुआ करता है और जिसे जड़हन भी कहते हैं[4]।

(२) नीवार[5]—यह भी चावल का एक प्रकार है परन्तु निकृष्ट श्रेणी में आता है। यह जंगलों में अधिक पैदा होता था। अतः तपोवन-वर्णन में ही इसका प्रसंग अधिकता से देखा जाता है[6]।

(३) कलम[7]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह शालि का ही प्रकार-विशेष है[8]।

---

१ श्रवणरागनिवेशिभिरंशुकैः मदनकम्पतरैश्च यवांकुरैः।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः॥—रघु० ९।४१

२ दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तराम्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधिम्॥—रघु० १७।१२

३ सम्पूर्ण ऋतुसंहार में इसके अनेक उदाहरण हैं ३।१ १० १६ ४।१ ८ १८, ५।१ १६

—वनान्तवप्रालोकपरात्मविसंस्तुतमुप।
तस्मुस्तेऽभ्रान्तमुखा सर्वे फलिता इव शालयः॥—रघु० १४।७८

—यमयाक्लिष्टधर्मिणस्तस्य मूर्ध्नि विपेचिरे।—रघु० १७।५३

४ A kind of rice growing in winter which is replanted and called Jadahan.

—*India as known to Panini*, Page 102–103

५ नीवार षष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति।—अभि० अंक २ पृ० १५

—प्रतिष्ठितनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिका-
भिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति।—अभि० अंक ४ पृ० ६५

६ शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥—अभि० ४।२१

—अपरैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः —रघु० १।५०

(४) श्यामाक[1]—टीकाकार राघव भट्ट इसको 'धान्यविशेष' कहते हैं[2]।

तिल—यव तथा धान्य के अतिरिक्त अनाजों में तिल का नाम भी कवि लेता है। मृत्यु होने पर तिल की जलाञ्जलि देने की प्रथा थी[3]।

लाज—विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर लाजाञ्जलि और लाजाहोम किया जाता था[4]। लाज को साधारण भाषा में मांगलिक 'खील' कहते हैं। राजा के सत्कार के उपलक्ष में पौर कन्याएँ उन पर खीलें बरसाती थीं[5]।

दाल—पाणिनि का समय ईसापूर्व ५वीं शताब्दी माना जाता है। कम-से-कम वे कालिदास के पूर्ववर्ती अवश्य हुए। पाणिनि मुद्ग और माष दो दालों का प्रयोग करते हैं[6]। यद्यपि कालिदास के ग्रन्थों में किसी दाल का संकेत और प्रसंग नहीं है परन्तु उनके समय में इनका प्रयोग अवश्य होता होगा।

दूध तथा इससे परिवर्तित आकृति

कालिदास के समय में दूध दही और मक्खन का प्रचार बहुतायत से था। उस समय गौ की पूजा हो इसी कारण की जाती थी कि इससे दूध दही मक्खन आदि की प्राप्ति हुआ करती है। दिलीप और सुदक्षिणा को नन्दिनी की सेवा करनी पड़ी थी क्योंकि पूर्वजन्म में दिलीप ने कामधेनु को प्रणाम नहीं किया था।

इस वर्ग में कवि के वर्णित प्रसंगों में सबसे पहले हम दूध[7] का नाम ले

१ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥
—अभि० ४।१४

२ श्यामाको धान्यविशेषः।

३ अन्यथा कथं मिश्रं मे तिलोदकम् —अभि० अंक ६ पृ० ४६

४ चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु० ७।२५
—केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद।—कुमार० ७।६९
—स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम्।—कुमार० ७।८०

५ अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।—रघु० २।१०
—विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्।—रघु० १४।१०

६ India as known to Panini by Sri V. S. Agrawala Page 104 मुद्ग (Mudga) (IV 4 25) Masha (V 1.7, V 2 4)

७ दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्।—रघु० २।२३
—भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥—रघु २।६३

सकते हैं। दूध के साथ इसकी निर्मित वस्तुओं में रघुवंश में क्षीर[1] का प्रसंग है। मक्खन के लिए कवि नवनीत[2] और हैयंगवीन[3] शब्द का प्रयोग करता है। दही[4] भी उस समय मनुष्य शौक से खाते थे। दही से शिखरिणी खाद्य-पदार्थ बनाया जाता था।

मधु तथा मिष्ठान्न—मधु का प्रयोग मधुपर्क में किया जाता था। वैवाहिक अवसरों अथवा किसी अतिथि के आ जाने पर उसके स्वागत के उपलक्ष में अर्घ्य अथवा मधुपर्क भेंट में दिया जाता था। मधुपर्क में मधु चावल और दूर्वा रहते थे।

गन्ने का प्रसंग ग्रन्थों में बहुधा मिलता है। इससे शक्कर अथवा गुड़ की उत्पत्ति होती होगी। गुड़-विकार को टीकाकार मतिराम खण्ड शर्करादि कहता है। गुड़-विकार गुड़ की बनी कोई वस्तु होगी। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में मत्स्यण्डिका[5] शब्द का प्रयोग हुआ है। मत्स्यण्डिका को टीकाकार शर्कराविशेष कहता है। आकार में नाम से ऐसा आभासित होता है कि मछली के आकार की होगी।

मिष्ठान्न में कवि मोदक का नाम बहुधा लेता है। चावल अथवा गेहूँ के आटे में शक्कर मिला कर घी में भून कर गोल-गोल लड्डू बना लिए जाते होंगे। कवि इसको स्वयं एक स्थान पर चन्द्रमा की तरह गोल वर्णित करता है[6]।

मांस तथा मछली—कालिदास के समय मनुष्य मांसाहारी होते थे। अथवा यह कहना चाहिए कि उस समय मांस खाना बुरा नहीं समझा जाता था।

—यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः॥ —अभि० ६।२८

१ हैमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानं पयश्चरुम् —रघु० १।५१
मल्लिनाथ के अनुसार—पयश्चरुं पायसान्नं 'अवमावितोऽन्तरुष्मपाक ओदनश्चरुः इति याज्ञिका'। स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम्।
—रघु० १०।५४

२ अहो नवनीतकल्पहृदय आर्यपुत्र।—माल० अंक ३ पृ १०६

विदूषक को हरिणी का मांस अच्छा लगना[1] प्रमाणित करता है कि ब्राह्मण भी मांस खाया करते थे। क्षत्रिय राजा शिकार के शौकीन होते थे। राजा दुष्यन्त मृग, सूअर, सिंह के शिकार के शौकीन थे[2]। राजा दशरथ के शिकार का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। हिरण, सूअर, जंगली भैंसा, बारहसिंगा, सिंह, चामरमृग आदि पशुओं का दशरथ ने शिकार किया था[3]। हाथी को मारना शास्त्र के विरुद्ध था[4]। हाथियों को राजा पकड़वा मँगाते थे और उनको युद्ध के लिए सुरक्षित रखते थे[5]। अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुनिलुब्धक[6] का प्रसंग आया है। चिड़िया आदि भी मार कर खाई जाती थीं।

मछली का समाज में आम प्रचलन था। यदि ऐसा न होता तो मुहावरों के रूप में इसका प्रयोग न होता—'भिन्नहस्ते मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो

---

१ अहमपि भाग्यमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे तदैतस्सक्कीतयन्त्रा द्यासमाश्वासमानम्।—विक्रम अंक ३ पृ० २०१

२ एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि।
अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति मध्याह्नेऽपि ग्रीष्म
विरलपादपच्छायासु वनराजीष्वाहिण्ड्यतेऽटवीतोऽटवी
पत्रसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते।
—अभि० अंक २ पृ० २१

३ तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु॥
—रघु० ९।६०

—तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥
—रघु० ९।६१

—प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
शृंगं सदृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः॥
—रघु० ९।६२

—व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान्॥
—रघु० ९।६३

४ नृपते प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलंघ्य यत् ......—रघु० ९।७४

५ ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ...... —रघु० १६।२

६ ततो भवत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकैर्वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधितोऽस्मि।—अभि० अंक २ पृ० २७

मनति मच्छ वर्गों मे भविष्यवाणि (विक्रम॰ अंक ३ पृ॰ २०१)। पशुओं और पक्षियों के अतिरिक्त मछलियाँ भी उस समय के आहार म महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थीं। मछुआ एक जाति-विशेष था जिसका पेशा ही मछलियाँ पकड़ना[1] और उनका बेचना था। रात-दिन यही काम करने से उनके शरीर सदा मछलियों की दुर्गन्ध से भरे रहते थे[2]। मांस खाने की विधि का एक स्थान पर संकेत है। आज भी सम्पन्नों में मांस के छोटे-छोटे टुकड़े पिरोकर ऊपर रख दिए जाते हैं नीचे आग जलती है। ये खाने मे बहुत स्वादिष्ट समझे जाते हैं। इस प्रकार के मांस पकाने का संकेत 'शूल्यमांस' में मिलता है। (अभि॰ अंक २ पृ॰ २१)। मछलियाँ कई प्रकार की होती थीं। इनमें रोहू[3] का नाम कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल में लिया है। इसी के पेट में अंगूठी मिली थी।

मांस के प्रकार—अत मांस के प्रकार के मोटे तीन भेद हो जाते हैं। पशुओं का मांस पक्षियों का मास और मछली। पशुओं में हिरन सिंह, सूअर, जंगली भैंसा बारहसिंघा का मास खाया जाता था। पक्षी प्रत्येक प्रकार के ही खा लिए जाते होंगे। मछलियाँ भी सभी खाद्य-पदार्थ थीं। हाथी को छोड़ कर सभी भक्ष्य थे। यहाँ तक कि गाय का मास भी। मधुपर्क में किसी समय इसका विशेष स्थान था[4]। मछली की गन्ध पहचानना बाजार म बेचना आदि मछलियों के प्रचार का साक्षात् प्रमाण है।

---

१ अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।
—अभि॰ अंक १ पृ॰ ६०

२ जानुक विस्रगन्धी गोधादी मत्स्यबन्ध एव निःसंशयम्।
—अभि॰ अंक १ पृष्ठ ६८

३ एकस्मिन् दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् तस्योदराभ्यन्तर इदं रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्ट्वा पश्चादहं तस्य विक्रयाय दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः।
—अभि॰ अंक १ पृ॰ ६८

The Manava gr 1 9 22 says that the veda declares that not be without flesh and so it recommends s meat may be offered. Band. a goat or ram

प्राप्ति स्थान—शिकार के द्वारा ही मांस की प्राप्ति नहीं होती थी; अपितु दूकानें भी थीं जहाँ मांस बिकता था। ये दूकानें बहुधा एक ही स्थान पर होती थीं। अतः इन पर चील मँडराते रहते थे[1]।

फल—अतिथि-सत्कार के लिए अथवा किसी से भेंट करते समय यदि और कुछ न मिले तो फलों का ही व्यवहार उत्तम समझा जाता था[2]। तपोवन में तो फल आहार के विशेष पदार्थ थे। अतिथियों का सत्कार फलों से ही किया जाता था। दुष्यन्त का सत्कार फलों से ही किया गया था[3]। इसी प्रकार रघुवंश कुमारसम्भव[4] में भी तपोवन में अतिथियों का सत्कार फलों से किया जाता था ऐसा प्रसंग कवि ने दिया है। इन फलों में आम[5]

---

१ भवानपि सूनापरिसरचर इव गृध्रे आमिषलोलुपो भीरुकश्च।
—माल० अंक २ पृष्ठ २८१

२. सखि! भगवत्याज्ञापयति। अरिक्तपाणिनास्मादृशजनेन तत्र भवती देवी द्रष्टव्या। तद्बीजपूरकेण शुश्रूषितुमिच्छामीति।—माल० अंक ३ पृ० २९०

३ हला शकुन्तले! गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर।—अभि० अंक १ पृष्ठ १७

४ विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।—कुमार ५।१७

५. कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाध्वगः कुसुमितान्सहकारवृक्षान्।
—ऋतु ६।२८

—विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि॥—माल० ४।१३

—नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना बद्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः।
—अभि० अंक १ पृष्ठ १४

—सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति।
क इदानीं सहकारमन्तरेणातिमुक्तलतां पल्लवितां सहते॥
—अभि० अंक ३ पृष्ठ ४७

—चूतपादपस्य पादप इत्यत्परिभाष्येवाभिलषिता सा शकुन्तला।
—अभि० अंक ६ पृष्ठ ११६

—आताम्रहरितपाण्डुरं जीवितमथ वसन्तमासस्य
दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गलं त्वां प्रसादयामि।—अभि० ६।२

—मधुरिके! चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।
—अभि० अंक ६ पृष्ठ १०२

—सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति।—अभि० अंक ६ पृष्ठ १०३

—परलोकविधौ च माधव स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवा।
निवपे सहकारमञ्जरी प्रिय चूतप्रसवो हि ते सखा॥—कुमार० ४।३८

जम्बु[1] (जामुन) द्राक्षा[2] (अंगूर) खजूर,[3] नारिकेल[4] बीजपूरक[5] (नीबू) का नाम कवि के ग्रन्थों मे मिलता है। आम का वर्णन सबसे अधिक है।

मसाले—मसालों मे इलायची[6] काली मिर्च[7] लौंग[8] नमक[9] का प्रयोग

—छन्नोपान्त परिणतफलद्योतिभि काननाम्रै
त्वय्यासन्ने शिखरमचल स्निग्धवेणीसवर्णे।—पूर्वमेघ १८

१ अये इयमातपान्त संक्षुभितमना जम्बूविटपमध्यास्ते।
परभृता विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा।—विक्रम० अंक ४ पृ २२
—मधुरमपि परभृते शीतलं सम्यगाह प्रणयमगणयित्वा मे ममाप्युत्सुकस्य।
अपरमिव महात्मा पातुमेषा प्रवृत्ता फलमभिमुखपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥
—विक्रम० ४।२७

२ विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु ४।६५

३ खर्जूरी स्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु।
कटेषु करिणां पेतु पुंनागेभ्य शिलीमुखा ॥—रघु ४।५७
—यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो
भवेत् तथा स्त्रीरत्न परिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना।
—अभि० अंक २ पृ ३३

४ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमय।
नारिकेलासवं योधा शात्रवं च पपुर्यश ॥—रघु ४।४२

५ समाहितिके देवस्योपवनस्य बीजपूरकं गृहीत्वागच्छेति।—माल० अंक ३ पृ २१
—तद्बीजपूरकेण धूमयितुमिच्छामीति।—माल० अंक ३ पृ २१०
—ननु सन्निहितं बीजपूरकम्।—माल० अंक ३ पृ २११

६ ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु……—रघु० ६।६४
—ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णव।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणव ॥—रघु ४।४७

७ सैन्यैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वन।
मरीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यका ॥—रघु ४।४६

किया जाता था । नमक चीजों को चाटने के लिए भी लिया जाता था[1] । इमली[2] का प्रयोग भी अभिज्ञानशाकुन्तल में मिलता है । भोजन को सुस्वादु बनाने के लिए मसालों के साथ इसका भी व्यवहार कदाचित् किया जाता होगा ।

आधुनिक काल की तरह पहले भी मनुष्य पान[3] सुपारी[4] का प्रयोग किया करते थे । पान के लिए ताम्बूल और सुपारी के लिए पूग शब्द कवि के ग्रन्थों में मिलते हैं ।

पेय-पदार्थ (मदिरा)—तत्कालीन भारतीय समाज में मदिरा पीने की प्रचलित प्रथा थी । काम-क्रीड़ा के सहायक द्रव्यों में मधु की प्रमुखता थी । रति प्रसंग में कालिदास ने बार-बार इसके महत्त्व और प्रभाव का वर्णन किया है । उन्होंने मधु को 'अनंगदीपनम्'[5] 'कामरतिप्रबोधक'[6] 'मदनीयमुत्तमम्'[7] 'स्मर सखम्'[8] आदि माना है । वे इसको विशेष मण्डनम्[9] भी कहते हैं । मधु स्त्रियों

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १

२ यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैरुद्वेजितस्य तिन्तिण्यामभिलाषो
भवेत् तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना ।
—अभि० अंक २ पृ० ११

३ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥—रघु० ४।४२
—ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥—रघु० ६।६४
—गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः ।—ऋतु० ५।५

४ ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु...... —रघु० ६।६४
—ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥—रघु० ४।४४

५ मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनंगदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शंकरस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥—कुमार० ८।७७

६ सुगन्धिनिःश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं कामरतिप्रबोधकम् ।
निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ॥
—ऋतु० १।३

७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ६

८ पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ।—रघु० ९।३६

९ चेटि निपुणिके श्रृणोमि बहुशो मया भणितं स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति ।
मदि सत्य एव लोकवादः ।—मास० अंक ३ पृष्ठ ३१

के नयनों को विभ्रम सिखा देने में दक्ष है[1]—ऐसा उनका कहना है। मद के कारण उनकी आँखें घूमने लगती थीं वाणी की गति स्खलित होने लगती थी।

नयनान्यरुणानि घूर्णयन्वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना॥—कुमार० ४।१२

मधु-प्रभाव-जन्य अल्हड़ सौन्दर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन पहले मोह से ही देर तक पीते थे[2]। मधु-जन्य विक्रिया केवल मनचले रसिकों को ही नहीं सज्जनों के लिए भी सुखद होती थी। मधुपान से रमणीयता बढ़ जाती है, ऐसा उस समय का विश्वास था[3]। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी रमणीयता को कामता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है[4]।

स्त्रियाँ अपने मुख को सुवासित करने के लिए मधुपान करती थीं[5]। इससे उनके मुख से ताजे मौलसिरी के फूल-सी सुगंध आती थी[6]। अपने एक श्लोक में कालिदास ने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है। चितवन आदि मधुर-विलास में दक्ष एवं सहायक बकुल की सुगन्ध को भी पराजित करनेवाले काम के मित्र (काम को उकसानेवाला) मधु को स्त्रियों ने इतनी मात्रा में पीया जिससे पति-प्रेम के रस में किसी प्रकार की बाधा न पड़े[7]।

---

१ वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः॥—उत्तरमेघ १२
—प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्—उत्तरमेघ ३७

२ घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम्।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ॥—कुमार० ८।८०

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४ और पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० ६।

४ पार्वती तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतां मनोहराम्।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ॥—कुमार० ८।७८

५ पुन्नागधामायसुगन्धितकचा निःश्वासवातैः सुरभीकृताग्र ......—ऋतु० ४।१२
—मुखानिलं हृद्यतमं मनोहरं प्रियामुखाच्चामधिरसितुं मधु।—ऋतु० १।३

६ ।

कवि ने स्त्रियों के ही मद्यपान का बार-बार संकेत नहीं किया अपितु पुरुषों के विषय में भी इसका प्रसंग लिया है। शक्ति में शिथिलता आने पर वे भी मधुपान करते थे। यह विशेष प्रकार से तैयार किया जाता था। इसके पीने से ही पुनः यौवन लौट आता था[1]। थक जाने पर तथा मनोरंजन के लिए भी मधुपान किया जाता था। रघु की सेना का मदिरा पिया जाना इसका प्रमाण है[2]।

रति-प्रसंग में स्त्री के साथ पुरुष भी मदिरापान किया करते थे। पार्वती के साथ शिव इन्दुमती के साथ अज आदि का मदिरापान भी कवि ने इंगित किया है। प्रेयसी के पिये हुए मधु को—शेष मधु को उसी पात्र में पीना प्रेयसी का अपने मुख में शराब भर कर प्रिय के मुख में डालना प्रिय का अपने मुख में मदिरा भर कर प्रेयसी के मुख में उडेलना अर्थात् प्रिय द्वारा प्रेयसी को स्वोपभुक्त पदार्थ का दान कवि ने सूक्ष्मता से चित्रित किया है।

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः —कुमार० ३।३६

ददौ रसात्पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथांगनामा ॥—कुमार० ३।३७

स्त्रियाँ बकुल वृक्ष से ऐसा मधु चाहती थीं और पुरुष भी बकुल दोहद की

---

१ सरसक्वणन मधुकारमानय रतवर्धन समागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥—रघु० १९।४६
इसमें मधुनिर्गमात् से वसन्त के ही चले जाने की नहीं अपितु वीर्य के स्खलन होने की भी व्यंजना है।

रति-बीजक मधु के बनाने का प्रकार मल्लिनाथ ने इस प्रकार कहा है—

—वारुणीरसितामृतामसपुष्पैर्मतास्थिकाकारुमा-
वानिम्बकुसुमोत्करेषु करतो पुष्पुन्नमूर्णेषु तम्।
इत्थं चेन्मधु पुष्पसम्पूपचितं पुष्पकुमूलावृतं
सन्तापेन स्मरदीपनं रतिफलं गुम्फातु सीतं मम ॥
—मेघदूत की टीका उत्तरमेघ ६

२ विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु० ४।६५
—ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥—रघु० ४।४२

तरह स्त्रीमुख-मधु के लिए लालायित रहते थे[1]। कालिदास ने ।।
मदिरा को काव्यमधस्नेह[1] का प्रतीक माना है।

मदिरा चषक में पी जाती थी। कवि ने एक स्थान पर ।।
मदिरा चषक से ही है[2]। समृद्ध व्यक्ति रत्नचषक के सूर्यकान्त ।
मधु का पान किया करते थे[3]।

मदिरा पीने का स्थान और वातावरण भी विशेष ही होता
भूमि[4] और मदिरालय के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इन
मिलती थी और एक साथ बहुत से मनुष्य बैठ कर पिया करते।
थे जहाँ मदिरा बिकती तो थी परन्तु बैठ कर पीने के लिए
ऐसी ही दुकान के सामने स्थान और भीतर भी (अमित्र
पक्की की थी[5]।

---

१ तातिरेकमदकारणं रहस्येन रसमभिषेपुरंगना।
तामिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहद ।।—रघु०
—मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ।।—रघु
२ 'इदं च तावते स्वभावकुटिलत्वं अभिव्यक्तयमस्यामुष्मिपति मद
परीक्षा प्रवर्तते यथाह ते प्रिया तस्मुखोच्छिष्टं मुखं यथाह ते क
क्षेत्रमुपभुक्त।—भोज शृंगारप्रकाश भरतकोष पृ ७१२—
३ निशीमुखोल्लुण्ठितः फणाद्या न्युषी चिरसौधपद्योतरत्न।
रणक्षिति सौक्तिमधकुम्भा रराज भूयोरिव पानभूमि ।।
४ कोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ।।—कुमा
५ यस्यां यक्षा सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्री सहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनै

रति प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुरानी शराब जिसको कवि पुराण शीधु[1] कहता है, पी जाती थी। यह सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल से सुवासित रहती थी। बागों में पुष्पासव[2] पी जाती थी। अतः स्पष्ट है कि मदिरा कई प्रकार की होती थी। वैसे कवि ने मदिरा के लिए मद्य[3] आसव[4] मधु[5] वारुणी[6] कादम्बरी[7] शीधु[8] मदिरा[9] शब्दों का प्रयोग किया है। अवश्य ही इनमें इनकी तेज एवं रंग और प्रकार आदि का अन्तर रहा होगा। कवि के ग्रन्थों में चार प्रकार विशेष आए हैं।

---

१ मनोज्ञगन्धं सहकारभंगं पुराणशीधुं नव पाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥—रघु० १६।५२
—यस्य कान्तसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥—रघु० १९।४६
२ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृतांगः ।
परस्परांगव्यतिषंगशायी शेते जनः कामशरानुविद्धः ॥—ऋतु० ५।१२
—गृहीततांबूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः । —ऋतु ५।५
३ निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ।
—ऋतु० ५।१०
४ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ —रघु० ४।४२
—तामिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ।—रघु १९।१२
—पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ।—कुमार ३।३८
—अथ चिरोद्गतपस्त्वमुपनीतं प्रियकरसुरसेन अभिलषतु
तावदासवमुरभिरसं दासकोर्ममम् ॥—विक्रम ४।४४
५ मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलांजलिम् ॥—रघु० ८।६८
—विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु० ४।६५
६ नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥—कुमार० ४।१२
७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ७ पृ० १६२ । ८ देखिए, पादटिप्पणी नं० १
९. देखिए, पादटिप्पणी नं० ५, मदिरा० —उत्तरमथ मम मत्ते मदिरेक्षणायाः तस्याः समागतमिवाननमाननेन ।—विक्रम० ३।१३ —मधुकरमदिरया पीतं तस्याः प्रवत्ति............—विक्रम ४।४२

तरह स्त्रीमुख-मधु के लिए लालायित रहती थे[1]। कालिदास ने इस गण्डूष की प्रक्रिया को काव्यगतस्नेह[2] का प्रतीक माना है।

मदिरा चषक में पी जाती थी। कवि ने एक स्थान पर शिरस्त्राण की उपमा मदिरा चषक से दी है[3]। समृद्ध व्यक्ति रक्तवर्ण के सूर्यकान्त मणि के चषक में मधु का पान किया करते थे[4]।

मदिरा पीने का स्थान और वातावरण भी विशेष ही होता था[5]। पान-भूमि[6] और मदिरालय के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि इन स्थानों में मदिरा मिलती थी और एक साथ बहुत से मनुष्य बैठ कर पिया करते थे। ऐसे भी स्थल थे जहाँ मदिरा बिकती तो थी परन्तु बैठ कर पीने के लिए स्थान नहीं था। ऐसी ही दुकान के सामने श्याल और धीवर ने (अभिज्ञान०) मित्रता पक्की की थी[7]।

---

१ सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गना।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥—रघु० १९।१२
—मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥—रघु० ८।६८

२ 'इदं च तावत् स्वभावकुटिलत्वं अभिव्यक्त्यवस्थामुन्मिषति यदयं नाम प्रेम परीक्षा प्रवर्तते यदहं ते प्रिया तन्मदुच्छिष्टं मुखमधु यदयं ते दयित तदनुच्छिष्टमुपभुङ्क्ष्व।—भोज शृंगारप्रकाश भरतकोश पृ० ७६२ पर उद्धृत।

३ शिलीमुखोत्कृत्तशिरः फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥
—रघु० ७।४९

४ लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रती स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपस्थिता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥—कुमार० ८।७५

५ यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥—उत्तरमेघ ५

६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

रति-प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुरानी शराब जिसको कवि पुराण सीधु[1] कहता है पी जाती थी। यह सहकार की मंजरी के टुकड़े और लाल पाटल के फूल से सुवासित रहती थी। जाड़ों में पुष्पासव[2] पी जाती थी। अतः स्पष्ट है कि मदिरा कई प्रकार की होती थी। जैसे कवि ने मदिरा के लिए मद्य[3] आसव[4] मधु[5] वारुणी[6] कादम्बरी[7] सीधु[8] मदिरा[9] शब्दों का प्रयोग किया है। अवश्य ही इनमें इनको तेज एवं रंग और प्रकार आदि का अन्तर रहा होगा। कवि के ग्रन्थों में चार प्रकार विशेष आए हैं।

---

१ अभ्यासरम्यं सहकारभंगं पुराणसीधुं नव पाटलं च ।
संबध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥—रघु १६।५२
—यस्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥—रघु० १९।४६

२ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निःश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः ।
परस्पराङ्गव्यतिषंगशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः ॥—ऋतु ४।१२
—गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः । —ऋतु० ५।५

३ निशासु हृष्टा सह कामिभिः स्त्रियः पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ।
—ऋतु ५।१०

४ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ —रघु ४।४२
—ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्वकुलतुल्यदोहदः ।—रघु १९।१२
—पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ।—कुमार ३।३८
—अयं चिरोद्गतपल्लवमुपनीतं प्रियकरेणुहस्तेन अभिमततु
तावत्पानमधुरमिदं पल्लवकीर्णमम् ॥—विक्रम० ४।४४

५ मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥—रघु० ८।६८
—विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥—रघु० ४।६५

६ नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन्पदे पदे ।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना ॥—कुमार० ४।१२

७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ७ पृ० १६२। ८ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

९ देखिए, पादटिप्पणी नं० ५, मदिरा० —उत्तरमथा मम मन मदिरेक्षणापा त्वया समापतितमिवाननमाननेन ।—विक्रम० २।११ —मधुकरमदिराक्ष्या शंस तस्याः प्रवृत्ति.........—विक्रम ४।४२

(ग) नारिकेलासव[1]—यह नारियल से बनाई जाती होगी। इसी कारण इसका नाम नारिकेलासव पड़ा।

(घ) फूलों के पराग से बनी मदिरा जिसको पुष्पासव[2] की संज्ञा दी गई है।

(ङ) अंगूर की बनी शराब[3]।

(च) सीधु[4]—मल्लिनाथ की टीका के अनुसार यह गन्ने से बनाई जाती थी। सहकार की मंजरी के टुकड़े और लाल पाटल के फूलों से यह सुवासित रहती थी[5]। प्रायः उच्च कुल के मनुष्य सुगन्धित मदिरा का प्रयोग किया करते थे।

मदिरा से उन्मत्त मनुष्य को और भी उन्मत्त करने वाली वस्तु मत्स्यण्डिका थी[6]।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'रतिफल'[7] को मदिरा का पर्यायवाची शब्द मानते हैं तथा उनके मतानुसार कादम्बरी[8] जिसका उल्लेख अभिज्ञानशाकुन्तलम् में किया गया है, एक विशेष प्रकार की मदिरा है[9]।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४।

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० २ —ऋतु० ४।१२, ऋतु० ५।५, —नं० ४ कुमार० ३।३८

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ५,—रघु० ४।६५

४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १

५ 'सीधु' पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषः —टीका मल्लिनाथ —रघु १६।५२

६ वयस्य एतत्खलु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्यण्डिकोपनता।—माल० अंक ३ पृ० २६९

७ आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं।—उत्तरमेघ ५

८ पूर्व उल्लेख।—अभि० अंक ६ पृ १०१

९ On page 197 in the names of wines known to kalidasa 'Rati- mand-

आठवाँ अध्याय

वेश-भूषा

'संस्कृति' शब्द को भारतवासियों ने ज्ञान तथा धर्म तक ही बहुधा सीमित रखा। आगे चल कर कुछ मनीषियों ने कला तक इसका विस्तार किया परन्तु परिधि अभी भी सीमित थी। वे भारतवासियों की ही उस मुख्य विशेषता को भूला बैठे कि धर्म अर्थ काम और मोक्ष का उचित सन्तुलन ही मूल लक्ष्य है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का रूप स्वतः व्यापक और विस्तृत हो जाता है। अतः संस्कृति के रूप को अब और विस्तृत करने की आवश्यकता पड़ा। धर्म और मोक्ष के क्षेत्र को सभी लेते थे पर अर्थ और काम को महत्त्व किसी ने नहीं दिया था।

'काम' भारतीय जीवन का विशिष्ट अंग है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि ऐसा न होता तो अन्य शास्त्रों के साथ इसकी शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं थी। सारा कालिदास का साहित्य इस बात का साक्षी है कि राजपुत्रों की शिक्षा का यह एक आवश्यक अंग समझा गया। स्वभाव में प्रवृत्तियों को दबाना नहीं अपितु उचित मात्रा में तथा उचित विधि से उपभोग करना ही स्वास्थ्य और मानसिक विकास की सृष्टि करता है। भारतीय शास्त्रों के अनुसार अर्थ धर्म काम और मोक्ष के सन्तुलित प्रयोग से ही उन्नति की ओर हम अग्रसर हो सकते हैं। धर्म और मोक्ष के साधन में लगे रहने से तथा अर्थ और काम को बिल्कुल छोड़ देने से जीवन एकांगी हो जाता है। उसमें पूर्णता नहीं आ पाती।

यह कामवृत्ति अट्टालिका महल अलंकृत नगर, वेशभूषा आभूषण आदि के प्रति रुचि दास-दासी की बहुलता सभी में दृष्टिगोचर होती है। सबसे अधिक इस प्रवृत्ति की प्रबलता 'सौन्दर्य प्रतिमा' में देखी जाती है। कहना अनुचित नहीं कि कवि की दृष्टि इसके सम्पूर्ण अंग पर पड़ी। कवि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' पर विश्वास रखते हुए भी सुन्दरं को समुचित स्थान देना नहीं भूला। प्रकृति के साथ साथ मानव के सौन्दर्य को भी उन्होंने जी भरकर देखा और कहना अत्युक्ति नहीं कि सौन्दर्य के दोनों अंग मानसिक और शारीरिक उनकी लेखनी से निखर उठे। हर अंग का उन्होंने सांगोपांग वर्णन किया। उनकी सूक्ष्म विवेचना किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न देखी जाय सराहना करने योग्य है।

कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा

स्त्री-सौन्दर्य—कवि के अनुसार सौन्दर्य वही है जिससे नित्यप्रति आनन्द मिले। इसके साथ-ही-साथ इसकी प्रतिष्ठा और सार्थकता पति द्वारा प्रशंसा और उसके प्रेम को प्राप्त करना है[1]। कवि सच्चे सौन्दर्य के[2] लिए किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं समझता। कमल सेवार से घिरा होने पर भी सुन्दर लगता है, चन्द्रमा का कलङ्क भी उसकी शोभा को बढ़ाता ही है। रूप में पवित्रता कवि का *उद्देश्य प्रतिभासित होता है। वे इसकी तुलना बिना* सूँघे हुए फूल, नखों से अछूते पल्लव, बिना बिंधे हुए रत्न, बिना चखा हुआ नवीन मधु और बिना भोगे हुए पुण्य के फल से करते हैं[3]।

कदाचित् कवि को सुकुमारता प्रिय है, क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति जितनी नारी-सौन्दर्य-वर्णन में रमी उतनी पुरुष-सौन्दर्य में नहीं। पुरुष-सौन्दर्य में कठोरता और वीरता *ही सबल मिलती है* परन्तु लावण्य, कमनीयता, सलोनापन स्त्री-सौन्दर्य का प्रतीक है। स्त्री के एक-एक अंग में उन्होंने लावण्य और सुकुमारता के दर्शन किए। प्रतीत होता है उन्होंने स्त्री के शारीरिक-सौन्दर्य को देखा और खूब देखा। सौन्दर्य की चरमप्रतिष्ठा को दो-चार पंक्तियों में कहना वे अच्छी तरह जानते थे। यक्ष की पत्नी के सौन्दर्य को वे एक ही श्लोक में व्यक्त कर सौन्दर्य का आदर्श प्रस्तुत कर देते हैं।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥[4]

---

१ निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।—कुमार० ५।१

२ सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥
—अभि० १।१९

—यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न [illegible] पंकजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥—कुमार० ५।९

सन्तप्त सुन्दरी उर्वशी कवि के शब्दों में—

सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी
स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः ।
गगनोज्ज्वलकानने मृगलोचना भ्रमन्ती
दृष्टा त्वया तहिं विरहसमुद्रान्तरादुत्तारय माम् ॥[1]

इसी प्रकार उनकी मालविका भी सौन्दर्य का आगार है—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयो
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥[2]

ऋतुसंहार की नायिकाएँ भी ऐसी ही सुन्दरी हैं। 'सुनितम्ब निम्ननाभि सुमध्या कनककमलकान्ति चारुताम्राधरोष्ठ श्रवणतटनिषक्त पाशशोभाञ्चनम अंशुकांसलकेश वरतविम्ब पृथुजघनभरालस किञ्चिदानम्रमध्या स्तनभरपरिखेदान् मन्दमन्दं व्रजन्त्य...'[3]

सौन्दर्य के इसी आगार को वे बार-बार कहते हैं—

नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु ।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य ॥[4]

कवि कृत्रिमावरणगुम्फित सौन्दर्य की अपेक्षा नैसर्गिक सौन्दर्य को ही श्रेष्ठ एवं उत्तम समझता है। शकुन्तला का लावण्य जितना दुष्यन्त को प्रभावित कर सका उतना किसी और रानी का नहीं। शकुन्तला के अंग प्रकृति के तत्त्वों के समान हैं। उसके अधर किसलयवत् कोमल विटप का अनुकरण करते बाहु अंगों में सन्नद्ध यौवन कुसुमवत् लोभनीय है[5]। केसर के वृक्ष के निकट खड़ी हुई वह लता के सदृश प्रतीत होती है[6]। यह विशेषता निसर्ग-कन्या शकुन्तला की ही नहीं है पार्वती भी अपनी विलास-चेष्टाओं को तन्वी लताओं के पास और विलोलदृष्टि हरिणांगनाओं के पास धरोहर के रूप में रख देती है[7]। यह

१ विक्रम० ४।२६ २ माल० २।३
३ ऋतुसंहार ३।१२ १३ १४ ४ ऋतुसंहार, ६।१२
५ अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥—अभि० १।२०
६ लता सनाथ इवायं केसरवृक्षकः प्रतिभाति ।—अभि० अंक १ पृ० २१
७ लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ।—कुमार० ५।१३

अपनी प्रियतमा के अंगों के सौन्दर्य को प्रकृति में देखने की चेष्टा करता है। प्रियंगु की लता में शरीर, डरी हुई हिरनी की आँखों में चितवन, चन्द्रमा में मुख, मोर के पंखों में केश, नदी-वीचियों में भ्रूविलास की झलक देखकर उसे विरह में कुछ शान्ति मिलती है[1]।

वर्ण—शारीरिक सौन्दर्य में सबसे प्रथम वर्ण आता है। कवि स्त्रियों के सम्बन्ध में गोरे रंग[2] का ही वर्णन करता है[3]। इन्दुमती गोरोचन के समान गौरवर्ण की वर्णित है। इन्दु के समान कान्ति स्त्री-वर्ण की विशेषता है[4]। पुरुष के लिए वर्ण की कोई कैद नहीं। स्वयंवर के समय पाण्ड्य देश के राजा नीलकमल के समान साँवले कहे गए हैं[5]। राजा रामचन्द्र तो भी साँवले थे। परन्तु उनके सौन्दर्य के सम्मुख सब कुछ तुच्छ था। कवि के अनुसार तो पुरुष का सारा सौन्दर्य वीरता का प्रतीक था। अतः अंग-अंग में वीरता और कठोरता का व्यक्तीकरण है। इस प्रसंग में एक बात बहुत महत्त्वशील है। कवि गौर शरीर-यष्टि वाली कन्या को साँवले वर्ण वाले पुरुष के साथ विवाह करने को महत्त्व देता है। घन के साथ बिजली की जो छवि है वही इस प्रकार की युवती की छटा भी प्रस्फुटित होती है[6]।

शरीरयष्टि—युवावस्था में शरीरयष्टि में अनुपम लावण्य स्वतः ही आ जाता है। मदिरा के अभाव में भी अद्भुत मस्ती छा जाती है। इसी कारण विग्रमोहिनी[7] उर्वशी का प्रभाव पुरूरवा पर इतना अधिक था। बाल्यावस्था के

---

१ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासा-
न्हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥—उत्तरमेघ ४१
—कनककमलकान्ति.......... —रघु ६।१२

२. कनककमलकान्ति........—रघु० ६।१२

३ तां रोचनागौरशरीरयष्टिम् —रघुवंश ६।६५ नितान्तगौरे —कुमार ७।१७
, २।१

व्यतीत हो जाने पर पार्वती की शरीरयष्टि बिना किसी मदिरा के शरीर को मतवाला बना देने वाले यौवन के प्रवेश मात्र से उसी प्रकार खिल उठी जैसे तूलिका से उन्मीलित चित्र अथवा सूर्य की किरणों से कमल[1]।

सौन्दर्य के दृष्टिकोण से शरीरयष्टि लता के सदृश लहराती हुई उत्तम मानी जाती है। अतः तनु शरीरा कवि की नायिकाओं की विशेषता है[2]। 'सन्नतांगि' और 'सन्नतगात्रि' शब्दों से ऐसा आभासित होता है कि शरीरयष्टि का कुछ झुका हुआ रहना श्रेष्ठ माना जाता है[3]। वैसे भी लजीली प्रकृति की होने के कारण युवतियाँ बहुधा झुकी हुई-सी ही रहती हैं[4]।

शारीरिक अंगों में कवि की दृष्टि हर स्थान पर पहुँची है। उसकी सूक्ष्म दृष्टि से कोई अंग भी अछूता नहीं रह सका। नखशिख वर्णन में कवि की समता में अन्य कोई ठहर ही नहीं पाता।

केश—लम्बे घने घुँघराले एवं काले बाल सौन्दर्य की चरम प्रतिष्ठा हैं। पार्वती के केश इतने सुन्दर थे कि यदि पशुओं में भी मनुष्यों के समान लज्जा होती तो चमरी अपने बालों पर इतराना भूल जाती[5]। केश के यथार्थ सौन्दर्य से

---

१ असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे॥—कुमार० १।३१
—उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥
—कुमार० १।३२

२ तन्वी श्यामा शिखरिदशना... ... —उत्तरमेघ २२
—तनुशरीरा —विक्रम० ४।५६

३ संनताङ्गी—सा राजहंसैरिव संनताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु।
—कुमार० १।३४
संनतगात्रि—यत सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।
—कुमार० ५।३९
अवनताङ्गि—अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः ...... —कुमार० ५।८६

४ चचार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ।—रघु०, ७।२५
—वामीमतया —रघु० ५।८१

५. लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः॥—कुमार० १।४८

मयूर के प्रसारित पंख अधिक सादृश्य रखते हैं। वियोगावस्था में इसी शिखीबहुभार को देखकर उसे (यक्ष को) अपनी पत्नी के केशों का अनायास स्मरण हो आता है[1]।

नितम्ब तक लटके हुए बाल वाली युवती सुन्दरी मानी जाती है[2]। बाल लम्बे होने पर भी यदि सीधे हों तो सौन्दर्य म अधिक नहीं होती। इसी कारण कवि कहीं अराल-केश कहीं कुटिल-केश कहीं विकुंचिताग्राम् आदि शब्दों का प्रयोग करता है[3]। पार्वती इन्दुमती इरावती आदि धर्मों के अराल-केश थे।

घुँघराली के साथ-ही-साथ घनी एवं काली लटें भी केश-सौन्दर्य को अधिक तीव्र कर देती हैं। नितान्त घन नील कवि का प्रिय उपमान है[4]।

भ्रू—सबसे अधिक ही भ्रू का उपमान आया है। अतः कहा जा सकता है कि लहर के समान अराल अथवा कुछ वक्र भ्रू ही सुन्दर मानी जाती थी[5]। लहरों के अतिरिक्त भ्रू की उपमा धनुष से भी दी गई। कामदेव के धनुष को भी परास्त करने वाली लम्बी तथा मनोहर भ्रू हो सौन्दर्य की पराकाष्ठा का प्रतीक थी। यक्ष की पत्नी नदीवीचि के समान भ्रूयुक्ता थी और पार्वती की लम्बी और मनोहर भ्रू ऐसी प्रतीत होती थी मानो किसी ने तूलिका लेकर बना दी हो। यही नहीं कामदेव के धनुष की सुषमा भी उसके सम्मुख फीकी पड़ गई थी[6]। अतः धनुष के

१ श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
  वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ ४६

२ शिरोरुहैः श्रोणिनितम्बसंभिभि ...
  स्थित रतिं गंजनयंति कामिनाम्—ऋतु० २।१८

३ अरालकेश—रामाकचग्रहेषु च नाथवर्हि मिश्वासिनामवरालकेश्या।—रघु० ८१
  —कुटिलकेश—रक्ताशोककृशोदरी पयोमुखा कोप्य कुटिलकेशिमालय।
                                                    —कुमार ८।४५
  —अपराधिनि मयि वव सहरसि किमुदय कुञ्चितकेशि।—माल० ३।२२

४ केशान्नितान्तघननीलविकुंचिताग्रानापूरयन्ति वनिता नवमालतीभि।
                                                    —ऋतु ३।१९
                    घननीलशिरोरुहम्ता।

समान भ्रू नहीं अपितु भ्रू के भङ्ग उनका अनुप था[1]। निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि वंकिम भ्रू में भी अपार सौन्दर्य निहित था। वक्रता के अतिरिक्त श्लक्ष्ण (अर्थात् तनु) होना तथा भौंरों की भी श्यामलता को चुरा लेना सुन्दर भ्रू की विशेषता थी[2]। संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि लम्बी पतली काली तथा कुछ वक्र भ्रू अनुपम लावण्य का आगार मानी जाती थी।

नेत्र—आकार में बड़ी-बड़ी तथा अति मांसल यदि अवदात-निपक्ष्म भी हों ऐसी आँखें कवि को प्रिय हैं। उनकी लक्ष्मा के अपांग दीर्घ एवं दीप्त हैं यह वामनाक्षि हैं[3] मालविका के नेत्र अन्यान्त और दीर्घ हैं[4] ऋतुसंहार की कामिनियों के नेत्र अवदात-निपक्ष्म तथा उपान्त-लोहित हैं[5]। पार्वती के नेत्र भी दीर्घ हैं। आकार में कमल के समान खिले हुए हैं। यह कमल का उपमान अन्य स्थानों पर भी देखा जाता है। उत्पलाक्षि कवि का प्रिय सम्बोधन है[6]।

---

१ अथ स लम्बितयोविद्रुमम्लानाभाग्भ्रूम रतिविभ्रमपताके मानमात्रं कठे।
—कुमार॰ २।६४

२ तामुत्तीय प्रभ परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णसारप्रभाणाम्। —पूर्वमेघ ५१
—भ्रूलता—अथ स यावद्भ्रूलताभाग्भ्रूंम ....—कुमार॰ २।६४
—विधुरितभ्रूलतमाहित तथा विलोचन ... —कुमार॰ ५। ७४
—उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्या।—अभि॰ ३।११

३ दीर्घापांगा सितापाङ्गा वक्रा वक्रिमा भवेत्।—विक्रम॰ ४।२१
—यदिदं रथसंक्षोभादस्मिनार्य ममादनैदयया स्पृष्ट... ...—विक्रम॰ १।११
—तन्वङ्गुलीकम बाहुपाशं निगाढमात नक्तोत्प पक्षम्।—विक्रम॰ १।६
—त्रियमाचरित सते त्वया म गमनत्व्या ध्रुवबिम्बमाचरत्या
यदिदं पतत्पत्रभिन्ना पङ्क्तिकामुखी मया हि दृष्टा।—विक्रम॰ १।१८

४ आयातर्थं नयनयामम जीवितमनसानानि।—माल॰ १।३
—तम्य दीर्घाक्षि य प्रानान्ते स्वदासालितस्यता।—माल॰ ४।१४

५ अवदातनिपक्ष्मो पाम्भोरामुनेत्रैः।—ऋतु॰ २।११

६ दीपनयन—कुमार ८।११ उत्पलाक्षि—य उत्पलाक्षिप्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षि सादृश्यमिव प्रयुङ्क्ते।—कुमार॰ ३।१६ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्या—कुमार॰ १।४० तस्या मुखाम्भोजसमानकान्ते प्रशान्तिकामिनयन निरीक्ष्य।—कुमार॰ ७।२ मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।—उत्तरमेघ ३७ पुष्पलोलोत्पलाक्षि—ऋतु ३।२८ नीलोत्पलैर्मदकलानि विलोचनानि—ऋतु॰ ३।१७। विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवा।
—ऋतु॰ २।१२

विस्तृत आकार में नेत्र तभी लुभावने हो सकते हैं जब उनमें कोई भाव भी हो। अतः कवि नेत्र के साथ चितवन प्रत्येक स्थान में लेता है। चितवन की दृष्टि से सरलता, भोलापन तथा हलका-सा आश्चर्य कवि को अभिप्रेत है। अन्यथा असंगत न होगा कि यह गुण मृगी में अत्यधिक पाये जाते हैं। अतः कवि ने मृग उपमान का क्रमशः से बड़ी अधिक प्रयोग किया है। राजा दिलीप जब सुदक्षिणा को लेकर वन जाते हैं तब हरिणों की सरल चितवन को वे सुदक्षिणा के नेत्रों के समान समझते हैं[1]। पार्वती के नेत्र आकार में कमलवत् थे परन्तु चितवन चंचल मृग की-सी थी[2]। उनकी चितवन को देख कर कवि को यह भ्रम हो जाता है कि हरिण ने उसके नेत्रों का गुण लिया है या पार्वती ने हरिण के नेत्रों का[3]। यही नहीं तपस्या करते समय वे हरिण के नेत्रों से अपनी आँखें नापा करती थीं[4]। उन्होंने जिस प्रकार अपनी विलास चेष्टाओं को लताओं के पास धरोहर के रूप में रख दिया था उसी प्रकार अपनी विलोल दृष्टि हरिणांगनाओं के पास[5]। यक्ष की पत्नी के नेत्र चकित हरिणी के सदृश थे। अथवा वियोगावस्था में यक्ष को अपनी पत्नी के नेत्र इतने अधिक सुन्दर लगते हैं कि चकित हरिणी के नेत्र भी उस सौन्दर्य के सम्मुख फीके लगते हैं[6]। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् अज को ऐसा लगता है कि उसने पति के मन को बहलाने के लिए अपनी मीठी बोली कोयलों को, चाल हंसिनियों को और चंचल-चितवन हरिणियों

---

१ परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥—रघु० १।४०

२ अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः ....
यः उत्पलाक्षि प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुज्यते । —कुमार० ५।३५

३ प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ।—कुमार० १।४६

४ अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
सखीनाममिमीत लोचने ॥ —कुमार० ५।१५

को दे दी थी[1]। राजा दशरथ मृग पर बाण चलाने ही वाले थे परन्तु उनके नेत्रों को देखकर उन्हें अपनी प्रियतमा के नेत्र स्मरण हो आए, अतः उनके हाथ ढीले पड़ गए। उन्होंने बाण चलाने के विचार को अपने हृदय से निकाल दिया[2]। स्त्रियों को यह भोली चितवन मृग ही सिखाते हैं[3]। कालिदास की सभी नायिकाएँ अनन्य-सुन्दरी और मृगनयनी हैं। शकुन्तला और मालविका दोनों ही सारंगाक्षी थीं[4]। यक्षपत्नी मृगाक्षी[5] उर्वशी मृगलोचनी[6] ऋतुसंहार की कामिनियाँ 'हरिणेक्षणाक्ष्य' थीं[7]।

जिस प्रकार मृग का भोलापन कुछ चञ्चलता और कुछ आश्चर्य का भाव नेत्रों की सुषमा की वृद्धि करता है, उसी प्रकार चकोर की मस्ती भी नयना को सुभावना बना देने में समर्थ है, परन्तु इतना फिर भी कहा जा सकता है कि मृ का सौन्दर्य इसमें नहीं है और भोलापन तथा आश्चर्यमिश्रित चपलता इसमें तुलना में कहीं अधिक सलोनी है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जहाँ कवि

---

१ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥ —रघु० ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिता सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमा॥—रघु० ८।६

२. तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि
—रघु० ९।५

३ न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः॥—अभि० २।

४ प्रथम सारंगाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्॥—अभि० ६।७
—तथा सारंगाक्ष्या त्वमपि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्।—माल० ३।१

५. त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।—उत्तरमेघ ३७

६ मयामार्त मृगलोचना निशाचर कौणपि
हरति मानसं नव हरिणवल्लभसमी पारापरी वर्तते।—विक्रम० ४।८

७ अवलम्ब्यमाना हरिणेक्षणाक्ष्य प्रजापयन्तीव मनोरथानि।—ऋतु० ४।१०

अनेक बार 'सारंगाक्षि' और 'मृगाक्षि' शब्द का प्रयोग करता है, वहाँ चकोर के समान नेत्र दो ही स्थलों पर वर्णित हैं[1]।

परन्तु स्त्री के मदभरे नेत्र देखकर ही पुरुष अपनी सुध-बुध बिसार देता है। मदिरा से मतवाले नेत्र बड़े ही लुभावने लगते हैं[2]। कवि को जितना 'मृगाक्षि' शब्द प्रिय है, उतना ही 'मदिराक्षि' शब्द भी। इसी शब्द को उसने कई स्थानों पर थोड़ा-बहुत रूपान्तर कर प्रस्तुत किया है[3]। उनको इन्दुमती शकुन्तला उर्वशी सभी के नेत्र मदभरे थे जो पति की वियोगाग्नि को उद्दीप्त ही अधिक कर रहे थे।

बरौनियाँ—बड़ी-बड़ी बरौनियाँ सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हैं। शकुन्तला के न केवल नेत्र ही दीर्घ थे अपितु बरौनियाँ भी बड़ी-बड़ी थीं[4]।

अधर—कवि के मतानुसार क्रमशः चिकने और ऊपर का मोटा केवल एक रेखा के द्वारा निचले ओष्ठ से विभक्त सौन्दर्य का लक्षण है[5]। इसकी सबको

---

१ रक्तचकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ।—रघु० ६।५९
—चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।—रघु० ७।२५

२ पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ।—कुमार० ३।३८

३ मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥—रघु० ८।६८
—अत्यन्तमद मदिरेक्षणपक्ष्मभाभिराहो निपत्स्यसि समं हरिणायताक्षि ।
—अभि० १।२१
—अभिमुखमपि मकरकेतुमनसो रचयति वाङ्ममिमतो मे
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ।—अभि० ३।४
—उत्पक्ष्मणा मम सखे मदिरेक्षणाया तस्याः समागतमिवाननमाननेन ।
—विक्रम २।११
—मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं वरतनुरथवासौ नैव दृष्टा त्वया मे ।
—विक्रम ४।४२

कहीं विद्रुम[1] कहीं बिम्बाफल[2] अथवा प्रवाल[3] के समान वर्णित है। यक्ष की पत्नी के अधर पके बिम्बाफल के समान हैं, पार्वती और मालविका दोनों ही की बिम्बाफलवत् अधरकान्ति ने महादेव और अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित किया। संयमी देवताओं के भी पूज्य शंकर जी की दृष्टि तपस्या के छूटने पर सबसे प्रथम पार्वती के अधर पर ही पड़ी। पल्लव के सदृश सुकुमार और बिम्बा के समान चारु अधर[4] वाली कामिनियाँ हर ऋतु में पुरुषों के धैर्य को विलुप्त कर देती हैं[5]। इसका सौन्दर्य लाली में ही है[6]। अतः इसकी कान्ति की उपमा रक्ताशोकवत्[7] और कहीं बन्धूक[8] के पुष्प के समान भी दी गई है। शरद् ऋतु में बन्धूक की कान्ति पुष्प को छोड़ कर स्त्री के अधरों में पहुँच जाती है।

---

१ पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रोष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥
—कुमार० १।४४

२ सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ —कुमार० ३।५६
—हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥
—कुमार० ३।६७
—दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥—माल० ४।१४
—तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा ..... ।—उत्तरमेघ २२

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

४ विलोचनेन्दीवरवारिबिन्दुभिर्निषिक्तबिम्बाधरचारुपल्लवाः —ऋतु० २।१२

५ अधररुचिरशोभां बन्धुजीवे प्रियाणां पथिकजन इदानीं रोदिति भ्रान्तचित्तः।
—ऋतु० ३।२६

६ कनककमलकान्तैश्चारुताम्राधरोष्ठैः श्रवणतटनिषक्तैः पाटलोपान्तनेत्रैः।
उषसि वदनबिम्बैरंससंसक्तकेशैः श्रिय इव गृहमध्ये संस्थिता योषितोऽद्य ॥
—ऋतु० ५।११

७ रक्ताशोकविकल्पिताधरमधुमत्तद्विरेफस्वनं.....
मदनप्रिय शिशु बन्धुपुष्पापमामंगसम् ॥—ऋतु० ६।३६

८ बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्री ॥
—ऋतु० ३।२७

प्रवासी पथिक तो बन्धुजीव के पुष्प देख कर अपनी पत्नी के अधरों की याद कर रो भी देते हैं।

दशन—परन्तु निर्जीव सौन्दर्य में कोई आनन्द नहीं। अधर कितने ही सुन्दर हों यदि उन पर मुस्कराहट न हो तो उनकी सुषमा व्यर्थ नीरस एवं फीकी ही है। सुन्दर मुस्कराहट इसी मे प्राण फूँक देती है, इसीलिए कवि 'शुचिस्मिते'[1] कह निर्जीव सौन्दर्य को तिरस्कृत कर देता है। मुस्कराहट के समय हल्का-हल्का दाँतों का दीखना ही कवि को अभिप्रेत है। इस प्रकार के सौन्दर्य की विवेचना करता हुआ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह इतनी सुन्दर लगती है जैसे मूँगे के बीच जड़ी मुक्ता अथवा लाल कोंपल में कोई श्वेत पुष्प[2]। शिखरिदशना[3] शब्द से स्पष्ट होता है कि छोटे-छोटे दाँत उस समय के सौन्दर्य का मानदण्ड थे। दाँतों की उपमा कुन्द की कली से भी दी गई है[4]। मुस्कान पर चमक उठने वाले यह कुन्द की कली के समान दाँत न केवल कवि को ही प्रिय हैं अपितु वसन्त ऋतु भी इनके सौन्दर्य को परास्त करने का प्रयास करता है[5]।

मुख-गन्ध—मदिरा से सुवासित मुख-सौरभ में मद की वृद्धि करता है। स्वयं कवि को मदिरा-सुवासित मुख अति प्रिय है। अनेक स्थानों पर मुख की

---

१ शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥
—कुमार० ५।२

—ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते विदितः कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसंनिवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः॥—रघु० ८।४९

२ पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥
—कुमार० १।४४

३ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।—उत्तरमेघ, २२

आसव गन्ध का उसने वर्णन किया है। अज को देखने के लिए मदिरा से सुवासित मुख वाली झरोखों से झांकती हुई स्त्रियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो झरोखों में कमल खिले हुए हों[1]। ग्रीष्म ऋतु में रसिकों को प्रिया के मुख के वाष्प से सुगन्धित मदिरा ही प्रिय लगती है। वर्षा ऋतु में मदिरा पीकर ही अपनी सुवासित सुगन्ध से प्रेमियों के मन में प्रेम उत्पन्न करती हैं[2]। हेमन्त ऋतु में पुष्पों के आसव से सुगन्धित मुख वाले स्त्री-पुरुष अपने सुगन्धित निश्वासों से एक-दूसरे के अंगों को सुरभित करके कामरस का अनुभव करते हुए शयन करते हैं[3]। शिशिर में ताम्बूल इत्र आदि का प्रयोग कर तथा पुष्पासव से मुख को सुगन्धित कर स्त्रियाँ शयन-गृह में पति के सम्मुख जाती हैं[4]।

किसी-किसी में यह मुखोच्छ्वासगन्ध नैसर्गिक भी होती है। उर्वशी का मुखोच्छ्वास कमल की सुगन्ध के समान मधुर एवं आह्लादजनक है। स्वयं भौंरा तक इसको अनुभव कर लेने के पश्चात् कमल को प्यार करना छोड़ देता—ऐसा पुरूरवा अनुभव करता है[5]। यक्ष की पत्नी की मुखोच्छ्वास धरती के समान सोंधी है। अर्थात् जिस प्रकार पानी पड़ने पर पृथ्वी में से सोंधी-सोंधी गन्ध आती है, वैसी ही उसके मुखोच्छ्वास में भी थी। इसी को याद करके यक्ष दिन-प्रतिदिन कृश होता चला जाता है[6]। पार्वती के श्वास से कमल के समान गन्ध निकला

---

१ तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्॥—रघु० ७।११

२ प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु सुतं निशीथे मदनस्य दीपन
............सुतं निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥—ऋतु० १।३
—समीपुभिः स्त्रियः रतिं संजनयन्ति कामिनाम्।—ऋतु० २।१८

३ पुष्पासवामोदसुगन्धिवक्त्रो निश्वासवातैः सुरभीकृताङ्गः।
परस्पराङ्गव्यतिषङ्गशायी शेते जनः कामरसानुविद्धः॥—ऋतु० ४।१२

४ गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः॥—ऋतु० ५।५

५. यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वासगन्धं
तव रतिरभविष्यत्पुण्डरीके किमस्मिन्।—विक्रम० ४।४२

६ धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूतं प्रतनुमपि मां पंचबाणः क्षिणोति।—उत्तरमेघ ४८

करती थी। मत्त आकर्षित होकर भौंरे उनके लाल-लाल ओठों के पास आते थे जिन्हें वे घबरा कर छोटे-छोटे कमलों से मार कर भगा देती थी[1]।

वाणी—जिस प्रकार चंचल आँखों की चितवन से रमणीयता में वृद्धि होती है, उसी प्रकार कोयल के समान मीठी वाणी भी सबका हृदय आकर्षित कर लेती है। पार्वती की वाणी तो कोयल से भी मधुर थी यही नहीं उनकी मधुर वाणी के सम्मुख कोयल की मीठी बोली भी बिना मिले वीणा के तार के सदृश कनकटु प्रतीत होती है[2]। इन्दुमती की मृत्यु के पश्चात् उनकी मीठी बोली तो कोयल को मिल जाती है। ऐसा लगता है मानो मन का चित्त बहलाने के लिए वह अपना गुण कोयल में छोड़ जाती है[3]। शूर्पणखा राम को रिझाने के लिए कोयल के समान मीठी वाणी का प्रयोग करती है, परन्तु सीता के हास से चिढ़ कर कर्कश एवं कठोर हो जाती है, इसी से लक्ष्मण ताड़ लेते हैं कि यह स्त्री बड़ी खोटी है[4]।

मुख-बिम्ब—मुख प्रायः दो प्रकार का पाया जाता है। चन्द्रबिम्ब की तरह अथवा कमल की तरह कुछ लम्बा। कवि गोल मुख को अधिक प्रतिष्ठा देता है। उनकी इन्दुमती पूनो के चन्द्रमा के समान गोल मुख वाली थी[5]। उनकी पूर्ण

१ सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती॥—कुमार ३।५६
—मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ..
—कुमार ५।२७

२ स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥—कुमार १।४५

३ कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥—रघु ८।५९
—त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥
—रघु० ८।६०

चन्द्रमा के समान मुखवाली अनन्य सुन्दरी थी[१]। पार्वती के मुख में चन्द्रमा और कमल दोनों के ही गुण पाये जाते हैं[२]। मालविका की मुख-कान्ति शरत्कालीन इन्दु के समान थी[३]। ऋतुसंहार की कामिनियाँ चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर मुखवाली हैं[४]। कमल भी यथास्थान मुख का उपमान बनकर आया है[५]।

बाहु—लता के सदृश लम्बी पतली तथा सुकुमार बाहुएँ सौन्दर्य का आगार समझी जाती थीं। महलों से सजी भुजलताएँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानो फूलों के बोझ से झुकी हुई हरी बेलों की टहनियाँ। कभी कवि को ये शाखाएँ धृत-भूषण बाहुकान्ति को हरती हुई भी आभासित होती हैं[६]। पार्वती की बाहुएँ सिरस के फूल से भी अधिक कोमल थीं इसलिए कामदेव ने महादेव जी के गले में पार्वती की भुजलताओं का फन्दा डाला था[७]।

---

१ न सुतनु सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेतमर्नमविषयिणम्।
अभिमुखीष्विव वाञ्छितमिष्टिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मन ॥
—विक्रम० २।९

—बर्हिण स्वामिरयम्यर्थे आचक्षमेतत् वन वने
भ्रमता यदि त्वया दृष्टा सा मम कान्ता।
निशामय मृगाङ्कसदृशवदना हंसगति अनेन
चिह्नेन आख्यास्यामि ते तव ममा ॥—विक्रम ४।२०

२ चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥
—कुमार० १।४३

३ दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयो ...... —माल० २।३

४ वदनविजितचन्द्राः काश्चिदन्यास्तरुण्यः रचितकुसुमगन्धि प्रायशो यान्ति वेश्म।
..............मदवश-महेतोस्त्यक्तमंबीतरागा।—ऋतु० ६।२३

५. विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी... ....—ऋतु० ३।२८
—रक्ताशोकविकल्पितायरमधुमत्तद्विरेफस्वनः।
कुन्दापीडविशुद्धदन्तनिकरः प्रोत्फुल्लपद्माननः ॥—ऋतु० ६।३३
—मुद्रितपद्मगि पूर्णितमुखं नेत्रवैरिव रजोभिरावृतम्।—कुमार० ८।५८

६. श्यामालता कुसुमभारनतप्रवाला स्त्रीणां हरन्ति धृतभूषणबाहुकान्तिम्।
—ऋतु० ६।१८

७ शिरीषपुष्पाधिक सौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः... —कुमार० १।४१

कमल के समान लाल सुकुमार और सुन्दर हथेलियाँ लावण्य का चिह्न समझी जाती थीं[1]। अथवा मूँगे जैसे लाल-लाल कोमल पल्लव अथवा कोंपल के समान सुकुमार हथेलियाँ बाहुलता के सौन्दर्य को बढ़ा देती थीं[2]।

पयोधर—यौवन का प्रवेश-द्वार है पयोधर। यौवन की वृद्धि के साथ इनकी भी वृद्धि होती है। पुनः यौवन में सौन्दर्य निखर उठता है और उन्नत विशाल एवं पीन स्तन ही सौन्दर्य में मद प्रवाहित करते हैं। कवि की सभी नायिकाएँ यौवनवती हैं अतः सभी के स्तन पृथु पीवर, उन्नत पीन तथा विशाल हैं[3]।

आकृति में बड़े-बड़े पयोधर स्थान-स्थान पर वर्णित हैं[4]। कदाचित् इसीलिए कवि मण्डलाकार स्तन अथवा स्तनमण्डल का प्रयोग करता है[5]। नारी के

---

१ नामियमभ्युत्तिष्ठति वशी विनयावधूतिका प्रियया
विसृतहस्तकमलया नरेन्द्रमम्भा वसुमतीव ।—माल० ५।६
२ करकिसलयकान्तिं पल्लवैर्विद्रुमाभैः उपहसति वसन्तः कामिनीनामिदानीम् ।
—ऋतु० ६।११
३ एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥—रघु १६।६०
—तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९।३२
—यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥—रघु १९।९
—स्तनेषु तन्वंशुकमुन्नतस्तना निवेशयन्ति प्रमदाः सयौवनाः ।—ऋतु १।७
—दधति वरकुचाग्रैरुन्नतैर्हारयष्टिं प्रतनुसितदुकूलान्यायतैः श्रोणिबिम्बैः ।
—ऋतु २।२६
—विपुलं नितम्बबिम्बे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ।—माल० २।३
—मन्दारकुसुमदाम्ना गुरुरम्या गृह्यते हृदयेन ।
परिणाहवती पयोधरौ ॥—विक्रम० १।०
रघु० २।३१

अतिरिक्त उसमें कड़ापन भी होना चाहिए। 'स्तनेषु कठिन' यौवन की विशेषता है[1]। विरह अथवा किसी अन्य सन्ताप से यह कठोरता शिथिल हो जाती है[2]। पयोधरों में स्निग्धता के साथ कुछ झुकाव भी प्रारम्भ हो जाता है।

चकवा-चकवी के जोड़े के समान[3] युगल स्तन विशाल पीन एवं उन्नत होते चलते ही घने होते जायेंगे[4]। वे उभर कर एक-दूसरे से सटते चले जायेंगे। इस प्रकार उनके बीच का अन्तर अल्प-अतिअल्प होता चला जाएगा[5]। यही सौन्दर्य है। पार्वती के पयोधरों के बीच यह अन्तर इतना कम हो गया कि मृणाल का सूत भी नहीं समा सकता था[6]।

एक दृश्य और कवि ने एक-दो स्थलों पर परिलक्षित किया है—स्तनों के भार से कुछ आगे झुका रहना[7] अथवा स्तन-भार से चाल का धीमी होना[8]।

नाभि—पानी की भँवर के समान गहरी नाभि में कवि सौन्दर्य देखता है। इन्दुमती आवर्तमनोज्ञनाभि युक्त थी। कुल की स्त्रियों की नाभियाँ भी आवर्त

---

१ नेत्रेषु लोलो मदिरालसेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु। —ऋतु० ६।१२

२ क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।—अभि० ३।८

३ आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
—रघु० १६।६३

४ सुरसुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघनस्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगतिः।
—विक्रम० ४।५१

५ अपि वनान्तरमल्पकुचान्तरा श्रयति पर्वतपर्वसु सन्नता।
इदमनङ्गपरिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव॥—विक्रम० ४।४१

६ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम्॥—कुमार० १।४०

७ श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः।—उत्तरमेघ २२
—आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥
—कुमार० ३।५४

८ न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।—कुमार० १।११
—पृथुजघनभरार्ताः किंचिदानम्रमध्याः स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्यः।
—ऋतु० ४।१४

शोभा को प्राप्त थी। यक्ष-पत्नी भी सुन्दरता के इस लक्षण को धारण किए हुए थी[1]। आवर्तनाभि के समान निम्ननाभि का भी प्रयोग कवि ने किया है[2]। आकार में चाहे थोड़ा परिवर्तन हो पर तात्पर्य दोनों से ही गहरी का है।

तनुनाभि के नीचे पतली रोमराजि जो यौवन का सोपान है, सौन्दर्य के दृष्टिकोण से उत्तम मानी जाती है। पार्वती की यह रोमराजि कमर पर बँधी रशना के बीच में स्थित नीलम की कान्ति-लहर-सी जान पड़ती थी[3]। वर्षा की नव फुहार से यह रोमराजि आनन्दित-सी होती है, अतः रोमांच हो जाने से खड़ी हो जाती है[4]।

कटि—उन्नत पीन पयोधर के पश्चात् कवि की दृष्टि कटि-प्रदेश की ओर विशेष रूप से मुड़ जाती है। पयोधर जितने उन्नत, गुरु, पीन एवं विशाल हों उतने ही सुन्दर माने जाते हैं और कटि जितनी कृश और तनु हो उतनी ही उत्तम है। क्षीण तथा कृश कटि सौन्दर्य को बढ़ा देती है; कालिदास इसे कहीं नहीं भूले। उन्होंने अपनी प्रत्येक नायिका की कमर पतली बताई है और इसी पतली कमर को कहीं वे वेदिमध्या[5] कहीं वेदिविलग्नमध्या[6] कहीं मध्य

---

१ नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।—रघु० ६।५२
—आवर्तशोभानतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
—रघु १६।६३

—वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।—पूर्वमेघ १

२ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।—उत्तरमेघ २२
—स्पृशति दुर्गतिरम्भा निम्ननाभिः सुमध्या
उपरि घनमध्या कामिनी चारुशोभा ।—ऋतु० २।१२

३ तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः ॥—कुमार० १।३८
` , रोमराजिं वलित्रयविभक्तमध्यदेशैश्च नाप ।
—माल० २।२६

क्षामा[1] कहीं सुमध्या[2] कहीं मध्यगता सुमध्यमा[3] कहीं तनुमध्या[4] कहीं कृशोदरि[5] कहीं पाणिमिती मध्य[6] आदि-आदि शब्दों से व्यक्त करते हैं। शकुन्तला की पतली कमर विरह में और भी पतली हो जाती है परन्तु फिर भी उसकी सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं आता वह वायुस्पर्श से मुरझाई पत्तियों वाली माधवी लता के समान लगती है[7]।

त्रिवलय—कवि की सूक्ष्म दृष्टि से त्रिवलय की भी शोभा नहीं छूट सकी। उसकी दृष्टि के अनुसार बाला कामदेव को ऊपर स्तन आदि अंगों तक चढ़ा ले जाने के लिए नवयौवन बाला यह सोपान रच देता है[8]। वर्षाऋतु में त्रिवलय पर फुहारों के पड़ने से तो रोमराजि सिहर कर खड़ी हो जाती है इस छोटी-सी बात को भी कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से क्षण भर को भी न हटा सका[9]।

---

१ तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभि। —उत्तरमेघ २२
—विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः
अत्यायतं नयनयोर्मम जीवितमेतदायाति।—माल० ३।७

२ त्यजति मुदितनिम्ना निम्ननाभि सुमध्या
वपुषि वायमनस्या कामिनी चारुदामा। —ऋतु० ५।१२

३ मुक्तौ चतुर्णां ज्वलता हविर्भुजा शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा......
—कुमार० ५।२०

४ अनेन तनुमध्या मुखरनूपुरराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन संभावितः ... ..
—माल० ३।१७

५ रक्ताशोककृशोदरी क्वनु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं।—विक्रम० ४।१२
—विषाण्मामप्रतिदेन चेतसा न दयसे तव कृशोदरि त्वयि।
—कुमार० ४।४२

६ मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं............ ....—माल० २।३

७ क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।........ ...
—अभि० ३।८
—शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेयमालक्ष्यते।
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा लता माधवी॥—अभि० ३।८

८ मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम्॥—कुमार० १।३९

९ नवजलकणसेकादुद्गतां रोमराजिं ललिततरवलिभंगैर्मध्यदेशैश्च नार्यः।
—ऋतु० २।२१

नितम्ब—स्त्रियाँ गजगामिनी ही सुन्दरी मानी जाती हैं। अतः विशाल पृथु नितम्ब ही सौन्दर्य का मापदण्ड है[1]। उसकी विशेषता एवं पराकाष्ठा भारी एवं गोल में है[2]। अतः एक स्थान पर उर्वशी के नितम्ब चक्र के समान कहे गए हैं[3]। नितम्ब के भार से धीरे-धीरे चलना शुभ लक्षण माना गया है। कवि ने अपनी नायिकाओं में इस विशेषता को भी चित्रित किया है[4]।

नितम्ब की एक विशेषता और कवि ने शकुन्तला और उर्वशी में दिखाई है। नितम्ब के भार से एड़ी का निशान गहरा पड़ना शुभ लक्षण माना जाता है[5]। कुंज के द्वार पर पुष्पस्त पीली रेती में भारी नितम्बवाली सखियों के पदों के घन

---

१ एषा गुरुस्वाभिपयोधरत्वात्सममाननपुरोभुमवनतुस्य
मत्तामरेषाभिनिरत्पतु बाला श्लेषोत्तरं राघवमात्मनमस्ते ।—रघु० १६।१६
—नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥—रघु० ७।२५
—द्वारे पर्यन्तरयं स्तनमंडलानि धोमीरर्ट पुलिपुल रसमाकमर्प ।
—ऋतु० ३।२०
—स्पृशति पृथुनितम्बा निम्ननाभिः सुमध्या
उपसि धवलनम्ना कामिनी चारुशोभा । —ऋतु० ५।१२
—विपुलं नितम्बफलके मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः ... —माल० १७
—पृथुनितम्ब नितम्बवती तव । —विक्रम० ४।४६
२ नद्यो विशालपुलिनान्तनितम्बबिम्बा मन्दं प्रयान्ति समदाः प्रमदा इवाद्य ।
—ऋतु ३।३
—रम्भति बरगामीरम्बतहारयष्टि प्रस्तुमिवकुम्भस्तनावर्ती योषिद्बिम्बे ।
—ऋतु ३।२६
३ रथांगनामवियुतो रथांगश्रोणिबिम्बया
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः । —विक्रम० ४।१७
४ *तन्वी श्यामा शिखरिदशना* ....
स्तनाभ्याम् ॥ —उत्तरमेघ २२

चिह्नों को देखता है जो एड़ी की ओर गहरे और आगे की ओर घटे हुए हैं। पुरूरवा उर्वशी के इसी चिह्न को ढूंढने की चेष्टा करता है। इसी से उसके मार्ग का कहीं भी आभास हो सकता था।

जघनप्रदेश—पृथ जघन अथवा भरा हुआ जघनप्रदेश ही स्त्री को सुन्दर बनाता है। भरे जघनप्रदेश से ही चाल धीमी होती है[१]। जिसके कारण स्त्रियाँ गजगामिनी कहलाती हैं। जाँघ चिकनी और लम्बी अच्छी मानी जाती है। अत इसके सौन्दर्य के लिए केले[२] अथवा हाथी की सूंड़ से[३] इसकी उपमा दी जाती है। पार्वती में ये दोनों ही गुण हैं[४]। विधाता ने उसके जघन-निर्माण के लिए सुन्दरता की समस्त सामग्री एकत्र की (कुमार॰ १।३५)।

चरण—कवि की पार्वती सौन्दर्य की प्रतिमा थी। उसके चरणों की सुन्दरता स्वाभाविक लाल कोमल तथा कुछ ऊपर को उठे अंगुष्ठ में निहित थी[५]। इस प्रकार

---

१ रे रे हंस किं गोप्यते परगमुसारेण मया लक्ष्यते केन तव शिक्षिता एषा गतिर्लसिता सा त्वया हृता जघनभरालसा।—विक्रम॰ ४।१२
—गुरुनुन्दरी जघनभरालसा पीनोत्तुङ्गघन
स्तनी स्थिरयौवना तनुशरीरा हंसगति।—विक्रम॰ ४।११
—पृथुजघनभरार्ता किंचिदानम्रमध्या स्तनभरपरिखेदान्मन्दमन्दं व्रजन्त्य।
—ऋतु॰ ६।१४
—अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।—अभि॰, ३।६
२ सा न खलु सा रम्भास्तम्भशोभा स्यात्।—विक्रम॰ अंक ४ पृष्ठ २१७
—अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।—रघु॰ ६।३५
—संभोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्।—उत्तरमेघ॰ ३८
३ गुरुत्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम्।—रघु॰ १३।१८
—अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।
—अभि॰ ३।१८
—सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरु।
आसंजयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥—रघु॰, ६।८३
४ करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशंकि मे मनः।—रघु॰ ८।५३
—नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
—कुमार॰ १।३६
५ अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ।
आजहतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम्॥—कुमार॰ १।३३

के चरणों से चलती हुई वे ऐसी प्रतीत होती थीं मानो वे पग-पग पर स्थलकमल उगाती हुई चल रही हों। शकुन्तला के कर कमल के समान सुकुमार एवं अरुण थे[1]। चमचमाते हुए नखोंवाले तथा नई कोंपल के समान पंजों से युक्त मालविका के चरण अग्निमित्र को अतिशय प्रभावित कर रहे हैं[2]। यथार्थ में कमल के समान उसके चरणों के प्रहार से यदि अशोक में कलियाँ न फूटीं तो अग्निमित्र के अनुसार सुन्दरी के चरणाघात से फूल उठने की चाह जो मस्त प्रेमियों के मन में होती है वह अशोक के मन में व्यर्थ ही हुई[3]। पार्वती के समान मालविका की भी उँगलियाँ कुछ ऊपर को उठी थीं[4]।

चाल—गजगामिनी और हंसगति से परिलक्षित होता है कि धीरे-धीरे चलना ही शुभ माना जाता था। इन्दुमती अपनी सुन्दर चाल को अपनी मृत्यु के उपरान्त मानो कलहंसिनियों को देती है[5]। युवती पार्वती झनझनाते हुए नूपुरों से जब चलती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानो राजहंसों ने नूपुर की मधुर ध्वनि को सीखने के काम में अपनी सुन्दर चाल पहले ही उसे सिखा दी हो[6]। स्वयं उर्वशी भी हंस की तरह गतियुक्ता थी[7]। कभी-कभी हंस भी

---

१ अपि निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ ।
—अभि० ३।१६

२ नखविलसत्पयोगौरात्पारेण बाला स्फुरितनखरमा ही कुसुमहलनेन ।
—माल० ३।१२

—तावास कर्णाविसमयमस्याविषमय चरणमर्पयति ।
उभयो: सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥ —माल० ३।११

३ अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा नवाम्बुरुहकोमलेन चरणेन सम्भावित: ।
अशोक यदि सद्य एव मुकुलैर्न संपत्स्यसे वृथा वहसि दोहदं ललितकामिसाधारणम् ॥
—माल० ३।१७

मध्य: पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली । —माल० २।३
मदालसं गतम् ... ... —रघु० ८।५९

सुन्दरियों की इस मनभावनी चाल को पराजित करने की चेष्टा करते हैं[१]।

मुद्रा—सुन्दर अब विशेष मुद्राओं में और भी सुन्दर लगते हैं। इसके अतिरिक्त मुद्राओं से विशेष भावों की भी अभिव्यक्ति होती है। पार्वती का सुन्दर मुख को कुछ तिरछा कर खड़ा रह जाना शिव के प्रति उनके प्रेम को व्यक्त करता है[२]। शकुन्तला का कविता रचते समय भ्रू का ऊँचा करना उसकी विकार-उन्मत्तता के साथ दुष्यन्त के प्रति अनुराग को भी प्रमाणित करता है[३]। इसी प्रकार बाएँ गाल पर हाथ रख बैठी शकुन्तला मा दुष्यन्त की स्मृति में अपनी सुध भूली हुई लगती है[४]। इसी प्रकार धनुष खींचने की मुद्रा में जब सुदर्शन अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे कर लेते थे बाएं ऊपर खींच लेते थे बाईं बाँह झुका देते थे और बाण चढ़ाकर धनुष की डोरी कान तक खींच लेते थ तब बहुत प्यारे लगते थे[५]। इसी प्रकार पार्वती के सौन्दर्य स प्रभावित होकर क्षण भर में ही सँभल कर उन्होंने इधर-उधर देखा कि इस विकार को मन में लाया कौन? उन्होंने उसी समय कामदेव को धनुष खींचकर गोल किए, दाहिनी आँख की कोर तक मुट्ठी से धनुष की डोरी खींचे दाएँ कन्धे को झुकाए और बाएँ पैर को मुड़ा मोड़ बाण चलाने की इस मुद्रा में देखा[६]। समाधि में स्थित महादेव जी की निश्चल मुद्रा भी न केवल उनके संयम

---

१ हंसैर्जिता सुललिता गतिरङ्गनानामम्भोरुहैर्विकसितैर्मुखचन्द्रकान्तिः।

—ऋतु० ३।१७

२ विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥ —कुमार० ३।६८

३ उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥—अभि० ३।१३

४ वामहस्तोपहितवदना लिखितेव प्रियसखी। भर्तृगतया चिन्तया आत्मानमपि नैषा विभावयति किं पुनरागन्तुकम्॥

—अभि अंक ४ पृ० ६०

५ स्थूलस्थितं किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः॥ —रघु १८।५१

६ स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥ —कुमार० ३।७०

—पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये॥

को व्यक्त करती है अपितु उनके हृदय की एकाग्रता और अनन्यता की भी इससे पुष्टि होती है। इसी प्रकार नृत्य करने के पश्चात् जब मालविका अपना बाँया हाथ नितम्ब पर रख लेती है, दूसरा हाथ श्यामा की डाली के समान ढीला और मधुर प्रतीत होता है, नीचे आँखें किए अपने पैरों के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को धीरे-धीरे सरकाती रहती है, उसकी यह मुद्रा नृत्य करते समय के सौन्दर्य से कहीं अधिक प्रभावशाली और लावण्य का आगार अग्निमित्र को प्रतिभासित होती है[1]। अग्निमित्र को उसकी यह हाव-मुद्रा भी बड़ी प्यारी लगती है जिसमें मोह के बढ़ने से उसके माथे की बिन्दी छूट जाती है और निचला ओठ फड़कने लगता है[2]।

पुरुष-सौन्दर्य—कालिदास ने जितना स्त्री-सौन्दर्य का वर्णन किया उतना पुरुष-सौन्दर्य का नहीं। नारी की सुकुमारता को उन्होंने अंग-अंग में दिखाया इसलिए कि उसके लावण्य के लिए इसकी चार आवश्यकता थी पर पुरुष-सौन्दर्य उनकी दृष्टि में वीरता का प्रतीक है। अतः अंग-अंग में उन्होंने विशालता और कठोरता के दर्शन किए। राजा दिलीप का सौन्दर्य देखिए—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ —रघु० १।१३

इसी प्रकार रघु का सौन्दर्य—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकंधरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद्गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ —रघु ३।३४

वृहद्यष्टि—कवि ऐसे ही बलवान् शरीर की प्रशंसा करता है जिसका आगे

भुजंगमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कंठप्रभासंगविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥
किंचित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसंगैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥
—कुमार ३।४६ ४७ ८०

का भाग निरन्तर धनुष खींचने से ऐसा कड़ा पड़ जाय कि उस पर न धूप का ही प्रभाव पड़े न पसीना ही छूटे[1]।

वर्ण—गौर अथवा श्याम कोई भी वर्ण हो कवि इसमें कोई हानि नहीं समझता। स्वयं राम श्याम वर्ण के थे और सीता गौरवर्णा। इसके पहले भी इन्दुमती गोरोचन के समान गौर थी और सुनन्दा ने पाण्ड्य देश के राजा का वर्णन किया कि वह नील कमल के समान साँवले हैं। इनसे विवाह कर तुम उसी प्रकार शोभित होगी जैसे घन के साथ बिजली[2]। इसी वंश में नल के आकाश के समान साँवले नभ का पुत्र हुआ था[3]।

नेत्र—विशाल नेत्र पुरुष-सौन्दर्य में भी शुभ लक्षण माने जाते थे[4]। कमल[5] तथा हरिण[6] इनके नेत्रों के भी उपमान बन कर आए हैं।

अधर—लाल ओंठ भी सौन्दर्य का चिह्न माना जाता है। हिमालय के अधर धातुवत् ताम्र थे[7]। इसका प्रसंग केवल एक ही आया है।

वाणी—स्त्रियों की तरह इनमें भी मधुर वाणी प्रशंसनीय मानी जाती थी। रघुवंशीय क्षेमधन्वा के पुत्र देवानीक इतना मधुर बोलते थे कि शत्रु भी उनका मित्रवत् आदर करते थे[8]।

---

१ अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥
—अभि० २।४

२. इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु॥—रघु० ६।६५

३ नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।—रघु० १२।६

४ कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना॥—रघु० ४।१

५ पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ...... —रघु० १८।४
—पुण्डरपत्रमत्र पुत्र ...... —रघु० १८।१०

६ परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु।—रघु० १।४०
—मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः।—रघु० १८।३५

७ धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो......।
—कुमार० ६।५१

८ वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्टः।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम्॥—रघु०, १८।१३

स्कन्ध—ऊँचे और भारी कन्धे वीरता के चिह्न हैं। अतः वृष के समान स्कन्ध का ही जहाँ पुरुष-सौन्दर्य दिखाया गया है वर्णन है[१]। जिस प्रकार राम वृष के समान ऊँचे कन्धे वाले थे वैसे ही रघु भी यौवनावस्था में भारी कन्धे से युक्त हो गए[२]।

वक्षःस्थल—पुरुष के हर अंग में वीरता का प्रदर्शन करने के लिए कवि ने विशालता दिखाई है। जहाँ कहीं वक्षःस्थल का वर्णन है वहाँ कठोरता और विशालता की अभिव्यक्ति के लिए उसने कभी शिलापट्ट[३] के समान कभी कपाट वत्[४] कहा है। यदि वे उपमान नहीं भी आए हैं तब भी उसने विशाल वक्षःस्थल अवश्य कह दिया है[५]।

भुजाएँ—लम्बी एवं कठोर भुजाएँ पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा हैं। कहीं धनुष्प्रांशु के समान[६] कहीं दीर्घमान के समान[७] कहीं गजराज के सदृश[८] कहीं नगर-परिघ के अनुरूप[९] उसने भुजाओं का सौन्दर्य कहा है। कभी अन्य उपमा

---

१ ककुद्मन्तं वाले ... कनीयांसं भवन्तं मे।
इति रामो वृषस्कन्धः ... ताम् ॥ —रघु० १२।३४
—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। —रघु० १।१३

२ आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्र धर्म इवाश्रित। —रघु० १।१४
महा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षा परिणद्धकंधरः —रघु० १८।१७

३ वक्षस्यसंघृष्टसुखारोपील शिला शिलापट्टविशालवक्षा। —रघु० ...
—अनुकारमर प्रांशुर्वेशाखबृहद्भुज।
महर्षीव शिलासारः सुप्रयुक्तो हिमवानिति ॥ —कुमार० ६।५१

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २

५ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —रघु० १।१३
—अवसितामायाज्यभुजबाहुविशालवक्षास्तनुवृत्तमध्य। —रघु० ३।३२
... नं० १ —रघु० १।१३
... शिलाग्रहस्त। ... १४।११

न मिलने के कारण उरगभ्राता[1] आजानुविलम्बि[2] आदि शब्द कह कर ही रह जाता है। लम्बाई के साथ-साथ मोटा होना भी आवश्यक था। पुष्टता के लिए वह जुए के समान उपमान प्रयोग करता है[3]। भुजाओं पर धनुष के खींचने से पड़े पड़ना ज्याघातकिणलाञ्छन अथवा धनुष खींचने से कड़ा पड़ जाना पुरुष सौन्दर्य की मुख्य विशेषता मानी गई[4]।

नाभि—गहरी नाभि स्त्रियों के समान पुरुषों को भी सुन्दरता का लक्षण मानी जाती थी[5]। उन्नाभ का यह नाम गहरी नाभि के ही कारण पड़ा था।

कटि—यद्यपि प्रत्येक अंग में कवि ने चित्रित की है पर कटि-प्रदेश सूक्ष्म ही अच्छा माना[6]। अवन्तिनाथ के सौन्दर्य की यह मुख्य विशेषता थी।

जघन-प्रदेश—बाहुओं के समान जंघाओं का भी दीर्घ होना शुभ लक्षण कवि ने माना[7]। राम की भुजाएँ और जघन दोनों ही घेरणाग्र के समान दीर्घ थे।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १—रघु० १।१३

२ तवैतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ —रघु० १६।८४

३ युवा युगव्यायतबाहुरंसलः — रघु० ३।३४
—मनस्तुमानस यशोधनमवद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।—रघु० १८।४८

४ तपिना हि बाहो भरतेश्वराख्येन तात धनुषा धनुभृत।
ज्याविभावकिणलाञ्छनो भुजाभ्यामिवभूष विभिति प्रतस्थिरे ॥—रघु० ११।१८
—देखिए, पादटिप्पणी नं० २ —रघु० १६।८४
—ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
—रघु० ६।५५
—देखिए पादटिप्पणी नं० ३ —रघु० १८।४८
—...स्वेदकोटरबिम्बम्।
—कुमा० २।४
—अनभिम्लानिगम्यापानात् ...मया प्रतिमाधने।
—कुमा० ३।११

५. उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः।—रघु० १८।२०

६. अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।—रघु० ६।३२

७ देखिए, पृ० १९० की पादटिप्पणी नं० ७

स्कन्ध—ऊँचे और भारी कन्धे वीरता के चिह्न हैं। अतः वृष के स्कन्ध का ही जहाँ पुरुष-सौन्दर्य दिखाया गया है वर्णन है[1]। जिस प्रकार वृष के समान ऊँचे कन्धे वाले थे वैसे ही रघु भी यौवनावस्था में भारी युक्त हो गए[2]।

वक्षःस्थल—पुरुष के हर अंग में वीरता का प्रदर्शन करने के लिए विशालता दिखाई है। जहाँ कहीं वक्षःस्थल का वर्णन है वहाँ कठोरता विशालता की अभिव्यक्ति के लिए उसमें कभी शिलापट्ट[3] के समान कभी वप्र[4] कहा है। यदि ये उपमान नहीं भी आए हैं तब भी उसमें विशालता का अवश्य कह दिया है[5]।

भुजाएँ—लम्बी एवं कठोर भुजाएँ पुरुष-सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। धामप्रांशु के समान[6] कहीं शेषनाग के समान[7] कहीं देवदारु के सदृश[8], नगर-परिघ के अनुरूप[9] उसमें भुजाओं का सौन्दर्य कहा है। कभी भव्य

---

१ कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ —रघु॰ १२।३४
—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः। —रघु॰ १।१३
२ युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः— —रघु॰ ३।३४
३ तस्यामलसुरस्यारनीक [illegible] शिलापट्टविशालवक्षा। —रघु॰ [illegible]
—वप्रक्रियाप्रांशुरैरावतसुदृढभुज।
प्रवृद्धेव शिलोरस्क सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ —कुमार॰ ६।५१
४ देखिए पादटिप्पणी नं॰ २
५ देखिए पादटिप्पणी नं॰ १ —रघु॰ १।१३
—अवनिताचोऽभ्युदयप्रांशुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः। —
नं॰ १ —रघु॰ १।१३ [illegible] विरदवरा

भावत्सुमरिर्य मुभूम्मकामि समुत्सुका सखीमियमि सम्पक्वत्वामि ।

'कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या । —विक्रम
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥—अभि

कभी-कभी कवि को स्त्री-सौन्दर्य प्राकृतिक सुषमा को भी पार करता हुआ होता है। उसे आभास होता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य स्त्री-सौन्दर्य का अत यह प्रकृति म स्त्री-सौन्दर्य देखता है।

अन्तर्निरेवभवनमस्तिमिव मुख मधुमोत्सिसक्तं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥—कुमार १।

अव स्त्रीमवपाग्ले कुरबकं श्यामं द्वयोर्भासयो
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरज:कणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीस्थिता ॥—विक्रम २।

यौवन-श्री और सौन्दर्य के विषय म कवि का कहना है कि यह शरीररूपी लता का स्वाभाविक शृंगार है, बिना मदिरा के ही मन को मतवाला बनाने वाला है।

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वय: प्रपेदे ॥—कुमार० १।३१

सौन्दर्य क्या है ?

सौन्दर्य के अनुभव म जितना आनन्द है परिभाषा बनानी उतनी ही कठिन। एक कवि का कहना है— क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया। अंग्रेजी कवि कीट्स का कहना है कि 'सौन्दर्य वही है जो मनुष्य को सदा आह्लाद प्रदान करे' (A thing of beauty is a joy forever)। रामस्वामी शास्त्री के मतानुसार सौन्दर्य गत्यात्मक गुण है और निश्चल आत्मा के आनन्द की गत्यात्मक अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य में मृदुता अनुरूपता और अनुपमेय छटा का समावेश है पर यह उसका सार तथा मूलतत्त्व नहीं है। इसमें सदा नवीनता और ताजगी रहती है। यह स्वयं साध्य है पर साधन नहीं। इसकी उपस्थिति में ही तथा इसी की शक्ति से आत्मा के आनन्द तत्त्व का चरम उत्कर्ष होता है। अत सौन्दर्य आत्मा के आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसी कारण ईश्वर को आनन्द प्रेम तथा सौन्दर्य के भावों से विभूषित करते हैं[1]।

---

१ Beauty is a dynamic quality and is the dynamic expression of the static bliss of the soul. Softness, symmetry ... are among its

चरण—प्रभात की लाल किरणों से भरे कमल के समान चरण तथा लाल नख चरण-सौन्दर्य का प्रतीक समझा गया[1]। अग्निवर्ण में असंख्य दोषों के होते हुए भी एक यह गुण था।

स्त्रियों में यदि वायु की-सी चञ्चलता[2] अच्छी समझी गई तो पुरुष सागर के समान गम्भीर[3] तथा विपुल वृत्ति[4] वाले ही भद्र एवं उत्तम माने गए। और पुरुष की न केवल आकृति ही गम्भीर होनी चाहिए, अपितु हृदय की गम्भीरता भी उतनी ही आवश्यक है।

सौन्दर्य की परिभाषा तथा तत्त्व

नेत्रों का कोई भी सौन्दर्य कितना हो प्रभावित क्यों न करे हृदय में कितना ही बस क्यों न जाएँ फिर भी यह अनुभव तथा व्यक्त करना मनुष्य के लिए कठिन समस्या है कि आखिर सौन्दर्य है क्या वस्तु? इसके तत्त्व क्या हैं? आत्मा के लिए इसका प्रयोजन क्या है?

कालिदास को इन तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान था। वह अच्छी तरह जानते थे कि स्त्री और पुरुष की आकृति में जो सौन्दर्य झलकता है वह प्राकृतिक-सौन्दर्य का ही एक अंग है। अन्यथा स्त्री-सौन्दर्य की वह कोमल पल्लव तथा फूली हुई लताओं से कभी तुलना नहीं करता—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव॥ —कुमार० ३।५४

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्॥ —अभि० १।२

---

१ तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम्॥—रघु०, १९।८

भाविनं कल्ईमीषु मरासनं गतम्।

यावत्पुनरियं सुभ्रूरमकामि समुत्सुका सखीभिमति सम्पकक्यामि
—विक्रम०

नात्विरमपुष्ठनवतो नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥—अभि०

कभी-कभी कवि को स्त्री-सौन्दर्य प्राकृतिक सुषमा को भी पार करता हुआ होता है। उसे आभास होता है कि प्राकृतिक सौन्दर्य स्त्री-सौन्दर्य का अत यह प्रकृति में स्त्री-सौन्दर्य देखता है।

अभ्रिरेखग्नमतिथिर्मुख मधुमोत्सिकं प्रकाश्य ।
रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार ॥—कुमार ३।१

अथ स्त्रीनखपाटल कुरबकं श्यामं द्वयाभंगियो
रक्ताशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्बद्धरज कणाग्रकपिशा चूते नवा मंजरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीस्थिता ॥—विक्रम० २॥

यौवन-श्री और सौन्दर्य के विषय म कवि का कहना है कि यह शरीररूपी का स्वाभाविक शृंगार है बिना मदिरा के ही मन को मतवाला बनाने वाला है।

असम्भृतं मण्डनमंगयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वय प्रपेदे ॥—कुमार० १।३१

सौन्दर्य क्या है ?

सौन्दर्य के अनुभव म जितना आनन्द है परिभाषा बनानी उतनी ही कठिन। एक कवि का कहना है— क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया। अंग्रेजी कवि कीट्स का कहना है कि 'सौन्दर्य वही है जो मनुष्य को सदा आह्लाद प्रदान करे (A thing of beauty is a joy forever)। रामस्वामी शास्त्री के मतानुसार सौन्दर्य गत्यात्मक गुण है और निश्चल आत्मा के आनन्द की गत्यात्मक अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य में मृदुता अनुरूपता और अनुपमीय छटा का समावेश है पर यह उसका सार तथा मूलतत्त्व नहीं है। इसमें सदा नवीनता और ताजगी रहती है। यह स्वयं साध्य है पर साधन नहीं। इसकी उपस्थिति मे ही तथा इसी की शक्ति से आत्मा के आनन्द तत्त्व का चरम उत्कर्ष होता है। अत सौन्दर्य आत्मा के आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इसी कारण ईश्वर को आनन्द प्रेम तथा सौन्दर्य के नामों से विभूषित करते हैं[1]।

१ Beauty is a dynamic quality and is the dynamic expression of the static bliss of the soul. Softness, symmetr are among its

स्वयं कालिदास सौन्दर्य को आध्यात्मिक रूप में अधिक लेते हैं। इसकी पुष्टि शकुन्तला के सौन्दर्य के अभिव्यञ्जन से होती है—

चित्र निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
... स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे ॥—अभि० २।१०

उर्वशी के सौन्दर्य का वर्णन करने में वे एक पग और आगे बढ़ जाते हैं। भोग-विलास से दूर रहने वाले मुनि ऐसा रूप नहीं उत्पन्न कर सकते। वसन्त कामदेव अथवा चन्द्रमा ने ही ब्रह्मा बन इसकी रचना की होगी—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥
—विक्रम० १।१०

सब में कवि का संकेत है कि सौन्दर्य में चित्त की-सी ताजगी तथा स्फूर्तिदायक आनन्द है। इसमें विस्मय है अतः इसके लावण्य, सुषमा और सुकुमारता से हृदय में आकर्षण अवश्य होता है। यही सबसे बड़ा कारण है कि सौन्दर्य से सभी बहुत अधिक प्रभावित होते हैं।

सौन्दर्य के तत्त्व—कवि सबसे प्रथम सौन्दर्य के तत्त्वों में सर्वाङ्गपूर्णता को लेता है। अर्थात् जिस सौन्दर्य में कोई अभाव, कोई दोष न हो। मालविका के सौन्दर्य में अग्निमित्र को कोई दोष न लगता। प्रत्येक मुद्रा प्रत्येक अवस्था में वह एक समान ही सुन्दरी प्रतीत होती थी।

'अहो सर्वास्ववस्थासु रूपविशेषम्'—माल० अंक २ पृ० २८२

'अहो सर्वास्ववस्थासु चारुता शोभान्तरं पुष्यति'—माल० अंक २ पृ० २८२

अनवद्यता के साथ-साथ कान्ति में स्वाभाविकता का होना वाञ्छनीय है। दूसरे शब्दों में अक्लिष्ट कान्ति अनवद्यता के उपरान्त दूसरा तत्त्व माना जाता

... and everfresh. It is an end itself and not a
...

है। शकुन्तला की यही अक्लिष्ट कान्ति[1] दुष्यन्त को प्रभावित कर गई थी। ऐसा सौन्दर्य मानवता में बिना किसी दिव्य संयोग के सम्भव नहीं होता। शकुन्तला के सौन्दर्य में मानवत्व तथा देवत्व दोनों का योग था[2]।

सौन्दर्य में वह लावण्य है जिसके लिए बाह्य साधन अपेक्षित नहीं है। सौन्दर्य स्वतः शरीर का सबसे बड़ा आभूषण है जो हर अवस्था में खिल उठता है

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥
—अभि० १।१९

पार्वती के सौन्दर्य की भी यही विशेषता थी—

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम्।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पंकजं सशैवलासंगमपि प्रकाशते॥ —कुमार० ५।९

कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाय निपुण-से-निपुण चित्रकार भी लावण्य की रेखा भर खींच पाता है[3]। जिस प्रकार आभूषण से सौन्दर्यवृद्धि होती है, वैसे ही सौन्दर्य स्वयं आभूषण की शोभा को द्विगणित कर देता है[4]। शरीर का सौन्दर्य आभूषणों का भी आभूषण है। 'आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः'[5]।

सौन्दर्य का चरम तत्त्व उन्होंने शकुन्तला में ही दिखाया है—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैरनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥
—अभि० २।१०

इसमें कोई सन्देह नहीं कवि की प्रत्येक उपमा साभिप्राय है। फूल और पत्ता में ताजगी और सुकुमारता है, रत्न की कान्ति सदा एक-सी रहनेवाली है

---

१ इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
—अभि० ५।१९

२ मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ —अभि० १।२४

३ यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥—अभि० ६।१४

४ कंठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥
—कुमार० १।४२

५ आभरण.........—विक्रम० २।३

बहुत आकर्षक है। अतः सौन्दर्य में लावण्य, सुकुमारता, नवीनता और कान्ति ही नहीं अपितु यह ईश्वर की एक कल्याणदायक तथा पवित्र देन है।

कालिदास का यह भी विश्वास है कि सौन्दर्य और पाप कभी साथ-साथ नहीं रह सकते। सौन्दर्य कभी पापाचार का कारण नहीं होता—

'न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति' —अभि० अंक ४ पृ० ४७

कुमारसंभव में भी इस भाव की पुनरावृत्ति है—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥ —५।३६

कालिदास के समान अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर भी सौन्दर्य की यह विशेषता मानता है[1]।

मानव-आत्मा पर सौन्दर्य का प्रभाव पड़ता अवश्य है। इन्दुमती के सौन्दर्य का प्रभाव स्वयंवर में आए प्रत्येक राजा पर पड़ता है और प्रत्येक के हृदय में उसकी प्राप्ति की लालसा जग उठती है[2]। महान् सौन्दर्य अलंकार ही नहीं अपितु जीवन को भी पवित्र कर देनेवाला है, उसी प्रकार जैसे ज्योति दीपक को प्रकाशित करती है और गंगा तीनों लोकों को अलंकृत कर देती है[3]।

कन्याओं और स्त्रियों का वर्णन कवि ने विशेष रूप से किया है। कुमारसम्भव प्रथम सर्ग में उमा की कन्या वय और यौवनावस्था का अंग-प्रत्यंग चित्रण किया है। इसके अतिरिक्त मालविका का नृत्य करते समय, दोहद समय चित्रलेखा या उर्वशी के विषय में कथन—'अपि नाम्नैव पुरुरवा मयैवमिति' शकुन्तला का पानी देते समय सौन्दर्य, विरहदग्धा शकुन्तला का लावण्य, यक्ष-पत्नी का तन्वी श्यामा शिखरिदशना...... लावण्य का शायद ही कोई अंग उन्होंने अछूता न छोड़ा[4]।

सुन्दर-सुन्दर बालक और पुरुष भी कवि की दृष्टि से न बचे। भरत का सुन्दर हाथ जो मानो खिला कमलवत् था[5], राजा दिलीप जिसका वक्ष विशाल

---

1 There's nothing ill can dwell in such a temple. (Tempest)

था शाल के समान लम्बी भुजाएँ थीं[1] रघु जिसका वक्ष कपाट के समान था और जो 'परिणद्धकन्धरः' था[2] दुष्यन्त लम्बा और पुष्ट सभी प्रशंसनीय हैं। सबसे सजीव वर्णन महादेव का वर रूप है। कण्व और मरीचि की शान्तमूर्ति भी प्रशंसनीय है।

प्रयोजन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास ने सौन्दर्य का शारीरिक तथा बाह्य रूप अधिकांश में लिया परन्तु तथापि उन्होंने सौन्दर्य का प्रयोजन आध्यात्मिक ही माना। उन्होंने अच्छी तरह परखा कि जीवन में सौन्दर्य का प्रयोजन है क्या। सौन्दर्य का तभी मूल्य है जब वह हमारे अन्दर श्रद्धा आदर और प्रसन्नता के भाव उत्पन्न कर दे तथा हम सृष्टिकर्ता के प्रति इसके लिए अनुगृहीत हों यदि यह शोभना भी हो त्याग और सेवा की प्रेरक हो स्वार्थ से मुक्त कर हृदय में सजीवता तथा चेतनता की उत्पत्तिकारिणी हो आत्मा में परमात्मा की अनुभूति प्रदान करनेवाली हो। इसके विपरीत यदि यह मोह और लालसा-लिप्सा से युक्त कर मनुष्य को सांसारिक बनाए, काम और बर्बरता को उत्पन्न कर तो यह निरर्थक ही है। कवि उन्नति की ओर ले जानेवाली सुन्दरता का पुजारी था। इसी के उत्कर्ष के लिए उसने यत्र-तत्र सामान्य सौंदर्य की भी उपेक्षा की। कुमारसंभव का 'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' 'स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः' उसके हृदय के सच्चे विश्वास की अभिव्यक्ति है। उमा का अपने सौन्दर्य से शिव को न जीत पाना ही प्रमाणित करता है कि सौन्दर्य को भक्ति का और भक्ति को भगवान् का अनुगामी बनना चाहिए।

वस्त्र

संस्कृति के अध्ययन अब तक किसी ने अपनी दृष्टि इस ओर नहीं फेरी। किसी ने कभी ध्यान ही नहीं दिया कि भारतवासियों के वस्त्र तथा पहिरावे में भी कोई विशेषता हो सकती है। कौन कह सकता है कि आजकल जिस ढंग से धोती साड़ी ब्लाउज पगड़ी आदि पहनी जाती है वही ढंग पहले भी था। आजकल के और प्राचीन समय के अलंकारों में भी बहुत अन्तर रहा होगा। वस्त्रों के रंग और प्रकार भी कुछ दूसरे ही रहे होंगे।

---

१ व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ....—रघु० १।१३

२ युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षा परिणद्धकन्धरः —रघु० ३।३४

—अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥

इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि कालिदास के समय वस्त्र पहने जाते थे कि नहीं ? समस्त ग्रन्थों के सम्यक अध्ययन करने से इस का कहीं प्रमाण नहीं मिलता। कंचुक या कंचुकी का कोई प्रसंग नहीं है। इसके विपरीत दुकूल अंशुक उत्तरीय उष्णीष स्तनांशुक स्तनपट्ट नाम मिलते जिनसे व्यक्त यही होता है कि इस समय सिले कपड़े पहनने का चलन नहीं था। वैसे कूर्पासक शब्द से कहा जा सकता है कि समय पड़ने पर कपड़े सिले पहने जाते होंगे। एक वस्त्र निम्न भाग के ढकने का और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए प्रयोग किया जाता था। दुकूलयुग्म[1] और क्षौमयुग्म[2] का यही महत्व है। प्रावार[3] शब्द मिलने के कारण ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि शीत अनुभव होने पर गरम चादर ओढ़ भी जाती होगी। भारतवर्ष में इतना शीत का प्रकोप देखने में आता भी नहीं है। यहाँ नहीं अच्छा भोजन प्राप्त हो सकने के कारण स्वास्थ्य भी यथेष्ट अच्छा रहता था अत इससे अधिक शीत व्याप्तता भी अनुभव न होती होगी। स्तनांशुक और स्तनपट्ट नामों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आजकल की ब्लाउजों की तरह कोई[5] वस्त्र न था। अधिक शीत में स्त्रियाँ कूर्पासक[4] पहनती थीं। यह कोई ढीला-ढाला अंगरखा-सा सिला कुछ होगा क्योंकि अधिकांश में इसका प्रयोग नहीं है।

दूसरा प्रमाण यह है कि वक्ष से नाभि गोलक पर प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए, यह उस समय की वेश भूषा का रूप प्रतीत होता है। मालविकाग्निमित्र में परिव्राजिका साफ-साफ कहती है— सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये विगतनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु[1]। डाक्टर मोतीचन्द का भी ऐसा ही अनुमान है कि सिले कपड़ों से अंग ढक देने से उनकी गठन सुघराई में नहीं दिखाई जा सकती[2]।

इस समय की जितनी भी स्त्रियों की मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें दो विशेषताएँ देखी जाती हैं—प्रथम वे ऊपर चादर या ओढ़नी नहीं लेतीं द्वितीय उनका वक्ष स्थल खुला हुआ है, नाभि भी इसी प्रकार दीखती है। शकुन्तला में जितना भी लगा

से स्त्रियाँ किसी के सम्मुख नहीं आ सकती।

निम्नजाता की परिभाषा

पयोधर के समस्त गुण—कठोरता उन्नतत्व पीनत्व विशालता आदि खूब अच्छी तरह से एक-एक करके वर्णित हैं। यहीं तक रहता तो भी था। कहा जा सकता है कि यह सब वस्त्र पहनने पर भी नहीं छिप सकती गोरे स्तन और साँवली चूचियाँ जब तक दिखाई न पड़ें तब तक कोई नहीं करेगा। मालवि रोमावली सबका अवश्य प्रमाणित करता है कि चोली नहीं पहना जाता होगा और स्त्रियाँ श्रृंगार के सबसे सुन्दर रूपों में स्तनांशुक तक धारण नहीं करती होंगी[1]। शकुन्तला का चित्र बनाते समय स्तनों के बीच मृणाल तन्तुओं की माला दिखाना भी इसी की पुष्टि करता है[2]।

कपड़ा के प्रकार—सूती रेशमी और ऊनी नाना प्रकार के वस्त्र उस समय पाए जाते थे। कवि के ग्रन्थों में कौशेय क्षौम पत्रोर्ण कौशेय-पत्रोर्ण दुकूल और अंशुक नाम हैं।

कौशेय[3]—डाक्टर मोतीचन्द्र के अनुसार यह कोशकार कीट का बना रेशमी वस्त्र था[4]। वैसे ही यह जहाँ कहीं प्रयुक्त हुआ है वहाँ रेशमी वस्त्र ही लगता है।

क्षौम[5]—डाक्टर मोतीचन्द्र के अनुसार यह बहुत महीन और सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी या सन के रेशों से बनता था[6]। कौशेय के समान यह भी रेशमी वस्त्र जब श्वेत[7] ही प्रतीत होता है। क्षौम को उपमा दुधिया रंग के क्षीर सागर से बाण ने दी है। क्षौम जैसा नाम से व्यक्त है कदाचित् क्षुमा या अलसी नामक पौधे के रेशों से तैयार होता था। मोंग सन और पटसन के रेशों से भी

---

१ तस्य निरन्तरनिमग्नस्तथा कण्ठसूत्रमपरिश्य योगिन। अपरागेण कान्तमम्बरं पीवरस्तननिरुद्धचन्दनम्॥—रघु १९।३२

२ न वा परस्त्रीस्तनयोर्विरोमन्त मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।—अभि ६।१८
बाण का भी ऐसा कहना है—शालिनी और वासगृह (सोने का कमरा) और वहाँ और सौध जिसकी छत अत्यन्त सुखी रहती थी। यहाँ रानी यशोवती स्तनांशुक को भी छोड़कर चाँदनी में बैठती थी।
—हर्षचरित पृष्ठ ६२

३ कुमार० ७।७ ऋतु ५।८

४ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश भूषा भूमिका पृ० ९ अध्याय ४ पृष्ठ ५९

५ रघु० १०।८ १२।८ उत्तरमेघ ७ अभि० ४।५, अंक ४ पृष्ठ ९८ कुमार० ७।२६

६ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश भूषा भूमिका पृष्ठ ९

७ क्षीरोदफेन धवलदुकूला पर्योधिकारव धारितयामा। सर्वं स्वक्षौमविकासिनी सा भूमौ बभौ

वस्त्र तैयार किए जाते थे पर क्षौम अधिक कीमती मुलायम और बारीक होता था। चीनी भाषा में 'शु-म' एक प्रकार की घास के रेशों से तैयार वस्त्रों के लिए प्राचीन नाम था जो बाण के समकालीन एवं उससे पूर्व प्रयुक्त होता था। यही चीनी घास भारतवर्ष के पूर्वी भागों आसाम बंगाल में होती थी। अतः यह रेशों से तैयार होनेवाला वस्त्र है। यह अवश्य ही आसाम में बननेवाला कपड़ा था क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे उनमें यह भी था[1]।

पत्रोर्ण[2]—ऊन का अर्थ श्री सीताराम चतुर्वेदी की प्रकाशित टीका में ऊन मिलता है। इससे यह व्यक्त होता है कि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी वस्त्र ही था। *मालविका को पहनाने के लिए पत्रोर्ण का नाम आया है अतः यह ऊनी वस्त्र ही होगा*[3]। जैसे (ऋग्वेद १।१७।३) में भेड़ को 'ऊर्णावती' कहा है तो पत्रोर्ण माने ऊन ही सकता है परन्तु डाक्टर मोतीचन्द का कहना है कि नागवृक्ष लिकुच बकुल और वटवृक्षों की छालों से निकले रेशे से इसका निर्माण होता था। इसका रंग क्रमशः गेहुँआ सफेद और मक्खन का-सा होता था[4]। नागवृक्ष से बना पत्रोर्ण का कपड़ा पीला लिकुच का गेहुँआ बकुल का सफेद होता था[5]। गुप्तकाल में पत्रोर्ण धुला हुआ रेशमी बहुमूल्य कपड़ा समझा जाता था। वासुदेव जी भी इसे रेशम मानते हैं जिसे क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है ('नाग-वटादिपत्रेषु कृमिलालोर्णाकृतं पत्रोर्णम्' —क्षीरस्वामी) क्षीरस्वामी का कहना है कि इस रेशम को वट और लकुच की पत्तियाँ खानेवाले कीड़े पैदा करते थे। शायद यह किसी किस्म का जंगली रेशम रहा हो[1]।

कौशेय-पत्रोर्ण[2]—यदि पत्रोर्ण का अर्थ ऊनी लिया जाय तो कौशेयपत्रोर्ण से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऊन में कुछ रेशम मिलाकर भी सुन्दर चिकने व चमकनेवाले वस्त्रों का निर्माण होता होगा। यह कुछ अद्भुत बात नहीं है। आजकल भी ऊन में रेशम मिलाकर वस्त्रों का निर्माण होता है। नहीं तो यह भी रेशमी वस्त्रों का एक प्रकार है।

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ ७९

दुकूल[1]—यह वस्त्र दुकूल वृक्ष की छाल के रेशे से बना करता है ऐसा डाक्टर मोतीचन्द का अनुमान है। बंगाल का बना दुकूल सफेद होता था[2]। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर क्षोम तथा कौशेय का प्रयोग किया जाता था[3] परन्तु एक स्थान पर दुकूल का भी नाम आया है[4]। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार आज कल भी शान्तिपुरी और चन्देरी की साड़ियाँ सूती होते हुए भी १५० रु० २०० रु० और इससे भी मँहगी आती हैं इसी प्रकार दुकूल का कोई प्रकार बहुत महीन और अच्छा भी होता होगा। अंशक से दुकूल मोटा होता होगा क्योंकि पुरुष दुकूल ही धारण करते हैं[5] और स्त्रियाँ भी शरीर के निम्न भाग पर दुकूल ही का अधिकांश में प्रयोग करती हैं[6]। दुकूल का रंग ज्योत्स्ना की तरह धवल वर्णित है[7]।

हंसचिह्न दुकूल[8]—श्वेत दुकूल के अतिरिक्त छपा दुकूल भी होता था। बहुधा हंस चक्रवाक आदि के चित्र छपे रहते थे। यह बहुत मांगलिक समझा जाता था। विवाहादि अवसरों पर इसका प्रयोग होता था[9]।

अंशुक[10]—ग्रीष्म में इसका अधिक प्रयोग होने के कारण ऐसा अनुमान है कि यह वस्त्रों का सबसे महीन प्रकार है। अंशुक इतना स्वच्छ होना चाहिए कि चन्द्रमा की निर्मल किरणों का धोखा हो जाय[11]। यह इतना महीन भी होना चाहिए कि निश्वास से उड़ जाय[12]। अंशुक कई प्रकार का होता था। सितांशुक

---

१ रघु० ७।१८ कुमार० ७।१२ कुमार० ७।७२ ७।७३ कुमार० ७।७८ शाकु० १।४ २।२६ ३।७ ४।१ विक्रम० अंक ५ पृ ११६ माल० ५।७
२. डा० मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा भूमिका पृ० ८
३ कुमार० ७।७ ७।२६ अभि० ४।५ अंक ४ पृ ६८ रघु० १२।८
४ रघु ७।१८ कुमार ७।७२
५ रघु० ७।१८ कुमार० ७।१२ ७२–७३ ५।७८।
६ शाकु० १।४ २।२६ ३।७ ४।१
७ शाकु० ३।७ डा० मोतीचन्द प्राचीन वेशभूषा पृ ५५ में पौंड्र देश में बने दुकूल नीले और चिकने सुवर्णकुड्या में बने दुकूल ललाई लिए होते हैं कहते हैं। बंगाल का दुकूल सफेद और मुलायम होता है।
८ कुमार० ५।६७ ७।३२ रघु १७।२५
९ देखिए, पादटिप्पणी नं० ९
१० कुमार० १।१४ ७।३ ८।२७१ शाकु० १।७ ३।१ ४।३ ६।५,२१ रघु० १०।६, पूर्वमेघ ६६ रघु० ६।७५, विक्रम० ३।१२ ४।१७
११ कुमार० ८।७१ १२ रघु० १६।४३

चीनांशुक रक्तांशुक नीलांशुक[1]। अमरकोष में क्षौम और दुकूल को पर्यायवाची कहा है और नव और अंशुक को समान अर्थवाची। टीकाकार के मत में बाण ने अंशुक और क्षौम का अलग अलग माना है। अंशुक की उपमा मन्दाकिनी के श्वेत प्रवाह से दी है अन्यत्र अंशुक की सुकुमारता की उपमा दुकूल की कोमलता से दी गई है (चीनांशुक सुकुमारे धौतधौतदुकूलकोमले शयने इव समुप-विष्ट)[2]। अंशुक दो प्रकार का था एक भारतीय और दूसरा चीन देश से मंगाया हुआ जो चीनांशुक कहलाता था। यह भी रेशमी वस्त्र ही था[3]। बहुत पतले रेशमी कपड़े या चीन के बने रेशमी कपड़े को चीनांशुक कहते हैं[4]।

तनूनि[5]—*यह किसी विशेष वस्त्र का नाम नहीं लगता। ऐसा लगता है* कि महीन वस्त्र के लिए ही इसका प्रयोग हुआ है।

कालिदास ने किसी ऊनी कपड़े का नाम नहीं दिया परन्तु डाक्टर मोतीचन्द्र ने ई० पू० १ शताब्दी से ई० पू० १ शताब्दी के बीच में ही भेड़ के ऊन से बने कम्बलों का प्रसंग दिया है। भेड़ के ऊन से बने शाल (आविक) सफेद गहरे लाल या मिश्रित लाल रंग के होते थे[6]। डाक्टर मोतीचन्द्र ने अनेक प्रकार के ऊनी कपड़ों के नाम और प्रकार दिए हैं।

भारीवस्त्र—जिस प्रकार गर्मियों में अंशुक का प्रयोग होता था उसी प्रकार कठोर शीत में भारी-भारी वस्त्रों को उपयोग में लाया जाता था[7] पर इस प्रकार के वस्त्र का कहीं नाम नहीं मिलता।

मृगछाला—विशेष अवसरों पर वस्त्रों के स्थान पर इसका भी प्रयोग होता था। यज्ञ तथा विद्यारम्भ-संस्कार के समय पवित्र होने के नाते इसका प्रयोग किया जाता था। मृगछाला में रुरु मृग का चर्म अजिन[8] और मैध्य[9]

---

१ सिताशुक—ऋतु० १।१ विक्रम० ३।१२ चीनांशुक—अभि० १।३१
रक्तांशुक—ऋतु ६।२१ नीलांशुक—विक्रम अंक ३ पृ० ११८
२ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ ७६

विशेष है। मातृक की खाल बिछाने के काम में भी आती थी। मेष्याजिन भी बिछाए जाते थे[1]।

वल्कल—तपस्वीजन वस्त्रों के स्थान पर वल्कल धारण करते थे। शकुन्तला सीता आदि ने भी वनवास में वल्कल का ही प्रयोग किया था[2]। राम ने वन जाते समय सांसारिक वस्त्रों का परित्याग कर वल्कल ही पहन लिए थे। इसी प्रकार पार्वती भी अपने रेशमी वस्त्रों को उतार कर [illegible] वल्कल वस्त्र पहन लेती हैं[3]। इसी पर वे मौञ्जी भी ओढ़ रखती थीं[4]।

वस्त्रों के मुख्य रंग—मनुष्य सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहनने के शौकीन थे। 'मनोज्ञ वेष'[5] शब्द इसकी पुष्टि करता है। वे श्वेत उज्ज्वल वस्त्र भी धारण करते थे और रंगीन भी। रंगों में नीला, लाल, बादामी, हरा, कुसुम्भी और कुंकुम मुख्य थे। श्वेत में दुकूल और अंशुक दोनों प्रकार थे[6]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी का अंशुक एक स्थान पर नीला और एक स्थान पर [illegible] 'श्याम-वर्ण का था[7]। ऋतुसंहार में कुसुम्भी रंग का दुकूल[8] और कुंकुम के रंग में रंगा स्तनांशुक[9] धारण की जाती थी। दूसरे शब्दों में किंशुक, कुसुम्भ और कुंकुम के वस्त्र स्त्रियाँ पहना करती थीं। सांसारिक मान-विलास को छोड़ देने पर काषाय रंग[10] के वस्त्र धारण किए जाते। लाल रंग स्त्रियों का प्रिय रंग था[11]। अपने यौवन के सबसे मधुर दिनों में शृंगार के सबसे सुन्दर साधन में वे इसे धारण किया करती थीं[11]। हर रंग का या कहीं-कहीं प्रयोग है[12]।

साधारण वस्त्र भूषा—साधारण रीति से वस्त्र-भूषा के विषय में यह कहा जा सकता है कि इसका लक्ष्य प्रधान रूप से सौन्दर्य-वृद्धि या अंगों को ढकना

---

१ कुमार० ७।१७ रघु० १८।८१ ७।६६

२ रघु० १२।८ अभि० १।१६ पृ० ११ पृ० १ ११।४ ५।१७

३ रघु १२।८ कुमार० ५।८ ५।४४ ८८

४ कुमार० ५।१६ ५ रघु० ६।७

६ [illegible]-ऋतु० २।२१ ज्योत्स्नादुकूल-ऋतु० ३।७ सितांशुक-विक्रम० ३।१२ बालातप-ऋतु० ३।१ गन्धर्वेण-रघु० १०।८१ १६।६६

७ विक्रम० अंक ३ पृष्ठ १६८ ४।२७ ८ ऋतु० ६।५

९ ऋतु० ४।६ ६।५

१० रघु १६।७७ माल० अंक ५, पृ ३५०

११ अरुणरागनिषेधि-रघु० ८।४३ कुमार० ५।८ ३।५४ ऋतु० ४।६ ६।१३ १५ २१

१२ कुमार ३।५४

प्रकार उसका गौण। कालिदास का साहित्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अंग सौष्ठव न केवल उसका प्रधान उद्देश्य है, अपितु नायक स्वयं नायिका के एक-एक अंग का उभार, घन आकार, कठोरता, शिथिलता आदि गुण अच्छी तरह देखता है। स्तन, नितम्ब, जघन आदि का लम्बा विवरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जो भी वस्त्र उपयोग में लाए जाते थे, वे सौन्दर्य-वृद्धि के लिए तथा आकृति को ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रखने को।

स्त्री और पुरुष की वेष-भूषा में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। लगभग वेष-भूषा एक-सी ही है। हाँ, स्त्रियाँ स्तनांशुक और कूर्पासक आदि पहनती हैं पर इसके स्थान पर पुरुषों का कोई वस्त्र नहीं है।

क्षौमयुग्म[1], दुकूलयुग्म[2] और कौशेय पत्रोर्ण[3] युग्म आदि शब्दों से व्यक्त होता है कि पूरे शरीर को ढकने के लिए दो वस्त्र प्रयुक्त किए जाते थे। एक निम्न भाग के लिए और दूसरा ऊपर के भाग के लिए। पुरुष एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए पहनते थे और दूसरा चादर या दुशाले की तरह ऊपर ओढ़ लेते थे। स्त्रियाँ भी एक वस्त्र निम्न भाग को ढकने के लिए धारण करती थीं और दूसरा ओढ़नी[4] की तरह ओढ़ लेती थीं। परन्तु इस प्रसंग में एक बात ध्यान देने की है, वह यह कि ओढ़नी का विवाह अथवा किसी विशेष अवसर पर ही प्रसंग आया है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह आवश्यक नहीं था कि वे ओढ़नी ओढ़ें।

नितम्ब के ऊपर अधिकांश में दुकूल धारण किया जाता था[5]। स्त्रियाँ कभी-कभी अंशुक या क्षौम भी पहनती थीं[6] पर पुरुष कभी नहीं। अतः कहा जा सकता है कि अंशुक से दुकूल मोटा होता होगा। इसी कारण निम्न भाग के लिए पुरुष तो दुकूल ही प्रयुक्त करते थे, हाँ स्त्रियाँ दुकूल अधिक और अंशुक बहुत कम। वैसे भी पुरुष के वर्णन में हर जगह कवि ने कठोरता दिखाई है इसीलिए कदाचित् उनसे अंशुक नहीं धारण करवाया।

दुकूल पहना कैसे जाता था?—साँची के कई मूर्तियों में (शुंग कालीन) साड़ी पहनने की रीति आधुनिक सकच्छ साड़ी पहनने की रीति से बहुत अधिक मिलती है। इसके अतिरिक्त दो और तरह से भी साड़ी पहनी

जाती थी। एक में चुन्नट की लाँग पीछे खोंस दी जाती थी, दूसरे में यह दोनों पुरुष की तरह ही हुई। पहली में भी एक भाग कमर में जाता था और चुन्नट की लाँग पीछे खोंस दी जाती थी[1]। डाक्टर कहना है कि स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही लाँगदार धोती पहनते थे[2]। इस पर प्रमाण सहित यद्यपि कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु फिर भी कुछ स्पष्ट अवश्य है। इतना तो प्रमाणित है कि आजकल की साड़ी की समय स्त्रियाँ दुकूल अथवा अंशुक धारण नहीं करती थीं क्योंकि कहीं संकेत नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि आजकल की-सी मर्यादा और का भाव उस समय न था और स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही नितम्ब ऊपर साड़ी पहन लेती होंगी और उसके ऊपर रसना, मेखला आदि धारण लेती होंगी, पर इसकी सम्भावना कम है, क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो बन्धन का कोई भय नहीं रह जाता। कवि ने नीवी-बन्धन शब्द का कई स्थानों प्रयोग किया है[3] अतः इसका भी कोई-न-कोई महत्त्व अवश्य होना चाहिए। उस समय सिले कपड़ों का चलन नहीं था, अतः लहँगा भी सीकर तो पहन लेती होंगी इसमें ही नीवी बन्धन हो सकता है, यह भी सम्भावना कम है। अतः इतना कहा जा सकता है कि वे दुकूल या अंशुक को लहँगे की तरह पहनती होंगी। आजकल की तरह नीचे पेटीकोट नहीं पहने जाते थे, क्योंकि वस्त्र और शुम्ब के बाद बाहर का वस्त्र हो जाता, अतः दुकूल स्थानाच्युत न हो इसलिए ऊपर रसना, काञ्ची या मेखला किसी से दृढ़ करना बहुत आवश्यक था। डाक्टर मोतीचन्द्र नीवी को कमरबन्द या फन्दा मानते हैं[4]। हो सकता है कि दुकूल को लहँगे की तरह पहन कर ऊपर से इसे कमर पर गाँठ बाँधकर पहन लिया जाता होगा। इसके ऊपर सौन्दर्य के लिए रसना आदि धारण कर ली जाती होगी।

दूसरी बात उल्लेखनीय यह है कि आजकल की तरह साड़ी नाभि के ऊपर से नहीं पहनी जाती थी। नाभि और नितम्ब दोनों ही दीखते रहते थे[5]। ऋतुसंहार के अनुसार वर्षा के जल से नाभि की रोमावली तर हो जाती थी[6]।

१ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ० ८१
२ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा अध्याय ३ तथा अध्याय ६
३ उत्तरमेघ ७ रघु० ७।६, कुमार० ७।६० ८८
४ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृष्ठ १६
५ रघु० ६।४२ १६।६३ पूर्वमेघ ३० उत्तरमेघ २२ ऋतु० ४।१२
विक्रम०-कुमार० १।३६
६ ऋतु० २।६ कुमार० १।३८

आजकल की तरह नीची साड़ी भी नहीं पहनी जाती थी क्योंकि एँड़ी और मृदु सदा दिखाई पड़ते रहते थे। इसका यह भी आशय नहीं है कि वह घुटने तक ही रहती होगी। नीचे का सारा अंग ही ढका रहता होगा[1]।

स्तनांशुक तथा कूर्पासक—नाभि, त्रिवली, रोमराजि और पयोधरों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस बात की पुष्टि करता है कि आजकल के ब्लाउज की तरह कुछ न पहना जाता था। ये अंग खुले ही रहते होंगे। ग्रन्थों में स्तनांशुक[2] का वर्णन बहुत है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि अंग-सौष्ठव वस्त्र धारण करने का प्रधान उद्देश्य था, अंग ढकना नहीं, अतः चूँकि उस समय कपड़ा सीना कोई नहीं जानता था इसलिए स्तनांशुक का ही प्रयोग होता था। हाँ घोर शीत में वे कूर्पासक[3] धारण करती थीं। डाक्टर मोतीचन्द्र इसे आधी बाँह की मिर्जई कहते हैं[4]। यदि यह न भी माना जाय तब भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सर्दी से बचने के लिए ढीला-ढाला, उल्टा-सीधा, जम्परनुमा कोई वस्त्र सीकर पहन लेते होंगे। कूर्पासक स्त्री और पुरुष दोनों का ही पहनावा और भेद से था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए कुर्ते या मिर्जई[5] के ढंग का। इसकी दो विशेषताएँ थीं—एक तो यह कटि से ऊँचा रहता था, दूसरे प्रायः आस्तीन रहित। वस्तुतः कूर्पासक नाम इसलिए पड़ा कि इसकी आस्तीन कोहनियों से ऊपर ही रहती थी[6]।

अंशुक रेशमी वस्त्र है और इतना महीन कि कभी-कभी निश्वास से भी उड़ जाय[7]। इसी का टुकड़ा लेकर वे वक्ष स्थल पर सामने से ले जाकर पीछे गाँठ बाँध लेती थीं वैसे ही जैसे शकुन्तला ने वल्कल बाँध रखा था[8]।

ओढ़नी—अंशुक अथवा दुकूल तथा उत्तरीय[9] के ओढ़ने का भी प्रसंग यत्र-तत्र मिलता है। दुष्यन्त के सम्मुख जब शकुन्तला गई थी तब उसका मुख ढका हुआ था अतः अवश्य ही ओढ़नी की तरह कोई उसने ओढ़ रखा होगा[1]। इसी

१ निर्नाभि कौशेयम्—कुमार० ७।७

२ ऋतु० १।७ ४।३ ६।५

प्रकार मालविका भी वसन्तोत्सव पर विवाह की वेश-भूषा में छोटी-सी ओढ़नी ओढ़े हुए थी[1]। पार्वती भी 'स्वगुत्तरासंगवती' थीं[2]। विवाह के समय अवगुंठन[3] का वस्त्र था। अतः अवश्य ही कुछ ओढ़ा जाता होगा। कौशेयपत्रोर्णयुगलम्, क्षौमयुग्म अथवा दुकूलयुग्म शब्दों से स्पष्ट ही है कि ओढ़न का कोई पृथक वस्त्र नहीं था। इन्हीं दो में से एक नीचे और एक ऊपर धारण किया जाता था।

ओढ़ने का ढंग—ओढ़ने के दो ही ढंग हो सकते हैं या तो दोनों छोर सामने लटकते रहते थे या एक सामने और दूसरा कन्धे पर होता हुआ पीछे आ सकता है। आजकल जैसा लहँगे के साथ दुपट्टा ओढ़ा जाता है वैसा कोई ढंग उस समय न था क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि पयोधर मुख ढोलते ही रहते थे। कुमारसंभव सर्ग ८ श्लोक २[4] को देखने से ऐसा आभास होता है कि छोर सामने ही लटकते रहते थे नहीं तो शंकरजी कभी अंशुक पकड़कर जाने से नहीं रोक सकते थे। डाक्टर मोतीचन्द्र का भी ऐसा ही अनुमान है कि ओढ़नी सामग्री के ही लिए पड़ी रहती थी। कभी-कभी वे सिर भी ढक लेती थीं। परन्तु ऐसा आवश्यक नहीं था। प्रायः विवाहादि अवसरों पर वे ढक लेती होंगी[5]।—

पुरुषों की वेश भूषा—स्त्रियों की तरह पुरुष भी दो वस्त्र उपयोग करते थे। शकुन्तला के लिए यदि क्षौमयुग्म[6] शब्द आता है तो अज के लिए दुकूल-युग्म[7]। इसका आशय यह है कि एक निम्न भाग को आवृत करने के लिए और दूसरा ऊपर के भाग को ढकने के लिए उपयोग किया जाता था। ऊपर वाला दुपट्टा या उत्तरीय होता था जो कदाचित् कन्धा से होता हुआ काँख के नीचे से निकाल लिया जाता होगा अथवा वक्ष ढकता हुआ बाँए कन्धे पर रख लिया जाता होगा। इस उत्तरीय का प्रयोग स्थान अथवा अवसर विशेष पर किया जाता था। विवाह राज्याभिषेक अथवा जनता में जाते समय[8]। साधारण रूप से उनके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत ही रहता था कंचुकी अथवा सिले हुए किसी

---

१ माल० ५।७ २ कुमार० ७।११

३ अवगुण्ठनवती वधू—माल० अंक ५ पृष्ठ ३६६

४ व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

५. माल० ५।७ ६ अभि० अंक ४ पृ० ६८

७ रघु ७।१२।१६ ८ रघु ७।१८।१६ (विवाह)

वस्त्र का कहीं प्रसंग नहीं आया है। पहनने के वस्त्रों में क्षौम[1] और दुकूल[2] दो ही नाम मिलते हैं। राज्याभिषेक आदि मांगलिक अवसरों पर क्षौम[3] और वैसे अधिकतर दुकूल ही वे धारण किया करते थे। श्री डाक्टर मोतीचन्द्र के अनुसार दुकूल को वे लांगदार धोती की तरह पहनते थे[4]।

वारबाण[5]—डा० वासुदेव के अनुसार गुप्त सिक्कों पर समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त आदि जैसा कोट पहने हैं वही वारबाण ज्ञात होता है। वारबाण कंचुक की अपेक्षा ऊँचा मोटा फिलटे की तरह का कोट था जिसका ईरान में चलन था। वह भी कंचुक की तरह का ही पहनावा था पर इससे कम लम्बा घुटनों तक नीचा होता था[6]। डा० मोतीचन्द्र उस तरह के ऊनी कपड़ों में इसका नाम देते हैं। वारबाण भी ऊनी होते थे[7]। मामा शास्त्री की टीका में इसका अर्थ कोट दिया हुआ है[8]।

उष्णीष—सिर पर पगड़ी बाँधने का भी उस समय प्रचलन था। कालिदास के ग्रन्थों में अलकवेष्टन[9] शिरसा[10] वेष्टन शोभिना शिरस्त्र बाल[11] शब्दों का प्रयोग मिलता है।

'अलकवेष्टन' शब्द से ऐसा आभास होता है कि इस प्रकार की पगड़ी न छोटे सिर के लम्बे बालों से मिला-मिला कर बाँधे जाते थे अर्थात् इस प्रकार की पगड़ी बालों के साथ ऐसी फँसी-सी जाती थी कि पगड़ी सिर से उतार कर कहीं रखी नहीं जा सकती थी।

'शिरसा वेष्टनशोभिना' भी पगड़ी का ही दूसरा नाम है परन्तु प्रथम प्रकार की पगड़ी से यह विभिन्न है। यह पगड़ी रघु के चरणों पर अज ने रखी है। अतः यह बाँधे जाने के पश्चात् सिर से हटाई जा सकती थी। पगड़ियाँ बँधी

---

१ रघु १२।८

२ रघु ७।१८ १६ १७।२५, कुमार ५।७८

३ रघु १२।८

४ वेशभूषा पृ० ७७ अध्याय ६

बँधाई पहनी जाती थी[1]। स्वयं इस शब्द से ऐसा आभास होता है कि यह बालों से न उलझ कर सिर के ही चारों ओर घुमा-फिरा कर बाँधी जाती होगी।

युद्ध के प्रसंग में 'शिरस्त्राण' शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यह शिरस्त्र शिरस्त्राण आदि की ही तरह लगता है[2]। यह भी सम्भव हो सकता है कि पगड़ी बाँधने से पहले सिर पर लोहे की चिपकी टोपी रख कर ऊपर पगड़ी लम्बी मोटी-मोटी बाँधी जाती हो कि जाल की तरह सारी टोपी को ढक दे।

पगड़ी के स्थान पर सोने के पट्टे भी धारण किए जाते थे। इसके लिए जाम्बूनदपट्ट[3] शब्द कवि ने प्रयुक्त किया है।

कभी-कभी पगड़ी को सजाने के लिए मोतियों की लड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था (डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेष-भूषा पृ ७७)।

जूता—रघुवंश में भी रामचन्द्र की पादुका का प्रसंग आया है[4]। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी पादुका शब्द का प्रयोग मिलता है[5]। इससे विशेष बात तो निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भव है कि आजकल की तरह चमड़े के जूते उस समय न पहने जाते हों। कौम कुश मूँज अथवा लकड़ी कम्बल आदि के जूते ही सब प्रयोग करते हों। इस बात की इस कारण सम्भावना है कि आजकल भी जहाँ आधुनिक सभ्यता पूरी तरह नहीं घुसी है, विशेषकर पहाड़ी स्थानों में घास और मूँज की चप्पलें काम में लाई जाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि इसी प्रकार की पादुका ही उस समय प्रचलित होगी। अमीर मनुष्य इन्हीं पादुकाओं को चाँदी सोना तथा वैदूर्य आदि मणियों से जड़ लेने लगे।

उत्तरच्छद[6]—इन वस्त्रों के अतिरिक्त शय्या सिंहासन आदि पर चादर बिछाई जाती थी जो उत्तरच्छद कहलाती थी।

उपधान—शय्या पर उपधान[7] का भी प्रयोग प्रचलित था। डा० मोतीचन्द उपधान को परों से भरी तकिया कहते हैं (प्राचीन वेष भूषा पृष्ठ १९ भूमिका)।

वस्त्र परिवर्तन—ऋतुसंहार इस बात को पूर्णतः स्पष्ट करता है कि ऋतुओं के अनुसार मनुष्य वस्त्र परिवर्तित कर लेता था। दिन तथा रात के

---

१ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेशभूषा भूमिका पृ० ११
२ रघु ७।६२ ६६ ३ रघु १८।४४ ४ रघु० १२।१७
५. चरणं तनु मया पादुकोत्पीडेन दूषितम् —माल० अंक ३ पृ १४७
६ हंसधवलोत्तरच्छद —कुमार० ८।८२ ८।८९ मिलितविमलोत्तरच्छद—रघु० ५।४ १७।२१ विक्रम० अंक ५, पृ० २११
७ कुमार ५।१२

वस्त्र का कहीं प्रसंग नहीं आया है। पहनने के वस्त्रों में क्षौम[1] और दुकूल[2] दो ही नाम मिलते हैं। राज्याभिषेक आदि मांगलिक अवसरों पर क्षौम[3] और वैसे अधिकतर दुकूल ही वे धारण किया करते थे। श्री डाक्टर मोतीचन्द के अनुसार दुकूल को वे लांगदार धोती की तरह पहनते थे[4]।

वारबाण[5]—डा० वासुदेव के अनुसार गुप्त सिक्कों पर समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त आदि जैसा कोट पहने हैं वही वारबाण ज्ञात होता है। वारबाण कंचुक की अपेक्षा ऊँचा मोटा चिलटे की तरह का कोट था जिसका ईरान में चलन था। यह भी कंचुक को तरह का ही पहनावा था पर इससे कम लम्बा घुटनों तक नीचा होता था[6]। डा० मोतीचन्द इस तरह के ऊनी कपड़ों में इसका नाम देते हैं। वारबाण भी ऊनी होते थे[7]। साम्ब शास्त्री की टीका में इसका अर्थ कोट दिया हुआ है[8]।

उष्णीष—सिर पर पगड़ी बाँधने का भी उस समय प्रचलन था। कालिदास के ग्रन्थों में अलकबध्नम्[9] शिरसा[10] वेष्टन शोभिना शिरस्त्राण[11] शब्दों का प्रयोग मिलता है।

अलकबध्नम् शब्द से ऐसा आभास होता है कि इस प्रकार की पगड़ी के कटे सिर के लम्बे बालों से मिला-मिला कर बाँधे जाते थे अर्थात् इस प्रकार की पगड़ी बालों के साथ ऐसी फँसी-सी जाती थी कि पगड़ी सिर से उतार कर नहीं रखी नहीं जा सकती थी।

'शिरसा वेष्टनशोभिना' भी पगड़ी का ही दूसरा नाम है परन्तु प्रथम प्रकार की पगड़ी से यह विभिन्न है। यह पगड़ी रघु के चरणों पर अज ने रखी है। अतः यह बाँधे जाने के पश्चात् सिर से हटाई जा सकती थी। पगड़ियाँ बँधी

---

१ रघु० १२।८
२ रघु ७।१८ ११ १७।२५, कुमार० ६।७८
३ रघु० १२।८
४ ... ... पृ० ७७ अध्याय ६

बँधाई पहनी जाती थी[1]। स्वयं इस शब्द से ऐसा आभास होता है कि यह कानों से न उलझ कर सिर के ही चारों ओर घुमा-फिरा कर बाँधी जाती होगी।

युद्ध के प्रसंग में शिरस्त्राण शब्द का प्रयोग हुआ है अतः यह शिरस्त्र शिरस्त्राण आदि की ही तरह लगता है[2]। यह भी सम्भव हो सकता है कि पगड़ी बाँधने से पहले सिर पर लोहे की चिपकी टोपी रख कर ऊपर पगड़ी ऐसी सटी-सटी बाँधी जाती हो कि जाल की तरह सारी टोपी को ढक दे।

पगड़ी के स्थान पर सोने के पट्टे भी धारण किए जाते थे। इसके लिए जाम्बूनदपट्ट[3] शब्द कवि ने प्रयुक्त किया है।

कभी-कभी पगड़ी को सजाने के लिए मोतियों की लड़ियों का भी प्रयोग किया जाता था (डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ० ७७)।

जूता—रघुवंश में श्री रामचन्द्र की पादुका का प्रसंग आया है[4]। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी पादुका शब्द का प्रयोग मिलता है[5]। इसमें विशेष बात तो निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भव है कि आजकल की तरह चमड़े के जूते उस समय न पहने जाते हों। काँस तृण मूँज अथवा लकड़ी कम्बल आदि के जूते ही सब प्रयोग करते हों। इस बात की इस कारण सम्भावना है कि आजकल भी जहाँ आधुनिक सभ्यता पूरी तरह नहीं घुसी है, विशेषकर पहाड़ी स्थानों में कास और मूँज की चप्पलें काम में लाई जाती हैं। अतः कहा जा सकता है कि इसी प्रकार की पादुका ही उस समय प्रचलित होगी। अमीर मनुष्य इन्हीं पादुकाओं को चाँदी सोने तथा वैडूर्य आदि मणियों से जड़ लेते होंगे।

उत्तरच्छद[6]—इन वस्त्रों के अतिरिक्त शय्या सिंहासन आदि पर चादर बिछाई जाती थी जो उत्तरच्छद कहलाती थी।

उपधान—शय्या पर उपधान[7] का भी प्रयोग प्रचलित था। डा० मोतीचन्द्र उपधान को परों से भरी तकिया कहते हैं (प्राचीन वेश भूषा पृष्ठ १६ भूमिका)।

वस्त्र परिवर्तन—ऋतुसंहार इस बात को पूर्णतः स्पष्ट करता है कि ऋतुओं के अनुसार मनुष्य वस्त्र परिवर्तित कर देता था। दिन तथा रात के

१ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेशभूषा भूमिका पृ० ११
२ रघु ७।६२ ६६ ३ रघु १८।४४ ४ रघु० १२।१७
५. सन्दर्भ एव मया पादुकोपयोगेन दूषितम् —माल० अंक ५ पृ० १४७
६ निपतमोत्तरच्छद —कुमार० ८।८२ ८।८९ निर्मार्जितमोत्तरच्छद—रघु० ५।४ १७।२१ विक्रम० अंक ५, पृ० २१९
७ कुमार ५।१२

वस्त्र पृथक्-पृथक् रख जाते थे[1]। स्नान करने के समय वस्त्र परिवर्तन कर लिया जाता था। यह स्नानीयक कहलाता था[2]। इसी प्रकार विवाह, राज्याभिषेक आदि अवसरों पर वेश-भूषा नितान्त दूसरी हो जाती थी[3]। व्रत उत्सवादि के अवसरों पर भी वेश परिवर्तित कर लिया जाता था[4]।

कपड़े सुगन्धित करने की प्रथा—वस्त्रों को काला अगरु आदि के धुएँ से सुगन्धित भी कर लिया जाता था। इस बात का उल्लेख *ऋतुसंहार* और रघुवंश दोनों में है[5]।

वेश-भूषा के प्रकार

कवि के ग्रन्थों में नाना प्रकार की वेश-भूषाओं का परिचय मिलता है। मनुष्यों की रुचि वस्त्र और वेश-भूषा की ओर यथेष्ट परिपक्व थी। अवसर परिस्थिति और ऋतु के अनुसार वे पृथक्-पृथक् वेश-भूषा धारण किया करते थे। ग्रीष्म की वेश-भूषा और शीतकालीन वेश-भूषा में अन्तर था जो वैवाहिक वेश-भूषा थी वह व्रती अथवा विरही की नहीं थी। अभिसारिका की और शिकारी की कुछ और ही अस्तित्व लिए हुई थी परन्तु इन सब वेश-भूषाओं की रेखा भर ही है, शेष सब अनुमान ही करना पड़ता है।

शिकारी की वेश-भूषा—अभिज्ञानशाकुन्तल और रघुवंश दो ग्रन्थों में इसका संकेत मिलता है। दुष्यन्त अपने परिजनों से कहता है कि अपनयन्तु मृगयावेषम्।[1] इससे इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि शिकार करते समय विशेष प्रकार की ही वेश-भूषा होगी। इससे अधिक स्पष्ट प्रतीति रघुवंश में है। दश-रथजी आखेट करने के समय अहेरी का वेश धारण किए हुए थे। उनके ऊँचे कन्धे पर धनुष टँगा था उनके केशों में वनमाला गुँथी हुई थी और वे वृक्षों के पत्तों के समान गहरे हरे रंग का कवच पहने हुए थे[7]। इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि शिकार करते समय हरे रंग के वस्त्र पहने जाते थे इस कारण कि जानवर हरे-हरे पत्तों के बीच उनको पहचान न सकें इसी कारण सिर में चंपकी फूलों की माला भी गुँथी रहती होगी जिससे वह फूल कवच-रूपी हरे-हरे पत्तों के बीच खिले हुए लगें।

भिक्षुओं की वेश-भूषा—*मालविकाग्निमित्र*[8] में राजकुमारी मालविका और परिव्राजिका को द्वार पर भेजी हैं। इन [illegible] की वेश-भूषा स्वयं परिव्रा-

जिका इस प्रकार बताती है—सहसा कन्धों पर तूणीर कसे पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख बाँधे हुए और हाथ में धनुष-बाण लिए हुए शत्रु हम पर टूट पड़े। अतः कहा जा सकता है कि ये लोग हाथ में धनुष-बाण लिए रहते होंगे। कन्धों पर तूणीर बँधा रहता होगा और पीठ पर लम्बे-लम्बे पंख किसी चिड़िया या मोर धुधुप आदि के धारण करते होंगे।

मछुए की वेश-भूषा—अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अंक ६ में मछुए का प्रसंग आया है जिसे राजा की गिरी अँगूठी प्राप्त होती है। वेशविन्यास में कोई बात नहीं मिलती पर उसके पास से कच्चे मांस की दुर्गन्ध आ रही थी ऐसा कहा गया है[1]।

यवनी वेश—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्त्रियाँ कम-से-कम दो अधिक-से-अधिक तीन वस्त्र पहनती थीं। यवनी का भी यही वेश होगा। अन्य स्त्रियों से यवनी का वस्त्र थोड़ा पृथक रहता था। शिकार के समय वे गले में जंगली फूलों की माला तथा हाथ में सदा धनुष रखती थीं[2]। यवनी राजा की सेविकाएँ होती थीं।

द्वारपाल की वेश-भूषा—कवि के समस्त ग्रन्थों में द्वारपाल का प्रसंग है परन्तु उसने फिर भी कभी वेश का स्पष्ट आभास नहीं दिया। इसकी वस्त्र-भूषा में कोई विशेषता न रही होगी हाँ हाथ में बेंत की छड़ी का अवश्य सब स्थानों में वर्णन है[3]।

अभिसारिका—अन्य स्त्रियों से इनका वेश-विन्यास पृथक रहता था। इनका काम ही आकर्षित करना तथा रिझाना था अतः वस्त्रों और आभूषणों की तड़क-भड़क इनकी विशेषता थी। परिस्थिति के अनुसार उनका वेश भी परिवर्तित रहता था। उत्तरमेघ में उनका वर्णन बालों में मन्दार के पुष्प कानों में स्वर्ण कमल और गले में मोतियों की माला इस प्रकार किया है[4]। इससे यह स्पष्ट होता है कि वे केश में फूल तथा कान गले आदि में सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण किया करती थीं। वे कभी-कभी चमचमाते सुन्दर नूपुर पैरों में पहना करती थीं[5] परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आभूषण वे बहुत अधिक धारण करती थीं क्योंकि विक्रमोर्वशी में 'अल्पाभरणभूषित नीलांशुकपरिग्रह अभिसारिकावेश'[6] आया है।

---

१ अभि अंक ६ पृष्ठ ९८ २ अभि अंक २ पृष्ठ २७
३ अभि० अंक ५, ३
४ उत्तरमेघ ११ ५. रघु० १६।१२

तपस्वियों की वेश-भूषा—वर्णाश्रम धर्मानुसार सभी मनुष्य गृहस्थाश्रम के सुखों को भोगने के पश्चात् जीवन के अन्तिम दिनों में विरक्त हो संन्यास धारण कर लेते थे। तपस्वी ऋषि मुनि सभी वल्कल[1] धारण किया करते थे। कुमार सम्भव में पार्वती जब भी शंकरजी को प्राप्त करने के लिए तपस्विनी बन वन में गई तब उन्होंने प्रातःकालीन सूर्य के समान लाल-लाल वल्कल धारण किया था[2]। इसी प्रकार सीताजी ने भी राम द्वारा परित्यक्त किए जाने पर वल्कल धारण कर लिया था[3]। स्वयं श्री राम ने राज्याभिषेक के वस्त्र त्याग कर वल्कल वस्त्र वनवास जाने के लिए पहन लिए थे[4]। श्री भरत ने भी राज्य को स्वीकार न कर चीर-वस्त्र धारण कर लिए थे[5]। रघुवंशी सभी राजा अन्त में वल्कल पहनते थे[6]।

तपस्वियों की वेश-भूषा का बहुत स्पष्ट आभास अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मिलता है। दुष्यन्त आश्रम के निकट बिना किसी के बताए अनुमान कर लेते हैं कि यह तपोवन है। नदी-तालाबों पर वे नहाते होंगे वल्कल वस्त्रों को धोते भी होंगे क्योंकि उनकी टपकी हुई बूँदें मार्ग भर में मिलती हैं[7]। स्वयं शकुन्तला भी वल्कल ही धारण करती है, इसका आभास दो स्थानों पर मिलता है प्रथम जब शकुन्तला अपनी सखी अनसूया से कहती है, 'सखि अनसूये ! अति पिनद्धेन वल्कलेन प्रियंवदया नियन्त्रितास्मि। शिथिलय तावदेतत्'।[8] स्वयं दुष्यन्त तक कहता है—'काममननुरूपमस्या वपुषो वल्कलम् ......'[9] इसके पश्चात् भी दुष्यन्त जब शकुन्तला का चित्र बनाता है तब एक ऐसा भी वृक्ष बनाता है जिस पर वल्कल टँगे हुए थे[10]। अतः तपस्वि-कन्याएँ तथा तपस्वी दोनों ही वल्कल वस्त्र धारण पहनते थे।

वल्कल के अतिरिक्त जटाएँ धारण करना कमर में मूँज की बनी तिगुनी मौर्वी को धारण करना हाथ में रुद्राक्षमाला लेना उनकी विशेषता थी[11]। तपस्या करते समय न केवल पार्वती की ही ऐसी वेशभूषा थी अपितु शिवजी भी पशु चर्म मृगछाला कमर में गाँठ बाँध कर ध्यान धर आसन पर बैठ कर तपस्या कर रहे थे। उनके कानों में रुद्राक्ष की माला टँगी हुई थी[11]। अतः वल्कल के

अतिरिक्त वे मृगचर्म आदि को भी कमर पर धारण कर सकते थे। इंगुदी के तेल को वे सिर में डाला करते थे (अभि० अंक २ पृष्ठ १४)।

अजिन आषाढधारी होना उनके लिए आवश्यक था[१]। तपस्वी के समान ही ऋषि मुनि भी शरीर पर वल्कल हाथों में माला और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किया करते थे[२]।

इनकी कन्याएँ सोने-चाँदी के आभरणों के स्थान पर पुष्पों के आभूषण पहनती थी। इनके आभूषण अधिकतर कमलनाल के ही होते थे[३]। सिरस के फूल कानों में और कमलतन्तु की माला गले में पहनना[४] इसकी सूचना देता है कि ये सब साधारण स्त्रियों की तरह आभूषणप्रिय थीं। इसी प्रकार हाथों में कमलनाल का कंगन धारण कर लिया करती थी[५]।

वैरागी अपने वस्त्रों के स्थान पर काषाय वस्त्र धारण करते थे[६]।

राजा की वेश भूषा—अन्य पुरुषों की तरह वे दुकूल अथवा क्षौम धारण[७] किया करते थे। उनके सिर पर राजमुकुट[८] शोभायमान रहता था। छत्र[९] और चँवर[१०] इनके विशेष चिह्न थे। इनके चरणों को रखने के लिए एक चौकी[११] रहती थी जो भद्रपीठ या हेमपीठ कहलाती थी। इसके अतिरिक्त राजदण्ड[१२] भी इनका चिह्न था। यदि राजा दरबार में सिंहासन पर न बैठ कहीं बाहर भी जा रहा हो या उपस्थित हो तब भी उनके साथ छत्र चँवर, मुकुट अवश्य रहेगा। इनके अतिरिक्त उनके सभी आभूषण रत्नजटित सोने और मुक्ता के होंगे।

किरात की वेश-भूषा—कुमारसम्भव में वह भी केवल एक स्थान पर

---

१ कुमार० ५।१० २ कुमार० ५।६ विक्रम० ३।१६
३ अभि० ३।२४-विसाभरण ३।१६ ४ अभि० ६।१८
५ अभि ३।७
६ इमे काषाये गृहीते।—मालवि०, अंक ५ पृष्ठ १५०
७ रघु० १२।८ १७।२५, ७।१८ १९
८. रघु० ४।८५ ६।१९ ११ १८।३८ ४१ ९।११ २० १३।५९ १०।७५ कुमार० ५।७९ विक्रम० ४।६७
९ रघु० २।१३ ३।१६ ४।५ ८५, १४।११ १७।३३ १८।४७ विक्रम० ४।११
१० रघु० १४।११, १७।२७ ऋतु० ३।८ विक्रम० ४।१३ रघु०, १३।११
११ रघु०, ४।८४, ६।१५, १७।२८, १८।४१
१२. अभि०, ५।८

किरातों के विषय में कहा गया है कि वह चमर व मोर के पंख धारण करते थे[1]।

शिव के गणों की वेश-भूषा—श्री शंकर भगवान् के शिष्य और अनुयायी सिर पर नमेरु के फूलों की माला पहनते थे। शरीर पर भोजपत्र धारण कर मैनसिल से शरीर रंगते थे[2]।

वैवाहिक वेश भूषा—कवि शृंगार-प्रिय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैवाहिक-वेश-भूषा का उसने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। कदाचित् विवाह का वेश श्वेत होता था क्योंकि वैवाहिक वस्त्र पहनकर पार्वती काश के फूलों से युक्त पृथ्वी की तरह शोभायमान हुई थी[3]। रेशमी वस्त्र[4] अथवा हंसचिह्न दुकूल[5] विवाह का मुख्य वस्त्र था। इसकी अनुपस्थिति में कौशेयपत्रोर्ण[6] भी प्रयोग किया जा सकता था। इस समय ओढ़नी अवश्य ओढ़ी जाती थी क्योंकि वस्त्र के नाम के साथ युग्म शब्द आया है[7]। अवगुण्ठन का भी प्रचार था। मालविका को अवगुण्ठनवती करके ही धारिणी ने अग्निमित्र को सौंपा था[8]। वैवाहिक सजावट भी विशेष प्रकार की थी। हाथ में विवाह कौतुक अथवा ऊन का कंगन[9] मुख पर चन्दनादि से पत्र रचना केश में मधुए की माला गूंथना अंजन अंगराग लाक्षा लाक्षारस माथे पर विवाह का हरताल और मैनसिल से बना तिलक सब वधू की शोभा को द्विगुणित कर देते थे[10]। इन सब के अतिरिक्त पाम्य आभूषण इस समय कन्या धारण करती थी[11]। विवाह की वेश भूषा और शृंगार सब सविशेष ही था[12]। सम्भवतः लाल रंग का अंशुक धारण करती थी (रक्तांशुक—ऋतु ६।२१)।

कन्या के समान वर भी वैवाहिक शृंगार किया करता था। शरीर पर

---

१ कुमार० १।१६
२ कुमार० १।५५
३ कुमार० ७।११
४ कुमार० ७।२६
५ कुमार० ५।६७
६,७ माल० अंक ५ पृ० १२६
अवगुण्ठन—माल० अंक ५, पृ० १२९

अंगराग धारण कर[1] सुन्दर-सुन्दर आभूषण पहनकर[2] उसकी सुन्दरता निखर उठती थी। हंस आदि जिसमें गोरोचन से बने हों ऐसा दुकूल वस्त्र पहना जाता था[3]। माथे पर हरताल का सुन्दर तिलक[4] और सिर पर उसको मानो समाज में राजा बना देते थे। आतपत्र और उसके आसपास छिपे हुए भौंरे[5] उसके तेजोमण्डल को प्रदीप्त कर देते थे। किसी विशाल पर[7] आसीन हो मंगलवाद्य[8] के साथ वर कन्यापक्ष के द्वार पर विवाह लिए आया करता था।

विरहिणी और विरही की वेशभूषा—प्रेमाख्यानक काव्य होने कारण विरहिणी और विरही का वर्णन बहुत अधिक है। स्त्रियाँ विरह में समस्त शृंगार छोड़ देती थीं। मलिन वस्त्र धारण[9] कर अतीत की याद में ही अपना समय व्यतीत किया करती थीं[10]। उनके बाल रूक्ष और लटकते रहते थे। वे एक वेणी ही धारण करती थीं। पति ही विरहावस्था की समाप्ति पर उनके बाल सुलझाता था। नख बढ़ते रहते थे। आँखें काजलरहित तथा होंठों का रंग छूट जाता था। आभूषणों को वे नहीं पहनती थीं। अधिकतर वे व्रत पूजा अथवा उपासना करती रहती थीं। यक्ष की पत्नी मालविका शकुन्तला सबकी ही रेखा इसी प्रकार कवि ने खींची है।[11]

पुरुष भी इसी प्रकार प्रिया का चित्र बनाते रोते और याद करते थे। उनका शरीर कृश हो जाता था। आभूषण उन स्थानों पर से बार-बार नीचे आ सरकते थे। वे स्वयं आभूषण पहनना छोड़ देते थे। रातकाल शय्या पर

---

१ कुमार० ७।१२ | २ कुमार० ७।१४
३ कुमार ७।१२ | ४ कुमार०, ७।११
५. कुमार० ७।१६ | ६ कुमार० ७।४२
७ कुमार० ७।१७ | ८. कुमार० ७।४०

९ वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ —अभि० ७।२१
—आविर्वतिरिक्ततमैव —भाग० अंक १ पृ० २११
—मलिनवसने —उत्तरमेघ २६

१० उत्तरमेघ २१-२७ ३० ३२ ३३ ३४ ३७ ३९

११ वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं"

छोड़ वे प्रिया की याद में ही दिवस व्यतीत करते थे[1]। पुरूरवा तो उर्वशी के विरह में प्रमत्त का-सा आचरण करने लगा था[2]।

स्त्री की वेश-भूषा—पार्वती ने व्रत के समय आभूषण तथा रेशमी वस्त्र का परित्याग कर दिया था। नेत्रों में अंजन और होंठों में लाक्षारस लगाना छोड़ दिया था[3]। साधारण रीति से यदि गृहस्थों की स्त्रियाँ व्रत करती थीं तो वे श्वेत रेशमी वस्त्र धारण करती थीं। शरीर पर मांगलिक आभूषण और केश में दूर्वांकुर शोभायमान रहता था[4]।

यज्ञ के समय का वेश—मृगचर्म कमर में पहनना तथा मेखला धारण करना आवश्यक था। यज्ञ के समय हाथ में दण्ड और मृगशृंग ले लिया जाता था[5]।

छात्र-वेश—पवित्र रुरु के चर्म को पहन कर पिता से रघु ने शिक्षा ग्रहण की थी।[6] अतः निष्कर्ष यह निकलता था कि ऐश्वर्य भोग और विलास को त्याग कर सादगी अपनाना ही छात्रों का लक्ष्य था।

स्नानीय वेश—स्नान करते समय एक पृथक ही वस्त्र धारण किया जाता था जिसे स्नानीय-वस्त्र कहते हैं। स्नान करने के पूर्व तैल उबटन आदि लगाया जाता था इसी कारण यह वस्त्र-विशेष धारण करना आवश्यक था[7]।

राज्याभिषेक की वेश-भूषा—राज्याभिषेक के समय तीर्थों आदि के जल से स्नान करवाने के पश्चात् केश को फूल और मोतियों से सजाया जाता था। कस्तूरी की सुगन्ध से युक्त अंगराग से मुख पर चित्रकारी की जाती थी। सिर पर पद्मराग मणि आभूषण माला आदि राजा धारण करता था और विवाह की तरह इस समय हंसचिह्न युक्त जोड़ा देता था। छत्र चँवर मुकुट पादपीठ उसकी राज्यसत्ता को प्रमाणित और राज्याभिषेक को पूर्ण कर देते थे[8]।

ग्रीष्मकाल का वेश—ग्रीष्मकाल में मोटे-मोटे वस्त्र उतार कर झीने पतले वस्त्र धारण करना ही मनुष्यों को प्रिय था[9]। स्त्रियाँ रेशमी वस्त्र पहन लगी

---

१ अभि० ५।१९ अंक ६ पृ० १०७ १०८ पूरा अंक ६ क्रमशः—दमन पूव
[illegible] सर्वेश २

पर चन्दन लगा नानाप्रकार के आभूषण धारण कर सिर के केशों कर पतियों को सुख देती थीं[१]। इस ऋतु में ऐसे पतले वस्त्र पहने से हवा म उड़ जायें[२]। रत्नजड़ी ओढ़नी प्रचार में थी[३]। मनुष्य इससे ऐसी ही प्रतीति होती है। अपने सामर्थ्यानुसार सब विलास रहा करते थे।

वर्षाकालीन वस्त्र—स्त्रियाँ महीन श्वेत वस्त्र धारण कर, माला पहन केश को केसर केतकी कदम्ब आदि से इस ऋतु म थी[४]। रशना स्वर्णजटित कुण्डल आदि आभूषण पहन कर[५] शरीर चन्दन का अवलेप कर[६] मदिरा पीकर[७] शयनागार म पति के करती थीं।

शरद्कालीन वेश—इस ऋतु म स्त्रियाँ अपनी घनी घुँघराली लटों में मालती के फूल गूँथ कर, कानों मे नीलकमल पहन चन्दन स अलंकृत कर मोतियों के हार रशना से शोभित होकर पतियों को रिझाती थीं।

हेमन्त वस्त्र—घोर शीत के आगमन के कारण हार चन्दन कंगन आभूषणों का पहनना इस ऋतु म छूट जाता है। नए रेशमी वस्त्र और चोली भी अब वे नहीं पहनतीं। मुख को वे पत्र-रचना और केश को काले से शोभित करती थीं[१०]।

शिशिरकालीन वस्त्र—इसमें शौकीन-से-शौकीन भी मोटे-मोटे वस्त्र कूर्पासक[११] पहनती थीं। नितम्बों पर रेशमी वस्त्र डाल[१२] मदिरापान कर[१३] स्तनों पर गर्मी के लिए केसर का अवलेप करती हैं[१४]। चन्दन का प्रयोग छूट जाता है[१५]।

वसन्त समय का वस्त्र—पुन पुष्पमाला और चन्दन का प्रयोग प्रारम्भ हो

---

१ ऋतु० १।४ १ १२
२ रघु०, ११।४१
३ रघु० ११।४१
४ ऋतु० २।१८ २१ २१
५ ऋतु० २।२०
६ ऋतु० २।२२
७ ऋतु० २।१८
९ ऋतु० ३।१ १ १९ २०
९ ऋतु ४।२ ६ रघु० १९।४१
१० ऋतु० ४।२
११ ऋतु० ५।८
१२ ऋतु० ५।८
१३ ऋतु०, ५।१०
१४ ऋतु०, ५।९

जाता है[1]। लाल दुकूल[2] कुंकुम के रंग में रँगी चोली[3] कान और केशों में कर्णिकार और अशोक के पुष्प[4] अंजन रचना आदि[5] से उसका शरीर पुनः सुन्दर हो उठता है। मुख पर पत्र-रचना वक्षःस्थल पर प्रियंगु कालीयक कस्तूरी और केसर का अवलेप लगाती है। कालागुरु से सुगन्धित और महावर से रँगे महीन वस्त्र धारण[6] करने से उसका सौन्दर्य खिल उठता है।

आभूषण

नानाप्रकार के वस्त्रों की तरह स्त्री-पुरुष तरह-तरह के आभूषण पहनने के शौकीन थे। वे नानाप्रकार के आभरण[7] भूषण[8] तथा मण्डन[9] से अपना शरीर अलंकृत किया करते थे। रघुवंश कुमारसम्भव मेघदूत ऋतुसंहार अभिज्ञान शाकुन्तलम् विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र प्रत्येक ग्रन्थ में अगणित प्रकार के आभरण तथा आभूषण आए हैं।

प्रकार—आभूषणों को पृथक्-पृथक् न लेकर यदि वर्ग में विभक्त कर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि उस समय रत्नजटित आभूषण[10] स्वर्णाभूषण[11] मुक्ता के आभूषण[12] तथा पुष्पाभरण[13] धारण किए जाते थे।

मणियाँ—रत्न-जटित आभूषणों में भी कवि ने पृथक्-पृथक् रत्नों के नाम

---

१ ऋतु० ६।१ ७ २ ऋतु० ६।५
३ ऋतु ६।५ ४ ऋतु० ६।६
५ ऋतु० ६।७ ६ ऋतु० ६।१४ १५
७ मास० ५।७ ऋतु २।१२ उत्तरमेघ ११ ३५ कुमार० ३।५३ ७।२१ रघु० १७।२४ रघु० ११।४१ ८६ विक्रम अंक ३ पृ १९८
८ भूषण—रघु० १८।४६, १९।४५, उत्तरमेघ १२ ऋतु० ३।१२
९ मंडन—कुमार० १।४ ७।५ उत्तरमेघ १२ अभि० ६।६
१० ऋतु० २।५ मणिकुंडल—२।२० मणिनूपुर—ऋतु ३।२७ ६।६

दिया है। वैदूर्य मणि[1] इन्द्रनील[2] महानील[3] पद्मराग[4] मूँगा[5] मरकत[6] चन्द्रकान्त[7] सूर्यकान्त[8] मित मणि[9] अर्थात् हीरा प्रत्येक मणि उस समय थी और इसे प्रयुक्त करने की रीति सबको भली प्रकार ज्ञात थी। दूसरे शब्दों में आजकल जितने प्रकार की भी मणियाँ देखी जाती हैं उस समय भी सब थीं। यहाँ तक कि नीलम के दो भेद, एक हलके नीले रंग का और दूसरा गहरे नीले रंग का भी कवि ने इन्द्रनील और महानील से गिना दिए हैं। सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त के आभूषण नहीं हैं परन्तु हर्म्यों आकर आदि में उनका उल्लेख कवि ने किया है।

स्त्री और पुरुष के आभूषणों में अन्तर—स्त्री और पुरुष लगभग एक-से ही आभूषण पहनते थे। अंगद वलय हार अंगूठी कुण्डल दोनों के ही आभूषण हैं। पुरुष वलय केवल बाएँ हाथ में पहनते थे। वे गले में माला भी पहनते थे। कमर के आभूषण रशना मेखला काञ्ची और पैरों के नूपुर स्त्रियाँ ही धारण किया करती थीं। इसी प्रकार पुष्पों से स्त्रियाँ ही अपना शरीर अलंकृत करती थीं पुरुष नहीं। पुरुषों का भी एक अलंकार विशेष था शिखा मणि किरीट या मुकुट। सामान्य रूप से सभी पुरुष नहीं अपितु केवल राजा ही इसको धारण किया करता था।

सिर के आभूषण

शिखामणि किरीट मौलि आम्बूरपट्ट आदि सिर के भूषण हैं परन्तु यह जनसाधारण के धारण की वस्तु नहीं। केवल राजा ही इन सबको धारण किया करते थे।

चूड़ामणि[10]—साधारण रूप से इसको मुकुट का ही पर्यायवाची मानते हैं परन्तु यह स्वयं संकेत करता है कि साधारण मुकुट से यह भिन्न प्रकार होगा। मुकुट में मणि हो या न हो परन्तु चूड़ामणि में बीच में एक बहुत बड़ी मणि का होना बहुत आवश्यक है। यह अन्य स्थलों से अधिक एक स्थल पर स्वयं कवि ने

---

1 कुमार० ७।१० उत्तरमेघ १६ मालु०, २।८
2 पूर्वमेघ ५० उत्तरमेघ १७ रघु० १३।५४ १३।६९
3 रघु० १८।४२ 4 रघु० १७।२३ १८।४२
5 कुमार १।४४ पूर्वमेघ ४४ 6 पूर्वमेघ ३४ उत्तरमेघ १६
7 उत्तरमेघ ९ कुमार० ८।६७ मालु० ३।२१
8 कुमार ८।७५ मवि० २।७ 9 उत्तरमेघ ६, रघु० १८।२१
10 रघु० १७।२८ कुमार० ६।८१ ७।१६

स्पष्ट किया है। शंकरजी ने जब वैवाहिक-वेश धारण किया तब उनके मस्तक के बीच चमकता चन्द्रमा उनका चूड़ामणि बन गया[1]।

शिखामणि[2]—जिस प्रकार राजा चूड़ामणि धारण किया करते थे उसी प्रकार सामन्त शिखामणि। शिखामणि किसी प्रकार का मुकुट नहीं प्रत्युत पगड़ी में लगाने की कलँगी है, इसके बीच में मणि रहता होगा इसी कारण इसका नाम शिखामणि पड़ा।

किरीट[3]—चूड़ामणि तो छोटे-छोटे राजा धारण करते हैं परन्तु बड़े सम्राट् किरीट। चूड़ामणि का जहाँ कहीं प्रसंग है विशेष उनमें कोई प्रभावशाली नहीं पर किरीट रावण ने धारण किया है या इन्दुमती के स्वयंवर के राजा ने। अत: चूड़ामणि से किरीट का स्थान ऊँचा है।

मुकुट[4]—मुकुट किरीट से मूल्य में नीचे आता है। रत्न तो इसमें भी जड़े रह सकते हैं परन्तु चूड़ामणि की तरह बीच में एक बड़ा रत्न नहीं था यही इसम और चूड़ामणि में मुख्य अन्तर है। मुकुट में ताम झाम झालर आदि लगी होंगी। आजकल के मुकुटों में भी ऐसी ही रूपरेखा देखी जाती है परन्तु इसकी तुलना में चूड़ामणि छोटी से परिपूर्ण छोटा पर सुन्दर होगा।

मौलि[5]—इसका स्थान भी किरीट से नीचे लगता है क्योंकि रघु ने जिन राजाओं को पराजित किया है उनके सिर के आभूषण का नाम मौलि आया है तत्पश्चात् राजा सुषेण के मुकुट और उनके शत्रुओं के मुकुट का पर्यायवाची है, तीसरी बार राम जब वनवास को गए हैं अर्थात् राजा होने के पूर्व तब उन्होंने मौलिमणि को छोड़ कर जटाजूट बाँधा है। देवता शिवजी को नमस्कार करते हैं इनके सिराभूषण का नाम मौलि है। अत: सबसे उत्कृष्ट किरीट चूड़ामणि मुकुट तब मौलि आएगा। शिखामणि तो सामन्त ही धारण करते हैं। मौलि सबसे नीचा है पर मुकुट से ऊँचा[1]। इसे राजा बनने से पूर्व भी धारण किया जा सकता था।

जाम्बूनदपट्ट[6]—वराहमिहिर के अनुसार पट्ट सोने के होते थे और पाँच

प्रकार के बनाए जाते थे—राजपट्ट, महिषीपट्ट, युवराज-पट्ट,
प्रसाद पट्ट (जो राजा की विशेष कृपा का द्योतक था)। संख्या में पाँच
और तीन में तीन शिखाएँ, चार में एक शिखा होती थी। प्रसाद पट्ट में
कलँगी नहीं लगाई जाती थी .. (बृहत्संहिता ४८।२४)[1]। अब यह
का सोने का पट्टा है जिसको पगड़ी के ऊपर बाँध लिया जाता होगा।
राज-चिह्न है। मुकुट किरीट आदि आकार में बड़े होते होंगे जो बड़े
ही आ सकते होंगे। बालक के सिर पर चूँकि कोई मुकुट आदि नहीं आ
इसलिए यदि बालक ही राजा बने तो मुकुट के स्थान पर उसको सोने
ही बाँध दिया जाता होगा। इससे वह राजा है ऐसा भी व्यक्त हो सकता
सिर सूना भी नहीं रहता।

कर्णाभूषण

स्त्री-पुरुष दोनों ही के कानों में छेद हुआ था और दोनों ही कुछ-न-कुछ पहना करते थे। पुरुष केवल कुण्डल ही पहनते थे क्योंकि कर्णाभरणों में एक स्थान पर कुण्डल[2] और दूसरे स्थान पर कर्णभूषण[3] शब्द प्रयोग हुआ है, परन्तु स्त्रियाँ कर्णपूर, कुण्डल कनककमल और पहनती थीं।

कर्णपूर[4]—दूसरे शब्दों में हम इसको कर्णफूल कह सकते हैं। कर्णपूर से ही स्पष्ट होता है कि यह आभूषण कानों को ढक लेता होगा अर्थात् मात्र । नहीं अपितु वहाँ छेद है उसका मात्र प्रवेश ही। इसमें पीछे पेंच लगा होगा जिससे गिरने न पाए और अपने स्थान से सरके भी नहीं।

कुण्डल—मणि[5] अथवा कांचन[1] दोनों ही के कुण्डल होते थे। इस बार स्त्री और पुरुष दोनों ही पहन सकते थे। यह गोल-गोल छल्ले की तरह होते थे जो सरके से बन्द हो जाते होंगे।

कनककमल[6]—कर्णपूर और कनककमल में लम्बा-चौड़ा अन्तर नहीं है। आकार में यह गोल न होकर कमल के आकार के बने रहते हैं। दूसरी विशेष बात यह है कि ये गिर सकते हैं। ऋतुसंहार ११ में गिर जाने का प्रसंग है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इसमें पीछे पेंच न होकर काँटा रहता होगा।

---

१ श्री वासुदेवशरण अग्रवाल 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १८
२ रघु० ६।६१ ३ रघु० ९।६१
४ रघु० ७।२७ कुमार० ८।६९ ऋतु० २।२५
५ ऋतु० १।२० ६ ऋतु० ३।१९

कालिदास का अभिप्राय कनककमल से सुनहले रंग के कमल से भी हो सकता है।

अवतंस[1]—जहाँ कहीं भी अवतंस का प्रयोग है वहाँ पुष्पों के ही अवतंस स्त्रियाँ कान में धारण करती हैं। केवल एक स्थान पर पार्वती के अवतंस आभूषण के कहे गए हैं[2]। फूलों को कानों में सिरोया ही जा सकता है। फूल नीचे लटकता ही रहेगा। अतः कर्णपूर से यह इसका प्रथम अन्तर हुआ। कर्णपूर कानों में ठीक हो जाता होगा पर यह नीचे लटकता था। कुमारसम्भव सर्ग ७ में शिवजी के पीछे-पीछे मातायें चलने लगीं तब रथ के झटके से उनके कर्णावतंस हिलने लगे[3]। इससे आजकल के झुमके ही उस समय के अवतंस होंगे। ये ही हिल सकते हैं और फूलों को यदि कान में सिरो भी लिया जाय तो इसका यही आकार आएगा। तीसरी बात और एक है, कवि अवतंस के धरकने[4] का वर्णन करता है अतः ये लटकते होंगे और पीछे पेंच के स्थान पर कनककमल की तरह काँटा लगा होगा।

कण्ठाभूषण

कण्ठभूषण स्त्री तथा पुरुष दोनों ही धारण करते थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कण्ठाभूषण मुक्ताहार ही थे चाहे एकावली हो हारयष्टि हो या हारशेखर। कवि हार का तात्पर्य मुक्ता के हार ही लेता है[5]। इसको कवि स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। यक्ष की रानियों के हार जल-क्रीड़ा करते समय टूट जाते हैं और न मुक्ता के समान जल-बिन्दुओं को देखकर समझती हैं कि टूटा नहीं है। यही नहीं वे उत्तरमेघ में जो यही कहते हैं—

अम्भोऽस्मामवनिपपन संनिकीर्णकपाली तत्परंदूमगलितमवैशिकम्पहारैरिवार्य ।
भूयो भूय कठिनविषमा धारयन्ती कपोलारामोत्सम्पात्मयमितगात्रैर्मनोज्ञी करोब ॥[6]

मोतियों के हार ही सरकता है टूट सकते हैं। कण्ठाभरण हार आदि के विषय में कवि एक बात बहुत अधिक कहता है कि ये हार ...
थे उनमें टकराते थे[7]। इससे यह निष्कर्ष ...
तरह छोटे-छोटे नहीं ...

हार के प्रकार

(१) मुक्तावली[1]—मोतियों की एक लड़ी की माला ही इसका प्रमाण यह है कि चित्रकूट के नीचे बहती हुई गंगा उसके मुक्तावली के सदृश लगती है[2]। एकावली का दूसरा आकार ही

(२) तारहार[3]—मल्लिनाथ तारहार को स्थूल मुक्ताहार पुरुषों का आभूषण है, अतः कहा जा सकता है कि पुरुष बड़े-बड़े पहनते थे पर स्त्रियाँ छोटे मोतियों की। बढ़िया मोती के हार गुप्तयुग हार कहलाते थे (हर्षचरित वासुदेवशरण अग्रवाल पृष्ठ १७८)।

(३) हार शेखर[4]—मुक्तावली की तरह ही हार-शेखर मोतियों है। अगर यह हो सकता है कि मुक्तावली हार-शेखर से लम्बाई में बड़ी हार-शेखर छोटी माला है, क्योंकि शेखर मस्तक को कहते हैं और आकार की यह माला होगी इसीलिए इसका नाम हारशेखर पड़ा। तरह यह चिपटा रहता होगा।

(४) हारयष्टि[5]—जहाँ मुक्तावली और हारशेखर एक लड़ की वहाँ हारयष्टि अनेक लड़ियों का हार है परन्तु इसके बीच में चन्द्रहार की पकड़ नहीं पड़ रहते थे। दूसरे शब्दों में यह केवल मुक्तामाला की ही लड़ियाँ जो ऊपर जाकर एक में मिल जाती थीं। प्राचीन वेश-भूषा में (पृष्ठ ७२ १०) अजिन्ता की वेश भूषा में दिखाया आभूषण यही हारयष्टि है।

(५) हार[6]—हारशेखर हारयष्टि तारहार निर्मोकहार सब हार के ही प्रकार हैं जिनमें आकार का थोड़ा-थोड़ा भेद है। साधारण रूप से किसी भी प्रकार के हार को हार की संज्ञा दे दी गई है।

(६) लम्बहार[7]—हारों में कुछ छोटे जैसे हारशेखर होते होंगे और कुछ लम्बे जिन्हें कवि लम्बहार कहता है। साधारणतः पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा लम्बे हार ही पहनते होंगे इसीलिए उनके हार को लम्बहार एक पृथक नाम दे दिया गया है। स्त्रियों के ऐसे लम्बे हार को स्तनलम्बिहार कहा गया है[8]।

---

१ रघु० १३।४८ विक्रम० ५।१५ २ रघु० १३।४८
३ रघु० ५।५२ ४ ऋतु० ३।६ ५ ऋतु० १।८ कुमार० ८।६८
६ ऋतु० १।२८ २।१८ ३।३ ७ ६।७ उत्तरमेघ, १० ८ ऋ
७ रघु० ६।६०

(७) निर्धौत हार[1]—सीप बन दो प्रकार का होता है,[2] एक दुग्ध की तरह धवल, दूसरा जल की तरह। मुक्ता के भी ये दो प्रकार होते हैं। निर्धौत हार उन मुक्ताओं से बनता होगा जो जल की तरह पारदर्शी हों क्योंकि जहाँ निर्धौत हार का प्रसंग है वहाँ ओस की बूँदों को इन मोतियों के समान कहा गया है।

(८) इन्द्रनील मुक्तामयी[3]—मोतियों की माला के बीच-बीच में रत्नों से भरे पत्ते भी आ सकते हैं। यह उसका ही प्रकार है। इसमें बीच-बीच में इन्द्रनील हैं।

(९) कभी-कभी ८ की तरह ही मुक्तामयी माला के बीच में एक बड़ी-सी इन्द्रनील मणि भी पिरो दी जाती थी जिसको आजकल के पेण्डण्ट का रूप कह सकते हैं[3]।

(१०) मुक्ताकलाप[4]—एकावली के समान ही इसकी भी रूपरेखा होगी। इसकी कोई विशेष रूपरेखा होगी इसकी प्रतीति नहीं है। पार्वती के पीन वक्ष के ऊँचे-ऊँचे स्तनों पर मुक्ताकलाप का ऐसा प्रसंग है। अतः एकावली या मुक्तावली से यह लम्बाई में काफी छोटी होगी। तभी इसका आकार ग्रीवा की तरह गोल बन सकता है।

(११) निष्क[5]—आग की चिनगारियों के साथ इसकी समता दिखाए जाने से यह कहा जा सकता है कि सोने की यह माला होगी और छोटे-छोटे दाने मोतियों के समान इसमें पुरे होंगे अर्थात् मोतियों की माला की तरह यह सोने के मोतियों की माला होगी।

(१२) रत्नानुविद्धप्रालम्ब[1]—जिस प्रकार सोने की माला बनी जाती थी उसी प्रकार रत्नों की माला भी। यह बहुत कुछ कण्ठ----
सोने की मढ़िया उसमें रहती
बना

यह कि हार के बीच में एक मरकेट की तरह मणि रहती थी या बीच-बीच में कई। मोतियों के हार बहुत अधिक प्रचार में थे पर सोने के और रत्न-निर्मित सोने के भी हार प्रचलित थे। हार सीधे तथा हलके थे और जाल की तरह भारी।

(१३) मुक्ताजाल[1]—अलकों में भी मुक्ताजाल का प्रयोग किया जाता था (मुक्ताजालग्रथितमलकम् —पूर्वमेघ ६७)। कभी-कभी अभिसारिका के केश की मुक्ताएँ मार्ग में बिखर जाती थीं। उत्तरमेघ ११ में इनके ही बिखर जाने का संकेत है।

कराभूषण

अंगद, वलय केयूर, कटक और अंगूठी ये पाँच कराभूषण हैं जो स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से पहनते थे। आकार में थोड़ा अन्तर था। पुरुष सादे धारण करते थे पर स्त्रियों के इन्हीं आभूषणों में घुँघरू आदि की कोई-न कोई विशेषता रहती थी।

(१) अङ्गद[2]—भुजाओं पर बाँधने का एक आभूषण है। स्त्री[3] और पुरुष दोनों ही इसे समान रूप से धारण करते थे। यह पीछे बँध जाता था।

(२) केयूर[4]—अंगद की तरह यह भी भुजबन्ध है। अंगद से इसमें एक विशेषता है, इसमें नोक होती थी। रघुवंश में अज के द्वारा मारे गये योद्धाओं में एक के केयूर की नोक शिवा के तालू में चुभ गई थी[5]।

(३) वलय[6]—अंगद भुजबन्ध है, पर वलय कड़ा या पहुँचियों पर पहना जाता था। अंगद और वलय एक ही स्थान पर नहीं पहने जाते थे क्योंकि कवि ने ऋतुसंहार में एक साथ ही (वलयांगद) दोनों का प्रयोग किया है[7]। पूर्वमेघ में इसे वह प्रकोष्ठस्थित ही कहता है[8]। आकार में यह गोल कड़े की तरह होता है क्योंकि कहीं अजगरों को वलय की तरह लपेटना कहा है[9], कहीं शिवजी सर्पों को वलय की तरह लपेटे हुए हैं[10]। पुरुष केवल बायें हाथ में वलय पहनते थे—

---

१ मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः— उत्तरमेघ ११
२ रघु० ६।१४, ६३ १६।६० ३ रघु० १६ ६०
४ रघु० ६।६८ ७।५०, कुमार० ७।६९ स्त्रियाँ —रघु० १६।६६
५ रघु० ७।५०
६ अभि० ३।११, ६।६ कुमार० २।६४ ३।६८ पूर्वमेघ ६४ रघु० १३।४३ १६।७१ पूर्वमेघ २ माल २।६ रघु० १६।७२
७ ऋतु० ४।३ ६।७ ८ पूर्वमेघ २
९ रघु० १३।४३ १० पूर्वमेघ, ६४ कुमार०, ३।६८

'प्रत्यारिष्टविशेषमण्डनविधिर्विन्यस्तप्रकोष्ठार्पितं ।
विमतकाञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ॥ —अभि० ६।१

(अ) काञ्चन वलय¹—वलय का यह सबसे सीधा प्रकार है। यह
ही अधिकांश में धारण करते हैं। लड़कियों का केवल दो स्थानों पर प्रसंग है²

(ब) कंगन की तरह नोकदार³ ([illegible])
पूर्वमेव (११)—आजकल के कंगनों की तरह नोकदार कुछ जड़ाऊ वलय भी
स्त्रियाँ पहनती थीं। कुमिप का अब कुछ लोग हीरा कहते हैं।

(स) शिञ्जावलय⁴—घुँघरूदार जो ताली बजाने पर मृदुध्वनि
कर उठें।

(४) अंगूठी—अंगूठी साधारण होती थी। रत्नजटी⁵ रत्नों से नाम
लिखा हुआ हो⁶ इस प्रकार की अथवा जिस पर सर्प⁷ आदि किसी का चित्र
बना हो। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अंगूठी पहनते थे।

(५) कटक⁸—कड़े की तरह का एक आभूषण है। यह पुरुषों का है।
संक्षिप्त रूप से अंगद और केयूर दोनों पट्टीनुमा होते थे जो पीछे बंध जाते
होंगे परन्तु वलय और कटक चूड़ी की तरह ही पहने जाते थे तथा ढीले रहते
थे क्योंकि मालविका का वलय प्रकोष्ठ पर आकर ठहर गया था।

कटि के आभूषण

कमर के आभूषणों में मेखला रशना एवं काञ्ची तीन आभूषण हैं यद्यपि
इन तीनों के सोने रत्न एवं मुक्ता आदि के कई प्रकार भी होंगे।

मेखला¹—रशना का जहाँ नहीं नाम है वहाँ यह बजती है, ऐसा वर्णन
कहा गया है, परन्तु रशना का यह गुण मेखला में नहीं पाया जाता। कहीं-कहीं

---

१ अभि० ३।११ ६।१ [illegible]
२ [illegible]

कवि मेखला से रानियाँ राजा को बाँध देती थीं ऐसा भी कहता है[1]। अतः चौड़ाई में यह पतली होती होगी। इस बात का दूसरा प्रमाण यह है कि कवि एक स्थान पर कुमारसम्भव में कहता है कि नहाती हुई पार्वती के चारों ओर घूमती हुई मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती थीं मानों उसने मेखला धारण की हो[2]। रघुवंश में भी नदी में तैरते हंसों की पंक्तियाँ मेखला कही गई हैं[3]।

मेखला भारी सोने की होती थी (हेम-मेखला[4]) अथवा मणि-मेखला[5] जिसमें रत्न जड़े हों। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त ग्रथित मेखला[6] भी थी अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने के लिए स्थान-स्थान पर घुंघरू भी डाल दिए जाते थे। कभी-कभी स्त्रियाँ साड़ी पर पट्टियों से बनी मेखलाएँ पहनती थीं[7]। कवि मेखला टूट जाती थी ऐसा भी कभी-कभी कहता है[8]। अतः मेखला मुक्तामयी भी होती होगी क्योंकि वही टूट सकती है, सोने और रत्न का नहीं।

(२) रशना[9]—रशना में अधिकतर शब्द वर्णित है[10] अतः घुंघरू तो अवश्य ही इसमें लगे रहते होंगे। मेखला से रशना का यह पहला अन्तर है। मेखला की तरह यह भी पतली होगी क्योंकि मालविकाग्निमित्र में इरावती अग्निमित्र को रशना से ताड़ित करने का प्रयत्न करती थी[11]। मेखला की तरह रशना की उपमा भी मछलियों की पंक्तियों[12] हंस की पंक्तियों[13] अथवा विहगावलियों[14] से दी है। अतः आकार-प्रकार में यह मेखला की ही तरह है। केवल घुंघरू का अन्तर है। घुंघरू है, इसका प्रथम प्रमाण यह कि शब्द वर्णित है, दूसरा यह कि सूत्र में पिरोए जा सकते हैं[15] और सूत्र टूटने या छूटने पर यही

---

१ रघु० १९।१७ कुमार० ५।८ २ कुमार ८।२६
३ रघु० १९।४० ४ ऋतु० १।६
५. रघु० १६।४५ कुमार० १।३८ ऋतु० ६।४
६ रघु० ६।३७
७ डा० मोतीचन्द्र प्राचीन वेश-भूषा पृ० ७१
८ कुमार ८।८३ ८६ उत्तरमेघ १८ रघु० १६।२५
९. कुमार० ३।१० ७।६१ ऋतु० ३।३ २० ६।२६ माल० अंक ३ पृ० १११ विक्रम०, ४।२२ उत्तरमेघ १ रघु० ७।१० ८।५८ १६।६३ १६।६५, १६।४२
१० रघु० ८।५८ १६।६५
११ माल० अंक ३ पृ० १११
१२. ऋतु०, ३।३
१३ उत्तरमेघ १
१४ विक्रम० ४।२२
१५. कुमार० ७।६१ रघु० ७।१०

'प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितं।
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः ॥ —अभि॰ ६।६

(अ) काञ्चन वलय[1]—वलय का यह सबसे सीधा प्रकार है। यह ही अधिकांश में धारण करते हैं। स्त्रियों का वैभव दो स्थानों पर प्रसंग है[2]

(ब) कंगन की तरह नोकदार[3] (पूर्वमेघ ६५)—आजकल के कंगनों की तरह नोकदार कुछ जड़ाऊ वलय भी स्त्रियाँ पहनती थीं। कलिन्द का अर्थ कुछ लोग हीरा कहते हैं।

(स) शिञ्जावलय[4]—घुँघरूदार कड़े जो ताली बजाने पर मधुरध्वनि कर उठें।

(४) अंगूठी—अंगूठी साधारण होती थी। रत्नजड़ी[5] रत्नों से नाम लिखा हुआ हो[6] इस प्रकार की अथवा जिस पर सर्प[7] आदि किसी का चित्र बना हो। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अंगूठी पहनते थे।

(५) कटक[8]—कड़े की तरह का एक आभूषण है। यह पुरुषों का है। संक्षिप्त रूप से अंगद और केयूर छोटे पट्टीनुमा होते थे जो पीछे बँध जाते होंगे परन्तु वलय और कटक चूड़ी की तरह ही पहने जाते थे तथा ढीले रहते थे क्योंकि मालविका का वलय प्रकोष्ठ पर आकर ठहर गया था।

कटि के आभूषण

कमर के आभूषणों में मेखला रशना एवं काञ्ची तीन आभूषण हैं यद्यपि इन तीनों के छोटे रत्न एवं मुक्ता आदि के कई प्रकार भी होंगे।

मेखला[1]—रशना का जहाँ नहीं नाम है वहाँ वह बजती है, ऐसा वर्णन कहा गया है, परन्तु रशना का यह गुण मेखला में नहीं पाया जाता। कहीं-कहीं

---

१ अभि ६।११ ६।६ ...
२.

इस धारण कर सकती थीं[1] और दूसरा विद्रुम जैसे में मणि आदि नहीं जड़ी जा सकती। व बहुत बड़े हो जायेंगे। इसमें सदैव शब्द वर्णित है[2]। अतः कहा जा सकता है कि इसमें घुंघरू अवश्य लगाए जाते होंगे। शिञ्जितनूपुर,[3] मणिनूपुर[4] भास्वत् कनकनूपुर[5] (चमकते हुए और शब्द करने वाले सुन्दर-से) कनकनूपुर[6] आदि शब्द कवि के ग्रन्थों में आए हैं। संक्षेप में केवल सोने के और मणिजटित दो ही प्रकार विशेष हैं।

आभरण-मञ्जूषा[7]—समस्त आभरणों को रखने के लिए एक पिटारी अथवा सन्दूक भी होता था जो आभरण-मञ्जूषा कहलाता था। इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द समुद्गक था। जंगल में रहनेवाले पत्तों से भी समुद्गक बना लेते थे। अनसूया ने शकुन्तला की विदाई के अवसर के लिए एक बकुल की माला 'नारिकेल समुद्गक' में रख छोड़ी थी।

पुष्पाभरण—स्वर्ण तथा रत्नजटित आभूषणों की तरह स्त्रियाँ पुष्प के आभूषणों से भी अपना शरीर अलंकृत किया करती थीं। ऋतुओं के अनुसार उनको नानाप्रकार के पुष्प मिल भी जाते थे।

केश—सिर में व कुरबक[8] नवकदम्ब, सर्जकेसर और केतकी के फूलों की माला कभी धारण करतीं[9] कभी मधूक की (कुमार० ७।१४)। वर्षाऋतु में कभी केशपाश को पुष्पावतंस से सुरभीकृत करतीं,[10] कभी बकुल और मालती फूलों की माला से अलंकृत करती थीं[11]। शरदऋतु में घनी काली लटों में मालती के फूल गूँथती थीं[12]। शिशिर ऋतु में वे केश को फूलों से [illegible] थीं[13]। वसन्तऋतु शृंगार के लिए बहुत उपयुक्त होने के कारण स्त्रियाँ ऋतु में विशेषतः चमेली की माला से केश सजातीं[14] कभी कुरबक के फूलों से केशपाश, अलंकृत करती थीं[15]। कवि की सर्वसुन्दरी यक्षी जुही और [illegible] कदम्ब से केश की शोभा बढ़ाती थी[16]। अशोक और नवमल्लिका के फूल

---

१ माल० अंक ३ पूरा
२ कुमार० १।३४, रघु० १६।२१, ऋतु० ८।८, विक्रम० ३।१५, माल० ३।१७, ऋतु० ३।२०
३ कुमार० १।३४, विक्रम० ४।१०   ४ ऋतु० ३।२७
५ रघु० १६।१२   ६ ऋतु० ३।२०
७ माल० अंक ४ पृष्ठ १९५, अंक ५ पृष्ठ ३१५
८ उत्तरमेघ २   ९ ऋतु० २।२१   १० ऋतु० २।१९
११ ऋतु० २।२५   १२ ऋतु० ३।१९   १३ ऋतु० ४।८
१४ [illegible]   १५ ऋतु० ६।३३   १६ विक्रम०

बिखर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि निरे घुंघरू ही हों और कुछ प्रत्युत घुंघरू भी जगह-जगह लगे होंगे। मछली हंस आदि की शक्ल में ‹‹ आदि भी रहती होंगी और घुंघरू भी।

प्रकार में हेमरत्ना[1] जिसमें रत्नादि बिलकुल न हों, जिसमें घुंघरुओं की संख्या अधिक हो और मणिरत्ना[3] जिसमें बड़े-बड़े घुंघरू ही होते हैं।

काञ्ची[4]—मेखला और रशना की तरह यह कभी बाँधने के काम नहीं आई न ही मछलियाँ हंस विग्रह इसके प्रतीक हुए। अतः यह पतली पट्टी न होकर चौड़ी पट्टी-सी होती होगी। यह सोने की[5] अथवा काञ्चनमयी रत्नविन्दुओं से परिपूर्ण थी[6]। इस काञ्ची को शब्दमयी बनाने के लिए घुंघरू का प्रयोग भी कर लिया जाता था। मणिकनककाञ्ची का कवि प्रसंग देता है[7]। कनक-किङ्किणी[8] का एक प्रकार और मिलता है, जो इससे मिलता-जुलता है, आकार में कुछ पतला हो जाता होगा। यक्षिणी प्रतिमा की वेष भूषा में कमर पर यह चौलूटी लड़ियों से बनी एक सतलड़ी करधनी पहने है—(प्राचीन वेष-भूषा पृष्ठ ७० चित्र ४९)। पृष्ठ ७२ चित्र ५० पर भी ऐसी ही करधनी पहने एक स्त्री है, जिसमें चार लड़ियाँ हैं पर चारों भिन्न हैं। एक चौमुटी सन्धी की दूसरी मौलसिरी के फूलों के आकार की तीसरी घुंघरूदार मनकों की चौथी गोल मनकों की। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्त्रियाँ एक ही समय काञ्ची रशना सब पहन लेती होंगी।

कटि के इन आभूषणों के विषय में एक बात महत्त्वपूर्ण है। ये दुकूल अथवा क्षौम के [जैसे ऊपर पहने जाते हैं, वैसे ही उस समय नीचे भी पहने जाते थे[9]।

पैर का आभूषण

नूपुर[10]—पैरों में स्त्रियाँ नूपुर धारण करती थीं। नूपुर का अर्थ बिछुए नहीं अपितु पायल था। इसके पक्ष में प्रमाण यह कि एक ...

१ रघु, १६।४९ ...

इसे धारण कर सकती थीं[1] और दूसरा जिसमें जैसे में मणि आदि नहीं जड़ी जा सकती। ये बहुत बड़े हो जाते थे। इसमें सर्वत्र शब्द प्रयुक्त है[2]। अतः कहा जा सकता है कि इसमें घुंघरू अवश्य लगाए जाते होंगे। शिञ्जितनूपुर[3] मणिनूपुर[4] भास्वत्कनकनूपुर[5] (चमकते हुए और शब्द करने वाले सुन्दर-से) कनकनूपुर[6] आदि शब्द कवि के ग्रन्थों में आए हैं। संक्षेप में केवल सोने के और मणिजटित दो ही प्रकार विशेष हैं।

आभरण-मञ्जूषा[7]—समस्त आभरणों को रखने के लिए एक पिटारी अथवा सन्दूक भी होता था जो आभरण-मञ्जूषा कहलाता था। इसके लिए दूसरा प्रचलित शब्द समुद्गक था। जंगल में रहनेवाले पत्तों से भी समुद्गक बना लेते थे। अनुसूया ने शकुन्तला की विदाई के अवसर के लिए एक बकुल की माला 'नारिकेल समुद्गक' में रख छोड़ी थी।

पुष्पाभरण—स्वर्ण तथा रत्नजटित आभूषणों की तरह स्त्रियाँ पुष्प के आभूषणों से भी अपने शरीर अलंकृत किया करती थीं। ऋतुओं के अनुसार उनको नानाप्रकार के पुष्प मिल भी जाते थे।

केश—सिर में वे कुरबक[8] नवकदम्ब नवकेसर और केतकी के फूलों की माला कभी धारण करतीं[9] कभी मधूक की (कुमार० ७।१४)। वर्षाऋतु में कभी केशपाश को पुष्पावतंस से सुशोभित करतीं[10] कभी बकुल और मालती के फूलों की माला से अलंकृत करती थीं[11]। शरद्ऋतु में घनी काली केशों में मालती के फूल गूँथती थीं[12]। शिशिर ऋतु में वे केश को फूलों से सजाती थीं[13]। वसन्तऋतु शृंगार के लिए बहुत उपयुक्त होने के कारण स्त्रियाँ इस ऋतु में विशेषतः चमेली की माला से केश सजातीं[14] कभी कुरबक के फूलों से केशपाश अलंकृत करती थीं[15]। कवि की नवसुन्दरी यक्षी जूही और रक्तकदम्ब से केश की शोभा बढ़ाती थी[16]। अशोक और नवमल्लिका के फूल भी

---

१ माल० अंक १ पृष्ठ

२ कुमार० १।३४ रघु० १६।२३ ऋतु० ७।८ विक्रम ३।१५ ४।१० मालु० ३।१७ ऋतु० ३।२

३ कुमार० १।३४ विक्रम० ४।१०   ४ ऋतु० ३।२०

५ रघु० १६।१२   ६ ऋतु० ३।२०

७ माल० अंक ४ पृष्ठ १२५ अंक ५ पृष्ठ १४५

८ उत्तरमेघ २   ९ ऋतु० २।२१   १० ऋतु० २।२२

११ ऋतु० ३।२५   १२ ऋतु० ३।१९   १३ ऋतु० ४।८

१४ ऋतु० ६।३   १५ ऋतु० ।३३   १६ विक्रम० ४।४१ ९९

केश-सौन्दर्य के लिए उत्तम थे।[1] नीप-पुष्प से सीमन्त अलंकृत किया जाता था[2]। २

कर्ण—केश रचना की तरह कानों में शिरीष[3] यवांकुर[4] तथा अन्य सुगन्धित पुष्पों के अवतंस पहने जाते थे[5]। वर्षाऋतु में नवकदम्ब का कर्णपूर[6] शरद् में कानों में नील कमल[7] वसन्त में नवकर्णिकार के अवतंस[8] स्त्रियाँ पहनती थीं। शकुन्तला कमलनाल के आभूषण पहनती थी। कानों में शिरीष की उत्सुक डाल लेती थी[9]। मालविका दोहद के समय आम की मञ्जरी और अशोक के अवतंस पहने थी[10]। कुकुभास मञ्जरी के भी अवतंस वर्षाऋतु में पहने जाते थे[11]।

कण्ठ—वक्षस्थल पर फूलों के हार पहने जाते थे[12]। शकुन्तला गले में कमल के तन्तुओं की माला पहना करती थी[13]।

कर (वलय)—शकुन्तला मृणाल का वलय पहनती थी[14]। अन्य किसी ने कभी किस पुष्प का वलय पहना इसका कोई संकेत नहीं है।

काञ्ची—काञ्ची भी फूलों की पहनी जाती थी। केसरदामकाञ्ची इसमें विशेष है[15]।

शृंगार

केश-रचना—स्त्री और पुरुष[16] दोनों ही लम्बे-लम्बे बाल रखते थे। रघुवंश में राजा दिलीप की लटें स्तम्भों के समान लम्बी गई थी[17]। बाल तभी लम्बे लगते हैं जब लम्बे हों। बच्चों के भी काकपक्ष होता था[18]। अर्थात्

ऋतु० ६।६ — २ उत्तरमेघ २

उत्तरमेघ २ रघु० ११।६१ — ४ रघु० १३।४९

अभि० १।२८

ऋतु० २।२५ — ६ ऋतु २।१८

उनके बाल इतने लम्बे होते थे कि वे सुन्दर छल्ले बनाते हुए इधर-उधर लटका करते थे। पुरुषों के बाल इतने लम्बे होते थे कि रानियाँ अर्थात् उनकी पत्नियाँ उनके बाल पकड़ कर रोक लेती थीं[1]। यवन लोग दाढ़ी रखते थे[2]। दुःख के समय में या किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग-काल में भारतवासी भी श्मश्रु रखते थे[3]।

स्त्रियों के केश लम्बे होते थे[4]। लम्बे घुँघराले[5] और काले बाल[6] सौन्दर्य की दृष्टि से उत्तम माने जाते थे जिनको वे तेल डालकर चिकने रखती थीं। विरहावस्था में तेल के अभाव के कारण ही उनके बाल रूखे रहते थे और उलझते थे[7]।

स्त्रियाँ चोटी[8] भी करती थीं और जूड़ा भी बनाती थीं। एकवेणी का बहुत अधिक प्रसंग है। विरहावस्था में बाल खुले नहीं रहते थे अपितु जैसा पति के सम्मुख प्रतिदिन तेल डालतीं वेणी आदि धारण करतीं फूलों से अलंकृत करतीं वैसा उनकी अनुपस्थिति में नहीं। अतः बाल उलझते रहते थे जो उनके पति ही आकर सुलझाते थे। एकवेणी[9] शब्द से ऐसा आभास होता है कि आजकल की तरह कदाचित् तब भी दो चोटियाँ की जाती हों।

संस्कृत के अमरकोष में अलक का स्वरूप 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अलकावली बनाने में चूर्ण का प्रयोग किया जाता था। दूसरे शब्दों में कुंकुम कर्पूर आदि के अवलेप से बालों में भँवर पैदा किए जाते थे। कालिदास भी इसी का समर्थन करते हैं। रघुवंश में वर्णित केरल देश की स्त्रियों के अलकों के सम्बन्ध में चूर्ण का उल्लेख है—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः॥[10]

रघुवंश के षष्ठम सर्ग में इन्दुमती के केशों का वर्णन करते हुए कवि ने अलकों का

---

१ रघु० १९।११ २. रघु० ४।६३
३ रघु० १३।७१ कूर्च—अभि० अंक ६ पृ० ११६
४ शिरोरुहैः श्रोणितटावलम्बिभिः........ — ऋतु० २।१८
५. रघु० ६।८१ 'अरालकेश्य' कुमार० ८।८५ कुटिलकेश माल० ३।२२ कुटिलकेश ६ ऋतु० ४।१५
७ स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण। —उत्तरमेघ २९ उत्तरमेघ ३०
८ रघु० १४।१२ वेणी पूर्वमेघ २८ ३१ उत्तरमेघ ४१
९. अभि० ७।२१ उत्तरमेघ ३० ३४ १० रघु० ४।५४

वास्तविक स्वरूप बताया है[1]। इसमें अलकों का वलीभृत विशेषण स्पष्ट करता है कि छल्लेदार या घुँघरदार बाल उस समय की विशेष प्रकार की केशरचना थी। लटों को घूम कुन्तल या अलक के रूप में बनने से उनकी लम्बाई कम हो जाती होगी। कवि ने विरहिणी यक्षपत्नी के बालों को लम्बालक[2] कहा है। विरह में स्निग्ध पदार्थ तैलादि के बिना शुद्ध-स्नान के कारण उसके अलक कपोलों पर लटक जाते थे अतः उसका पूरा मुख नहीं दिखाई देता था[3]। इससे यह ध्वनि निकलती है कि विरह में केश-रचना (बालों को घुँघरदार) नहीं करती थी अतः वे लम्बे होकर कपोलों पर लटक जाते थे।

मल्लिनाथ ने अलक की व्याख्या स्वभाववक्राण्यलकानि तासाम् की है। इससे पूर्णरूप से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि अलकों में वक्रता अथवा घुमाव रहता था।

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल इन घुँघराले बालों के बनाने के कई प्रकार वर्णित करते हैं।

(अ) इसमें सीमन्त या माँग के दोनों ओर केवल वलीभृत अलकों की समानान्तर पंक्तियाँ सजी रहती हैं। भारत-कला-भवन में इस केश-विन्यास के कई नमूने हैं।

(ब) सीमन्त या केशवीथी को एक आभूषण से सज्जित किया जाता है। इसका वर्तमान रूप सिरबोर कहा जा सकता है। इस आभूषण के लिए सीमन्त स्थान कुछ विस्तृत दिखाया जाता है और थोड़ा हट कर घूँघर प्रारम्भ किया जाता है। बाणभट्ट ने सिरबोर के लिए हर्षचरित में 'चटुला तिलक' शब्द का प्रयोग किया है।

(स) घूँघर की पहली पंक्ति ललाट के ऊपर अर्धवृत्त की तरह घूमती हुई सिर के प्रान्त भाग तक जाती है। यह देखने में गुच्छी छतरी-सी लगती है।

(द) वासुदेव जी इस प्रकार का पटियादार घूँघर कहते हैं। माँग के दोनों ओर पहले पटिया मिलती है, तत्पश्चात् घूँघर शुरू होकर दोनों ओर फैल जाते हैं[4]।

---

१ कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥—रघु० ८।५१

यह सब अलक अर्थात् घुँघर के विभिन्न प्रकार हैं। अलक केश-रचना के अतिरिक्त ये अन्य प्रकार की केश-रचना भी अभिव्यक्त करते हैं। जो निम्न लिखित हैं—

कुटिल पटिया—माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराई हुई घुंघ पटिया मिलती हैं। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़ कर घुम जाती हैं। देखने में यह मोर की लहराती पूंछ-सी मालूम होती है। कालिदास ने स्त्री-केशों को मोरों का बर्हभार[1] कहा है वहाँ उनका आशय इसी प्रकार के केश-विन्यास से है।

चूडापाश—आधुनिक 'जूड़ा' शब्द इसी 'चूडा' शब्द का रूपान्तर है। इसमें माँग के दोनों ओर बालों की पटिया बनी रहती हैं। वे ही सिर के पीछे जूड़े के रूप में बाँध दी जाती हैं।

छल्लेदार केश-रचना—इसमें माँग के दोनों ओर बाल शहद के छत्ते की तरह सैमरीदार-से बाल पड़ते हैं। संस्कृत में इस रचना को क्षौद्रपटल या मधुपटल-विन्यास कहा जा सकता है। कालिदास ने पारसीकों के दाढ़ीदार श्मश्रुल सिरों की उपमा क्षौद्रपटल से दी है[2]।

मौलि—इसमें बालों का जूड़ा बना कर माला से बाँध दिया जाता है। मौलि के भीतर भी फूलों की माला गूँथी जाती थी। कवि ने इसका उल्लेख किया है[3]।

वेणी-बन्धन[4] केश-बन्धन[5] अलक-संयमन[6] केशपाश[7] आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि वे जूड़ा बनाती थीं। शकुन्तला प्रथम अंक में जूड़ा खुल जाने से शकुन्तला की लटें बिखर जाती हैं जिन्हें वह बड़ी कठिनाई से सम्हालती है[8]। अतः योगी का ही जूड़ा नहीं स्त्रियों के बालों का जूड़ा बनाया जाता था[9] पर वेणी

---

१ शिखिनां बर्हभारेषु केशान्। —उत्तरमेघ ४६

२ भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥ —रघु० ४।६३

३ तैरस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम्। —रघु १७।२३
और में विभिन्न केश-विन्यास प्रणालियों की वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'कला और संस्कृति' में विस्तारपूर्वक चर्चा की है।

४ रघु० १०।४७   ५ अभि० अंक ६ पृ० ११५   ६ विक्रम० ३।६

७ ऋतु० ४।१५ ५।१२ उत्तरमेघ २ कुमार० ७।५७ ६

८ अभि० १।२८   ९. गतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः —रघु० ९।६७

बन्धन शब्द से ऐसा लगता है कि चोटी का भी जूड़ा बनाया जाता होगा[1]

वे माँग निकालती थीं[2]। माँग भरने का भी एक स्थान पर प्रसंग है। अलक्तचूर्ण का प्रयोग माँग भरने के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखता[3]। वे माँग को फूलों से सजाती थीं[4]। जूड़े को वे बहुधा पुष्पों से अलंकृत करतीं[5] अथवा वैसे ही केशों को नानाप्रकार के पुष्पों से सुन्दर बनाती थीं[6]। कभी-कभी मुक्ताजाल से भी अलकों की सुन्दरता बढ़ाया करती थीं[7]।

केवल पुष्प रत्न मुक्ता ही केश-सौन्दर्य के लिए ही नहीं नानाप्रकार के धूप भी सुरभित करने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। वे बालों को काले अगरु[8] धूप[9] से सुगन्धित किया करती थीं। कस्तूरी का धूम[10] भी कदाचित् बालों को सुगन्धित करने के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। अलक-चूर्ण[11] का भी कुमारसम्भव में प्रसंग आता है।

इन सब उपकरणों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि केश-रचना[12] का बहुत बड़ा महत्त्व था।

मुख-सौन्दर्य

(१) पत्र-रचना—स्त्री[13] और पुरुष[14] दोनों ही मुख पर[15] (और शरीर के अन्य भाग पर भी[16]) पत्र-रचना किया करते थे। पत्र-रचना का संकेत कुमारसंभव[17] रघुवंश[18] मालविकाग्निमित्र[19] ऋतुसंहार[20] में स्थान-स्थान पर

१ रघु० १०।४७ २ उत्तरमेघ २ ३ रघु० १६।६६
४ उत्तरमेघ २ ५. रघु० ७।६
६ कुमार० ५।१२ ७।१४ ८।७२ विक्रम० ४।२२ ४६ ६१ उत्तरमेघ २ ऋतु० २।२१ १२ २५ ३।१६ ४।८ ५।३ ६ ११ रघु० ८।६७
७ पूर्वमेघ ६७ रघु० १७।२१ ८. पूर्वमेघ ३६ ऋतु० ४।५ ५।१२
९. कुमार ७।१४ ऋतु० ४।१२ रघु० १६।५० १७।२२
१० धूपधूम—रघु० ४।५४
१२

जाता है। यह रचना गोरोचन और कुंकुम से की जाती थी। पार्वती के शरीर पर पत्र-रचना गोरोचन से की गई थी[1]। रघुवंश में राजा अतिथि के राज्याभिषेक के अवसर पर मुख पर गोरोचन चन्दन और अंगराग से पत्र-रचना की गई थी[2]। पत्र-रचना अञ्जन से भी होती थी[3]। थोड़े से शब्दों में काला श्वेत और लाल रंग पत्र-रचना के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[4]।

(२) माथे पर तिलक—माथे पर तिलक भी मुख-सौन्दर्य के लिए विशेष महत्त्व रखता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही तिलक का प्रयोग किया करते थे[5]। यह तिलक हरताल और मनःशिला का बनाया जाता था। महादेव और पार्वती दोनों के विवाह के अवसर पर ऐसा ही तिलक लगा था[6]। तिलक का मालविकाग्निमित्र[7] और रघुवंश[8] में भी संकेत है। तिलक कदाचित् स्त्रियाँ लाल रंग का लगाती थीं परन्तु आसपास अञ्जन से भी या छोटी-छोटी बिन्दियाँ लगाती होंगी या बाहर की रेखा क्योंकि काले भौंरों से घिरा तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक की समानता प्राप्त करता है, ऐसा कवि ने मालविकाग्निमित्र में कहा है[9]। कुमारसम्भव में भी तिलक का फूल स्त्रियों के तिलक के समान है, ऐसा कहा गया है[10]।

(३) अञ्जन—सौन्दर्य के लिए आँखों में अञ्जन[11] का प्रयोग किया जाता था। यह अञ्जन काला होता था[12] अर्थात् सुरमे के रंग का नहीं। कवि काले बादलों को घुटे अंजन के समान कहता है[13]। एक स्थान पर नीले आकाश को अञ्जन के समान कहा है[14]। अतः कहा जा सकता है कि अञ्जन कुछ हलके काले रंग का और कुछ गहरे काले रंग का होता होगा। विरह में[15] या तपस्या

---

१ कुमार० ७।१५   २. रघु०, १७।२४

३ कुमार० ३।३०   ४ माल० ३।५

५. कुमार ७।२३ ३३ रघु० १८।४४ (गुरुजन ने लगाया था) कुमार० ३।३० माल० ३।५, ४।९

६ कुमार० ७।२३ ३३   ७ माल० ३।५, ४।९

८ रघु० १८।४४   ९. माल० ३।५   १० कुमार० ३।३०

११ रघु० ७।२७ १९।५९, १८।१० कुमार १।४७ ५।४१ ७।२० ५९ ८२ | उत्तरमेघ ३७ ऋतु० ३।११ ३।२

१२ कुमार० ७।२० ८२   १३ ऋतु० २।२ ३।५

१४ ऋतु० ३।११   १५. उत्तरमेघ ३७

में[1] काजल लगाना वर्जित हो जाता था अतः आँखें रूखी हो जाती थीं। यह अञ्जन शलाकाओं से लगाया जाता था। शलाकाओं का बहुधा कवि प्रसंग देता है[2]।

(४) ओष्ठराग—ओठ रँगने का भी अधिक चलन था। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में राजा दुष्यन्त शकुन्तला के उन ओष्ठों का वर्णन करता है, जो रँगे न जाने के कारण पीले पड़ गए थे[3]। कुमारसम्भव में भी ओष्ठराग का प्रसंग है[4]। स्वयं पार्वती तपस्या करते समय यद्यपि ओष्ठ रँगना छोड़ चुकी थीं पर उनके ओष्ठ तब भी लाल थे[5]। स्नान करते समय यह ओष्ठराग धुल जाता था[6]। अतः ओष्ठ स्वाभाविक लाल न भी हों तब भी रँग कर लाल कर लिए जाते थे। रघुवंश की तरह विक्रमोर्वशीय में भी ओष्ठराग की स्पष्ट प्रतीति है[7]। ओष्ठराग तपस्या करते समय[8] और विरहावस्था में[9] शृंगार के अन्य उपकरणों की तरह छोड़ दिया जाता है। एक अन्य महत्त्वशील बात इस प्रसंग में यह है कि आजकल की तरह ओष्ठराग कई रँग का नहीं होता था। केवल लाल रँग का ही था[10]।

अलक्तक—जिस प्रकार ओष्ठ पर ओष्ठराग प्रयुक्त किया जाता था वैसे ही चरणों पर अलक्तक[11]। अलक्तक के लिए कवि कभी राग-लेखा कभी पादराग कभी लाक्षारस कभी बालातप कभी राग रेखा-विन्यास कभी चरणराग कभी द्रवराग कभी निमित्तराग आदि शब्द कहता है। राग-रेखा-विन्यास शब्द से

१ कुमार० ५।५१
२ कुमार० १।४७ रघु० ७।८ कुमार० ७।५६
३ अभि० ७।२३
४ कुमार० १।३३ ५।११ ३४ ७।१८
५. कुमार ५।३४
६. रघु० १६।१०
७ विक्रम० ४।१७
८. कुमार० ५।११ ३४
९. अभि० ७।२१
१० अभि ७।२३ कुमार ५।३४
११ विक्रम० ४।१६—[illegible]। पूर्वमेघ १९ पादराग। माल० १।११ रागलेखा। अंक ३ पृ० १०३ रागरेखाविन्यास। अंक ३

ऐसा प्रतीत होता है कि आलक्तक लगाना भी कला थी[1]। मालविका के चरणों को बकुलावलिका ने आलक्तक से बहुत सजाया था[2]। स्त्रियाँ तो इस कला में प्रवीण[3] हुआ ही करती थीं पर पुरुष भी इस कला में दक्ष हुआ करते थे। मालविकाग्निमित्र में तो सखी का सरस हास्य है कि किसने इस कला को राजा से सीखा है[4] पर रघुवंश के अन्तिम सर्ग में कामुक अग्निवर्ण अपने विलासोपवन में स्वयं रानियों को महावर लगाने बैठ जाया करता था[5]। स्त्रियों की तरह पुरुष भी अपने महावर लगाते थे पर अवसरविशेष पर[6]।

शृंगार के अन्य उपकरण

अञ्जन तिलक ओष्ठराग और आलक्तक के अतिरिक्त शृंगार के लिए नाना प्रकार के अवलेप उशीर चन्दन अंगराग पुष्प सुगन्धित द्रव्य इत्र तेल तथा सुगन्धित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था।

पुष्प—फूलों का बहुत अधिक प्रयोग होता था। आभूषण वाले प्रसंग में बताया ही जा चुका है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प किस स्थान पर और किस रूप में धारण किए जाते थे। फूलों की रचना अवतंस कल्प हार वेणी आदि सभी थी। पूर्वमेघ २८ में पुष्पलावी नाम की जाति का प्रसंग है जो फूलों को बेचती थी। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में भी उद्यान-पालिका है, अतः फूलों का उस समय बहुत अधिक चलन था इसमें कोई संशय नहीं।

चन्दन[7]—शीतलता तथा सौन्दर्य के लिए चन्दन का प्रयोग किया जाता था केवल हेमन्त[8] और शिशिर को छोड़कर सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ चन्दन का प्रयोग करती थीं[9]। चन्दन को कस्तूरी की सुगन्ध में बसाकर सुगन्धित भी कर लिया जाता था[10]। अथवा प्रियंगु कालीय कस्तूरी और कुंकुम में मिलाकर सुगन्धित

---

१ माल० अंक ३ पृ० ३०३ २ माल० अंक ३ पृ० ३०३ ३०४

३ माल० अंक ३ पृ० ३०३ ३०४ कुमार० ७।१९

४ माल० अंक ३ पृ० ३ ३ ५ रघु० १९।२५ २६

६ रघु० १८।४१

७ विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।—कुमार० ५।८
—स्तनाग्रमरपुष्पभूषणा स्मितोष्ठे स्फाटिका चन्दनधूसरालका।—कुमार० ५।५५
—विन्यस्तेनांगविन्यस्तचन्दनम्।—कुमार ८।८१

८ मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषारकुन्देन्दुनिभैश्च हारैः। विलासिनीनां स्तनशालिनीनां नालंक्रियन्ते...... ॥

९ ऋतु १।२ ४ ६ ८ ऋतु० ३।२० ६।१२

१० चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना—रघु० १७।२४

अवलेप भी बना लिया जाता था[1]। काले अगर में चन्दन मिलाकर भी अवलेप बनाए जाते थे[2]।

चन्दन के तीन प्रकार पाए जाते हैं—

हरिचन्दन—इसका प्रयोग स्त्री[3] तथा पुरुष[4] दोनों करते थे।

रक्तचन्दन[5]—इसका प्रयोग चोट पर किया जाता था।

सितचन्दन[6]—सौन्दर्य के लिए प्रयोग किया जाता था उसी प्रकार जैसे हरिचन्दन तथा साधारण चन्दन।

अंगराग[7]—चन्दन की तरह शरीर पर अंगराग का भी प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी इसको कस्तूरी में बसा कर सुगन्धित कर लेते थे[8]। अनसूया ने सीता के शरीर पर इतना सुगन्धित अंगराग लगाया था कि फूलों से भौंरे भी उड़-उड़ कर इधर ही आने लगे थे[9]। सितांगराग[10] और कालीयक अंगराग[11] मीपरयामराग[12] इसके प्रकार-विशेष हैं।

अन्य अवलेप—चन्दन तथा अंगराग एक प्रकार के अवलेप ही हैं। अनुलेपन शब्द इंगित करता है कि अवलेपों के भिन्न-भिन्न प्रकार शारीरिक सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त किए जाते थे और विरह में अनुलेपन छोड़ दिया जाता था[13]। अन्य अवलेपों में शुक्लागुरु,[14] कालागुरु और चन्दन[15] केसर का अवलेप[16] प्रियंगु कालीयक कुंकुमसिक्त कस्तूरी और चन्दन मिश्रित अवलेप[17] उशीरानुलेपन[18] आते हैं।

गोरोचन—गोरोचन गोवंश का पदार्थ है अतः कवि इन्दुमती के वे सखी सुनन्दा के द्वारा कहलवाता है कि तुम गोरोचन-सी गोरवर्ण हो यदि श्यामवर्ण

---

१ ऋतु० ६।१४
२ ऋतु० २।२१
३ कुमार० ५।६६
४ रघु० ६।६ अभि०, ७२
५. माल० अंक ४ प० ११७
६ ऋतु० ६।७
७ रघु० ११।५८
८ रघु० १०।२४
९ रघु० १२।२७
१० पुरुष भी प्रयोग करते थे —कुमार० ७।१२
... माल० ४।४   १२ पत्र —रघु० ११।१७

जैसे पाण्ड्य देश के राजा से विवाह कर लोगी तो उतनी ही सुन्दर लगोगी जैसे बादल के साथ बिजली[1]। गोरोचन का प्रयोग स्त्री और पुरुष दोनों ही मुख पर पत्र-रचना के लिए करते थे। राजा अतिथि ने राज्याभिषेक के अवसर पर पत्र-रचना के लिए ही इसका प्रयोग किया था[2]। उधर पार्वती के विवाहावसर पर उनके मुख पर पत्र-रचना इसी से की गई थी[3]। गोरोचन से दुपट्टे पर चित्र भी हंस आदि के बना लिए जाते थे[4]। यह शुभ माना जाता था।

हरिताल और मैनसिल—माथे पर तिलक लगाने के लिए विवाह के शुभ अवसर पर हरिताल और मैनसिल का प्रयोग किया जाता था[5]।

तेल—नहाने से पूर्व तेल मला जाता था[6]। तेल मलवाने का आशय स्वास्थ्य-वृद्धि ही था। ऋतुसंहार में स्त्रियाँ हेमन्त ऋतु में तेल मलवाती थीं ऐसा प्रसंग है[7]। शकुन्तला में भी नहाने से पूर्व तेल मलवाने का वर्णन है[8]। विशेष प्रकारों के तेलों के नाम नहीं आए हैं। केवल इंगुदी तैल (जिसका व्यवहार वनवासी करते थे) का शाकुन्तल में नाम है[9]।

सुगन्धित द्रव्य

सारे शरीर पर ही सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था। यहाँ तक कि स्नान करने के पश्चात् सरोवरों के जल में यही सुगन्धि बस जाती थी और वे महँकते रहते थे[10]। केश वस्त्र कक्ष सब ही सुवासित इन्हीं सुगन्धित द्रव्यों से किए जाते थे।

(१) काला अगरु[11]—केश, वस्त्र और कक्ष काला अगरु से सुगन्धित किए जाते थे।

(२) धूप[12]—काला अगरु की तरह धूप का प्रयोग भी वस्त्र कक्ष और केशों को सुगन्धित करने के लिए किया जाता था।

---

१ रघु० ६।६५ २ रघु० १७।२४
३ कुमार० ७।१७ ४ कुमार० ७।३२
५ पार्वती—कुमार० ७।२३ शिव—कुमार० ७।३३
६ कुमार० ७।९ ७ ऋतु० ४।१८
८. अभि ५।११ ९. अभि० २ पृष्ठ १४
१० पूर्वमेघ ३० रघु १६।२१ ऋतु० १।४
११ केश— कु० ४।५ ६।१६ वस्त्र—ऋतु० ५।५
१२ बाल—पूर्वमेघ ३२ ऋतु० ४।५, कुमार० ७।१४ वस्त्र—ऋतु० ६।१५ ऋतु० ५।५

(१) कस्तूरी[1]—वस्तुओं को सुगन्धित करने के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता था। मदपेयों को सुगन्धित करने के लिए उनको इसकी सुगन्धि में बसा किया जाता था।

सुगन्धित चूर्ण

सुगन्धित द्रव्यों की तरह नानाप्रकार के सुगन्धित चूर्णों का प्रयोग किया जाता था। आजकल जैसे मुख पर पाउडर का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार मुख केश और शरीर के अन्य भागों पर तरह-तरह के चूर्ण लगाए जाते थे।

(१) लोध्रप्रसवरज—लोध्र का चूर्ण मुख को गौरवर्ण का करने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। उत्तरमेघ इस बात की पुष्टि करता है[2]। कुमारसम्भव में भी लोध्रचूर्ण का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग पहले स्नान से पूर्व शरीर पर है[3]। तत्पश्चात् गात्रों पर अर्थात् स्नान करने के पश्चात् मुख पर इसका प्रयोग है[4]।

(२) अम्बुज रेणु[5]—शरीर पर यह प्रयुक्त किया जाता था। परन्तु सम्भावना इसकी भी है कि मुख पर भी अवसरानुकूल इसका प्रयोग हुआ करता होगा।

(३) केसर-चूर्ण[6]—रघुवंश में सीताराम चतुर्वेदी 'अभ्युक्षितधमाकुलं' का अनुवाद केसर-चूर्ण करते हैं। इस कथनानुसार केसर-चूर्ण का प्रयोग वस्त्र में किया जाता था। देखिए, टीका मल्लिनाथ—रघु० ९।२१।

(४) केतक रज[7]—केवड़े के फूलों का पराग, सुगन्धित चूर्ण का एक प्रकार था जो शरीर पर सुगन्धि के लिए मला जाता था।

(५) मुखचूर्ण[8]—इन सब चूर्णों के अतिरिक्त मुख का कोई चूर्ण विशेष भी रहा होगा जिसमें कई वस्तुओं का सम्मिश्रण कर दिया जाता होगा। अतः इसको किसी पुष्प आदि की संज्ञा न देकर मुखचूर्ण ही कहा गया।

(६) कस्तूरी का चूर्ण[9]—बालों को सुगन्धित करने के लिए कस्तूरी का चूर्ण लगाया जाता था।

(७) केशचूर्ण[10]—कस्तूरी के चूर्ण की तरह अन्य केशचूर्ण भी थे जिनको कोई विशेष नाम न देकर केशचूर्ण कह दिया गया।

संक्षेप में समस्त चूर्णों को तीन वर्गों में संक्षिप्त किया जा सकता है। मुख चूर्ण केशचूर्ण तथा शरीर पर लगाने का चूर्ण। मुखचूर्ण में लोध्र प्रमुख केश में कस्तूरी और शरीर पर केतकचूर्ण और कुंकुमचूर्ण आ सकता है।

मृगरोचन—श्री सीताराम चतुर्वेदी इसे गोरोचन कहते हैं। टीका में भी इसे गोरोचन ही कहा गया है। इसी प्रकार तीर्थ मिट्टी दूर्वा किसलय केसर मालिका भी शृंगार के लिए प्रयुक्त हुआ करती थी[1]।

दर्पण—दर्पण का प्रसंग अनेक स्थानों पर आया है। कुमारसम्भव[2] रघुवंश[3] शकुन्तला[4] ऋतुसंहार सब में ही दर्पण शब्द का कथन और नाम है, अतः व्यक्त होता है कि शृंगार देखने के लिए इसकी उपयुक्तता सब समझते थे। सोने के चौपड़ पर दर्पण[5] कदाचित् धनी लोगों की वस्तु थी। दर्पण की अनुपस्थिति में पद्म में भी मुख-छवि देख ली जाती थी[7]।

प्रसाधन-कला—प्रसाधन-कला और प्रसाधन-विधि में कौशल किया था। यह कला प्रत्येक को नहीं आती थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में सखियाँ अपने आभूषण से शकुन्तला को सजाने की चेष्टा करती हैं[8]। इसी प्रकार पार्वती के विवाह के अवसर पर प्रसाधिका उन्हें अंजन आदि लगाती हैं[9]। अतिथि के राज्याभिषेक पर प्रसाधिकाएँ उनका शृंगार करती हैं[10]। मालविकाग्निमित्र में भी बकुलावलिका महावर से मालविका के चरण अति कौशल के साथ रँगती है और उनके पूछने पर कि तुमने इस कला को किससे सीखा वह परिहास में कहती है—महाराज से[11]। इसी नाटक के पंचम अंक में पंडिता कौशिकी से कहा जाता है—सर्व प्रसाधनगर्व वहसि तद्दर्शय मालविकायाः शरीरे विवाहनेपथ्यमिति[12]। कभी-कभी नायक भी अपनी प्रेयसी का प्रसाधन किया करता था। अग्निवर्ण भी कभी-कभी स्त्रियों के चरणों में महावर लगा दिया करता था। महादेव जी ने भी पार्वती का फूलों से शृंगार किया था[13]।

---

१ अभि० अंक ४ पृष्ठ ६४ २ कुमार० ७।२२ २६ ३६ ८।११

३ रघु० १७।२६ ३७ १६।२८ ३० ४ अभि० ७।३२

५ ऋतु, ४।१४ ६ रघु० १७।२६ ७ कुमार ७।३६

८. अभि०, अंक ५, पृष्ठ ६६ ९. कुमार ७।२०

१० रघु १८।२२ ११ माल० अंक ३ पृष्ठ १०३

१२ माल, अंक ५, पृष्ठ ३४१ १३ रघु० १६।२६ कुमार० ८।२०

नवाँ अध्याय

सामाजिक जीवन, रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहार

पारिवारिक जीवन

दाम्पत्य जीवन तथा गृहस्थ जीवन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो चुका है कि पति-पत्नी किस प्रकार अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व का पालन करते हुए परस्पर सुखी जीवन व्यतीत किया करते थे। परिवार में पति पत्नी और बच्चों के अतिरिक्त भाई, बहिन, सास ससुर, बहू, मामा, चाचा तथा माँ और पिता दोनों ओर के सम्बन्धियों का वर्णन प्रमाणित करता है कि उस समय भी संयुक्त परिवार की प्रथा रही होगी।

मित्र—पारिवारिक बन्धुओं के अतिरिक्त मित्र का भी तत्कालीन समाज में उच्च स्थान था। उस रियो 'साप्तपदीनं सख्यं'[1] का मुहावरा प्रसिद्ध था। इसी को कालिदास ने बातचीत करने के बाद हम दोनों मित्र हो गए हैं[2] इस स्वरूप में भी व्यक्त किया है। मित्र का स्थान कितना उच्च था इसका प्रमाण कामदेव की मृत्यु के पश्चात् रति के विलाप करते हुए 'पुष्प आदी रती ने प्रम काल म भले ही विस्मृत कर दे पर मृत्यु में उसका प्रथ आगम पाना है सुख दुख में ही समान रहो' ये शब्द हैं[3]। अत

—

था। वही समस्त कार्यों को अपने प्राणों की बाजी लगा कर सम्पादित करता था। बुद्धि-बल से ही मित्र की इच्छापूर्ति अथवा सिद्धि नहीं अपितु अटल स्नेह ही कार्य का सिद्धि-द्वार तक पहुँचाता था। इन्हीं कारणों से मित्र का समाज में बहुत आदरपूर्ण और उच्च स्थान था। अनसूया और प्रियंवदा ने अपनी सखी शकुन्तला के लिए क्या-क्या किया इसका जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा ही है। दोनों के मिलन में सहयोग विवाह में सम्मति ही नहीं सहायता भी इन्हीं सखियों की देन थी। दुर्वासा को मनाना प्रसन्न कर सखी को शाप से मुक्त कराने का भी इन्हीं लोगों का प्रयत्न था। राजा के चले जाने पर शकुन्तला से अधिक इनको ही चिन्ता थी कि कब राजा को इस विवाह की याद दिलाई जाय। समस्त कार्य सहसा हो सम्पन्न देखकर इनके हर्ष का पारावार न रहा यद्यपि सखी के वियोग का भी दुःख थोड़ा न था। इनकी परस्पर मित्रता और प्रेम को देखकर दुष्यन्त के मुख से भी ये शब्द निकल पड़े 'आप लोग एक-सी रूपवाली और एक-सी अवस्थावाली हैं आप लोगों का यह सौहार्दभाव मुझे बड़ा प्यारा लगता है'[1]।

मित्रता करते समय कवि चेतावनी भी देता है कि मनुष्य को सदा सोच समझ कर काम करना चाहिए। अयोग्य व्यक्ति की मित्रता से बड़ा दुष्परिणाम भी होता है। बिना किसी के स्वभाव को भली प्रकार जाने कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए, नहीं तो यह मित्रता शत्रुता बन जाती है। अतः अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए[2]।

पाणिनि ने 'साप्तपदीनं सख्यम्' प्रयुक्त किया है[3]। कालिदास ने भी इसी अर्थ में साप्तपदीन का प्रयोग किया है[4]। मित्रता साप्तपदीन इसलिए कहलाती थी कि इसकी स्थापना सात पग चलने से ही होती थी। सम्भवतः महाभारत में भी इसी बात की पुष्टि है। गृह्यसूत्रों में 'पति-पत्नी का सात मंत्र पढ़कर ही साप्तपदी मित्र बनाता है, ऐसा लिखा है[5]। कालिदास में भी इसी

---

१ अहो समवयोरूपरमणीयं भवतीनां सौहार्दम्। —अभि० अंक १ पृ० १७

२ अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्॥ —अभि० ५।२४

३ साप्तपदीनं सख्यम् —(५ २ २२)

४ प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं संप्रतिपत्तुमर्हसि।
यतः सतां संनतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते॥
—कुमार० ५।३९

५. India as known to Panini by Vasudeva Sharan Agrawal P 97

की प्रतिध्वनि है, वहीं अज इन्दुमती को सखी कह कर सम्बोधित करता ०

भृत्यवर्ग—परिवार म समृद्धि के अनुसार भृत्य रहा करते थे ~ काम अपने स्वामी की सेवा करना था। इन सेवकों के साथ सदा दया और के साथ व्यवहार करना ही उत्तम समझा जाता था। कण्व ने शकुन्तला का के घर जाते समय उपदेश ही यही दिया था कि 'अपने परिजनों के ~ उदार रहना'[२]।

सेवकों का आदर्श अपने स्वामी के प्रति सच्चा रहना था। जिस काम का उनको भार दिया जाय उसको पूरी तरह से करना उनका कर्तव्य था। जिसकी रक्षा का भार सेवक को मिलता था उसको वह प्राण देकर भी रक्षा करता था नहीं तो उसके नष्ट हो जाने पर स्वामी के सम्मुख उसकी क्या स्वामि-भक्ति[३] ? राजा दिलीप इसी कारण नन्दिनी की रक्षा के बदले अपने शरीर का मांस देने के लिए तैयार हो गए थे।

राजा के पास भृत्यों की लम्बी सेना रहा करती थी। इनम चारण वैतालिक[४] सेवक[५] दौवारिक[६] प्रतिहारी[७] द्वारपाल[८] अन्य पदनाम वाले[९]

---

१ गृहिणी सचिव सखी मिथ प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ। —रघु० ८।६७

२ भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी। —अभि ४।१८

३ अवगच्छति मूढचेतन प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्। ... महानि ... ...। स्थातु नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन॥—रघु० २।५५

४ अब के अध्याय म इसके उदाहरण दिए जा चुके हैं।

५ मंगलपाठ आगमस्या मूला विस्मितिरपादुभाषा वीरसेनेन प्रतिष्ठितैर्वा भिनत्ति वाष्पमान मुश्नाति। —माल० अंक ५ पृ० ११६ (सेवक बढ़कर सुनाया करते थे)

६ दौवारिक —(प्रथम)

७ ...

प्रमापक[1] अर्थात् भगाने वाले रनिवास के सेवक[2] किराती[3] वर्षवर[4] आदि थे। कन्या को विवाह के लिए धात्री भी रहती थी। यह रानी के शिशुओं को स्तनपान भी कराती थी[5]। कन्या के बड़ी हो जाने पर भी उसके ऊपर धात्री रहती थी[6]।

गृह, गृह-सम्बन्धी फर्नीचर तथा बर्तन

गृह—तपस्वी-जन पर्णकुटी[8] पर्णशाला[9] अथवा उटज[10] में रहते थे। अर्थात् इनके घर घास-पत्ता इत्यादि से बनाए जाते थे। सामाजिक के रहने के घर भवन, हर्म्य[11] सौध[12] प्रासाद[13] आदि कहलाते थे। इनका निम्नलिखित

---

१ उदाहरण अध्याय 'वेशभूषा' में दिए जा चुके हैं।

—रघु० १०।२२ कुमार० ७।२०

२ कुरन्धाना न वधूमथोपं निम्न विनीतैरवरोधरक्षैः। —रघु० ७।१६

३, ४ देखिए, अध्याय वर्ण-व्यवस्था

५ उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।

—रघु० ३।२५

६ कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः।

आनन्देनाग्रजेनैव समं ववृधिरे पितुः॥ —रघु० १०।७८

७ ... ॥

... ॥

— कुमार० ७।२५

८ देखिए, तपस्वी जीवन —अध्याय 'शिक्षा'

९ देखिए, तपस्वी जीवन अध्याय 'शिक्षा' विस्तार—रघु० १२।४० २।१९५

१० देखिए, 'तपस्वी जीवन' रघु० १।५० ५२ १४।८१ अभि० पृ० १०

५८ कुमार ५।१७ रघु १९।२

११ स पौराणां सद्मनि ... ।

—रघु ३।१६

—से सद्मनि गिरेर्वर्गाद्... ।

... ॥ —कुमार० ६।४८

१२ ... ।

... ॥ —रघु० १९।५

१३ ... ।

... ॥ —रघु० १९।२

१४ ... ।

... ॥—कुमार०,७।११

बनाते होंगे । अवश्य ही यह ईंटों से बनते होंगे । पाणिनि के समय में भी ईंट के मकान बनने लगे थे[1]। वानीर-गृह भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थे[2] जो प्रायः नदी-तट पर बने होते थे ।

इन गृहों में अपनी आवश्यकतानुसार अनेक कक्ष होते थे अथवा एक ही बड़े मकान को कई भागों में विभक्त कर दिया जाता था जिसका अपने आवश्यकतानुसार मनुष्य प्रयोग किया करते थे । शयनगृह, यज्ञशाला, अग्निशाला, स्नानागार, महानस, सारभाण्डगृह आदि कई विभाग थे । राजाओं के महलों में भी इसी प्रकार का विभाजन था । उनका न्यायालय पृथक रहता था तथा शुद्धान्त पृथक । इसके अतिरिक्त ऋतु के अनुकूल विश्रामदायक कई भवन और भी रहते थे । समुद्रगृह, मणिहर्म्य भवन, प्रवात-शयनगृह, मेघ-प्रतिच्छन्द इसी प्रकार के भवन थे । राजाओं के पास विनोद के लिए भी पृथक भवन थे । नाट्यशाला, चित्रशाला, संगीतशाला आदि इसी प्रकार के स्थान थे । इनके विषय में स्थापत्य विभाग वाले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा ।

फर्नीचर—बैठने की सभी वस्तुएँ आसन[3] कहलाती थीं । गजदन्तासन, सिंहासन, वेत्रासन, कनकासन इत्यादि बैठने की वस्तुओं के विभिन्न प्रकार हैं ।

सिंहासन[4] राजा के ही बैठने के लिए होता था । यह सुवर्ण का बना होता

—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ —उत्तरमेघ १

१ India as known to Panini by V S Agrawala —P 135 (1953 Ed)

२ अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ —रघु० १३।३५
—बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ —रघु० १६।२१

३ एतदासनमास्यताम्—विक्रम पृष्ठ १८२
—महेन्द्रभवनं गच्छता भवतोत्थाप्यापेन रत्नासनं प्रतिपा हत
।—विक्रम० पृष्ठ ११२

था तथा इसमें तरह-तरह के रत्न जड़े रहते थे[1]। टी॰ ए॰ गोपीनाथ राव के अनुसार यह चार पायों का बना होता था। इसका नाम सिंहासन पड़ा ही इसलिए कि इसके चारों पायों पर चार छोटे-छोटे सिंह बने होते थे[2]।

कनकासन[3] (कनकासन काष-सा भी हो सकता है जिसपर वर-कन्या दोनों बैठ सकें) रत्नवदासन[4] सोने के अथवा रत्न जड़े आसन होते थे। वेत्रासन बेंत के बने आसन थे। यह ऋषि-मुनियों के बैठने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। मथुरा के म्यूजियम में बेंत की कुरसी है, अतः वेत्रासन इसी का रूप है।

हाथीदाँत के सिंहासन भी होते थे। गजदन्तासन[6] इसी प्रकार के सिंहासन की व्याख्या है।

इन बड़े-बड़े आसनों के अतिरिक्त चौकियाँ (Stool) भी होती थीं। राजा अपने चरणों को इन्हीं चौकियों पर रखा करते थे। वह पादपीठ[7] कहलाता

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं॰ ४ रघु॰ ७।१८
—पौरा महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये—रघु॰ ६।६

२ The Hindu Iconography Vol. I Pt. I, Page 21

३ तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥ रघु॰ ७।२
—स्नातकैर्बन्धुमद्भिश्च ततो वरवधूर्मतौ पर्यायपालितासनस्थौ।
आयामवती मौक्तिकमेयमोघमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम्॥
—कुमार॰ ७।

४ परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥ —रघु॰ ६।४

५ तत्र वेत्रासनासीनान्कृतासनपरिग्रहः।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः॥ —कुमार॰ ६।५३

६ ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः॥ —रघु॰ १७।२१

७ सिंहासनस्थितं तत्र भेजे पैतृकमासनम्।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम्॥ —रघु॰ १७।२८
—पादपीठ—यो नु पादाभ्यां स्थाप्यते पादपीठं स्वयं महाराजेन ...
सिंहासनस्थितं। —हिन्दू॰ पृ॰ २४८

था। सोने का बना होने के कारण हेमपीठ[1] तपनीयपीठ[2] भी सम्बोधित होता था। छोटी चौकी पीठिका कहलाती थी। मालविका अपने सूजे चोट खाए पैर को सोने की पीठिका पर ही रखे बैठी थी जब अग्निमित्र उसे देखने आया था[3]। भद्रपीठ[4] भी इसी प्रकार की चौकी थी जिस पर बिठाकर (राज्याभिषेक के अवसर पर) राजा को तीर्थों के जल से नहलाया जाता था।

जैसा प्रसंगों से अभिव्यक्त होता है, विष्टर पूज्यजनों अथवा राजकीयजनों के बैठने के लिए प्रस्तुत किया जाता था[5]।

मंच[6] (Raised Platform) को हम प्लेटफार्म कह सकते हैं। मंच पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ लगी रहती थीं इन पर सिंहासन रखे थे। स्तम्भ[7] और

---

१ कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयोः ।
—रघु ४।८४

—आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किंचित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥
—रघु ६।१५

२ तस्मादधः किंचिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ —रघु० १८।४१

३ अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि ।
चरणं रुजापरीतं कलभाषिणि मां च पीडयितुम् ॥ —माल० ४।१

४ इति कुमारं भद्रपीठ उपवेशयति। —विक्रम पृ० २६५
—तैर्हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ —रघु १७।१०

५ नारद—आयुष्मानेतु। राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्—विक्रम पृ २५४
—परिवेणुमृगाङ्गुवारया कुशपूर्वं प्रणयाच्च विष्टरम्। —रघु ८।१८
—तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥
—कुमार० ७।७२

६ स तत्र मंचेषु मनोज्ञवेषान् सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।

पल्यङ्क पर्यंक की तरह थे जिन पर शयन किया जाता था। पर्यंक को जब गद्दे तकिए से युक्त कर सोने के लिए उपयुक्त कर लिया जाता था तब वह शय्या[1] कहलाती थी। सिंहासन मंच पलंग आदि सभी उत्तरच्छद[2] अथवा आस्तरण[3] से ढके रहते थे अथवा इनमें यह बिछाई जाती थी। उत्तरच्छद से शय्या को ढक दिया जाता था और कुर्सी पीठ आदि को आस्तरण से आच्छादित और शोभित करते थे। ये रंग-बिरंगे भी होते थे[4] और हंस की तरह श्वेत भी[5]। कदाचित् शय्या का आच्छादन श्वेत और अन्य रंग-बिरंगे हुआ करते थे।

बर्तन—बर्तन मिट्टी[6] सोने[7] अथवा अन्य कीमती धातुओं के बनते थे

—अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ —रघु० १६।६

१ अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥
—रघु० ३।१५

—तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
—रघु० ५।६५

—शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
—रघु० ५।७२

२ देखिए, पादटिप्पणी नं १ —रघु० ५।६५

—तत्र कल्पास्तरणस्पर्शं मणिस्तम्भमयं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ —रघु० १७।२१

—तत्र भिन्ननियमावरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम् ।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥
—कुमार० ८।८९

३ तत्राप्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः । —रघु० ५।४

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

५ तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् । —कुमार० ८।८२

६ स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥—रघु० ५।२

७ अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ —रघु० २।३६

—हैमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ —रघु० १०।५१

जिन पर मणि भी जड़ी रहती थी[1]। समृद्ध व्यक्ति सोने आदि कीमती धातुओं के बर्तन प्रयोग करते होंगे सामान्य वर्ग मिट्टी के।

साधारणतः बर्तन के लिए सामान्य शब्द पात्र[2] आया है। सम्भवतः कटोरे की तरह बीच में गहरा, कोने उठे हुए कैसे आकार का बर्तन (पात्र) होगा क्योंकि खीर इसी प्रकार के बर्तन में रखी जा सकती है[3]।

कुम्भ[4], कलश[5] और घट[6] पानी रखने के पात्र थे। कुम्भ का मुख ?ीष था अतः पानी भरने में ऐसा शब्द होता था कि दशरथ को भी हाथी

लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रती स्वयम्।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता॥

—कुमार० ८।७५

देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ —रघु० ५।२ और नं० ७

—रघु० १०।५१

देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७ —रघु० १०।५१

देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७ —रघु० २।३६

—तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्...... ।

—रघु० ५।६१

—कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ —रघु० ६।७१

—स तावेनि ...न्तिरमारभ्य विपश्चित्तत्स्वामिन्यमोऽमपूर्वं प्रयमं स ।
धस्यप्रोतं प्रेरय मनूम्भं मुनिपुत्रं तातस्तत्पस्य दयामीत्मिनिगोऽपि ॥

—रघु० ९।७८

—तेनावतीय तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥

—रघु० ९।७६

—आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः । —कुमार० ७।१०

एव मूर्ध तथाम्भपना ममारम्भ (इति कम्भ्यामावर्जयति)

—अभि० अंक १ पृ० १५

के पानी पीने का भ्रम हो गया[१]। घट और कुम्भ में आकार का अन्तर है। घट छोटा कुम्भ है जिसे स्त्रियाँ सरलता से उठा सकती थी और वृक्षों को पानी आदि दिया करती थीं[२]। बलवर कुम्भ हैमला सम धकुम समझा जाता था[३]। कलश भी पानी रखने का पात्र था। चषक[४] छोटे प्याले थे जिनमें मदिरा पी जाती थी। आजकल भी मदिरा पीने के चषक विशेष प्रकार के ही होते हैं।

किकंकत लकड़ी के चम्मच[५] पत्तों के दोने[६] भी प्रयुक्त किए जाते थे। अन्य आवश्यक सामग्रियों में बेत्रयष्टि[७] छाता[८] नाना प्रकार की वस्तुओं के रखन

—पुपा स्वमा पैयममप्यपावि बटाम्बुसर्वचितवासघृता। —रघु० १३।२४

—पयोघटैराश्रमबालवृन्दार्म्बबयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपन्नं स्तनंधयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥—रघु० १४।७८

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४ —रघु० १।७२

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ६

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४ —रघु० २।६३

४ ग्रिन्नीपुरोग्फ़ूतगिरिः पन्नाश्याप्स्वतीं शिरस्त्रैरूचपरीस्तरेव।
रक्तानिमि शोणितमघपुस्या रराज मत्योरिव पानभूमि॥
—रघु० ७।४९

५ नन्ध्रभसीमबपाडकमत्रामूरिशां प्युतविरमततपुत्राम्। (सुवा)
—रघु० ११।२५

६ दुग्ध्वा पय पत्रपुटे मदीय पुत्रोपभुंक्ष्वेति तमादिदेश।—रघु २।६५

७ आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या बेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।
—अभि० ५।३

—लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमबेत्रः।
मुखार्पितैकांगुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत्॥
—कुमार० ३।४१

८. औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥
—अभि०, ५।६

के लिए मञ्जूषा[1] करण्डक[2] तालवृन्त की पिटारी टोकरी[3] या पेटक[4] थे। ताड़ के पंखे[5] आदि भी थे। कमल के पत्तों से भी पंखा झला जाता था[6]। आलोक के लिए दीपकों का प्रयोग किया जाता था। य तेल से जलते थे[7]। समृद्धिशाली रत्नजटित दीपक रखते थे[8]।

वाहन (सवारी)—नदियों को पार करने के लिए नौकाएँ[9] प्रयोग की

---

१ पुत्रविजयनिमित्तम पारितोषमाल्य पुराणामाभरणानां मञ्जूषाऽस्मि संवृत्ता।
—अभि० अंक ६ पृ १५५

२. वर्तिकाकरण्डक गृहीत्वातामुनं प्रस्थितास्मि।—अभि० अंक ६ पृ० ११६

३ शुकचोदरश्यामे तालवृन्तावारे निक्षिप्य नीयमाना मया मनुरत्नमणिशलाका मिनीमौक्तिकरत्नमौघो मणिरामिषशंकिना गृध्रेणाक्षिप्त।—विक्रम पृ० ९११

४ पेटक—अभिषुगमेनं कृत्वा पेटकं मयधम।—विक्रम० अंक ५ पृ० २४२

५. व्यामृतामविरयाने कुसुमास्तैयमाम्यसात्।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकम्॥—कुमार २।३५

६ किं शीतलै क्लमविनोदिभिराद्रवातान्संचारयामि नलिनीदल तालवृन्तैः।
—अभि ३।१८

७ निशीथदीपा सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव।—रघु० ३।१५
—अयं तयोऽग्नि तदेव धौर्य तदेव नैमित्तिकमुत्मताम्यम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥
—रघु ५।३७
—भवति विरलभक्तिम्लाँनपुष्पोपहार स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्या प्रदीपा।
—रघु ५।७४
—ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्।—रघु० ८।३८
—निर्विष्टविषयस्नेह स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाण प्रदीपार्चिरिवोषसि॥—रघु १२।१

८. अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा

जाती थी। स्थल पर घोड़े[1] हाथी[2] ऊँट[3] खोड़[4] रथ[5] खच्चर[6] आदि सवारियों से काम सम्पन्न होता था। युद्ध के समय घोड़े और हाथी दोनों प्रयुक्त किए जाते थे। विवाह के समय वर हाथी पर चढ़ता था[7]। राजा भी हाथी पर बैठकर घूमने निकलता था[8]।

रथ में घोड़े जुतते थे। इसमें बैठकर युद्ध भी होता था और वैसे भी यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए सुविधाजनक सवारी थी। आखेट के समय भी दुष्यन्त रथ पर बैठा था। स्त्रियों के योग्य छोटा रथ होता था जिसे कर्णीरथ[9] कहा जाता था। मनुष्ययान[10] पालकी की तरह होता था जिसे चार आदमी कन्धे पर उठाते थे।

राजकीय जीवन

सामान्य जनता के जीवन पर दृष्टि डाली जा चुकी है। परन्तु राज-परिवार का जीवन और कर्तव्य इन सबसे विभिन्न था। राजकीय जीवन के आदर्श और सिद्धान्त सामान्य वर्ग से पृथक थे।

राजा के गुण—पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का अधिकारी होता था चाहे वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो। फिर भी राजा में बहुत-से गुणों का होना आवश्यक था। कवि ने जन्म की अपेक्षा व्यक्तिगत

---

१ सामान्य। सम्पूर्ण ग्रन्थ में अनेक उदाहरण।

२, ३ आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।—रघु० ६।३२

४ मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्॥—रघु० ४।२२

५ अनेक उदाहरण।—रघु० १।५४ ३।७० ७।३० ६।१० ११

६. खच्चर—अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
—रघु० ५।३२

७ तत्रावतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।—रघु० ७।१७

८. स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम्। क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा।
—रघु० १७।३२

९. श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥—रघु० १४।१३

१० मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि........ —रघु० ६।१०

गुणों को अधिक महत्ता दी है[1]। इन गुणों में स्वस्थ पुष्ट मांसल देह का होना अति आवश्यक था[2]। राजा दिलीप इसके आदर्श थे। इस प्रकार के स्वास्थ्य को प्राप्त कर ही राजा प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता था। 'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः'[3] राजा के लिए अनिवार्य थे। राजा अज की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही उसके ऐश्वर्य नहीं थी वरन् गुण शक्ति और प्रतिभा भी[4]। राजा दशरथ बहुत पराक्रमी थे यहाँ तक कि अपने इसी गुण के कारण लक्ष्मी जी की कृपा-दृष्टि भी प्राप्त की थी। राजा अतिथि ने बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की थी[5]। उनका धर्म अर्थ काम के संतुलन को महत्ता देना[6] राजा का राजर्षि कहलाना[8] राजत्व को आश्रम[9] कहना राजा के उत्तम गुणों का प्रमाण है।

इस सफल राजत्व के लिए दूसरों को प्रसन्न रखने की शक्ति का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार निशाकर को चन्द्र इसलिए कहा जाता है कि दूसरों के

---

१ कुमारस्य धिया पश्चादुदयार्चिषो रवेः।
सोऽधीरय तेजसां वृत्तिं सममेवास्थितो गुणैः। —रघु० १७।१४
—इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम्॥ —रघु० १७।७५

२ देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा' —कालिदास की सौन्दर्य प्रतिष्ठा।

३ रघु० १।२२

४ बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥ —रघु० ८।११

५ उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः॥ —रघु० ९।१५

६ अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट्पूर्वमजयद्रिपून्॥ —रघु० १७।४५

७ न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ —रघु० १७।५७

हृदय को शीतलता देता है, सूर्य को तपन इसलिए कहा जाता है कि वह दूसरों को संतप्त करता है उसी प्रकार राजा भी दूसरों को प्रसन्न करने के कारण ही राजा कहलाता है[1]। दक्षिणी वायु के समान न अधिक शीत न अधिक उष्ण होना[2] प्रत्येक व्यक्ति के साथ ऐसा व्यवहार करना कि सब यही समझें कि हम पर राजा की कृपा है[3] सागर के समान गंभीर भयदायक और परोपकारी होना[4] साथ ही किसी के हृदय में विरक्ति अथवा घृणा न उत्पन्न होने देना नम्र विनयशील और हँसी में भी कटु अथवा क्रूर वचन न कहना[5] प्रत्येक परिस्थिति में उदार रहना[6] सत्यवादी न्यायप्रिय होना[7] प्रजा की भलाई के लिए मृगया जुआ मदिरा आदि विलास से दूर रहना[8] शास्त्र दृष्टि से प्रजा का पालन करना राजा के गुणों के आदर्श थे। कवि ने दुष्यन्त दिलीप रघु, अज राम दशरथ अतिथि आदि सबको आदर्श रूप में ही चित्रित किया है।

---

१ यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥ —रघु० ४।१२

२ स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः॥ —रघु० ४।८

३ अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥ —रघु० ८।८

४ न च न परिचितो न चाप्यगम्यश्चकितमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥
—माल० १।११

—द्वार नियुक्तपुरुषाभिमतप्रवेशं सिंहासनान्तिकचरेण सहोपसर्पन्।
तेजोभिरस्य विनिवर्तितदृष्टिपातैर्वाक्यादृते पुनरिव प्रतिवारितोऽस्मि॥
—माल० १।१२

५. न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता॥ —रघु० ९।८

६ येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥ —अभि० ६।२१

७ देखिए, पादटिप्पणी सं० ५
—समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥ —रघु० ९।६

८ न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ —रघु० ९।७

राजकीय दिनचर्या—राजा के दैनिक-कर्तव्य और समय-विभाजन के विषय में कवि ने बहुत-से स्थानों में संकेत किया है। कौटिल्य ने दिन को ८ भागों में विभक्त किया है। प्रत्येक समय का कर्तव्य भी निर्धारित किया है। कवि स्वयं इस विभाजन को स्वीकार करता है[1]। प्रातः धर्मासन में आना[2] तीसरे पहर वहाँ से आना[3] राजा की इसी दिनचर्या का प्रमाण है। अतः राजा *का जीवन नियन्त्रित नीरस और बद्ध था।* राजा का कभी अपने काम से अवकाश न पाना अपने उत्तरदायित्व से मुक्त न होना इसी नीरसता की पुष्टि है[4]। राजा का कर्तव्य अपने सुख को तिलाञ्जलि दे दूसरों को सुखी करना था। राजा के तीन मुख्य कार्य—राष्ट्र रक्षा राष्ट्र-शिक्षा और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति—थे। राजा का प्रजा का सच्चे अर्थों में पिता कहलाना[5] इसी कर्तव्य के कारण था। क्षत्रिय शब्द की व्युत्पत्ति ही 'पीड़ितों की रक्षा करें' यह हुई।

राजकीय कर्तव्य—राजकीय कर्तव्यों में सबसे प्रमुख न्याय है। उनको स्वयं नियमों का पालन करना चाहिए और प्रजा के द्वारा भी पालन करवाना

---

१ षष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः। —विक्रम० २।१
षष्ठे भागे मनः स्वैरविहारो वा (कौटिल्य का अर्थशास्त्र अध्याय १९) के समानान्तर है।

२ मवृत्तमारमारयमापनिपुर्णं ब्रूहि।
चिरप्रबोधनान्न संभावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्।
—अभि० अंक ५ पृष्ठ १०७

३ देखिए पादटिप्पणी नं० १
—प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥
—अभि० ५।५

४ भानुः सकृद्युक्ततुरंग एव रात्रिंदिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥ —अभि० ५।४
देखिए पादटिप्पणी नं० १ —अभि० ५।५

चाहिए[1]। न्याय का पालन करते समय ईर्ष्या द्वेष पक्षपात आदि से परे होना चाहिए[2]। राजा को न्याय-सभा में पण्डितों और प्रतिष्ठितों आदि के साथ बैठना चाहिए जिससे वह स्वयं विषय की उपयुक्तता पर अपना ध्यान दे सके[3]। कई निर्णायकों के रहने से पक्षपात का भय नहीं रहता[4]। अपनी अनुपस्थिति में मन्त्री से भी न्याय-सभा में बैठकर न्याय करने को वह कह दिया करता था[5]। दण्ड अपराध के अनुसार ही दिया जाता था[6]। चोरी के बदले शूली[7] अर्थात् मृत्यु-दण्ड गिद्धों से मांस नुचवाना आदि दण्ड दिए जाते थे[8]।

संक्षेप में शान्ति और सुव्यवस्था रखना ही उसका प्रधान कर्तव्य था।

कर (Taxation)—कर लगाने और वसूल करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आमदनी का एक बहुत छोटा अंश राजा को दे जिससे वह उसके लिए कल्याणदायक कार्य कर सके। राज्य में जिस बात का अभाव रहता था उसकी पूर्ति इसी कर से होती थी[9]। अतः राज्यकोष का सदा भरा रहना ठीक था परन्तु लोभ या स्वार्थवश नहीं अपितु प्रजा के सहायतार्थ[10]।

---

१ रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ —रघु० १।१७

२ द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ —रघु० १।२८

३ स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः ॥ —रघु० १७।३९

४ राजजनस्यान्यतरानिनो निश्चयाभ्युपगमो व्यापारः । —माल० अंक १ पृ० २७९

५ मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि । चिर प्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयता मिति । —अभि० अंक ६ पृ० १०७

६ यथापराधदण्डानाम्……… —रघु० १।६

७ एष भावानुग्रहो यच्छूलमारोपणीयः कस्मिन्नस्य प्रतिष्ठापितः ।
—अभि० अंक ६ पृ० १००

८ एत भो स्वामी पत्ररथा राजशासनं प्रतीक्ष्येतामुपा कृन्तथे ।
गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि । —अभि० अंक ६ पृ० ९९

९ प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ —रघु० १।१८

१० कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ —रघु०, १७।६०

प्रजा से आमदनी का ⅙ भाग कर के रूप में लिया जाता था। यह 'षष्ठांश वृत्ति' कहलाता था[1]। तपस्विगण भी इस कर से मुक्त न थे[2]। मुनिगण उञ्छवृत्ति से एकत्र धान्य का छठा अंश राजा के नाम पर नदी के किनारे फेंक देता था राजा उसे लेता नहीं था। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने कहा है कि 'तपस्वी कर नहीं देते अपनी तपस्या का षष्ठांश देते हैं। इसके अतिरिक्त राजा खानों से भी रुपया वसूल किया करता था। धन-उत्पत्ति पर भी कर लगता था[3] अर्थात् खान की मणि पृथ्वी के धान्य वन के हाथी सब ही राजा की आमदनी के उद्गम स्थान थे। निस्सतान मनुष्य के मर जाने पर उसका धन भी कोष में मिला लिया जाता था[4]। नैगम और सार्थवाह आदि राजा को बहुत कुछ भेंट करते थे[5]। विजय प्राप्त होने पर पराजित *राजा हाथी घोड़े सेना और अन्य वस्तुएँ विजेता-पक्ष को देता था*[6]।

शासन-प्रबन्ध—भारतवर्ष ने प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ताओं का प्रयोग कर अन्त में यह निश्चय निकाला कि राजा और मंत्रिमंडल के सहयोग से शासन-प्रबन्ध उत्तम है। कवि की भी अपनी यही सम्मति है। मंत्रिमंडल

---

१ यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्। —रघु १७।६५
—औदास्यमिच्छामि तपोपमोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।
—रघु० २।६६
—षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः। —अभि०, ५।४
२ निवर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम्।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित्॥ —रघु० ५।८
—नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति। राजा—भूम। तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।—अभि० पृ० १५
३ खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥ —रघु० १७।६६
४ समुद्रव्यापारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतावदमात्येन लिखितम्।
—अभि अंक ६ पृ १२१

का मुख्य रूप से मिलकर मंत्रणा करना केवल निर्णयों का समय-समय पर प्रकाशन होना[1] राजा के दृढ़ शासन का प्रमाण है। न केवल रघुवंश अपितु मालविकाग्निमित्र में भी राजा मंत्रियों के साथ सलाह करता दिखाया गया है[2]। राजा बाह्यनीति के सम्बन्ध में इसी मंत्रिपरिषद् की सम्मति जानने की चेष्टा करता है[3]। मंत्रिमण्डल राज्य के आवश्यक कार्यों पर विचार करता था पर इसके साथ ही राजा की सम्मति भी मंत्रिमंडल के निर्णय के साथ-साथ आवश्यक समझी जाती थी। जब मंत्रिपरिषद् के निर्णय को राजा भी स्वीकार कर लेता था तब वह कार्य किया जाता था[4]। निर्णय मंत्रिपरिषद् ही करता था पर राजा की सम्मति भी आवश्यक थी[5]।

राज्याभिषेक के अवसर पर भारी तैयारी करना[6] राजा की मृत्यु के पश्चात् नए राजा को बिठाना[7] अथवा अनुपस्थित होने पर वहाँ बुलाना[8] अमात्य-परिषद् का ही काम था। राजा के बाहर चले जाने पर सब काम और सम्पूर्ण भार मन्त्रियों पर ही आ जाता था। राजा द्वितीय मंत्रियों पर

---

१ तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव॥ —रघु० १।२०

२ ततः प्रविशत्येकान्तस्थितपरिजनो मंत्रिणा लेखहस्तेनान्वास्यमानो राजा।
—माल० अंक १ पृ० २६७ देखिए, माल० अंक १ पृ० २६८ भी।

३ देखिए, माल० पृ० २६८

४ विजयतां देवः। देव आमात्यो विज्ञापयति—कल्याणी देवस्य बुद्धिः मंत्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम् द्विधा —
द्विधाविभक्तां श्रियमुद्वहन्तौ धुरं रथाश्वाविव संग्रहीतुः।
तौ स्थास्यतस्ते नृपतेर्निदेशे परस्परावग्रहनिर्विकारौ॥
राजा—तेन हि मंत्रिपरिषदं ब्रूहि—सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेवं क्रियतामिति। —माल०, अंक ५, पृ० ३१२

५ अमात्यो विज्ञापयति—चिरमपतमनुष्ठेयमनुष्ठितमभूत्। देवस्य तावदभिप्रायं श्रोतुमिच्छामीति। (राजा के निर्णय के बाद।) कंचुकी—एवममात्यपरिषदे निवेदयामि। —माल० अंक ५, पृ ३११

६ राजा—आर्य वातव्य अवधनात्यमात्यपरिषदं ब्रूहि मंत्रिपदमामायुषो राज्याभिषेक इति। —विक्रम०, अंक ५, पृ० २५२

७ स्वर्गाभिगस्तस्य तमैकमात्याः स्मात्यवर्ग कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार॥ —रघु० १८।१६

८ अथ नाथा महतो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलैरानायवामासुर्भरतं स्तम्भितायुषि॥ —रघु० १२।१२

राज्य-भार छोड़ कर पुत्र की इच्छा से वसिष्ठ के पास गए[1]। राजा दुष्यन्त के साथ भी यही हुआ। वे मन्त्रियों पर सब छोड़ इन्द्र से लड़ने चले गए[2]। पुरूरवा भी राज्य का काम मन्त्रियों पर छोड़ उर्वशी के साथ गन्धमादन पर वन-विहार के लिए चला गया था[3]। राजा की उपस्थिति में भी यदि वह विलास में फँस कर राज्यकार्यों की ओर ध्यान न दे तो मन्त्रियों पर ही सम्पूर्ण उत्तरदायित्व आ जाता था। अग्निवर्ण इसका उदाहरण है[4]। मालविकाग्निमित्र से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि मन्त्रिपरिषद् के कार्य करते समय राजा वहाँ नहीं रहता था। परिषद् अपना निर्णय अमात्य के द्वारा राजा को कहलवा देती थी। जब राजा और परिषद् का निर्णय एक हो जाता था तब कार्यरूप में परिणति होती थी। अभिज्ञानशाकुन्तल में अमात्य का निर्णय धनमित्र की सम्पत्ति को राजकोष में मिलाना था पर राजा ने अपना निर्णय इसके विपरीत दिया था वही सर्वमान्य हुआ। अतः कहा जा सकता है कि निर्णय में प्रधान हाथ राजा का रहता था। वह अपनी व्यक्तिगत सम्मति देने के लिए सदा स्वतन्त्र था वह भी आदेश के रूप में।

परराष्ट्रनीति—राजा सभी शास्त्रों दंडनीति और आन्वीक्षिकी[5] का ज्ञाता होता था। प्रभु-शक्ति[6] मन्त्र-शक्ति[7] और उत्साह-शक्ति[8] तीनों की सहायता से राजा राज्य भार को सरलता से वहन करने में समर्थ होता था। साम दाम

---

१ संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे॥ —रघु० १।३४

२ राजा—मद्वचनादमात्यपिशुनं ब्रूहि—चिरप्रबोधान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति। —अभि० ५।१२

३ स्वचरी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता। —विक्रम० पृ० २११

४ सार्वभौमनिवासिक गुरुभिर्गते शासनम् स्वयमनन्तरममा।
सौमित्रेण सचिवाद्य परं स्त्रीविषयमयीमभवत्॥ —रघु० १९।८

५. विस्तृत वर्णन और उदाहरण के लिए देखिए, अध्याय शिक्षा।

६ अनपत्यमुपस्थितमग्रतः श्रवणेयो नपतीनमन्तरान्।

दण्ड भेद[1] राजनीति के लिए इन चारों उपायों की भी जानकारी राजा को भली भाँति रहती थी[2]। राजा के सैनिक-कर्तव्यों का उल्लेख भी कवि ने किया है। राजनीति के साथ सैनिक-शक्ति भी उसके लिए आवश्यक थी। शौर्य और नीति दोनों का ही अवलम्बन उसके लिए आवश्यक था। दुर्ग[3] सन्धि विग्रह, यान आसन आदि षड्गुण[4] मौल भृत्य सुहृद् श्रेणी द्विषद्‌ आटविक आदि ६ बलों[5] का उपयोग भी राजा जानता था। युद्ध में सफलता के लिए रेगिस्तान में गड्ढे खोदने नदी के ऊपर पुल बनाने और जंगल साफ करने का कौशल बहुत आवश्यक था[6]। राजा के लिए इन सबकी जानकारी भी आवश्यक थी।

युद्ध का कारण अपयश नहीं था। यद्यपि विजिगीषुता[7] न कि विजय राज्य प्राप्ति के लिए हानी आवश्यक थी[8]। शत्रुदल का संहार कर सिंहासन

१ इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
मानार्थप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥ —रघु० १७।६८

—सुराज इव सन्धिभेदैः स्वामिपरीतम् इव पथकयम्यकप्रयोगरूपाय।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः॥
—रघु० १०।८६

२ कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥ —रघु० १७।४७

३ दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः॥ —रघु १७।५२

४ स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु॥ —रघ १७।६६

रघु० १०।८६ रघु० ८।२१ षड्गुण (पञ्चाङ्ग)

५ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४

—स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥ —रघु० ४।२६

६ मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ —रघु० ४।३१

७ रघु० १।१७

८ गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ —रघु० ४।४३

पर फिर उसको बिठाना इसका प्रमाण था[1]। कूटनीति को जानने पर भी इसका प्रयोग असंगत और निन्द्य समझा जाता था।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए षड्गुणों से परिचय ही नहीं अधिकार रखना आवश्यक था। अज इनका प्रयोग करता था। परन्तु प्रधानता सन्धि को ही देता था[3]। परराष्ट्रनीति के लिए इनका उपयोग आवश्यक था। युद्ध का उद्देश्य शक्तिशाली राजाओं का बल कम करना और दुर्बलों की शक्ति बढ़ाना था[4]। कौटिल्य का मत अतः राजा के लिए उपयोगी था। मालविकाग्निमित्र में मन्त्री का यह कथन कि नया राजा जिसने प्रजा के बीच अभी पैर न रोपे हों नए पौधे की तरह शीघ्र ही उन्मूलित किया जा सकता है, परराष्ट्रनीति की सफलता का रहस्य था[5]।

इस राजकीय-शक्ति के साथ आध्यात्मिक-शक्ति भी यदि मिल जाय तो राजा सम्पूर्ण विश्व को पराजित कर सकने में समर्थ था।

मन्त्रियों के प्रकार—अतः राजा की सहायता के लिए अनेक मन्त्री थे। बाह्यनीति का मन्त्री मालविकाग्निमित्र में आया है, जो युद्ध-सम्बन्धी सभी कार्यों को करता है। लगान और न्याय मन्त्री जो राजकोष की देखरेख करता था कई विभागों की आमदनी और व्यय का हिसाब-किताब रखता था और न्याय करता था। आमात्य पिशुन इसी प्रकार का मन्त्री था[6]। राज्यकार्य म

---

१ आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ —रघु० ४।३७

२ कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी॥ —रघु० १७।६९

३ पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्। —रघु० ८।२१

४ ज्यायांसमेवाभियोक्ता तस्य शक्तिमतः मतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः॥ —रघु० १७।५६

५ अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्॥ —माल० १।८

६ राजा—धैर्यवती अपत्यनाशमार्यमार्पपितुर्न कुर्? विरुद्धयोपनाम संभावित

पुरोहित का स्थान भी बहुत महत्त्व का था। धर्म-सम्बन्धी कार्यों में वही सलाह देता था। शकुन्तला को न पहचान पाने पर दुष्यन्त के धर्म-संकट में पड़ने पर, इसी ने उचित मन्त्रणा दी थी।

इसके अतिरिक्त 'सेनापति'[1] और आजकल की तरह का 'कमाण्डर' उस समय नागरिक श्याल[2] लगता है। इसकी सहायता के लिए रक्षक[3] आदि भी राजकीय कार्यों में सहायक थे। धर्माध्यक्ष धर्म-सम्बन्धी कार्यों की देख-रेख के लिए नियुक्त किया जाता था। राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला की सखियों को परिचय ही यही दिया था कि मैं राजा की ओर से राज्य की धार्मिक-क्रियाओं को देखभाल के लिए नियुक्त किया गया हूँ[4]। नगर की शान्ति और रक्षा के लिए राष्ट्रीय था[5]। दुर्गरक्षक भी होते थे। दुर्गरक्षक वीरसेन का नाम आया है (माल० पृ० २६८)।

अन्य न्याय-विभाग सेना-विभाग पुलिस-विभाग सम्पत्ति-विभाग आदि आजकल की तरह ही विभाजन थे।

राजा की शिक्षा—शासन-प्रबन्ध से राजा को कितना योग्य सशक्त और विद्वान् होना चाहिए, इसका आभास मिलता है। व्यक्तिगत जीवन का आनन्द और सुख उसके लिए था अवश्य पर उसमें अधिक संलग्न न होना ही सिद्धान्त था। अतः राजा की शिक्षा के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता था। दण्डनीति राजनीति धनुर्विद्या आदि के साथ शास्त्र इतिहास धर्म आदि का ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक था[6]।

राजा के विनोद—आखेट दोलाधिरोहण रानियों के साथ जलक्रीड़ा संगीत नाटक पासा खेलना इनके विनोद थे[7]। विलासी राजा मदिरा

---

१ राजा—इदमेव वचनं निमित्तमुपादाय समुपयोज्यतां सेनापतिः।
—माल० अंक १ पृ० २६८

२ ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च।
—अभि० अंक ६ पृ० ६७

३ देखिए, पादटिप्पणी सं० २

४ भवति यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमापन्नाभिगमनविघ्नक्रियो-पलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः। —अभि० अंक १ पृष्ठ १८

५ आप नति दिवसान्यापरधीर्मिधारमुक्त राष्ट्रियेण भर्तृपीतान्मूलं प्रेषितास्मः।
—अभि० पृ० १०४

६ देखिए, विस्तृत परिचय के लिए, अध्याय 'शिक्षा'

७ देखिए, इसी अध्याय में 'उत्सव और विनोद'

और स्त्रियों में अनुरक्ति रखते थे। आदर्श राजा इन सब से दूर रहते थे[1]।

राजचिह्न—पीछे चँवर आदि के डुलाए जाने से आतपत्र के सिर पर होने से और मुकुट आदि के धारण करने से व्यक्ति पहचाना जाता था कि यह राजा है। राजकीय चिह्नों में सिंहासन आतपत्र चँवर मुकुट राजदण्ड पैर रखने की चौकी शंख आदि मुख्य थे। इनका वर्णन यथाप्रसंग किया जायगा।

स्वास्थ्य : रोग तथा चिकित्सा

आयुर्वेद का विकास अपनी पूर्णता पर पहुँच चुका था। सिद्धहस्त वैद्य मुखसिद्धि[2] का उल्लेख इसका अकाट्य प्रमाण है। अवश्य ही स्वास्थ्य की अवहेलना नहीं की जाती थी। समस्त धार्मिक कार्यों में शरीर की रक्षा करना सबसे प्रथम कर्तव्य है'[3] यह उक्ति केवल कहने भर की वस्तु नहीं अपितु स्वास्थ्य की ओर आम जनता की रुचि का प्रकाशन मात्र है। जब तक मनुष्य का शरीर स्वस्थ नहीं होगा तब तक वह किसी काम में भी दत्तचित्त नहीं हो सकता यही मूल भाव उस समय के प्रचलित विश्वास शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' का आधार था।

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुषों के स्वस्थ शरीर के विभिन्न दृष्टिकोण थे। पुरुष के शरीर में ओज शक्ति और कठोरता स्पृहणीय माना जाता था। चौड़ी छाती साँड़ के-से कन्धे शाल के वृक्ष की-सी लम्बी भुजाएँ स्वास्थ्य की प्रतीति करा देती हैं। संस्कारोल्लिखित मणि-सा शरीर[4] अर्थात् कठिनाइयों का सामना करते-करते भी जो निर्जीव और शिथिल न हो अपितु सदा तेज से दमकता रहे पुरुष-सौन्दर्य का प्रतीक था। स्त्री के शरीर की कोमलता को पुष्टता की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता था। लता-सी सुकुमार देह

---

१ न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ —रघु ९।७

२ प्रथितसिद्धि शिक्षमानीयताम् —माल० अंक ४ पृ० ११९

३ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् —कुमार ५।३३

४ [illegible] ।—रघु० १।११

उनका सबसे बड़ा सौन्दर्य था। कोमलता के जितने प्रतीक हैं वे सब स्त्री-सौन्दर्य के साथ थे[1]। कालिदास के युग में स्त्री विलास की सामग्री थी। सभी कन्दुक-क्रीड़ा से थक जाती हैं[2] केश के गिरे फूल भी उन्हें गड़ते हैं[3]। उनका पौरुष अपने पति को मेखला दाम से ही बाँधने तक सीमित है[4]। सम्भव है, यह सब एवं ऐसी स्त्रियों के ही सम्बन्ध में चरितार्थ हो। सामान्य साधारण वर्ग की नारी का स्वास्थ्य अवश्य अच्छा होगा।

कवि ने पित्त[5] धातुक्षय अथवा क्षीणयौवन[6] मांस[7] आदि का अपने ग्रन्थों में संकेत किया है। अवश्य ही इन सबका ज्ञान पूर्णता को पहुँच चुका होगा। पित्त के शमन में भोजन ही लाभदायक होता है। विदूषक की यह उक्ति निष्कारण नहीं अपितु सप्रयोजन है[8]। भोजन को समय पर न करने से भी रोग हो जाते हैं[9]।

---

१ 'कालिदास की सौन्दर्य-प्रतिष्ठा' में इसकी सम्यक् विवेचना की जा चुकी है।

२ स्वयं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।
—कुमार० ५।११

३ महार्हशय्या परिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
—कुमार०, ५।१२

४ रशनादाम्ना राजानं बद्धुमिच्छति। —माल० अंक ३ पृ० ३११

—अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम्।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ —रघु० १९।१७

५ भवति त्वरयास्य भोजनं पतिततोयमन्नममय भवति।
—विक्रम० अंक २ पृ० १८९

६ यस्य कान्ततनुहारमासवं रक्तरागसममायमं पपौ।
मन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ —रघु० १९।४६

इसमें 'मधुनिर्गमात्' से केवल वसन्त के चले जाने का ही भाव नहीं मद्यपान की भी ध्वनि है।

७ देखिए, अध्याय आहार

८ देखिए, पाण्डुलिपी नं ५

९ अत्र भवत उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।
—माल०, अंक २ पृ० २८८

यहाँ कवि ने वैद्य[1] चिकित्सक[2] भिषक्[3] आदि शब्दों का प्रयोग करके इस शास्त्र के जानने वालों से परिचित किया। वहाँ रोग के दो प्रकार हैं—मानसिक और शारीरिक। इस बात का भी स्पष्टीकरण किया। मानसिक रुज्[4] मानसिक रोगों की ही संज्ञा है। काम-ताप भी मानसिक रोग ही है। काम-ताप और आतप-ताप (लू) में यद्यपि ऊपर देखने से बहुत समानता लगती है पर फिर भी बहुत भेद है। काम-ताप मानसिक है और आतप-ताप शारीरिक। कवि ने बड़ी सूक्ष्मता से दोनों के भेद को इंगित किया है। लू और काम-ताप दोनों में बेचैनी होती है परन्तु लू लग जाने पर युवतियों में सुन्दरता नहीं रह जाती[1]। यद्यपि काम-ताप में गाल मुरझा जाते हैं मुँह सूख जाता है, स्तनों की कठोरता जाती रहती है, कमर और भी पतली हो जाती है कन्धे झुक जाते हैं देह पीली पड़ जाती है परन्तु वायु से मुरझाई पत्तियों वाली माधवी लता के समान युवती और भी सुन्दर लगती है[5]।

---

१ मा अहस्याकामुकस्य महेन्द्रस्य वैद्यः सचिवः उर्वशीमुत्सुकस्य च भवतोऽहं शापप्रयोगमतो। —विक्रम० अंक २ पृ १७५
—दरिद्र इवातुरो वैद्यमौषधं दीयमानमिच्छामि।
—माल० अंक २ पृ० १८७
—अविरतया वैद्यचिकित्सितयापि —माल० अंक ४ पृ० १२०
२ अत्र भवतः उचितवेलातिक्रमे चिकित्सका दोषमुदाहरन्ति।
—माल० अंक २ पृ० १८८
३ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ...... —रघु० ३।१२
—दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ...
—रघु० १९।४९
४ अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो
मे यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति। —अभि० ३।४
—नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीम्...... —विक्रम० २।११
५. समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयोर्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।

आतप-ताप में बड़ी-बेचैनी हो जाती है। शरीर को ठण्डक पहुँचाने के लिए उशीर का अनुलेप उस समय प्रयुक्त किया जाता था[1]। मोच आ जाने पर शीत-क्रिया[2] प्रशस्त थी। मोच आए अंग को पूर्णत विश्राम दिया जाता था। पैर में मोच आई हो तो चौकी पर पैर रखकर चुपचाप बैठ रहना ही समझा जाता था[3]। मोच आए स्थान पर रक्तचन्दन का लेप लाभकारी माना जाता था[4]। व्रण-विरोपण के लिए इंगुदी तैल श्रेष्ठ माना जाता था[5]। ... अर्थात् आँखों का दुखना आदि भी रोग थे। कण्डूयन[6] शब्द के प्रयोग आदि त्वचा रोग भी होंगे, इसका आभास होता है। इसी प्रकार ... शब्द से मच्छर डांस आदि से उत्पन्न रोग भी जैसे—ज्वर[7] आदि भी सिद्ध होंगे।

गर्भावस्था—गर्भ तथा गर्भिणी के सम्बन्ध में कभी-कभी बड़ी सूक्ष्म का आभास मिलता है।[9] गर्भ को दोहद भी कहते थे[10]। गर्भ के रहने के

---

१ प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते (आकर्ण्य किं ब्रवीषि ? आतपलङ्घनाद् बलवदस्वस्था शकुन्तला तस्याः ...

—अभि० अंक ३ पृ० ६

२ आतपात्ययोऽस्यमुद्देश। शीतक्रिया चास्या यत्र प्रशस्ता।

—माल० अंक ४ पृ० १२१

३ अनुचितनूपुरविरहं नार्हसि तपनीयपीठिकालम्बि।
चरणं रचनारहितं कमलाभिमिम मां च पीडयितुम् ॥ —माल० ४।३

४ प्रवातशयने देवी निषण्णा रक्तचन्दनधारिणा परिजनहस्तगतेन चरणेन अपरस्या मञ्चाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति। —माल० अंक ४ पृ० १६७

५ यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥

—अभि० ४।१४

६ न खलु अनिलु निशोर्मिमुखे दीपशिखा शरद।—विक्रम० अंक २ पृ० १६०

७ आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥—रघु०, २।५

८ देखिए पादटिप्पणी नं० ७

९ रुन्धे मरणात्मनुपत्ता पुरुषादिमुखात्मवत्त्वया।
वनमन्युपास्थिते स्मरे पुनरत्नीवितया प्रकामयताम् ॥ —रघु० ८।८४

१० निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ।—रघु० ३।१
गर्भ को दोहद क्यों कहते थे इसकी विवेचना भी आ चुकी है।

गया करता है,[1] कवि ने भली प्रकार इसका संकेत किया है। लोध्र के समान मुख का पीला पड़ जाना, मिट्टी खाना, स्तनों की वृद्धि और चूचियों का काला पड़ जाना आदि गर्भ के लक्षणों का उल्लेख कवि ने यत्र-तत्र किया है[2]। प्रारम्भिक दिनों में कष्ट होता है परन्तु तत्पश्चात् गर्भिणी पहले की तरह हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर लगने लगती है[3]। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है उठने-बैठने में कठिनाई होती है। यहाँ तक कि स्वागत के लिए उठना और प्रणाम करना भी भार हो जाता है। थकावट से आँखों में आँसू आ जाते थे[4]। गर्भिणी के मन की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना अभिभावक का कर्तव्य है[5]।

गर्भ के मर्मज्ञ भी उस समय पाए जाते थे। ऐसे चिकित्सकों की संज्ञा

---

१ २ शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ —रघु० ३।२
—तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥ —रघु० ३।३
—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥ —रघु० ३।८
—अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥ —रघु० १४।२६
—तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम्॥ —रघु० १४।२७
—आविष्कृतापराधं लक्ष्मीस्थानानुतामनच्छायं।
तानि दिनानि कृशरमुखेषुमन्ममत्रमं तस्या॥ —विक्रम० ५।८
३ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥ —रघु० ३।७
४ सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥ —रघु० ३।११
५ न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।

'कुमारभृत्य' थी। किस प्रकार गर्भ पुष्ट हो सकता है और सुविधा एवं सरलता से प्रसव होता है, इन सब शास्त्रों के विद्वान् भी उस समय थे[१]।

शल्य-शास्त्र का भी कवि ने उल्लेख किया है। अंग में गिरी किसी वस्तु को निकालना[२] अथवा किसी अंग को काट देना[३] इसी शास्त्र की विशेषता है।

सर्प-विष को दूर करने के कई उपाय थे। या तो उस अंग को काट ही दिया जाता था या जला दिया जाता था या घाव में से लहू निकाल दिया जाता था[४]। तान्त्रिक-विधि भी इसके लिए थी। मन्त्र और औषध से सर्प बँध जाता था[५]। अतः 'उदकुम्भ-विधान' अर्थात् पानी के घड़े के सहारे किसी ऐसी वस्तु से विष उतारा जाता था जिसमें नागमुद्रा जड़ी हुई हो[६]। मालविकाग्निमित्र में गौतम का विष सर्पमुद्रा वाली अंगूठी लेकर ही दूर किया जाने का प्रपञ्च किया गया था[७]।

रोगों में छोटे-छोटे सामान्य रोगों के साथ राजयक्ष्मा[८] क्लीव[९] आदि भयंकर रोगों का भी उल्लेख कवि के ग्रन्थों में है। असाध्य रोगों को वैद्य छोड़ देता था[१०]। रोग फैलने न पावें अर्थात् छूत के रोग इधर-उधर फैल कर जनता

---

१ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥—रघु० ३।१२

२ ममोर्धे तल्पे वास्य भगुप्येकमनुद्धर।
वाह्यमस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥—रघु० १२।९७

३ स्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।—रघु० १।२८
—छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः।—माल० ४।४

४ देखिए, पादटिप्पणी सं० ३—माल० ४।४

५ राजा स्ववीर्यगुप्ता सत्त्वान्तर्मोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्य।—रघु० २।३२

६ उदकुम्भविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि वस्तुपिधानम्। तदन्विष्यतामिति।
—माल० अंक ४ पृ० १२०

७ इदं सर्पमुद्रितमङ्गुलीयकं पश्चात्मम हस्ते देहि...।
—माल० अंक ४ पृ० १२१

८ तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥—रघु० १९।४८

९ ममगलस्तुतिभिर्गरे पुनरवर्णितया प्रभावताम्।—रघु० ८।८४

१० असाध्य इति वैद्यैरातुर इव परित्यक्ता भगवत्यापन्नसत्त्वा।
—विक्रम अंक ३ पृ० २०७

के लिए हानिकारक न हों—चिकित्सक इस बात का ध्यान रखते थे।[1]

रोग का उपचार करने के पूर्व उसके निदान के विषय में भी (Diagnosis) जानने की चेष्टा की जाती थी। अतः निदान-शास्त्र का भी उस समय निस्सन्देह अस्तित्व था[2]।

दवा के लिए कवि के ग्रन्थों में ओषधि[3] शब्द का प्रयोग हुआ है। हिमालय को ओषधिप्रस्थ इसीलिए कहा है कि वहाँ ओषधियाँ (जड़ी-बूटी) प्रचुर मात्रा में थीं[4]।

पाणिनि के ग्रन्थ में अपस्मार हृद्रोग कुष्ठ गुल्म खाँसी अतिसार (पेचिश) वातकी (वायुरोग) आमय (शायद इसको मूत्रातिसार कहता है) आदि रोग मिलते हैं पर कालिदास के ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं है[5]। केवल कुष्ठ का नाम दो स्थान पर आया है[6]।

उत्सव और विनोद

भारतवर्ष में सदा से ही उत्सवों की धूम रही है। वैसे भी मनुष्यों को उत्सव प्रिय होते हैं[7]। अपने हृदय के आह्लाद और उमंग को व्यक्त करने

---

१. तं गृहोपवन एव संगताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः संभृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ —रघु० १९।५४

२. विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वानारम्भः प्रतीकारस्य ।
—अभि० अंक ३ पृ० ४८

३. स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ —रघु० १२।७८
—अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु० १२।९७
—राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः । —रघु० २।३२

४. तत्प्रयात्वौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम् ।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन् संगमः पुनरेव नः ॥ —कुमार० ६।३३

५. India as known to Panini by V. S. Agarwala, Chap. II, Health

का साधन उत्सव ही है, परन्तु भारतवासी प्रकृति के सौन्दर्य विश्वात्मा के सौन्दर्य की कल्पना में विभोर होकर उत्सव उत्सव प्रकृति से अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति में परमात्मा का प्रतीक कहा गया है। आत्मा भी तदनन्तर आनन्द में डूबती है। यह सच्चा आनन्द प्रकृति के नित्यप्रति नवीन स्वरूप उद्दीप्त हो जाता है। अतः प्रकृति परिवर्तन पर फूलों को फूलना उत्सवों की आयोजना की जाती थी[1]। प्रकृति के आधार पर वाले उत्सवों में विशेष उल्लेखनीय दो है—कौमुदी महोत्सव और

(अ) कौमुदी महोत्सव—आश्विन की पूर्णिमा को कौमुदी मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इसके लिए कौमुदीजागर शब्द का किया है[2]। वात्स्यायन के अनुसार यह देश-व्यापी (माहिमानी) क्रीड़ा बोलियों में इसके लिए कोजागर शब्द अभी पिछले दिनों तक प्रचलित कालिदास के ग्रन्थों में इस उत्सव का उल्लेख नहीं मिलता।

(ब) वसन्तोत्सव—कालिदास के समय में यह उत्सव धूमधाम मनाया जाता था परन्तु किसी दुःख के कारण यह उत्सव रोक भी दिया जाता (अभि० अंक ६ पृ० १०३)। कवि ने वसन्तोत्सव "मधूत्सव" वसन्तावतार, शब्दों का प्रयोग इसी प्रसंग में किया है। वसन्तोत्सव कई दिनों तक

१ आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सव-
मेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥—अभि ४।९

२ कामसूत्र १।४।४२ भोज के समय में इस उत्सव को 'कौमुदी प्रचार' कहते थे—शृंगारप्रकाश।

३ देखिए, पादटिप्पणी सं० १ १।४।४२

४ अनात्मज्ञ देवेन प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे चूतकलिकाभंगं किमारभसे।
—अभि० अंक ६ पृ० १०१

५ किं नु खलु ऋतूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते।
—अभि० अंक ६ पृ० १०१

—अनुभवन्वसन्तोत्सवमुत्सुकैव पतति प्रियचक्षुःप्रियगाया।
अनवधानमनङ्गपरिग्रहे मुकुलतां कलामवलम्बते ॥ —रघु० ९।४९

६ अर्धेन प्रथमावतारसुभगानि रक्ताशोकस्तबकानुपातिनं प्रेक्ष्य मधुकरसमाकुलारम्भ देवेनोपगता मिथुनविनोदनम् प्राप्तिनी भवान्—रक्ताशोकानुबन्ध दोहदाविरोहण मनुमोदितुमिति। —माल० अंक ३ पृ० २११

के लिए हानिकारक न हों—चिकित्सक इस बात का ध्यान रखते थे।[1]

रोग का उपचार करने के पूर्व उसके निदान के विषय में भी (Diagnosis) जानने की चेष्टा की जाती थी। अतः निदान-शास्त्र का भी उस समय निस्सन्देह अस्तित्व था[2]।

दवा के लिए कवि के ग्रन्थों में ओषधि[3] शब्द का प्रयोग हुआ है। हिमालय को ओषधिप्रस्थ इसीलिए कहा है कि वहाँ ओषधियाँ (जड़ी-बूटी) प्रचुर मात्रा में थीं[4]।

पाणिनि के ग्रन्थ में अपस्मार, हृद्रोग कुष्ठ यक्ष्म जैसी अतिसार (पेचिश) वातिकी (वायुरोग) आस्राव (सायण इसको मूत्रातिसार कहता है) आदि रोग मिलते हैं पर कालिदास के ग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं है[5]। केवल यक्ष्म का नाम दो स्थान पर आया है[6]।

उत्सव और विनोद

भारतवर्ष में सदा से ही उत्सवों की धूम रही है। वैसे भी मनुष्यों को उत्सव प्रिय होते हैं[7]। अपने हृदय के आह्लाद और उमंग को व्यक्त करने

---

१ स मुहूर्तक्षमस्वेति द्विजानां परिचयमञ्जुविरा पुरोपसा।
रोमगान्तिमपरिस्य नेत्रिय संबते चिकित्सि मुखमास्यु ॥ —रघु० १९।५४

२ विकारं खलु परमार्थतः अज्ञात्वा ऽनारम्भः प्रतीकारस्य।
—अभि० अंक ३ पृ० ४४

३ स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः।
लंकास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ —रघु० १२।७८
—अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ —रघु० १२।९७
—राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः। —रघु० २।३२

४ तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम्।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्संगमः पुनरेव नः ॥ —कुमार० ६।३३

का साधन उत्सव ही है, परन्तु भारतवासी प्रकृति के सौन्दर्य विश्वात्मा के सौन्दर्य की कल्पना में विभोर होकर उत्सव मनाते उत्सव प्रकृति से अनुप्राणित हैं। भारतीय संस्कृति में परमात्मा का प्रतीक कहा गया है। आत्मा भी अतः कारणात् आनन्द म झूमती है। यह सच्चा आनन्द प्रकृति के नित्यप्रति नवीन स्वरूप का उद्दीप्त हो जाता है। अतः प्रकृति परिवर्तन पर फूलों को फूलता उत्सवों की आयोजना की जाती थी[1]। प्रकृति के आधार पर वाले उत्सवों म विशेष उल्लेखनीय दो हैं—कौमुदी महोत्सव और

(क) कौमुदी महोत्सव—आश्विन की पूर्णिमा को कौमुदी मनाया जाता था। वात्स्यायन ने इसके लिए 'कौमुदीजागर' शब्द का किया है[2]। वात्स्यायन के अनुसार यह देश-व्यापी (माहिष्मती) क्रीड़ा बोलियों में इसके लिए कौजागर शब्द अभी पिछले दिनों तक प्रचलित कालिदास के ग्रन्थों में इस उत्सव का उल्लेख नहीं मिलता।

(ख) वसन्तोत्सव—कालिदास के समय में यह उत्सव धूमधाम मनाया जाता था परन्तु किसी दुःख के कारण यह उत्सव रोक भी दिया जाता (अभि० अंक ६ पृ० १०१)। कवि ने वसन्तोत्सव[4] मधूत्सव[5] वसन्तावतार, शब्दों का प्रयोग इसी प्रसंग में किया है। वसन्तोत्सव कई दिनों तक मनाया

---

१ भाव व कुसुमप्रसूतिसमये यस्या ममत्युत्सव
सेयं याति समुत्सुका पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥ —अभि० ४।१६

२ कामसूत्र १।४।४२ भोज के समय में इस उत्सव को 'कौमुदी प्रचार' कहते थे—शृंगारप्रकाश।

३ देसिए, पादटिप्पणी नं० १ १।४।४२

४ अनात्मज्ञ देवेन प्रतिषिद्ध वसन्तोत्सवे त्वमाम्रकलिकाभङ्गं किमारभसे।
—अभि० अंक ६ पृ० १०१

५ किं नु खलु मधूत्सवेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते।
—अभि० अंक ६ पृ० १०१

—अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ —रघु० ९।४६

६ अर्दव प्रथमावतारसुभगानि रक्ताशोकावतंसानि उपवनानि मत्त मधुकरकलगुञ्जित ... इत्येवमाहत्या विनुपितनृपगन प्राप्तिनी ...
महोत्सवस्य ... मनुभवितुमिति। —माल० अंक १ पृ० २११

जाता था और इसके अन्तर्गत कई एक प्रकार के उत्सव और क्रीड़ाएँ शामिल थीं जिनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं

(१) मदन-महोत्सव—इस उत्सव का संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् (अंक ६) में है। चेटियाँ आम की मंजरी लेकर कामदेव की पूजा करना चाहती हैं, करती भी हैं[१]। इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि मदन-महोत्सव में कामदेव की आम की मंजरियों से पूजा की जाती थी। कामसूत्र में जिसे 'सुवसन्तक-उत्सव' कहा गया है, वह संभवतः मदनोत्सव ही है। यशोधर ने सुवसन्तक को मदनोत्सव ही माना है और इसे नृत्यगीतवाद्य-प्रधान क्रीड़ा कहा है[२]।

(२) अशोक दोहद—वसन्तोत्सव का यह एक अंग था। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में इसका विशद उल्लेख किया है यह उत्सव प्रायः अन्तःपुर के प्रमदवन में मनाया जाता था। सुन्दर स्त्री के पैर-आघात से अशोक में फूल लग जाते हैं—यह एक मान्यता थी। उद्यानपालिका अशोक को न फूलता देखकर रानी के पास जाया करती थी और कहती थी कि इसके फूलने का कोई उपाय करना चाहिए। प्रायः यह पदाघात रानी किया करती थी। यही पदाघात 'दोहद' कहलाता था। रानी के अस्वस्थ होने पर यह काम कोई भी सुन्दर स्त्री करती थी परन्तु उसे रानी का ही पायल पहनना पड़ता था। धारिणी ने अस्वस्थ होने पर अपने पहनने का नूपुर मालविका को दिया था। उस सुन्दरी को अन्य आभूषणों से भी सजाया जाता था। चरणों में बड़े कलात्मक ढंग से महावर लगाया जाता था। बकुलावलिका ने अलक्तक इतना सुन्दर लगाया था कि मालविका को पूछना ही पड़ा कि तुमने यह प्रसाधन-कला किससे सीखी ? अलक्तक लगे पैर को प्रायः मुख की वायु से सुखाया जाता था। सुन्दरी पहले अशोक के पत्तों का अवतंस लगाती थी तत्पश्चात् बाएँ पैर से अशोक पर आघात करती थी[३]। यह क्रीड़ा बड़े धूमधाम से मनाई जाती थी। प्रायः अन्तःपुर की रानियाँ और राजा इसमें सम्मिलित रहते थे। कवि ने प्रणय-व्यापार के लिए एकान्त की अवधारणा की अतः अन्य व्यक्तियों को नहीं रखा। इरावती दैवयोग से आती है

---

१ अपि अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृह्णामि

और राजा भी मालविका को देखने भर के लिए वहाँ जा पहुँचता है[1]। यह परिवर्तन कवि ने प्रासंगिक और क्षणिक ही किया है। पंचम अंक में तथावत् प्रतिहारी आकर राजा को सूचना देती है कि मेरे साथ चलकर उस फूले हुए अशोक को देखकर मेरा उत्सव सफल कर दीजिए[2]। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अशोक के फूलने पर उसे देखने का भी उत्सव मनाया जाता था। सब एक साथ कुसुम-समृद्धि देखते थे[3]। ब्राह्मण को दक्षिणा भी मिलती थी जिसे 'वसन्तोत्सवोपायन' कहते थे[4]।

(३) दोला—वसन्तोत्सव के साथ ही कवि ने इसका उल्लेख किया है। अतः वसन्त ऋतु में ही कालिदास के समय दोला होता था। राजा और रानी दोनों ही दोलोत्सव में भाग लेते थे[5]। राजाओं के दोले प्रायः उनके परिजन हिलाते होंगे। रानियाँ झूला झूलने में पटु होती थीं। परन्तु कभी कभी आलिंगन-सुख लेने के लिए दोले की रस्सी छोड़कर राजा के गले में अपनी बाहें डाल देती थीं। राजा भी ऐसे अवसर का स्वागत करते थे[6]। राजाओं के झूले प्रायः एक स्थान विशेष में सदा पड़े ही रहते थे। इसे 'दोलागृह' कहते थे[7]।

(४) नाटक—मनोरंजन के लिए नाटक भी खेले जाते थे। मालविका-

---

१ अद्यैव प्रथमावतारसुभगानि रक्तकुरबकाण्युपायनं प्रेष्य नववसन्तावतार व्यपदेशेनेरावत्या निपुणिकामुखेन प्रार्थितो भवान्—इच्छाम्यार्यपुत्रेण सह दोलाधिरोहणमनुभवितुमिति। भवताप्यस्यै प्रतिज्ञातम् तदप्रमदवनमेव गच्छाव।

—माल० अंक ३ पृ० २११

२ देवो विज्ञापयति—तपनीयाशोकस्य कुसुमसंदर्शनेन ममारंभः सफलः क्रियतामिति। —माल० अंक ५, पृ० १४२

३ माल० अंक ५, पृ० १४२ से १४५ तक

४ वसन्तोत्सवोपायनलोलुपेनार्यगौतमेन कथितं त्वरतां भट्टिनीति।

—माल० अंक ३ पृ० १०१

५ देखिए पादटिप्पणी नं० १

—माल० पूरा अंक ३ इसी के प्रसंग से भरा है।

६ सा स्वमेव परिरेभ्य दोलया प्रद्युम्नपरिजनाधिरूढया।

मुक्तरज्जुनिविडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ —रघु १९।४४

—अनुभवमवरोधसुखत्वं पटुदर्शिते प्रियकण्ठविभूषणा।

अनघराघवपरिग्रहे भुजलता जलदावनतानने ॥ —रघु० ९।४६

७ ननु तत्रभवत्यो दोलागृहं —माल० अंक ३ पृ० १०१

यह दोलागृह प्रमदवन में होता था।

ग्निमित्र नाटक वसन्तोत्सव पर ही जनता के सामने सबसे पहले खेला गया था[1]।

सामान्य वर्ग की स्त्रियाँ वसन्त में विशेष राग रंग मनाती थीं। सिर में चम्पे के फूलों का जूड़ा बनाकर, स्तनों पर मनोहर फूलों की माला पहनती थीं[2]। कुसुम्भ के फूलों से रँगी लाल साड़ी स्तनों पर केसर के रंग में रँगी चोली[3] कानों में कर्णिकार के पुष्प चंचल काली घुँघराली अलकों में अशोक के फूल और नवमल्लिका की कलियाँ[4] वसन्तकालीन शृंगार थी। शृंगार कर वे अपने पतियों के पास जाती थीं तथा कामसुख को प्राप्त करती और कराती थीं। वसन्तकाल की वेशभूषा का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है[5]।

पुत्रजन्मोत्सव—पुत्र के जन्म पर आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। नृत्य और गीत की धूम मच जाती थी। वारवनिताएँ नृत्य करती थीं मंगल-वाद्य बजते थे[6]। राजा पुत्रजन्म के हर्ष में बन्दियों को कारागार से छोड़ देता था[7]।

विवाहोत्सव—इसके विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। विवाह से पूर्व नगर की अच्छी तरह सजावट की जाती थी। इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे तोरण और झण्डियों से नगर सजाया जाता था[8]। वर और कन्या

---

१ अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुमालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति। —माल० अंक १ पृष्ठ २६१

२ ईषत्तुषारैः कृतशीतहर्म्यं सुवासितं चारु शिरश्च चम्पकैः।
कुर्वन्ति नार्योऽपि वसन्तकाले स्तनं सहारं कुसुमैर्मनोहरैः॥ —ऋतु० ६।३

३ कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलैर्नितम्बबिम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुंकुमरागगौरैरलंक्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ —ऋतु० ६।४

४ कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम्।
पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयाति कान्तिं प्रमदाजनानाम्॥
—ऋतु० ६।५

५. देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

६ सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वना प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम्।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥

के राजपथ पर चलते समय स्त्रियाँ उनको देखने के लिए [illegible] पड़ती थीं[1]। उत्सुकता इतनी गहरी रहती थी कि किसी का जूड़ा [illegible] था परन्तु उसे बाँधने की सुध ही नहीं रहती थी। केश खिड़की पर पहुँच जाती थी। बालों के ढीले पड़ जाने से उनमें नीचे गिरते जाते थे[2]। कोई यदि महावर लगवा रही होती थी तो पैर खींच कर गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड़ जाती थी। झरोखे तक लाल पैरों की छाप-ही-छाप पड़ जाती थी[3]। यदि कोई आँख में अंजन लगा रही होती थी तो एक ही आँख में लगे-लगे बिना लगाए देखने को अधीर दौड़ पड़ती थी[4]। नीवी-बन्धन यदि हड़बड़ी में खुल जाता था तो कपड़ों को हाथ से थामे-थामे ही झरोखों पर खड़ी [illegible] और उसके हाथ के आभूषणों की चमक नाभि तक पहुँच जाती थी[5]। कोई बैठी मणियों की रशना गूँथ रही होती थी और एक डोर का के अँगूठे में बाँध रखा होता था तो आधी गिरी होने पर भी वह वर को देखने के लिए भागती थी और वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणियाँ ऊपर निकल कर बिखर जाती थीं केवल डोरा पैर में बँधा रह जाता था[6]। वर-कन्या अथवा वर इस प्रकार झरोखों पर बैठी स्त्रियों

---

१ ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥ —रघु० ७।५

२. आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥
—रघु० ७।६ कुमार० ७।५७

३ प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्का पदवीं ततान॥
—रघु० ७।७ कुमार० ७।५८

४ विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥
—रघु० ७।८ कुमार० ७।५९

५. जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥
—रघु० ७।९ कुमार० ७।६०

६ अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥

द्वारा देखे जाते हुए राज-भवन में पहुँचते थे जहाँ विवाह-संस्कार होता था। (यदि स्वयंवर प्रथा है तो वर-कन्या दोनों ही स्वयंवर मंच से राज-भवन साथ-साथ जाते थे। यदि बारात आई है तो वर और उसके साथी ही राज-भवन में जाते थे कन्या राज-भवन में होती ही थी)। विवाह के बाद वधू पर अक्षत खीलें डालकर[1] मनोरंजन के लिए नाटक भी खेला जाता था[2]।

राज्याभिषेक का उत्सव—राज्याभिषेक के लिए चार खंभों पर आश्रित नया विमान (मंडप) बनवाया जाता था[3]। भद्रपीठ पर बैठे राजा को समस्त तीर्थों का जल लेकर हेमकुम्भों से डालकर नहलाया जाता था[4]। चारों ओर तूर्य पुष्कर आदि मंगल-वाद्यों की सुमधुर ध्वनि गूँजती रहती थी[5]। दूब जौ के अंकुर और बड़ की छाल तथा मधूक के पुष्प से राजकुल के वृद्ध राजा की नीराजना (आरती) करते थे[6]। अथर्ववेद के मंत्रों का उच्चारण करते हुए ब्राह्मण पुरोहित को आगे कर राजा को नहलाते थे[7]। भाट और चारण राजा की प्रशंसा में गीत गाते थे[8]। अभिषेक के पश्चात् स्नातकों को दान दिया जाता था[9] वे भी राजा

---

१ तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ —रघु० ७।२८

२ तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ —कुमार० ७।९१

३ ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिनः।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ —रघु० १७।९

४ तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ —रघु० १७।१०

५ नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसंतति ॥ —रघु० १७।११

६ दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ —रघु० १७।१२

मल्लिनाथ पुटोत्तर को, मधूक के पुष्प कहते हैं सीताराम चतुर्वेदी इसे दोना कहते हैं।

७ पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।

को आशीष देते थे[१]। राज्याभिषेक की प्रसन्नता में राजा बन्दियों को जेल से मुक्त कर देता था। मृत्युदण्ड माफ हो जाता था। बोझा ढोने वाले पशुओं के कन्धे पर से जुए उतार दिए जाते थे। गाय का दूध बछड़ों के लिए छोड़ दिया जाता था[२]। पिंजड़ों से क्रीड़ा-पक्षी छोड़ दिए जाते थे[३]। इसके पश्चात् राजा का राजसी शृंगार होता था। हाथीदाँत के सिंहासन पर, जिस पर उत्तरच्छद बिछा रहता था[४] राजा को बिठा कर, प्रसाधक हाथों को अच्छी तरह धोकर सुगन्धित द्रव्यों के धूम से केशान्त सुखाते थे[५]। फूल और मोतियों की माला केश-संस्कार कर, सिर पर पद्मरागमणि बाँध देते थे[६]। विवाह में जिस प्रकार वर को सजाया जाता था उसी प्रकार राजा का भी शृंगार होता था। कस्तूरी और चन्दन का अंगराग लगाकर गोरोचन से राजा के मुख पर पत्र रचना की जाती थी[७]। हंसांकित दुकूल पहन कर और इस प्रकार फूलों और आभूषणों से अलंकृत होकर राजा वर की तरह ही सुन्दर लगता था[८]। वर की तरह वह मणि-दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता था[९]। परिचारिकाएँ जय-जयकार

---

१ ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ —रघु० १७।१८

२ बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद् गवाम् ॥—रघु० १७।१९

३ क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ —रघु० १७।२०

४ ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ —रघु० १७।२१

५ तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ —रघु० १७।२२

६ तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोचिषा ॥ —रघु० १७।२३

७ चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ —रघु० १७।२४

८ आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ —रघु० १७।२५

९ नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ —रघु० १७।२६

करती हुई चमर ढुलाती हुई राजा को सभा-मण्डप में लाती थीं[1]। सभा में वितान तना रहता था[2]। इसके बीच में सिंहासन रखा रहता था इसे मंगलायतन[3] भी कहा जाता था। पैर के पास पादपीठ रखा जाता था इस पर अन्य राजा सिर रख कर प्रणाम करते थे[4]। राजा हाथी पर बैठ कर घूमने निकलता था[5]। स्त्रियाँ झरोखे पर बैठ कर राजा को देखती थीं[6]।

राजा के बाहर से आने के बाद उत्सव—अपने देश में गया हुआ राजा जब बहुत दिन बाद लौटता था तब प्रजा आदर और स्वागत के लिए मंच ऊँचे कर देती थी[7]। जिस पर राज्य का उत्तरदायित्व राजा की अनुपस्थिति में रहता था वह सेना लेकर आगे स्वागत करने आता था[8]। नगर के बाहर किसी उपवन को अलंकृत कर उसमें वह विश्रामार्थ ठहराया जाता था[9]। यहीं सब जाति-बन्धु उससे भेंट करने आते थे[10]। तत्पश्चात् वह सबके साथ नगर में प्रवेश करता था। नगर को पहले ही वन्दनवार आदि से भलीभाँति सजा दिया जाता था[11]। राजा के नगर में प्रवेश करते समय उस पर श्वेत भवनों के झरोखों से

---

१ स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मां नवमां सभाम् ॥ —रघु० १७।२७

२ वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ —रघु० १७।२८

३ शुशुभे तेन चाक्रान्तं मंगलायतनं महत्...... —रघु० १७।२९

४ देखिए, पादटिप्पणी, नं० १ —रघु० १७।२७

५ स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ —रघु० १७।३२

६ तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ —रघु० १७।३५

७ पुरंदरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजंगेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ —रघु० २।७४

८ यदि हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः । —रघु० १३।६४

९. सौधाय प्रथमनिर्दिष्टमरेण मत्वा काकुत्स्थः स्थितिमत्यवैन पुष्पकम् ।

लाजें[1] बरसाई जाती थीं। झरोखों पर स्त्रियाँ बैठी रहती थीं वे राजमहिषी को प्रणाम करती थीं[2]। चारों ओर मंगल-वाद्य बजते रहते थे[3]। राजा के सिर पर छत्र लगा रहता था और आस-पास चँवर डुलाये जाते थे[4]। इस प्रकार प्रजाजनों के द्वारा सम्मानित होता हुआ राजा अपने महल में प्रवेश करता था।

गृह-प्रवेश-उत्सव—नए मकान के बनने पर पहले विधिपूर्वक उसका पूजन होता था। पशूपहार[5] अर्थात् जानवरों की बलि दी जाती थी।

पानभूमि-रचना[6]—यह भी एक प्रकार का उत्सव था। इसमें सब एक साथ मिल-जुल कर शराब पीते थे। आजकल भी इसका प्रचलन है, इसे 'कॉकटेल पार्टी' कहते हैं।

धार्मिक उत्सव—(अ) पुरुहूत[7]—यह उत्सव इन्द्र के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करने के लिए मनाया जाता था। श्रीभगवतशरण के कथनानुसार यह भादों के शुक्लपक्ष में सप्तमी से द्वादशी तक अर्थात् पाँच दिन मनाया जाता था[8]। राजा वृष्टि के लिए इन्द्र की पूजा करता था। मल्लिनाथ इसके

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ११
—मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ —रघु० २।१०

२ श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ रघु १४।१३

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११ —रघु० १४।१०

४ सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसंघात इव प्रवृद्धः॥ —रघु० १४।११

५. तत्र सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ —रघु० १६।३९

६ ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः॥ —रघु० ४।४२
—विस्रीमुखोत्कलितविर कमलाद्रुमा कर्ने विरचस्यवसनातरव।
स्पनिति योनिमपभुग्ना रराज मन्मोरिव पानभूमि॥
—रघु० ७।४९
—आपानान्तव्यर्थवर्तिनी पानभूमिरचना प्रियासखम्।—रघु० १९।११

७ पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ —रघु० ४।३

८ India in Kalidas By—Sri B S Upadhyaya Page 328

विषय में कहते हैं—'एवं च कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर । पताका कामवर्णी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः'[1]। काले का कहना है कि—इसमें एक खम्भा गाड़ दिया जाता था इसके ऊपर झण्डा लगाया जाता था। इसके आकार के विषय में वे अपना मत देते हैं— ध्वजाकारं चतुरस्रं पुरद्वारे प्रतिष्ठितम्। पौराः कुर्वन्ति पार्थिव पुरुहूतमहोत्सवम्[2]। मल्लिनाथ का कहना है— चतुरस्रं ध्वजाकारं पुरद्वारे प्रतिष्ठितम्। आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम्'[3]।

(ब) प्रवासी-पति की कुशलता के लिए पत्नी पति के लौटने की तिथि तक दिन गिनकर उतने ही फूल ले लेती थी और प्रतिदिन एक-एक कर उन्हें अलग रख देती थी। इससे गणना कर लेती थी कि कितने दिन व्यतीत हो चुके और कितने शेष रहे[4]। श्री भगवतशरण के मतानुसार यह काम्यव्रत उत्सव था।

(स) तिथि-विशेष पर गंगा-यमुना के संगम पर स्नान होता था[5]। अमंगल-निवारण के निमित्त सोमतीर्थ[6] आदि स्थानों पर जाया जाता था। यहाँ स्नान करने से पुण्य की प्राप्ति पापों का क्षय हो जाता है, ऐसा विश्वास था। तीर्थ-यात्रा में जाना धार्मिक कृत्य था। वहाँ स्नान करने से समस्त पाप धुल जाते हैं, ऐसी धारणा प्रचलित थी। अतः तीर्थ नदी के किनारे ही बनाए जाते थे। धाएन्तक का शचीतीर्थ (नूनं ते शक्रावताराभ्यन्तरे शचीतीर्थसलिलं वन्दमानायाः प्रभ्रष्टमङ्गुलीयकम्—पृ० ८०) कण्व का शकुन्तला के ग्रह की शान्ति के लिए सोमतीर्थ जाना (अभि० पृ० ६) ऐसे ही स्थल थे।

---

१ मल्लिनाथी टीका —रघु० ४।३

२ India in Kalidasa By Bhagwat Sharan —Page 328

३ मल्लिनाथ की टीका —रघु० ४।३

४ आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा........—उत्तरमेघ २५

—शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः ।
मत्सङ्गं वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः ॥ —उत्तरमेघ २७

विनोद

जलक्रीड़ा—ग्रीष्मऋतु में गृहदीर्घिका[1] दीर्घिका[2] अथवा नदी[3] में प्रायः जलक्रीड़ा से मनोरंजन किया जाता था। रानियों के स्नान करने से उनके शरीर पर लगा अंगराग नदी के जल में घुल जाता था। नदी की धारा रंग बिरंगी होकर वैसी ही सुन्दर लगती थी जैसे बादलों से भरी सन्ध्या[4]। रानियों के स्तनों पर लगा चन्दन यमुना की जल-क्रीड़ा से जल में मिल कर बहने लगता था तब यमुना का रंग ऐसा प्रतीत होता था मानो वहीं पर उसका गंगाजी की लहरों से संगम हो गया हो[5]। जलविहार से युवतियों के सुगन्धित शरीर का स्पर्श पाकर जल भी महँकने लगता था[6]। जल की उठती हुई लहरें सुन्दरियों की आँखों के अंजन को धोकर मद्यपान के समय की लाली उनकी आँखों में भर देती थी[7]। कानों से सिरस के कर्णफूल खिसक कर नदी में तैरने लगते थे जिनको देखकर मछलियों को सेवार का भ्रम हो जाता था[8]। वे मृदंग

---

१ कुसुमैरिव स्मितचारुतरानना स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहंगमाः ॥—रघु० ९।३७

२ यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ —रघु० १९।९

—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥
—रघु० १६।१३

३ अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥—रघु० १६।५४

४ यस्यावरोधघटयो मरीचैर्विपाह्यमानो मणिहारराशिः ।
सम्प्रोत्य साम्र इव वर्णं पुनस्तमेवं नयनप्रवाहः ॥—रघु० १६।५८

५ यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ —रघु० ६।४८

६ धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्याः
तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः ।—पूर्वमेघ ३७

७ विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुठिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ —रघु० १६।५९

८ अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान् ॥
—रघु० १६।६१

बजाने के समान थपकी दे-देकर जल को ताड़ित करती थीं[1] अथवा जल-ताड़ना से मृदंग के समान ध्वनि निकलती थी। कभी एक-दूसरे के मुख पर पानी डालती थीं[2] और सोने की पिचकारियों से रंग छोड़ा करती थीं[3]। जल-क्रीड़ा का एक रूप गूढ़ मोहन-गृहों में सुरतालय भी था[4]।

मदिरा-पान—यह भी विनोद के साधनों में एक था। उत्सवादि के अवसर पर मदिरा-पान किया जाता था[5]।

मृगया—यह विनोद भी था और व्यसन भी। कवि ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि इससे चर्बी घट जाती है, तोंद छँट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है, पशुओं के मुख पर दीखते हुए क्रोध और भय का ज्ञान हो जाता है। चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने में हाथ सध जाते हैं। इसको मिथ्या ही व्यसन कहते हैं, इसके तुल्य का विनोद और कहाँ मिल सकता है[1]? यही नहीं दुष्यन्त के विषय में सोचता हुआ सेनापति अपने मन में कहता है, कि मनुष्य मृगया को बुरा बताते हैं परन्तु स्वामी को तो इससे बड़ा लाभ हुआ है, क्योंकि पहाड़ों में घूमने वाले हाथी के समान इनके बलवान् शरीर के आगे का भाग निरन्तर धनुष की डोरी को खींचने से ऐसा कड़ा हो गया है कि उस पर न तो धूप का ही प्रभाव पड़ता है और न पसीना ही छूटता है। बहुत दौड़-धूप से

---

१ तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम्॥—रघु० १६।६४
—आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥
—रघु० १६।१३

२ एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति॥—रघु० १६।६६

३ वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन्।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः॥—रघु० १६।७०

४ यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः॥—रघु० १९।९

यद्यपि ये दुबले हो गए हैं पर पुट्ठों के पक्के होने के कारण इनका दुबलापन नहीं दिखाई पड़ता है[1]। अतः मृगया से शरीर पुष्ट होता था।

मृगया के समय का वेश पहले ही बताया जा चुका है[2]। हाथ में धनुष लिए और गले में जंगली फूलों की माला पहने यवनी सेविकाएँ[3] राजा के साथ रहती थीं। इसके अतिरिक्त श्वगणि[4] वागुरिक[5] और वनग्राही[6] मृगया करते समय राजा की सहायता करते थे। शिकारी कुत्ते शिकार ढूंढते थे वागुरिक जाल आदि डालकर शिकार फँसाते थे और वनग्राही वन के मार्गों पशुओं आदि से परिचित थे वे शिकार ढूंढकर राजा को सूचना दिया करते थे। शिकार करने योग्य पशु हरिण पक्षी सूअर जंगली भैंसा बारहसिंहा सिंह आदि थे[7]।

मृगया के समय कष्ट-ही-कष्ट मनुष्य को प्राप्त होता था। सड़े हुए पत्तों से युक्त नदियों का कसैला और कड़वा पानी पीना पड़ता था। अबेर-सबेर लोहे की सीखों पर भुना मांस खाने को मिलता था। दौड़ते-दौड़ते शरीर के जोड़ ढीले पड़ जाते थे[8]।

द्यूतक्रीड़ा[9]—विनोद के साधनों में से द्यूतक्रीड़ा भी एक थी परन्तु इसका विस्तृत उल्लेख किस प्रकार यह खेला जाता था कवि के ग्रन्थों में नहीं मिलता।

---

१ अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥
—अभि० २।४

२. देखिए, अध्याय 'वेश-भूषा'।

३ एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः। —अभि० अंक २ पृ० ९७

४ ५. श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरङ्गमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम्॥ —रघु० ९।५३

६. वैन हि निरुद्ध पूर्ववाग्नेनाहिण्डन। —अभि० अंक २ पृ० ११

७ देखिए, अध्याय 'खान-पान'।

८. पर्णसंकरकषायाणि कटूनि गिरिनदीजलानि पीयन्ते। अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते। तुरगानुधावनकण्डितसन्धेः रात्रावपि निकामं शयितव्यं नास्ति। —अभि० अंक २, पृ० २७

९. कुशचीताशमनोज्ञेन वन्यकरेण रैवात्यसलाव्सन।
रत्नानुमीतमयानुविद्धानुरायमास तमीक्ष्मधान्॥ —रघु०, ९।१८
—न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्॥ —रघु० ९।७

लोक-नृत्य और संगीत—संगीत नृत्य आदि सदा से ही विनोद का अविच्छिन्न माना जाता रहा है। संगीत में चित्त को रमाने की शक्ति सदा से ही मानी जाती रही है[1]। रसिक व्यक्तियों की गोद में वाद्य या वीणा सदा पड़ी ही रहती थी[2]। विरहिणी स्त्रियाँ संगीत से ही दिल बहलाया करती थीं[3]। स्त्री और पुरुष दोनों ही संगीत के मर्म को समझने वाले थे। अग्निमित्र स्वयं तबला और मृदंग आदि बजाने में प्रवीण था। नर्तकियों के नृत्य करते समय वह तबले से ताल देता था। ऐसा करते समय उसके गले की माला हिलती रहती थी[4]। संगीतशाला[5] और प्रेक्षागृह[6] इस बात को प्रमाणित करते हैं कि संगीत नाटक उस समय के विनोद-साधन थे। नृत्य-समारोह भी विनोद का अच्छा साधन था। कवि की यह उक्ति—'देखो समुद्रों के स्वामी का कैसा सुन्दर नृत्य हो रहा है। जल में पड़ी मेघों की परछाईं ही उसका शरीर है। पुरवैया पवन से उठती लहरें नृत्य के लिए उठे हुए उसके हाथ हैं। शंख और हंस आदि पक्षी उसके पैर के घुँघरू और आभूषण हैं। हाथी और मगर के मुख उसके नीचे वस्त्र हैं, नील-कमल उसकी मालाएँ हैं। तीर से टकराती लहरें ताल दे रही हैं' यह सब 'लोकनृत्य' की ही अभिव्यंजना करता है[7]। मालविका और इरावती का नृत्य एक व्यक्ति का नृत्य है, अतः अकेले और सामूहिक दोनों प्रकार के नृत्य थे।

---

१ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।
तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।—अभि० अंक १ पृ ५
२ अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥ —रघु १९।१३
३ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥ —उत्तरमेघ २६
४ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥—रघु० १९।१४
५ आज्ञप्तस्य संगीतशालान्तरेऽवकाशं देहि। —अभि०, अंक ५, पृ० ७१
६ तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्।

चित्रकला—विनोद-साधनों में संगीत और नृत्य की तरह चित्रकला का भी प्रचार था। स्त्री और पुरुष दोनों ही इस कला में निपुण थे। विरही पुरुष और विरहिणी स्त्रियाँ विनोद के लिए चित्र खींचा करती थीं[1]। चित्रशाला[2] शब्द से स्पष्ट होता है कि शौक से भी चित्रकार चित्र खींचा करते थे।

कथा-आख्यायिका—कथाओं द्वारा प्राचीन काल से ही विनोद किया जाता था। ग्राम के वृद्धजन कथाएँ सुनाया करते थे और अतिथियों का मन बहलाया करते थे[3]। राजघराने में अस्वस्थ व्यक्ति के मन-बहलाव के लिए भी कथाएँ सुनाने की प्रथा थी। धारिणी का मनोरञ्जन परिव्राजिका कथा सुना कर किया करती थी[4]।

क्रीड़ापक्षी,[5] क्रीड़ा-शैल और उद्यान—शुक सारिका मयूर आदि

१ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती —उत्तरमेघ २१

—एषा राजर्षेर्निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे वर्तत इति।

—अभि॰ अंक ६ पृ॰ ११४

—अथवा तामप्रत्यया उवस्या प्रतिकृतिं चित्रगताम् आलिख्याश्वसीकरिष्येऽहम्।

—विक्रम॰ अंक २ पृ॰ १७८

२ चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति।

—माल॰ अंक १ पृ॰ २६४

३ प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-
न्पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।—पूर्वमेघ ३२

—प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पा-
दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥—पूर्वमेघ ३५

(कुछ लोग इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं)।

४ प्रवातशयनं देवी शिरस्या रक्तचन्दनधारिणी परिजनहस्तगतेन चरणेन भग कथया कथाभिर्विनोद्यमाना तिष्ठति।—माल॰ अंक ४ पृ॰ ३१७

५. क्रीडापक्षी—क्रीडारतिभिरात्मप्य बन्धवस्या प्रकाम।—रघु॰ १०।२०

कबूतर और मोर—

—पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्,
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्
सर्वैरुस्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥—माल॰ २।१२

तोता—

—अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः।—रघु॰, ५।७४

पिड़ापक्षियों से पूछ कर 'क्या तुम अपने किस पति की प्यारी हो? उसे भी कभी स्मरण करती हो?'[1] या हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर आदि को नचाकर[2] विरहिणी स्त्रियाँ अपना मनोरञ्जन किया करती थीं। क्रीड़ा-शैल[3] प्रमदवन[4] और उद्यान विनोद के प्रमुख केन्द्र थे। प्रमदवन में दुष्यन्त[5] पुरूरवा[6] और अग्निमित्र[7] विरहोद्दीप्त मन को बहलाने का प्रयत्न किया करते थे। उद्यान-यात्राएँ भी हुआ करती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी उद्यान-यात्रा का वर्णन है।

कन्याओं की क्रीड़ा

(अ) कन्दुक-क्रीड़ा—बालिकाओं की कन्दुक-क्रीड़ा का कवि ने बार-बार उल्लेख किया है[8]—

---

१ पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति । —उत्तरमेघ २५

२ तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः । —उत्तरमेघ १९

३ तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।—उत्तरमेघ १७
—उत्तरमेघ २१ विक्रम० पृ० १८८

४ जयतु जयतु देवः । महाराज प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः यथाकालमभ्यास्तां
विनोदस्थानानि महाराज । —अभि० अंक ६ पृ० १०७
—विविक्तादृते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्ति । तद्भवान्प्रमदवनमार्गमादेशयतु ॥
—विक्रम० अंक २ पृ० १०१
राजा—अथेमं स्थितगौरवमुचितव्यापारविमुखम् चेतसा क्व नु खलु यापयामि ।
विदूषक—प्रमदवनमेव गच्छाव । —माल० अंक ३ पृ० २६१

५ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—अभि० अंक ६ पृ० १०७

६. देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—विक्रम० अंक २ पृ० १०१

७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४—माल० अंक ३ पृ० २६१

८. करभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
जवात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥—रघु० १६।८३

पावती[1] कुमारी वसु कस्मी[2] कुमुदती[3] अपना मनोरञ्जन किया करती थीं। कभी कन्दुक को हाथ मलती[4] कभी कन्दुक के पीछे दौड़ती थी[5]। वात्स्यायन के होता है कि गेंदें कई प्रकार की थी और इस पर अनेक प्रकार की हुई रहती थी[6]।

(घ) पुत्तलिका—इसकी परम्परा आज तक अविच्छिन्न कृत्रिम पुतलों से खलती थी[7]। प्राचीन काल में गुड़िया गुण हाथीदांत सिक्थ (मोम) और मिट्टी की बनती थी[8]।

(ङ) मणियों को बालू में छिपाने का खेल—इस खेल सयानी कन्याएँ भी खेला करती थी इतनी सयानी जिनसे जा सके[9]।

(च) सिकता पर्वतकेलि—नदी के किनारे टीले कन्याएँ पसन्द करती थी।[10] इस खेल को युवती कन्याएँ भी खेला

—कुमारी वसुकस्मी कन्दुकमनुपातन्ती निपत्यानरण ... ॥
निरन्या देव्या प्रवातकिसलयमिव वेपमाना न किञ्चिदपृच्छति ॥
—मालo अंक ४ पृ०

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ८—कुमार १।२९ २।११
२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ८—माल अंक ४ पृ० ११५
३ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ८—रघु० १६।८३
४ देखिए, पादटिप्पणी नं० १
५ देखिए, पादटिप्पणी नं २
६ कन्दुकमनेकभक्तिविचित्रमस्य कामान्तरितम् ।—वात्स्यायन कामसूत्र ३।३।१
७ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० ८—कुमार० १।२९
८ मुक्ताजालग्रथितमपी दुहितृका मधूच्छिष्टपटमयीरच ।
—वात्स्यायन कामसूत्र ३।३।११
९ मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः ।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥ —उत्तरमेघ ६
१० देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ८
—कुमार १।२९ रघु० १३।६२
—अत्र सा सैकतकन्या पुलिन लता ... दिवाकर
सरितीरपरती याम तैन पर्यन्ता ... दुहिता रचती।
—विक्रम० अंक

क्रीडाशालियों से पूछ कर 'क्या तुम अपने प्रिय पति'
स्मरण करती हो'[1] या हाथों से तालियाँ बजा-बजा
विरहिणी स्त्रियाँ अपना मनोरञ्जन किया करती थीं
और उद्यान विनोद के प्रमुख केन्द्र थे। प्रमदवन
अभिमित्र[2] विरहोद्दीप्त मन को बहलाने का प्रयत्न
भी हुआ करती थी। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी

कन्याओं की क्रीड़ा

(अ) कन्दुक-क्रीड़ा—बालिकाओं की कन्दुक
उल्लेख किया है[5]—

१ पुष्पवती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्था
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति।

२ तातें शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।—

३ तन्व्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनकदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।—
—पू

४ जयतु जयतु देवः। महाराज प्रत्यवेक्षिता
विनोदस्थानानि महाराज।—अभि०
—शिशिरापुने मात्स्यकुमुदस्य शरणा

राजा—अपेहि दिवसोपभुक्ति ...
निपुण—सन्त्रस्तवनमेव गच्छ...

५ देखिए, पाणिग्रहणी सं० ४—
६ देखिए, पाणिग्रहणी सं० ४
७. देखिए पाणिग्रहणी सं० ...

फूल तोड़ना[1] माला बनाना[2] पुष्पशय्या रचना[3] फूलों से अपने को अलंकृत करना[4] स्त्रियों के विनोद के ही साधन नहीं उनकी परिष्कृत रुचि के भी परिचायक थे। शकुन्तला की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा[5] और इरावती की दासी[6] सभी फूल चुनने की शौकीन थीं। ऋतुसंहार में इस बात का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन है कि किस प्रकार स्त्रियाँ प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु म फूलने वाले पुष्पों से अपना शृंगार किया करती थीं।

रघुवंश म एक शब्द 'लीलागार'[7] मिलता है। अवश्य ही यह एक ऐसा स्थान होगा जहाँ तरह-तरह के खेल खेलने का प्रबन्ध रहता होगा।

पौधों का विवाह—युवती स्त्रियों की यह भी एक क्रीड़ा थी। किसी वृक्ष का किसी लता से विवाह कर वे अति प्रसन्न हुआ करती थीं। इन्दुमती ने आम और प्रियंगुलता का विवाह ठीक किया था पर सम्पादित करने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई थी[8]। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वनज्योत्स्ना और सहकार के विवाह का प्रसंग है[9]।

---

१ ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ। —अभि० अंक ४, पृ० ५७
—एषा कुसुमावचयव्यग्रहस्ता सवर्णान्ते
परिचारिका बकुलिका संनिकृष्टमागच्छति।
—माल० अंक ४, पृ० १२४

२ तव निर्वमिताकुचारिभिकुसुमरचिता शयनं मया।
अमनाप्य विकाममेतसा किमिदं किन्नरवेंडि सुप्यते॥ —रघु० ८।५४

३ स्पृष्टपुष्पशयनाशिलातलम् द्वितिकममागदधन। —रघु० १९।२१
—एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते॥ —अभि० अंक ३ पृ० ४१

४ देखिए, अध्याय 'वेशभूषा'

५ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —अभि० अंक ४, पृ० ५७

६ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —माल० अंक ४ पृ० १२४

७ पूर्वारारादिविगतरत्ना मनवः कान्तयमो लीलागारेष्वरमत पुनरप्रसाम्यन्तरेषु।
—रघु० ८।९५

८ मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्ययाम्प्रतम्॥ —रघु० ८।६१

९. हला शकुन्तले इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका। एनां विस्मृतासि? —अभि० अंक १ पृ० १४

आर्थिक जीवन

कालिदास के ग्रन्थों में ऐश-आराम, विलास, समृद्धि आदि का वर्णन मनुष्य के सुखी जीवन की ओर इंगित करता है। पूर्वमेघ में बड़े-बड़े महल, बाजार, रत्न, कमल, फूल आदि का प्रचुर वर्णन है। अट्टालिकाओं एवं रत्नजटित आभूषणों का प्रचार देश के समृद्धिशाली होने का द्योतक है। इन्दुमती के स्वयंवर के पश्चात् जब अज नगरी के बीच से हो कर निकले तब बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं से स्त्रियाँ झाँक रही थीं जो विभिन्न प्रकार के आभूषणों से अपना शृंगार किए हुए थीं। हिमालय की नगरी की समृद्धि भी इसी प्रकार की थी। कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तल सब ही मदिरा, विलास और आनन्दमय जीवन की कथा है। अतः धन का अभाव, दरिद्रता का अस्तित्व कहीं दृष्टिगत नहीं होता।

व्यावसायिक कर्म—मनुष्यों की प्रधान जीविका खेती-बारी थी[1]। गाय इनकी सम्पत्ति थी। अतः दूध ... कृषि की रक्षा में कुशल था[2]। अतिथि को मधुपर्कादि भेंट करना आदि की कमी नहीं थी। धान, यव, कलम, नीवार, गन्ना, केसर आदि मुख्य उपज थी[3]। धान, यव, कलम, नीवार, गन्ना, केसर आदि मुख्य उपज थी। गाय, बैल, भेड़ पालना भी जीविका का साधन था।

नाना प्रकार के आभूषणों से व्यक्त होता है कि नाना प्रकार के सुन्दर-सुन्दर आभूषण बनाने वाले सुनार होंगे। मणि तराशने वाले कलाकार होंगे[4]। मालविकाग्निमित्र में नागमुद्रांकित अंगूठी सुनार ही तत्काल बनाकर लाई थी[5]। अन्य धातुओं के बर्तन आदि बनने से इस प्रकार के भी कारीगर होंगे। मिट्टी के बर्तनों में कुम्हार का ... विभिन्न प्रकार ...

---

१ मद शीतीकरसमुद्रमि पयसा मार्ग विविक्त ...
एवोत्सवम्। —पूर्वमेघ १९

२ ... मनुष्यापेक्षयमन्यानन्विपुष्टा कर्मविरत्यवन्ते। —रघु०
... नीवारदानाधिका ... ॥ —रघु० १।

प्रकट होता है। साँस से जो उड़ जाएँ, इस प्रकार के महीन वस्त्रों का पहनना बताता है कि सूत और सिल्क के बहुत बारीक कपड़े बुनने वाले कारीगर थे[1]। क्षौम पत्रोर्ण कौशेय[2] आदि अनेक प्रकार के वस्त्रों का वर्णन इस जीविका का साक्षात् संकेत है।

रघुवंश के प्रमाण से आभास होता है कि लुहार भी थे जो तरह-तरह के अस्त्र और अन्य भी लोहे का सामान बनाते थे। कवि ने एक स्थान पर उपमा द्वारा कि जिस प्रकार घन की चोट से तपाया हुआ लोहा फट जाता है उसी प्रकार अपनी पत्नी के कलंक की वार्ता सुनकर राम का हृदय फट गया[3] इसका संकेत किया है।

समुद्र में मोती, रत्न, शंख, सीप, मूँगे आदि होते हैं। इन सब वस्तुओं का प्रयोग कवि के काव्य में प्रचुरता के साथ है[4]। समुद्र रत्नों का आकर है ऐसा अनेक स्थानों में कहा गया है[5]। ताम्रपर्णी नदी मोतियों की खान थी ऐसा भी प्रसंग आता है[6]। अतः समुद्र से इन वस्तुओं का निकालना भी जीविका का एक साधन था।

वन की बहुत-सी वस्तुओं का जीवन में प्रयोग होता था। एक सुगन्धित कस्तूरी, गोरोचन, केसर[7] और इलायची, लौंग, कालीमिर्च, पान[8] जो मलाया के जंगलों में अधिक मात्रा में होते हैं वन की ही वस्तु है। चन्दन की लकड़ी भी वन से ही प्राप्त की जाती है। हाथी पकड़वाना राजा का सबसे बड़ा धन था[9]।

१ अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेशमिवोपदेष्टुम्॥ —रघु० १६।४३
२ देखिए अध्याय वस्त्र-भूषा।
३ कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे॥ —रघु०, १४।३३
४ देखिए, अध्याय वस्त्र-भूषा।
५ गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः॥ —रघु० १०।८५
६ ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम्॥ —रघु० ४।५०
७ देखिए, अध्याय वस्त्र-भूषा   ८ देखिए अध्याय 'खान-पान'
९. ते [illegible] ।—रघु० १६।२

आदि जानवरों की खालें, हड्डियाँ, दाँत, सींग, पूँछ[1] वन से लाने वाले व्यापारी थे। कौटिल्य वनों को कई भागों में बाँट देता है : (१) वे वन जो राजा के आखेट के लिए नियुक्त थे। इनमें जंगली जानवर दाँत और पञ्जे तोड़ कर रखे जाते थे, (२) सामान्य वन, (३) ऐसे प्रदेश जहाँ लकड़ी, रस्सी बनाने के लिए मूँज, लिखने के लिए भोजपत्र, रँगने के लिए किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम, औषधि के लिए जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती थीं[2]। कालिदास के ग्रन्थों में भोजपत्र[3] और किंशुक, कुसुम्भ, कुंकुम आदि से वस्त्रों का रँगा जाना[4] वर्णित है। कर्पूर,[5] मनःशिला,[6] गैरिक,[7] शैलेय[8] आदि औषधियों के लिए उपयोगी

१ [illegible] सुयव रत्नं धत्ते [illegible]।
[illegible] वेतनं तस्मै [illegible] ॥ —रघु० १०।६६
पूँछ के चँवर बनते थे—
लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः।
यस्यार्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥ —कुमार० १।१३
२ Age of Imperial Unity of India, Page 598
(Radha Kumud Mukerjee Economic Conditions)
३ देखिए, अध्याय 'शिक्षा' ४ देखिए, अध्याय 'शिक्षा'
५. [illegible] कुसुम्भ [illegible] ।
—ऋतु० १।२४
६. मृगा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ —कुमार० १।५५
—अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ॥—कुमार० ७।२३
—[illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० ११।८०
७ [illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० ४।७१
—[illegible] ।
—रघु० ५।७१

पशुओं का भी प्रसंग है। अतः वन और पर्वतीय भागों में इन
बेचना भी मनुष्य का पेशा था।

वन का सबसे बड़ा धन गज था। श्री वासुदेवशरण जी ने लिखा
प्रकार पासे-पोसे गई हथनियों के द्वारा जो गणिका कहलाती थी
जाता था। इसका उल्लेख 'हर्षचरित' एक अध्ययन में किया है।
या आटविक राजा स्वयं नए-नए हाथियों को पकड़ कर सम्राट् की सेवा
करते थे। हाथियों के लिए विशेषरूप से सुरक्षित वन थे जो नागवन
इसका अधिकारी हस्त्यध्यक्ष (नागवनाध्यक्ष) कहलाता था। राजा के
इसमें अपने हाथी रखाए जाते थे। नागवन को सुविधा के लिए कई
बाँट लिया जाता था। प्रत्येक वीथी पर एक अधिकारी होता था जो
कोविपाल कहलाता था। नागवन में किसी नए झुण्ड के देख पाने की
तुरन्त दरबार में यह अधिकारी भेजा करता था[1]। कालिदास के ग्रन्थों में
जिस प्रकार हाथियों का इकट्ठा किया करता था इसका उल्लेख है।
यही व्यवस्था उस समय भी रही। अतः यह सब अधिकारी भी इस
नियुक्त रहे।

वणिक[2] सार्थ[3] सार्थवाह[4] श्रेष्ठी[5] आदि शब्दों के व्यवहृत होने से
मान लिया जाता है कि व्यापार करना भी व्यवसाय था। पूर्वपीठ में हाट
वर्णन किया गया है। अन्य ही वस्तुओं के क्रय के लिए दुकानदार भी होते
श्री राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि साहित्य में श्रेणी शब्द उन व्यक्तियों के
लिए प्रयुक्त हुआ है जो चाहे एक जाति के हों अथवा नहीं पर एक व्यवसाय के
अवश्य हों। प्रत्येक कारबार अथवा कौशल का एक संगठन हो जाता था। श्रेणी

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित एक अध्ययन पृ० १९८

२ पण्यायन वैकल्यीविषयाय ते ग्रामपर्य वनिजं वन्ति। —मालः०, ३।१७

३ कार्पीत्यिस प्रकरणेत् बनेष्वपार्थमिव
सार्थं स्वैरं स्वगिरिषु कार्पोजनस्तिराहि। —रघु० १०।६४
—स इमां तस्मानुत्रमानुषी यथा सार्थवाहाय भाग्यसंरक्षातेच्छा यदि
सार्थ विरितपाविनममर्पितं। —माल० अंक ५, पृ० १४८

४ अनुरम्यस्तरी सार्थवाहो समुद्रो नाम नौव्यसने विपन्न।
—अभि० अंक ६ पृ० १२१

५ देव इदानीमेव गारेकम्य श्रेष्ठिना धुरिना किल नौव्यसना पासाम्य मूर्छो।
—अभि० अंक ६ पृ० १२१

में एक ही पेशे के व्यक्तियों का संगठन होता था पर कई प्रकार के व्यापारियों का संगठन श्रेणी कहलाता था।[१] इस श्रेणी का मुखिया सार्थवाह कहलाता था जो उनका प्रत्येक प्रकार से मार्ग-निर्देशन किया करता था।[२]

बौद्धिक व्यवसायों में शिक्षक पुरोहित ज्योतिषी वैद्य मुहूर्त निकालने वाले आदि वर्ग के व्यक्ति आते हैं। मालविकाग्निमित्र में गणदास और हरदत्त वेतन लेकर इरावती और मालविका को नृत्यकला की शिक्षा दिया करते थे। राजा की सेवा और सहायतार्थ सरकारी नौकरियाँ भी होती थीं। पुरोहित ज्योतिषी और मौहूर्तिक राजा की सहायतार्थ ही थे। सेनापति दुर्गरक्षक नगर रक्षक आदि सब वेतनभोगी ही थे।

कला जीविका का साधन हो चली थी। मालविकाग्निमित्र में दो स्त्रियाँ राजदरबार में लाई जाती हैं। राजा पूछता है— तुम लोग किस कला में दक्ष हो? वे उत्तर देती हैं— संगीत में।[३] अतः स्पष्ट ही संगीत जीविका का साधन हो चला था। वस्त्र भवनों आदि का प्रसंग प्रमाणित करता है कि भवनाकृति और वेन्यापत्ति भी एक तरह से आजीविका थीं। प्रसाधन-कला[४] तथा इसमें को कला और संवाहन (पैर दबाने की कला) भी पेशे के रूप में समाज में प्रचलित थीं। संवाहन-कला बहुत अच्छी मानी जाती थी। दुष्यन्त ने शकुन्तला को दोनों से सेवा करनी चाही थी[५]।

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 601-602

२ "Different merchants with their carts loaded with their goods and their men made up a company under a common captain called Sarthavaha who gave them directions as to halts watering, outsts etc. etc.

—Age of Imperial Unity of India Page 602.

३ 'कस्यां कलायामभिविनीते भवत्यौ ?' 'देव संगीतकलायामुपदेशः ।'

—माल० अंक ५ पृ० १४१

४ आरम्भमाधर्वस्तलीमेषु प्रसाधना —रघु० १०।२२

उच्च शिल्प तथा मकान अट्टालिकाएँ हाट आदि के बनाने वालों[1] सुनार खान से मणि निकालने वालों के अतिरिक्त हीनशिल्प के भी समुन्नत थे इनमें लुब्ध[2] धीवर[3] शराब बेचने वाले[4] मांस बेचने वाले[5] मछली वाले[6] मार पकाने वाले[7] आदि व्यवसाय माने हैं। उद्यान में बेल और की रक्षा के लिए मालिनें रहती थी[8]। यह लोग माला आदि भी गूँथती होंगी

व्यापार-मार्ग—अभिज्ञानशाकुन्तल में समुद्रव्यापारी धनमित्र का न आया है अतः व्यापार नदी और समुद्रों द्वारा भी होता था तथा स्थल-मार्ग । भी। स्थल-मार्ग समुद्र की अपेक्षा अधिक उत्तम था। रघु ने दिग्विजय में । राजाओं को जीतने के लिए, यद्यपि वह समुद्र-मार्ग से भी जा सकता था स्थल-मार्ग सब समझा[9]। रघु की दिग्विजय से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण भारत-वर्ष स्थल-मार्गों से भरा था। यही नहीं अरब फारस आदि देश भी स्थल-मार्ग द्वारा भारत से संबद्ध थे। मेघदूत में मेघ की यात्रा भी इसी बात की पुष्टि करती है। श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने कई मार्गों का विवरण दिया है। प्रथम श्रावस्ती से राजगृह तक का था। बीच में १२ ठहरने के स्थान (Halts) थे। वैशाली भी एक विश्रामस्थल था। गंगा के पार करना पड़ता था। दूसरा मार्ग श्रावस्ती से दक्षिण-पश्चिम की ओर जाता था। तीसरा श्रावस्ती से सिंध की ओर जाता था। राजपूताना के रेगिस्तान को पार करता था। पाँचवा ग्रान्ड ट्रंक रोड था जो राजगृह से बनारस साकेत श्रावस्ती होता हुआ तक्षशिला और सीमाप्रान्त तक जाता था। यह मध्य और पश्चिमी एशिया का भारत से मिलाता था। मेगस्थनीज ने भी राजपथ (Royal road) का वर्णन किया है जो उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त से पाटलिपुत्र तक था। इसके अतिरिक्त उसके मतानुसार सारा देश सड़कों के जाल से पूरा हुआ था। जगह जगह मील के पत्थर (Mile

१ तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ —रघु०, १६।३८
२ ३ ४ ५ ६ देखिए, मध्याय 'वर्ण-व्यवस्था'।
७ स्यामन्यन्ना निम्नि/तितारम्भा भातृजानां पुलिन्द्रजाय।
संगा निशाद्गुणलोतितारम्भाः संवादिव सम्यग्भव ॥ —रघु० १६।६२
८ विमान्य मन्यवनतनेत्रास्नातानि सिंच
पुष्पाणां नवजलार्यैं विदाहान्तानि।
दत्वा[illegible]
[illegible] पुष्पलावीमुखानाम् ॥ —पूर्वमेघ २८
९ पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। —रघु० ४।६०

stones) भी थे जिनसे फासला पता चलता था[1]। कालिदास के ग्रन्थों में महापथ[2] राजपथ[3] नाम मिलते हैं। बाजार की सड़क आपणमार्ग[4] कहलाती थी। सम्भवतः ऊपर वर्णित मार्गों में से यह महापथ राजपथ आदि हों।

आयात-निर्यात की वस्तुएँ—पश्चिम के घोड़े रघु की दिग्विजय में वर्णित हैं[5]। कवि ने वनायु घोड़ों का नाम लिया है[6] कंबोज के भी घोड़े प्रसिद्ध होंगे। रघु को राजा ने भेंट में घोड़े ही दिए थे[7]। अतः आयात वस्तुओं में घोड़े, रेशमी वस्त्र, दन्त, मूंगे आदि का नाम भगवतशरण ने लिया है[8]। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इन्हीं वस्तुओं के (सिवाय घोड़े के) नाम दिए हैं। निर्यात वस्तुओं में जड़ी-बूटियाँ, मोती, हीरा, नीलम, पन्ना, आभूषण की खास चीजें, सीप, मूंगे, कपड़ा, सोना, चाँदी आदि राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार हैं[9]।

मुद्राएँ, तौल और पैमाने (Coins Weights and measures)—व्यापार की इस समृद्धि से निस्सन्देह किसी सिक्के या सिक्कों द्वारा क्रय-विक्रय होता था होना स्पष्ट है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में मन्त्री का कथन कि 'धन की गणना में ही सारा दिन व्यतीत हो गया'[10] भी प्रमाणित करता है कि सिक्के अथवा मुद्रा का प्रचार हो चुका था। कौटिल्य आदि के द्वारा मुद्राशिक्षा के लिए दृढ़

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 606.

२ संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥ —कुमार० ७।३

३ [illegible] राजपथं न [illegible] सरयू च [illegible]।
—रघु० १४।३०

४ प्रवेशयामास [illegible]पणमार्गम्। —कुमार० ७।६९

५ [illegible]
[illegible]॥ —रघु० ४।६२

६ दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
—रघु०, ५।७३

७ तेजो [illegible]।
[illegible]॥ —रघु० ४।४०

करने पर गुरु ने क्रोधित होकर १४ विद्याओं के लिए १४ किसी मुद्रा के अभाव में १४ करोड़ माँगना कोई अर्थ नहीं रख न-कोई सिक्का उस समय था। कालिदास में निष्क का प्रयोग दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। प्रथम कुमारसम्भव में है 'विष्णु के जिस वक्ष पर हम (देवतागण) मान लगाए थे वे के गले से जब टकराता है तब उनमें से निकली चिनगारियाँ हैं मानों उस राक्षस के गले में निष्क की माला पहना दी गई हो होता है कि निष्क सोने का सिक्का था। मार्गनिर्वाणनिमित्त सुवर्णपरिमाण[3] दान में दिया जाता था। श्री राधाकुमुद मुकर्जी 'सुवर्ण सोने का सिक्का था जिसकी तौल ८० रत्ती थी'[4]। यदि पर विश्वास किया जाय तो १०० सुवर्ण के बराबर एक निष्क का सुवर्ण[5] और मानदण्ड[6] जैसा शब्दों का प्रयोग किया है। बाट तराजू आदि का प्रयोग होता था और लेन-देन के लिए आदि सिक्के भी थे।

---

१ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ —रघु०

२. ज्वलता यत्र धाम्नाऽपि प्रतिघातोत्थितार्चिषा ।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम् ॥ —कुमार० २।४९

३ माल० अंक ५, पृ ११६

४ Age of Imperial Unity of India Page 607

५ प्रथमदिवसपूर्णाविर्भूत [illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० ८।१
—[illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० १
—[illegible] ।
[illegible] ॥—रघु०, ११।५
—[illegible] ।
[illegible] ॥
—कुमार० ५।[illegible]

६ [illegible] ।
[illegible] ॥
—कुमार०

stones) थी ये जिनसे व्यापार का पता चलता था[१]। कालिदास के ग्रन्थों में महापथ[२] राजपथ[३] नाम मिलते हैं। बाजार की सड़क आपणमार्ग[४] कहलाती थी। सम्भवतः ऊपर वर्णित मार्गों में से यह महापथ राजपथ आदि थे।

आयात-निर्यात की वस्तुएँ—पश्चिम के घोड़े रघु के दिग्विजय में वर्णित हैं[५]। कवि ने वनायु घोड़ों का नाम लिया है[६] कम्बोज के भी घोड़े प्रसिद्ध होंगे। रघु को राजा ने भेंट में घोड़े ही दिए थे[७]। अतः आयात वस्तुओं में घोड़े रेशमी वस्त्र इत्र मूंगा आदि का नाम भगवतशरण ने लिया है[८]। राधाकुमुद मुकर्जी ने भी इन्हीं वस्तुओं के (सिवाय घोड़े के) नाम दिए हैं। निर्यात वस्तुओं में जड़ी-बूटियाँ मोती हीरा नीलम चन्दन जानवरों की खाल नील सीप सूती कपड़ा धागा चाँदी आदि राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार हैं[९]।

मुद्राएँ, तौल और पैमाने (Coins Weights and measures)—व्यापार की इस समृद्धि से निस्सन्देह सिक्कों का जिनके द्वारा क्रय-विक्रय होता था होना स्पष्ट है। अभिज्ञानशाकुन्तल में मन्त्री का कथन कि 'धन की गणना में ही सारा दिन व्यतीत हो गया'[१०] भी प्रमाणित करता है कि सिक्के अथवा मुद्रा का प्रचार हो चुका था। कौटिल्य आदि के द्वारा मुद्रानिर्माण के लिए हट

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 606

२ संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे॥ —कुमार० ७।३

३ चत्वरं राजपथं स गन्धविपणाध्यमाना गत्वा च सौधम्।
—रघु० १७।१०

४ प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्। —कुमार० ७।५५

५ संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥ —रघु० ४।६२

६ दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः।
—रघु०, ५।७३

७ तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्॥ —रघु०, ४।७०

करने पर, गुरु ने कोपित होकर १४ विद्याओं के लिए १४ करोड़ माँगना कोई अब नहीं किसी मुद्रा के अभाव में १४ करोड़ माँगना कोई अब नहीं न-कोई सिक्का उस समय था। कालिदास में निष्क का प्रयोग दो स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। प्रथम कुमारसम्भव से विष्णु के जिस वक्ष पर हम (देवतागण) आस लगाए बैठ के गले से जब टकराता है तब उसमें से निकली चिनगारियाँ हैं मानों उस राक्षस के गले में निष्क की माला पहना दी गई हो। होता है कि निष्क सोने का गोल सिक्का था। मनुस्मृति[3] में सुवर्णपरिमाण[3] दान में दिया जाता था। श्री राधाकुमुद मुकर्जी 'सुवर्ण सोने का सिक्का था जिसकी तौल ८० रत्ती थी[4]। यदि पर विश्वास किया जाय तो १०० सुवर्ण के बराबर एक निष्क मुद्रा[5] और मानदण्ड[6] दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। अत: बाट तराजू आदि का प्रयोग होता था और लेन-देन के लिए आदि सिक्के भी थे।

---

१ निबन्धगंभीरपापकारणमभिमन्युपिता गुरुणाऽनुमुक्त।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु०

२ यथाचन यस्य बाहुः प्रतिपन्नोत्सिताचिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्कमिवार्पितम्॥ —कुमार० २।४६

३ मनु अंक ४ पृ० २१६

४ Age of Imperial Unity of India Page 607

५ प्रथमस्थितपूर्वाविव सुमनस्तदनूनमन्तरम्।
नमसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ —रघु० ८।१५
भेजिरे नवदिनाकरतापच्छेदसंस्तुतमुखाभिरोऽपम्॥ —रघु० ११५
—तस्य पाण्डुरतमाननमूढा यावमनवमता मृदुस्मिता।
राजन्मनरहितरिपुषी चामदानयनस्पृषा तुलाम्॥—रघु०, १९।५०
शिरोऽस्थितानामवरतोषि है मुखं नवाचेरुषि दम्भकाहत॥

६ अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ —कुमार० १।१

धन का एकत्रीकरण—धन को अनेक प्रकार से एकत्र किया जाता था। जमीन में या नदी के किनारे तांबे के कलश में गाड़ दिया जाता था[1]। मित्र के पास न्यास रूप में भी रख दिया जाता था[2]।

सामाजिक रीति रिवाज, आचार तथा व्यवहार
(Social customs manners & decorum)

प्रणाम करने की विधि—गुरुजनों को प्रणाम करने का ढंग ये ही प्रचलित है। स्त्री और पुरुष दोनों के प्रणाम करने का एक ही ढंग सामाजिक होता है। माँ पिता गुरु अथवा आचार्य के चरण छूकर अथवा चरणों पर सिर रख कर प्रणाम किया जाता था। राजा दिलीप और सुदक्षिणा ने गुरु वसिष्ठ को चरण छूकर प्रणाम किया था[1]। रघु के वन जाते समय अज ने उनके चरणों में अपना सिर रख दिया था[2]। राम का परशुराम को प्रणाम[3], वन से लौटकर माताओं को प्रणाम[4] चरण को छूकर ही किया था अथवा सिर झुकाकर ही प्रणाम कर दिया जाता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी प्रणाम करती थीं। कभी-कभी अपना नाम लेकर भी प्रणाम किया जाता था। वन से लौटकर सीता ने 'मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता हूँ' कहकर सासों को प्रणाम किया था[5]। रुक्मी के पुत्र आश्रम में भी 'रुक्मी का पुत्र आपको प्रणाम करता है' कह कर

---

१ Age of Imperial Unity of India Page 600

२ देखिए, पादटिप्पणी सं० १

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः ।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥
—अभि०, ४।२२

—पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ॥
—कुमार० ५।१२

३ तयोर्जगृहतुः पादान्राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ —रघु० १।५७

४ तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा

मारन को प्रणाम किया था[1]। स्त्रियाँ कुमारी होने पर करती थी[2]।

वन्दे[3] प्रणाम[4] अभिवादये[5] आदि शब्द प्रणाम करते जाते थे। तपस्वी विद्वानों आदि को राजा दुष्यन्त[6] और करता उनके शिष्टाचार और नम्रता की अभिव्यंजना करता है कुमार आयस् का राजा के पास आकर चरण छूकर का द्योतक है कि बाल्यावस्था से ही शिष्टाचार की जाती थी।

पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी तपस्विजन[9] देवी-देवताओं[10] प्रणाम करती थी। नमो वन्दे[11] कह कर और नमा कह कर व अपना शीश का परिचय दे दिया करती थी।

---

१ भगवन् मौवयन माधु प्रणमामि। —विक्रम अंक १ पृ

२. वामभिनाम्न कुमलवनाम्म पुनर्प्रविष्ट न्यमन्न माता।
मन्दारपुष्परागरचितमन्या प्रमान नाम्प्रतं ममामाम्॥ —कु

३ स्याधुनेम वक्ति रघुनन्दनेन मन्यन्य सम्मन्ममो मग्ता
—प्रमान मेनिम्नुना दलमन्तमनाम् न्यजुना कुमिमसी न
—रघ

देखिए पिछले पृष्ठ पर पादटिप्पणी सं० ७ - रघ० १४।१६ —रघु०

४ प्रामान्यामानन्तरमान गातजनायोंज्जर्निम प्रन्म। —रघु०
—इमानि मीनाम्नमप्तनीपि निर्मलन्यो मववन्तारम्।
नवार कन्दुनान्तेन मूर्ध्ना प्रणामं कममपसार॥—कुमार

५ मन्वनि अभिवान्ये। —माल० अंक १ पृ० २३१
—अभिवान्ये भवन्तो। —अभि० अंक २ पृ० ३७
—मार्गनिमिवाते। —अभि० अंक ५, पृ० ८६

६ देखिए पादटिप्पणी सं० ५ —अभि० अंक २ पृ० ३७ अंक ५ पृ०

७ देखिए पादटिप्पणी सं० ५ —माल० अंक १ पृ० २०१

८ कुमारो पचनमस्कार दर्पं करोति। —विक्रम० अंक ५ पृ० २८०

९. नमन नान्नन्तं करोमि। —विक्रम अंक ५, पृ० २४८ २४९

१० कौनसी-आर्ये शार्ङ्गरवमिश्रमिश्रमनाश्रमिश्र तपस्विनस्त्वामि। प्रणम मन्वाति। —अभि अंक ४ पृ० ७०

११ नाम वन्दे। —अभि० अंक ४ पृ० १८

१२ देखिए पादटिप्पणी सं० ११

१३ देखिए पादटिप्पणी सं० ९

परिचारिका अपने स्वामी को 'जयतु जयतु भर्ता'[1] 'जयतु देवो भर्ता'[2] 'विजयतां विजयतां देव'[3] कह कर प्रणाम करती थीं। स्वामिनी के लिए 'जयतु भट्टिनी'[4] 'जयतु जयतु भर्तृदारिके'[5] शब्द प्रयोग किए जाते थे।

स्त्रियाँ पति को 'जयतु जयतु आर्यपुत्र'[6] कह कर प्रणाम करती थीं।

आशीर्वाद देने की परिपाटी—अवस्था और पद के अनुसार आशीर्वाद का रूप भी बदल जाता था। राजा के तपस्वी को प्रणाम करने पर वे राजा को आशीर्वाद देते थे 'चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि'[7]। राजा 'प्रतिगृहीतम्'[8] कह कर नम्रता सूचित करता था। स्त्रियों को 'पति के अखण्ड प्रेम को प्राप्त करो' 'पति की प्यारी बनो' और 'पुत्र की माता बनो' आदि आशीर्वाद दिए जाते थे।[9] बच्चों को 'चिरञ्जीवी हो'[10] ऐसा आशीष दिया जाता था। 'तुम्हारा कल्याण हो' 'तुम फूलो फलो'[11] भी बच्चों के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। माँ बच्चे को आशीर्वाद देती थी कि 'पिता की सेवा करने वाले बनो।'[12]

भिक्षा देते समय 'तुम्हारा मार्ग कल्याणकारी हो'[13] ऐसा कहा जाता था।

---

१ माल० अंक ४ पृ० २२० १२५ १२७ १४२ १५७ (पञ्चमोऽङ्क)
अभि० अंक ६ पृ० ११२
२ माल० अंक ४ पृ० १२१   ३ माल०, अंक ५ पृष्ठ १४० १४४ १५२
४ माल० अंक ५, पृ ११७ १२१   ५ माल० अंक ५ पृ० १४१
६ माल० अंक ५, पृ १४८ अंक ४ पृ० ११८, अभि अंक ७ पृ १४१
७ सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि। —अभि० अंक १ पृ० ९
—जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि॥ —अभि० १।१२
८ अभि० अंक १ पृ० ९   ९ देखिए, अध्याय 'दाम्पत्य जीवन'
१० वीता समुत्पाद्य कुमारं ... सौम्य विपदं योग।—रघु० १०।२९
११ स्वस्ति भवते। भवतो भवतु। —विक्रम० अंक ५ पृ० २६७
—आयुष्मानेधि। —विक्रम० अंक ५, पृ० २५४
—स्वस्ति भवते। —विक्रम०, अंक ५ पृ० २६६
विक्रम० अंक ५, पृ० २४८

बराबर वालों से और बड़ों से भी गले मिल कर विदा की जाती मिलने पर प्रसन्नता से कण्ठ में लगा कर दृढ़ आलिंगन कर जाता था[1]।

अतिथि-पूजा—अतिथि देवता के समान सबके लिए पूज्य होता था। आराम और सुविधाओं का बहुत ध्यान रखा जाता था। रघु की इसका साक्ष्य है। अतिथि को कभी-कभी कन्या भी समर्पित कर देते थे। के आगमन पर प्रियंवदा कहती है—यदि तात आज आश्रम में होते तो अतिथि को अपनी विशेष प्रिय वस्तु (शकुन्तला) दे देते[3]। पार्वती का वेश में आए शिव का सत्कार-हेतु सामाजिक आचार को पूछता है। के द्वार पर पधारने पर हिमालय ने गृहस्थ-धर्म के सच्चे फल को प्राप्त कि ऐसी उक्ति ही न कही वरन् आतिथ्य-सत्कार के लिए अपनी कन्या और दोनों को समर्पित किया[4]।

अतिथि के स्वागत करने की विधि—जिसके यहाँ अतिथि । उसे आतिथेय[5] कहते थे। कभी-कभी अतिथि द्वार पर आकर शरण आने की घोषणा में आया हूँ कहकर करते थे[6]। अतिथि के आने पर आसन पाद्य अर्घ्य[7] आदि उसको समर्पित किया जाता था। चरण धोने के लिए जल

---

१ वत्से परिष्वजस्व मां सखीजनञ्च। —अभि० ४ ७६

२ सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥
—रघु०, १३।७

३ सख्यौ—हला शकुन्तले! अद्य यदि तातः संनिहितो भवेत्।
शकुन्तला—ततः किं भवेत्?
सख्यौ—इमं जीवितसर्वस्वेनाप्यतिथिविशेषं कृतार्थं करिष्यति।
—अभि० अङ्क १ पृ० ११

४ एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥ —कुमार० ६।६३

५ स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात् पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ —रघु० ५।२

६ अपसर्त भो। —अभि० अङ्क ८ पृ० ५८

७ अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ॥ —रघु०, ११।६९,
रघु० ११।६६ कुमार ६।५०

पादोदकम्[1] बहुधा या बैठने को आसन[2] तथा फल[3] आदि भेंट किया जाता था। सम्माननीय अतिथियों को मधुपर्क भेंट किया जाता था। जामाता का सम्मान देवता अथवा सम्माननीय अतिथि के तुल्य ही होता था[4]। मधुपर्क में दही दूर्वा चावल आदि रहते थे।

अतिथि का विशेष सम्मान प्रीति-वचनों से किया जाता था। उसका और उससे सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का कुशल पूछना, उसके आने का आशय जानना तथा उसके आशय की पूर्ति के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न करना आतिथेय का काम था। सामाजिक आचार का सबसे बड़ा अंग सौम्य, मधुर वचनों से सत्कार करना था। राजा दुष्यन्त का परिचय और आने का उद्देश्य अनसूया बड़ी चतुराई और सभ्यता, शिष्टता और उच्च संस्कृतिपूर्ण सुष्ठु रीति से जानने का प्रयत्न करती है[5]। रघु ने कौत्स का सत्कार भी बहुत आदरपूर्ण वचनों से किया तथा उनके गुरु आदि की कुशल पूछते हुए उनके आने का अभिप्राय बहुत नम्रता से पूछा। राजा हिमालय ने भी सप्तर्षियों का सत्कार करते हुए नम्रता से अपनी समस्त सेवाओं को अर्पित कर आने का अभिप्राय जानने का प्रयत्न किया[6]।

अन्य रीति-रिवाज—विवाह सम्बन्धी सभी रीति-रिवाज बड़े भाई का पहले विवाह होना, नगर की सजावट, उत्सव, कुछ पदार्थों तक पहुँचाने वाला आदि यथास्थान वर्णन किया जा चुका है। मृत्यु के समय के भी सभी आचारों पर दृष्टि डाली जा चुकी है। राज्याभिषेक, जन्मोत्सव आदि पर बन्दियों को मुक्त करना आजकल की नई वस्तु नहीं अपितु तब भी प्रचलित थी।

---

१ हला शकुन्तले गच्छोटजम् फलमिश्रमर्घमुपहर। इदं पादोदकं भविष्यति ॥
—अभि १ १७

२ तमसावासनासीनाम् आसनपरिग्रह
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥ —कुमार ६।५३
पा-टिप्पणी नं १

किसी से भेंट खाली हाथ नहीं की जाती थी[1]। फल[2] या फूल[3] भी भेंट की जाती थी। भेंट में स्त्रियाँ भी अर्पित की जाती थीं[4]। दास-प्रथा उस समय थी। धन के साथ भी कुछ भेंट में भेजा जाता था[5]।

युद्ध करते समय सैनिकों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी रहती थीं[6]। युद्ध करते समय नाम लेकर युद्ध करते थे[7]। युद्ध में हाथी को वर्जित था[8]।

दूषित वस्तुओं की शुद्धि अग्नि में डालकर कर ली जाती थी[9]।

नैतिकता

भारतवर्ष में नैतिकता सदा उच्च-से-उच्च और नीच-से-नीच रही है। सम्पूर्ण कालिदास की कृतियों में भी यही बात परिलक्षित है। एक ओर आदर्श प्रेम का चित्र है तो दूसरी ओर घोर विलास का नग्न स्वरूप।

---

१ अस्ति ममवस्यायास्सम्प्रति परिजनवाणिनाम्भारकाजनन तत्र भवता देवी उपदीकृतपूर्वेण सम्पूरयितुमिच्छामीति ॥ —माल० अंक १ प० ५६

२ देखिए, पादटिप्पणी नं० १

३ विदूषक— देवी इदमामीनपाखाएपुष्पावतारणेन ... ।
—माल०, अंक ४ प

४ कंचुकी—विजयतां देवः। ... विज्ञापयति—विदर्भ ...
... शरीर इति पूर्व न प्रेषित।
... देवा ...।
—माल० अंक ५

५. अर्थं ... —माल० अंक ५

६ ... दामन।
... बभार ॥ —रघु

७ ... ।
... ॥ —
— ... । —रघु०

८ ... । —रघु०

९ कञ्चुकी— ... ।
राजा— ... ।
—विक्रम

के चरित्र के बिलकुल प्रतिकूल अभिव्यक्त हैं। एक ने एक पत्नीव्रत के आदर्श का निर्वाह किया दूसरे ने अनेक प्रेमिकाओं यहाँ तक कि दासियों को भी अपनी कामुकता की प्यास के कारण न छोड़ा। जीवन में पर्याप्त विशृङ्खलता आ चुकी थी। आदर्श सिद्धान्त में अवश्य थे परन्तु वास्तविक जगत् में इनका कोई मूल्य नहीं था।

दुष्यन्त राम दिलीप रघु आदि सब आदर्श और उच्च नैतिकता के प्रतीक थे। दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टि से न देखना बड़े भाई के पास गई हुई स्त्री को पूज्य समझना[1] बड़े भाई के विवाह से पहले विवाह न करना[2] प्रजा के लिए अपना सर्वस्व त्याग (राम का सीता-त्याग) अपराध हो जाने पर अपना अपराध स्वीकार करते हुए सत्य-सत्य वृत्तान्त सुनाना[3] नैतिकता की उच्च सीमा थी। परिहास के व्याज से कभी-कभी सत्य छिपाया जाता था। दुष्यन्त ने विदूषक से कहा था कि उस तापस-कन्या की बात केवल परिहास है, यथार्थ नहीं[4] परन्तु आदर्श यही था कि परिहास में भी झूठ न बोला जाय[5]।

सत्यवादिता की तरह आत्मसंयम उच्च आदर्श था। रघुवंशी राजा इस बात के साक्षी हैं जो सदा परस्त्री-विमुख रहे[6]। कुश ने अयोध्या की लक्ष्मी की ओर आँख उठाकर भी न देखा। दुष्यन्त ने भी इसी आदर्श का निर्वाह किया[7]।

---

१ ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता।
साभूद्रामाश्रमा सा मुसो नदीवोभयकूलभाक् ॥ —रघु० १२।३१

२. स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे,
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः । —रघु० १२।१६

३ तस्योदितस्य समनुवृत्तस्यैव पितो सकामस्य सम्पुष्पोर्मिनाम ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥—रघु ९।७७

४ परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः । —अभि० २।१८

५ न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि
* न सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता । —रघु० ९।८

–१८ है।

बिना स्वामी से पूछे उसकी वस्तु का भोग करना पाप समझा जाता था। दिलीप ने वसिष्ठ से बिना पूछे उनकी गाय का दूध भी नहीं पिया[1]।

राम-सीता का प्रेम दुष्यन्त-शकुन्तला का प्रेम शिव-पार्वती का प्रेम आदर्श रूप में ही व्यक्त किया गया है। यह वह प्रेम था जो नित्यप्रति जीवन को ऊँचा उठाता था और उठा सकता था। कवि ने राम को समस्त आदर्शों उच्च भूमि समझा है। सच्चा मनुष्य जीवन के भाव को उत्साह से ... है। वह जीवन को त्यागभूमि मानता है। मानवता की परिभाषा—यौवन उच्च संस्कृति को प्राप्त करना युवावस्था में जीवन के सुखों के साथ आदर्श और कर्तव्यों की पूर्ति वृद्धावस्था में त्याग और तपस्या तथा योग शरीर त्याग करना है[2]।

व्यक्तियों का धर्माचरण करना[3] आश्रम और वर्णानुसार करना राजा का प्रजा के वर्णाश्रम-पालन में सहयोग देना[4] प्रतिकूल चलने को दंड देना[5] आदि नैतिकता की पराकाष्ठा व्यक्त करते हैं।

---

१ वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः॥ —रघु०

२ 'Truest manhood is that which is consecrated to the culture in youth and devoted to the loftiest duties and ... of life in manhood and is full of the spirit of renunciation in old age and is capable of giving of his ... by Yoga —Kalidas, by Rama Swami Shastri, P. 212,
—शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्.......... —रघु० १

३ रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ —रघु० १।१७

४ तथा यथार्हतिहितप्रवाय तस्य स्वधर्मेषु विवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे॥ —रघु०,
देखिए, विस्तृत वर्णन के लिए, अध्याय वर्ण-व्यवस्था और
—नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः—
—अपास्तभवानर्थाश्रमाणां रक्षिता प्राप्तेर मुक्तामनो ...
—अभि० अङ्क

५. ... तमपाहरत्।
... —रघु० १।५।१
२०

शिष्टाचार और आचार-विचार में उस समय के व्यक्ति दक्ष थे। मनुष्य वही चतुर था जो अवसर पर अपने मालिक से प्रार्थना कर काम निकाल लेता था[1]। दरबारी आचार की झलक कवि के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पाई जाती है। शिवजी के विवाह के लिए प्रस्थान करने पर स्वयं सूर्य ने विश्वकर्मा के हाथ का बनाया हुआ नया छत्र शिव जी के सिर पर लगा दिया। ब्रह्मा और विष्णु ने आकर जय-जयकार की। इन्द्र आदि लोकपालों ने दर्शन की इच्छा से नन्दी को संकेत किया और नन्दी के द्वारा ले जाए जाने पर उन्होंने शिवजी को प्रणाम किया। शिव ने भी ब्रह्मा की ओर सिर हिलाकर, विष्णु जी से कुशल मंगल पूछकर, इन्द्र की ओर मुस्कराकर और अन्य देवताओं को केवल देखकर आदर प्रदर्शित किया[2]। वाणी में भी इसी प्रकार की मधुर शिष्टता पाई जाती थी। स्वर्ग लौटने की इच्छुक उर्वशी सखी के द्वारा विनय करती है— महाराज की आज्ञा हो तो आपकी कीर्ति को अपनी प्रिय सखी के समान स्वर्ग ले जाऊँ[3]। इसी प्रकार अनसूया की दुष्यन्त के प्रति उक्ति में 'महाराज के मधुर भाषण से मुझे धैर्य हुआ है इसलिए मैं आपसे पूछने का साहस करती हूँ कि आपने किस राजर्षि का वंश अलंकृत किया है? किन देशवासियों को आपने अपनी विरहव्यथा से पीड़ित किया है तथा किसलिए आपने अपने अत्यन्त कोमल शरीर को तपोवन का क्लेश पहुँचाया है[4]।

---

१ तस्यानुमेने भगवान्विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ —कुमार० ७।९३

२. तथागतं तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् —कुमार० ७।४१

—तमन्वमन्वत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥
—कुमार० ७।४३

—तं लोकपाला पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥—कुमार० ७।४५

—कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।

दाक्षिण्य अर्थात् एक ही समय कई स्त्रियों के साथ प्रेम निबाहना कवि के नायकों का कुलव्रत था[1]। ऐसे भी व्यक्ति थे जिनपर स्त्रियों के कपट-जाल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था[2]। परन्तु इस प्रकार के स्वामी वास्तव में कम ही थे। राजे-महाराजे प्रायः अपनी रानियों से सन्तोष करते थे परन्तु कुछ ऐसे थे जो अवसर पाने पर दूती नौकरानी किसी को भी न छोड़ते थे[3]। अग्निवर्ण और अग्निमित्र दोनों ही एक रसिक थे। नौकरानियाँ रानियों के डर से मिलन अवसर पर भी काँपती रहती थीं[4]। एक के पश्चात् दूसरी, दूसरी के पश्चात् तीसरी बनते जाना कामुकता का ही कारण था। अग्निमित्र का बेटा युद्ध में हुआ था अतः वह अवश्य ही वार्धक्य अवस्था का होगा। मालविका उसके बहुत छोटी थी। दुष्यन्त और शकुन्तला में भी यही भेद था। अतः काम ही पुरुषों का गुण था। पत्नी और प्रेमिकाओं के पैर में महावर लगाना[5] या पत्नियों की चोटी गूँथना[6] चोरी पकड़े जाने पर तरह-तरह के बहाने उनके लिए साधारण बात थी। पुत्र उत्पन्न हो जाने पर स्त्रियों को बढ़कर पूर्ण उपेक्षा करने लगते थे (मा कदा मां राजा परिहरिष्यतीति — पृ० २८४)। कालिदास ने काम-भावनाओं को अपने ग्रन्थों में खूब ...

---

१ दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धनाः ॥ —माल०, ४।१४

२. पुरा न कर्मोद्धरणावृत्ति चरणमूर्ध्नि सामभूमिमपोता।
ममापि मीतेन विलोकनीय पंचात्मरो योवनघटकम्पम् ॥ —रघु० ६

३ कन्यापुराय भवनात्समागतानाम् वृत्तिर्वनागतवान।
अगनागिनामनार्थं मीनरीयमपयेतपूतरम् ॥ —रघु० १६
—मंदा वा उपचार पन्नारियन मगम्य वस्तमनं न आपते।
—माल०

४ दीपिका, कालिन्दी नं० १

५ न स्वयं वन्धनागमात्पये योगिना न च तथा समाहित।
लोम्यमानमनन रम्पापूर्वमेणकापुनरैर्निर्विविमि ॥ —रघु०

६ निरहत्यमरसिव पादन्त प्रगितं समभरस्थितं प्रिया।
रिपहे पट पनान्तनवन्धमाभर्मनि रम्पु कुवटे ॥ —रघु०

७ अचिरसमीना पुष्पा। पूर्वापि न च माल्पितपा वर्णित्वं।
वधा एवं विश्रमीति पवानरोचितामा विभीतिः।
—माल० ४८

दिखाया है[1] । यह समस्त कृतियाँ साक्षी हैं कि सचाई ईमानदारी यद्यपि महान् पुरुषों में ही था । आम जनता का जीवन इन सबसे रहित साधारण जनता की दृष्टि में नैतिकता क्या वस्तु थी ? यह उन मुहावरों से व्यक्त होते हैं जो कवि के ग्रन्थों में सर्वत्र बिखरे हुए हैं—'आपकी आँखों को तो आ गई पर मधुमक्खी भी पास बैठी है, इसलिए सावधानी से कार्य ... गया' ।[2] विदूषक की अग्निमित्र से यह उक्ति उसके (राजा) चरित्र को व्यक्त करती है—'हाथी जब कमलिनी को देख लेता है तब उसे जल में छिपे घड़ियाल नहीं सूझते हैं'[3] । अग्निमित्र का इरावती के आ जाने का भय ... पर भी कहना उसकी धृष्टता का परिचायक है । इरावती की सखी का ... सखी की आम की कोंपल छूने और काट लिया चींटियों ने'[4] रानी से ... अग्निमित्र के पकड़े जाने का साक्षी है । परन्तु पकड़े जाने पर भी विदूषक का सुझाना कि कुछ तो बात बनाइए । चोरी करते हुए पकड़ा जाता चोर भी यह कह देता है कि मैं चोरी करने के लिए सेंध थोड़े ही लगा रहा था मैं देखना चाहता था कि मुझे सेंध तोड़ने की शिक्षा भली प्रकार आई कि नहीं ?[5] इसी प्रकार कहीं भला पृथ्वी पर पानी बरसाने के लिए देव मेढकों की टर-टर की बाट थोड़े ही जोहते हैं[6] आदि प्रमाणित करते हैं कि आम जनता का यही हाल था । नैतिकता का स्तर बहुत गिर चुका था । व्यभिचार बुरी तरह था इसकी अभिव्यञ्जना इससे होती है (स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना कावेरीं सरितां पत्युः शंकनीयामिवाकरोत्' —रघु ४।४५)। इस प्रकार का एक उदाहरण यह भी है—जब मछली मछुए के हाथ से निकल कर पानी में भाग जाती

---

१ देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन' और 'परिशिष्ट २ कालिदास के समय में काम-भावना ।

२ उपस्थितं नयनमधु संनिहितमक्षिकं च । तदप्रमत्तं इदानीं गम्य ।
—माल०

३ न हि कमलिनीं दृष्ट्वा

है तब वह भी निराश होकर यही कहता है—'आ मुझे पुण्य ही होगा।'

राजा के अनुचर आदि एक ओर कर्तव्य-पालन का भी दृष्टान्त रखते और दूसरी ओर सिपाही आदि किस प्रकार घूस लेते हैं घूस लिए [illegible] को [illegible] जो हमने हैं इसका भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं[२]। उस समय लूट [illegible] चोरी आदि खूब होती थी[३]। चोरी के अपराध में चोरों को सजा दी [illegible] जाती थी या मित्रों से मुचलका लिया जाता था (अभि० अंक ६)।

पुरुषों की तरह स्त्रियों के भी दोनों पक्ष दिखाए गए हैं। एक ओर पतिव्रता और सती नारियों के दृष्टान्त हैं दूसरी ओर स्त्रियों की कामुकता भी चित्रित की गई है। अभिसारिका[४]

---

१ भिन्नहस्ते मत्स्ये गलापितो निर्विण्णो धीवरो भवति पश्चात् कर्मों से भविष्य होगि। —विक्रम० अंक ४ पृ० २०६

२ भट्टारक—हताश पुष्पाई सुमनो मूल्यं भवतु।
जानुक—एतावदुच्यत। श्याल—धीवर महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्त। कादम्बरीसाक्षिकमस्माकं प्रथमसौहृदमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छाम। —अभि० अंक ६ पृ० १०१

३ अभि अंक ६ 'कुम्भीरक' शब्द का प्रयोग पृ० ९७ माल० अंक ४ पृ० ११० कुम्भीलकस्य चन्द्रिकेव विशितोऽस्मीति। —विक्रम० पृ० १८६
—कुम्भीलकैः परिहृतास्तु [illegible]।
[illegible] ॥
—माल० ५।१०

४ यदि रोचते तेऽयं ममाऽऽगमनमनेनैव मौक्तिकागुणपरिग्रहेणाभिसारिकावेष। —अभि० अंक ३ पृ० १६८
—उत्सवकालेऽप्यमुमन प्रयान्ति रामाऽभिसारिका स्त्रियः।
—ऋतु० २।१०
—यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः॥ —कुमार० ६।४३
—निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
—रघु०, १६।१२
—नूपुरैर्विविधैरपि तमिस्राम्यामयोपितो।
मेघेऽभिसारिकागति यथायोगिरयामिनी॥ —रघु० १७।६६

वेश्या[1] वारांगना[2] नर्तकी[3] आदि का खुला वर्णन स्त्रियों का परिचय देता है। राजा का सूना आसन पीना रात्रि में आधी रति कि सन्तुष्ट हो जाने पर उन्हें छोड़ न दे[4] पति के पीछे का पाकर उसे करधनी से बाँध देना[5] पहाड़ की गुफाओं में पत्नि के साथ यौवन का उपभोग[6] छुप-छिप कर घनी अँधेरी रात में प्रेमी से मिलना[7] आदि स्त्रियों की विलास-प्रियता की अभिव्यक्ति है। परकीया का प्रसंग इसी अनैतिकता का द्योतक है[8]।

---

१ यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥ —पूर्वमेघ २७
—वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥ —पूर्वमेघ ३६
२. प्रभिन्नवैदूर्यनिभैस्तृणाङ्कुरैः समाचिता प्रोत्थितकन्दलीदलैः।
विभाति शुक्लेतररत्नभूषिता वराङ्गनेव क्षितिरिन्द्रगोपकैः ॥ —ऋतु० २।५
—सुवदना वदनासवसंभृतै बकुलपरकोपितान्।
—रघु० ९।२९
—यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥
—रघु० ६।७५
३ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु० १९।१४
—सौत्वमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥—रघु० १९।१९
४ तस्य सावरणदृष्टसंधयः काम्यवस्तुषु नवेषु संगिनः।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषया
५.

प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन के संकेत-गृह[1] होते थे। ... करवाने में सहायक होती थीं[2]। मालविका और अग्निमित्र का मिलन बकुलावलिका ने कराया था। रानी धारिणी अशोक के झूलने के ... महाराज से कहती है कि लीजिए, आर्यपुत्र अशोक का ऐसा बना दिया है जहाँ आप रमणियों से मिल सकते हैं[3]। दूतियाँ एक-दूसरे के पास ले जाती थीं[4]। वे ही मिल के जाकर ... थीं[5]। वे ही सहायिका थीं[6] और वे ही भेंट छोड़ने जाती थीं[7]।

प्रेम के सम्बन्ध में न केवल कवि ने प्रेम-पत्रों का परिचय ... व्यापार की छोटी-छोटी बात बताना भी न भूला। ... परिधान पहनती थी[8]। प्रेमी और प्रेमिका दोनों ही मिलने के ... थे। मिलने में विघ्न पड़ने पर सौगुना चाव बढ़ जाता था[9]। प्रेमिका

---

१ देखिए, अध्याय 'विवाह' परिशिष्ट २ कालिदास के समय में ...।

२ तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ —रघु० १९

३ आर्यपुत्र ! एष तिरस्करिणीप्रतिच्छन्नो ... संकेतगृहं कल्पितम्
—माल० अंक ४

४ तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृंगारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ —रघु०

५ प्रतिद्विरसनाम्नो दूतिसंदर्शितास्य गमयितरसंगात्सा सुरतगोनाम ... ।
... पुनः प्रथमरागवृद्धिं भोगभो राजकन्या
—रघु० १९

६ ... प्रस्तुतैव ... ।
... ॥
—माल० ३।६

७ ... पुरागता ।
... ॥ —रघु० १९।३१

८ ... —विक्रम०, अंक ३, पृष्ठ १६८

९ ... ।
... ॥ —विक्रम ३।८

समाज भी प्रेमी को सुन्दर समझती थी[1]। यदि प्रेमी दुबला होता जाय (सुन्दर लगे तो प्रेयसी से समागम शीघ्र ही होगा[2] ऐसी उन दिनों की (धारणा) थी। बाहु का फड़कना भी प्रेयसी के समागम का लक्षण था[3]। हृदय-चोर[4] विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाने लगा था। अन्य संगम करने वाली पुरोभागिनी कहलाती थी[5]। अतः पुरुषों के व्यभिचार में अवश्य स्त्रियों का बहुत हाथ था।

यह सब होते हुए भी जो कन्या को दूषित करता था उसके साथ प्राय उसकी शादी कर दी जाती थी[6]। इस प्रकार स्त्रियों की कुत्सित वृत्ति की निन्दा की जाती थी। कुलटा स्त्री की उपमा वर्षाकालीन नदी से देकर[7] कवि ने अपनी सम्मति की ही अभिव्यंजना नहीं की अपितु तत्कालीन समाज की मनोवृत्ति का भी परिचय दिया।

पति के प्रवासी होने पर समस्त शृंगार छोड़ देना उसकी याद में ही दिन व्यतीत करना अगले जन्म में भी उसी पति को पति रूप में प्राप्त करने की

---

१ गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत् ।
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने ॥ —विक्रम ३।१५

२ यो मया परिहीयमानोऽपेक्षितः शोभसे तथाङ्गे प्रियासमागमं ते प्रते ।
—विक्रम अंक ३ पृष्ठ ११८

३ मनोभिरुपालम्भैर्भञ्जानिव.. पुष्पवत् ।
अर्थं मां स्पन्दितैर्बाहुरुपसान्त्वयति दक्षिणः ॥ —विक्रम ३।९
—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ —अभि० १।११

४ तेन हि प्रभातायामितीह तमात्मन स मम हृदयचोरः किं नानुतिष्ठतीति ।

५ अस्य प्रणयवतीय शरीरसम्पर्के - —विक्रम०

याद करना पति के सुख के लिए सम्पूर्ण त्याग को प्रस्तुत के बाद सती होने की आकांक्षा रखना स्त्रियों के है[1]। पति की सेवा कर स्त्री अपने पति को वश में कर महनशीलता पृथ्वी के समान थी[2]।

---

१ देखिए, अध्याय 'गृहस्थ जीवन'। इसकी विशद विवेचना की जा चुकी है।

२ महामारतमवयो॰ मधुरसवचोऽपि।
पारिणीभूतपारिणीर्भव भर्ता परमम्॥ —माम॰ ११।६

दसवाँ अध्याय

ललितकला

भारत के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों ने अपनी सात्विक सुकुमार और उत्प्रेरक भावनाओं को कागज धातु प्रस्तर आदि के माध्यम से साकार कर न केवल अपनी कला एवं प्रतिभा का ही परिचय दिया अपितु यह भी प्रमाणित कर दिया कि अन्तर्मनिभावों के विकास एवं स्वैम के लिए अमुक प्रकार का ही अलंकरण उपयुक्त हो ऐसा सर्वथा सत्य नहीं।

कला की उत्कट भावना एवं आन्तरिक उदात्त प्रेरणा किसी भी उपकरण द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्यों में कला ही सौन्दर्य एवं सजीवता की सृष्टि करती है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भावनाओं की सजीव साकार और मौलिक अभिव्यक्ति ही कला है।

अतः कला अवश्य है। लालित्य-प्रधान होने के कारण ही ललित इसकी संज्ञा हुई। स्वयं कालिदास ने सभी प्रकार की कलाओं को ललितकला कहा है[1]। अवश्य ही कवि का आशय इस शब्द से काव्य संगीत नृत्य अभिनय आदि कलाओं से होगा। मालविका के नृत्य के सम्बन्ध में भी ललित शब्द का उपयोग किया गया है[2]। ललित की तरह शिल्प शब्द भी इसी आशय के लिए कवि ने प्रयोग किया है[3]।

विद्वानों की सर्वसम्मति के अनुसार काव्य संगीत, ... मूर्तिकला वास्तुकला आदि ललित ... की ...

ललित कलाएँ पाँच मानी जाती हैं—काव्य संगीत ... और वास्तुकला। इसमें काव्यकला सर्वोत्तम समझी ... सबसे निकृष्ट। इनका इसी क्रम में आगे वर्णन किया ...

काव्यकला—किसी गुण या कौशल के कारण जब ... उपयोगिता और सौन्दर्य आ जाता है तब वह वस्तु ... ललितकला साहित्य के कारण ही उपयोगी कला से श्रेष्ठ ... ललित कलाओं में काव्यकला सर्वोत्तम।

मेघदूत-सा सुन्दर काव्य शकुन्तला-सा नाटक ... स्पष्ट प्रमाण है कि जिस समय कालिदास ने अपने काव्य एवं ... की उस समय की जनता में इनके प्रति यथेष्ट परिष्कृत रुचि ... विकसित करने के लिए ही कवि ने इन ग्रन्थों का प्रयोग किया है ... पन के भेद भाव को छोड़कर वास्तविक महत्त्व और गुण को ... प्रत्येक के गुण को ग्रहण करना चाहिए[1]।

कवि के समस्त काव्य एवं नाटक काव्यकला के चरम आदर्श हैं ... का छन्द में ग्रन्थावतरणा का संकेत देना मालविका का एक छन्द ... प्रणय को व्यक्त करना वैतालिकों का छन्दबद्ध राजा की स्तुति ... के परिचायक हैं कि जनता की प्रवृत्ति काव्योन्मुख थी।

नाट्यकला—कालिदास नाट्यं रम्यम् और नाटकान्तं ... जनसमुदाय से छिपा नहीं है। कवि द्वारा रचित नाटक नाट्यकला ... विकसित अवस्था को ही व्यक्त नहीं करते अपितु तत्कालीन ... देश का कितना शौकीन था इसकी भी अभिव्यक्ति करते हैं।

विवाह-संस्कार की समाप्ति पर आनन्द एवं उल्लास को प्रकट ... लिए नाटक खेला जाता था। अथवा नाटक के ही सहित हावभाव और ... के द्वारा हुए अभिनय किया जाता था। इसमें राग रस वृत्ति ... सुन्दर सामञ्जस्य रहता था[2]। इसी प्रकार वसन्तोत्सव पर भी

---

१ पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥ —माल॰ १।२

२ तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम्।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ —कुमार॰ ७।९१

रखा जाता था। मालविकाग्निमित्र वसन्तोत्सव पर ही रखा गया था।

इसी प्रकार भरतमुनि-प्रणीत नाटक में उर्वशी मेनका आदि का [illegible] करना प्रमाण है कि समय-समय पर नाटक रखे जाते थे। नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु न था। नाम और गुणों की दृष्टि से इसका इतना विद्वानों की प्रशंसा प्राप्त करना[1] इसकी साहित्यिक उपादेयता को व्यक्त करता है।

नाट्यकला सर्वश्रेष्ठ कला मानी जाती थी। आचार्य गणदास का कथन कि सभी अपनी-अपनी विद्या पर अभिमान करते हैं पर हमारा नाट्यकला पर अभिमान मिथ्या नहीं है' स्पष्ट कर देता है कि मनुष्य पृथक्-पृथक् विद्या एवं कला में निष्णात होते थे पर नाट्यकला का विशेष आदर था। नाटक मुनियों के मनों को सुन्दर लगने वाला यज्ञ है। यही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सब मनुष्यों को चाहे वे किसी भी रुचि के हों आनन्द प्राप्त होता है[3]। आदि वाक्यावलियाँ नाट्यकला की महत्ता को प्रकाशित करती हैं।

योग्य गुरु से विद्या सीखना सिखाना राजा-रानी का सम्मान प्राप्त करना नाट्यकला के प्रति विशेष आदरभाव व्यक्त करता है। आचार्य गणदास और हरदत्त दोनों का राजा को प्रामाणिक बनाने को प्रस्तुत होना राजा का इस कला में निष्णात होना बताता है। राज्य द्वारा कलाकारों विशेषकर नाट्यकर्मी को कितना संरक्षण प्राप्त था यह गणदास के कथन जैसे नाट्यकला की शिक्षा योग्य गुरु से ली है, जैसे शिल्पकला के व्यावहारिक पाठ भी लिए और उनमें देव और देवी का इतना भी यहाँ से परिपुष्ट हो जाता है[4]।

स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से इस कला के मर्मज्ञ थे। आचार्य प्रथम राजा से ही निर्णय करने के लिए कहते हैं। पश्चात् अवश्य ही राजा उप

---

१ अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।

२ आ परितोषाद्विदुषां

कला के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों रूपों के परि-
ष्कारों को खोजने में स्त्रियों का विशेष हाथ था। ... कौशिकी इस कला की पूर्ण ज्ञाता थी। आर्या कौशिकी सूक्ष्म तत्त्वों से पूर्णतः परिचित प्रतिभासित होती है। उनसे कि नाट्यशास्त्र की ... तो ... होती है[1]। ... है जो अपने शिष्यों को भी ... बना देता है[3]। नाट्यकला ज्ञान नहीं अपितु अभिव्यक्ति है[4]। ... था। भावों की अभिव्यक्ति जितनी अच्छी तरह होती थी ... उत्तम मानी जाती थी।

नाटक की सफलता और समाज के साथ सम्बन्ध-स्थापन के भाव था विद्वज्जनों द्वारा प्रशंसा का पात्र हो वही सफल समझा जाता था[5]। सिद्धान्त से अधिक उसका व्यावहारिक ... जाता था। कालिदास के समय में नाट्यकला का ... विकास हो ... इसके व्यावहारिक रूप को महत्ता दी जाती थी। ... में नाट्य...

---

१ ... ... किल ... च समुद्रपल्वलयोरिवान्तरमिति ... ...
शास्त्रे प्रयोगे च विभूषणम्। देव एष नौ विषयः प्राश्निकः।
—माल० अंक १

२ देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। —माल० अंक १ पृ० २०४

३ शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव॥
—माल० १

४ देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्। किमत्र वाग्व्यवहारेण॥
—माल० अंक १ पृ० ...

५ आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥ —अभि० १।२
—... ... । पुनः —
... ...।
... ...॥ —माल० २।९

शब्द प्रयुक्त किया है[१] और एक स्थान पर 'प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्' कहकर अपनी सम्मति पूर्णतः व्यक्त कर दी है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है। नाटक का स्वरूप और उसकी सफलता का आधार 'प्रयोग' ही था।

नाटक का स्वरूप में सत्व रज तम तीनों गुण तथा अनेक प्रकार के चरित्र होने के कारण तत्कालीन समाज के साथ इसका गाढ़ सम्बन्ध रहता था। समाज में भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य रहते हैं अतः नाटक की इसी विविधता के कारण प्रत्येक की रुचि एवं प्रवृत्ति इसमें परितोष प्राप्त करती थी[२]।

नाट्यकला का विकास—नाटक के सभी अंग तथा इसके अनेक पारिभाषिक शब्दों का कवि ने प्रयोग किया है। इस दृष्टि से नाटक में पाँचों सन्धियाँ *कैशिकी भारती सात्वती और आरभटी वृत्ति* शृंगार आदि रस ललित असम्प्लादि राग तथा मधुराग विक्षेप और संस्कृत प्राकृत भाषाओं का कितना महत्त्व था स्वयं कालिदास इन सबको कितना ध्यान देते थे यह कुमारसम्भव में उनके द्वारा भलीभाँति व्यक्त कर दिया गया है[४]।

भरत मुनि-प्रणीत नाटक आठ रसों से परिपूर्ण था। इन्द्रादि देवता-गण और लोकपाल इसके ललित अभिनय को देखने के इच्छुक थे[५]। अतः नाटक केवल

---

१ देखिए पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० ४ ५

—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः। —माल० अंक २ पृ० २८९

—देव मदीयमिदानीं प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः।

—माल० अंक २ पृ० २८७

—तदिदानीं प्रथमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः। —अभि० अंक १ पृ० ५

—अभ्यर्थिये प्रथममवाभ्युत्थमभिज्ञानशाकुन्तलं

नामापूर्वनाटकं प्रयोगेणाधिकर्तव्यमिति। —अभि० अंक १ पृ० ५

२ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० २

३ त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य

४

सैद्धान्तिक नहीं अपितु व्यावहारिक भी था। कवि का पुराने कवियों के बहुत से नाटक देखे हैं आज मैं ... विक्रमोर्वशीय नामक एक नया नाटक दिखलाना अभिनेताओं को जाकर समझा दो कि अपना अभिनय करें भी इसी बात की पुष्टि करता है कि नाटक गाये जाते थे।

सैद्धान्तिक पक्ष में सम्पिको एम पुति राग तथा विशेष स्थान है। भाषा जिसकी महत्त्वपूर्ण है यह बहुधा व्यक्त करता है। शुद्ध संस्कारवती भाषा का कवि मत देता

रंग—नाटक में सम्पूर्ण नाट्यगृह के लिए कवि ने 'रंग' किया है[३]। इसमें रंगमंच अभिनेता दर्शकगण सभी आ जाते ...

प्रेक्षागृह—वह स्थान जहाँ नाटक खेला जाता था ... प्रयोग होता था प्रेक्षागृह कहलाता था[४]।

नेपथ्य—वह स्थान जहाँ पात्रों को सजाकर अभिनय के लिए ... जाता था नेपथ्य कहलाता था। आजकल इसके लिए ग्रीन रूम किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में सूत्रधार का कथन— 'आर्य हो चुका हो तो यहाँ चली आओ' इसका स्पष्ट प्रमाण है[५]। जब तक नृत्य प्रारम्भ नहीं हुआ मालविका तिरस्करिणी के ...

---

१ परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां ... नवेन त्रोटकेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु पाठेष्वहितैर्भ... —विक्रम० अंक १

२ स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्रावाज्ञाप्य सीतया। मार्गणीयेषिव भूप राम मनिन्द्रमिद ॥ —रघु० १५।७६

—प्रभामहत्त्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्ग। संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ —कुमार० १

३ ... रागनिर्वृत्तचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग। —अभि० अंक १

४ देव ... शालिनी प्रेक्षागृहे संगीतरचना कृता तत्रभवता पूर्णं प्रसन्नम —माल० अंक १ पृ० २

५ सूत्रधार (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) —आर्ये यदि नेपथ्यविधानमवसितम् ... इतस्तावदागम्यताम्। —अभि० अंक १ पृ० १

सम्यक् प्रशंसा किया है[1] और एक स्थल पर 'प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्' कहकर अपनी सम्मति पूर्णतः व्यक्त कर दी है। इससे इतना अवश्य स्पष्ट है। नाटक का स्वरूप और उसकी सफलता का आधार 'प्रयोग' ही था।

नाटक का स्वरूप में सत्त्व रज तम तीनों गुण तथा अनेक प्रकार के चरित्र होने के कारण तत्कालीन समाज के साथ इसका गाढ़ सम्बन्ध रहता था। समाज म भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति के मनुष्य रहते हैं अतः नाटक की इसी विविधता के कारण प्रत्येक की रुचि एवं प्रवृत्ति इसमें परितोष प्राप्त करती थी[3]।

नाट्यकला का विकास—नाटक के सभी अंग तथा इसके अनेक पारिभाषिक शब्दों का कवि ने प्रयोग किया है। इस दृष्टि से नाटक में पाँचों सन्धियाँ कैशिकी भारती सात्वती और आरभटी वृत्ति शृंगार आदि रस ललित वसन्तादि राग तथा मधुराग विशेष और संस्कृत प्राकृत भाषाओं इनका कितना महत्त्व था स्वयं कालिदास इन सबको कितना श्रेय देते थे यह कुमारसम्भव में उनके द्वारा भलीभाँति व्यक्त कर दिया गया है[4]।

भरत मुनि-प्रणीत नाटक आठ रसों से परिपूर्ण था। इन्द्रादि देवता-गण और लोकपाल इसके ललित अभिनय को देखने के इच्छुक थे[5]। अतः नाटक केवल

---

१ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० ४ ५
—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्नः । —माल० अंक २ पृ० २८५
—येन मदीयमपि रागी प्रयोगमवलोकयितुं क्रियतां प्रसादः ।
—माल० अंक २ पृ० २८७
—परिषदेषा प्रथमं प्रयोगमभिनवमाराधयामः ।—अभि० अंक १ पृ० १
—आर्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तमभिज्ञानशाकुन्तलं
नामापूर्वनाटकं प्रयोगेणाधिक्रियतामिति । —अभि० अंक १ पृ० ५
२ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० २
३ त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य
४ निम्न

सैद्धान्तिक नहीं अपितु व्यावहारिक भी था। कवि का
पुराने कवियों के बहुत से नाटक देख है आज भी इसको
विक्रमोर्वशीय नामक एक नया नाटक दिखलाना ।
अभिनेताओं को आकर समझा दो कि अपना अभिनय बढ़ो
भी इसी बात की पुष्टि करता है कि नाटक खेले जाते थे।

सैद्धान्तिक पक्ष म सन्धियाँ रस वृत्ति राग तथा भ
विशेष स्थान है। भाषा कितनी महत्वशील है यह बहुधा कवि
व्यक्त करता है। मधु संस्कारवती भाषा का कवि प्रेय देता है[१]

रंग—नाटक में सम्पूर्ण नाट्यगृह के लिए कवि ने रंग
किया है[३]। इसमें रंगमंच अभिनेता दर्शकगण सभी आ जाते हैं

प्रेक्षागृह—वह स्थान जहाँ नाटक खेला जाता था
प्रयोग होता था प्रेक्षागृह कहलाता था[४]।

नेपथ्य—वह स्थान जहाँ पात्रों को सजाकर अभिनय के
जाता था नेपथ्य कहलाता था। आजकल इसके लिए ग्रीन रूम
किया जाता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में सूत्रधार का कथन—
हो चका हो तो यहाँ चली आओ' इसका स्पष्ट प्रमाण है[५]।
अब तक नृत्य आरम्भ नहीं हुआ मालविका तिरस्करिणी के

---

१ परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा। अहमस्यां ...
नवेन सोऽन्वेनोपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्ग स्वेषु पाठ्येष्वहि
—विक्रम० अंक १

२ स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
वाचेवार्थमिव भूप रामं मुनिरगारमित ॥ —रघु० १५।७६
—प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्ग।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥
—कुमार० १

३ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंग।—अभि० अंक १ पृ

४ तेन हि द्वावपि वर्गौ प्रेक्षागृहे संगीतरचनां कृत्वा तत्रभवतो दूतं प्रेषयतम्
—माल० अंक १ पृ० २

५ सूत्रधार (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)—आर्ये यदि ...
इतस्तावदागम्यताम्।—अभि अंक १ पृ ...

की ओर राजा उसे देखने को इतना अधीर था, कि पटाक्षेप का पर्दा हटा १ नेपथ्य का बीच कम म प्रयोग परिव्राजिका कथन से भी पुष्ट होता है[१]।

तिरस्करिणी—परदे के लिए कवि ने तिरस्करिणी शब्द का प्रयोग है,[३] अत परदे का व्यवहार होता अवश्य था। श्री अम्बिकाशरण ४ 'नेपथ्य परिगता' से रंगमंच संकेत मानते हैं। 'संहृतु' से उनका अनुमान है कि परदा कपेग जाता था। और एक से अधिक परदों का चलन था[४]। वैसे भी कवि के शब्दों के व्याख्याकारों से इसकी पुष्टि होती है। 'ततः प्रविशति आसनस्थो राजा'[५] का तात्पर्य यही हुआ कि आसन पर बैठा हुआ राजा प्रवेश करता है। इसमें विरोधाभास है। आसन पर आसीन राजा प्रवेश नहीं कर सकता। अत सिंहासन पर राजा को बैठाकर परदा हटा दिया जाता होगा। श्री काले का भी ऐसा ही अनुमान है[६] अत पर्दो का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है।

एक प्रश्न और है—परदे अनेक थे अथवा एक। इसके सम्बन्ध में श्री काले और श्री अम्बिकाशरण उपाध्याय का मत है कि अनेक थे[७]। परन्तु अनेक थे इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है। कालिदास के अन्य नाटक इतने लम्बे हैं कि एक रात में समस्त नाटक नहीं दिखाया जा सकता। हाँ सभी नाटक इतने लम्बे नहीं हैं कि जिनको एक रात म न दिखाया जा सके। मालविकाग्निमित्र तो बहुत ही छोटा है। गत वर्ष दिल्ली में अभिज्ञानशाकुन्तल का भी अभिनय एक बार मे (एक रात से भी कम में) किया जा चुका है। फिर भी राजा क प्रत्येक कार्य करने का समय निश्चित था ऐसा स्पष्ट किया जा चुका है। अत सम्पूर्ण नाटक के स्थान पर एक अंक ही प्रतिदिन दिखाया जाता होगा ऐसी ही सम्भावना है। कालिदास के सम्पूर्ण नाटकों म बीच में कहीं पटाक्षेप (ड्राप सीन) नहीं है।

---

१. नेपथ्य परिगतायाश्चनपुरनगमुत्सुकं तस्या।
संहृतु मधीरतया व्यवसितमिव मे

२ ।क

इसके अतिरिक्त एक अंक में आजकल की तरह कई दृश्य और अगरत हैं और प्रत्येक अंक के पश्चात् इति निष्क्रान्ता का प्रयोग है। अतः एक पर्दे से भी काम चल सकता है।

रंगमञ्चीय परिधान (Stage Dresses)—भिन्न-भिन्न भिन्न-भिन्न परिधान थे। कौशिकी का कथन 'मैं निर्वापित करती हूँ कि आयो सिम्य सूक्ष्म परिधान में प्रवेश करें जिससे नीरजन भलीभाँति प्रकाशित हो सकें'[1] प्रमाणित करता है कि परिधान नृत्य का प्रदर्शन करने वाले को दिया जाता होगा। ... ने एक स्थान पर अभिसारिका-परिधान को स्पष्ट किया है कि धारण करती है और शरीर पर एक-दो आभूषण होते हैं[2]। प्रकार का पात्र उत्पन्न हो अथवा बनाए वैसा ही वह उस ... परिधान कर देनी है। जान जाने वाले पहचानने न पावें इसके लिए वह धारण करना होता है। इसी प्रकार मागेटक वेश[3] का संकेत है। इसकी अंतरंगक मालिनी विरहिणी तपस्विनी वनविरक्ता आदि विभिन्न वेशभूषा पर प्रकाश डाला जा चुका है[4]। कंचुकी अपने वेश से जाता था और मुनि बल्कल से। इस प्रकार सबका पृथक्-पृथक् परिधान

रंगमंच की तैयारी (Stage Preparation)—इसमें ये वस्तुओं का आयोजन नहीं किया जाता था। केवल अभिनय ही करते आदि के द्वारा भाव की प्रतीति करा दी जाती थी। पात्रों के विभिन्न कार्य-व्यापार आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रदर्शित किए जाते थे। यथाप ... स्थान पर कवि ने न्यपति और नाट्यति[5] शब्दों का प्रयोग किया है जो इस का पोषक है।

---

१ निवसनाधिकारे बतामि। तर्कितस्योपजातभिन्नवस्त्रे विलसनेपथ्यको: ... प्रसादात्स्तु। —मालo अंक १ पृo २७९

२. हस्तं विचलन्ति रोचते तेऽलं मसालामरकतपुंशिना नीलामुकाविन्यार्थम अलंकारमा। —विक्रमo अंक ३ पृo ११८

३ मागत्यन्तु भवता मृगयावेशम्। —अभिo अंक २ पृo १२

४ देखिए अध्याय 'वेशभूषा'। सबकी वेशभूषा पर सविस्तार प्रकाश डाला जा चुका है।

५. इति शरसंधानं नाट्यति। —अभिo अंक १ पृo ७
—इति मृगो रथवेगं निरूपयति। —अभिo अंक १ पृo ८

भूमिका—सप्तमी की भूमिका में उर्वशी का आना और वारुणी की में मेनका का आना 'भूमिका' शब्द की अभिव्यक्ति कर देता है[1]। जो अभिनय करता था उसके लिए वह उसकी भूमिका में आना ऐसा कहा था। अतः भूमिका पारिभाषिक शब्द है।

अभिनय—इसमें भावों को बहुत महत्ता दी जाती थी। 'भावाश्रित शरीरिणी'[2] भावों की साकारता की प्रतीति करवाते हैं। की प्रशंसा करते समय परिव्राजिका भी यही कहती है—'अंगरन्तर्निहितवचनं सूचित सम्यग्'[3]।

आंगिक सात्त्विक एवं वाचिक तीनों प्रकार के अभिनय थे[4] अथवा तीनों अभिनय के अंग थे। नृत्य के साथ ही कवि अभिनय को लेता है। इस पर नृत्यकला का वर्णन करते समय प्रकाश डाला जाएगा।

संगीत—नाटक में स्थान-स्थान पर संगीत का भी आयोजन किया जाता था। एक स्थान पर 'पंचांगाभिनय'[1] का कवि ने निर्देश किया है। कदाचित् इससे गीत वाद्य सात्त्विक वाचिक आंगिक पाँच वस्तुओं से कवि का आशय है। मालविका का शर्मिष्ठा-कृत चतुष्पदी का छलिक इसकी पुष्टि करता है[1]। गीत से

—अपि नृत्तसेवनं सम्पति। —अभि० अंक १ पृ० १२
—उर्वशी सगन्धर्वा आकाशोत्पतनं नाटयति। —विक्रम अंक १ पृ १६४

१ सप्तमीभूमिकायां वर्तमानोर्वशी वारुणीभूमिकायां वर्तमानया मेनकया पृष्टा। —विक्रम अंक १ पृ ११९

२ उभावभिनयाचार्यौ परस्परजयैषिणौ।
त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षात्भावाश्रित शरीरिणी॥ —माल० १।१०

३ माल० २।८

४ अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथ स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणै: प्र…

सारा वातावरण शान्त एवं निस्तब्ध हो जाता था और सम्पूर्ण रंग चित्रलिखित हो जाता था[1]।

हास्य—नाटक नीरस न लगें इसलिए संगीत के साथ-साथ हास्य का भी आयोजन किया जाता था। विदूषक का यही महत्त्व था। इसके अतिरिक्त भी 'प्रमथमुखविकारैः हासयामास गूढम्'[2] पार्वती को हँसाने के लिए गणों ने तरह तरह के मुँह बनाए थे। अतः मुखमुद्रा के द्वारा हँसाना हास्य का संचार करना नाटक का आवश्यक अंग था।

रिहर्सल—नाट्याभिनय के पूर्व उसका अभ्यास (रिहर्सल) होता था। इस दिन मांगलिक उपचारार्थ ब्राह्मण भोज किया जाता था[3] ऐसा मालविकाग्निमित्र के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

रंगशाला में प्रथम उद्घाटन के अवसर पर ब्राह्मण-भोज एक निश्चित सामाजिक प्रथा का संकेत करता है। विदूषक की उक्ति 'जब पहले-पहल अपनी सिखाई हुई विद्या लोगों के आगे दिखाई जाती है तो सबसे पहले ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए' और इसका दूसरा वाक्यांश 'महाब्राह्मण यह प्रथम नाट्य-दर्शन नहीं है अन्यथा तुम्हारे जैसे दक्षिणा पर जीने वाले ब्राह्मण की हम अच्छी तरह पूजा करते' उसमें सामाजिक प्रथा के होने का प्रतीक है[4]।

कवि के समय में अनेक प्रकार के नाटकों का प्रचलन था। स्वयं कवि ने दो नाटक और एक त्रोटक लिखा है। इसी प्रकार कवि ने 'छलिक'[5] शब्द का प्रयोग किया है। अनुमान है कि यह कोई प्राकृत नाटक होगा। छलिक का प्रयोग कठिन माना जाता था—छलिकं दुष्प्रयोगमुदाहरन्ति[6]।

---

१ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।

—अभि० अंक १ पृ० ५

२ कुमार० ७।९५

३ प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या।

—माल० अंक २ पृ० २८५

४ महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नाट्यदर्शनमिदम्। अन्यथा कथं त्वां दक्षिणीयं नार्चयिष्याम। —माल० अंक २ पृ० २८६

५. देव शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति।
तस्यास्तु छलिकप्रयोगमेकमना भावयतु देवः। —माल० अंक १ पृ० २८१

६ माल० अंक १ पृ० २७८

संगीत-कला

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का कहना है कि भाषा एवं संगीत एक ही के दो अंग हैं। संगीत एवं व्याकरण के तत्त्वमूल माहेश्वर सूत्र हैं। पांच से उत्पादित व्याकरण के पांच मूल स्वर अ इ उ ऋ लृ हैं। इनमें मिश्रित रूप हैं ए और ओ। दो अभिमिश्रित गाढ़े हुए रूप हैं ऐ और औ। तीन स्वरों (अ इ उ) के दीर्घ रूप भी हैं। इस प्रकार स्वर हो जाते हैं।

संगीत के सात स्वरों में भी पांच स्वर प्रधान और दो गौण हैं। प्रधान स्वरों के नाम मध्यम गान्धार ऋषभ षड्ज एवं धैवत हैं। गौण स्वर पंचम एवं निषाद हैं। कोई-कोई धैवत और निषाद को गौण मानते हैं। शेष पांच प्रधान हैं। इन सात स्वरों के अतिरिक्त दो और मिश्रित स्वर हैं, उनके नाम 'काकली' और 'अन्तरस्वर' हैं। संगीत में उन मिश्रित स्वरों का नाम साधारण अर्थात् बीच का स्वर है। तीन मध्य स्वरों के एक-एक विकृत रूप हैं। इस तरह यहाँ भी स्वरों की संख्या बारह हो जाती है।

कालिदास ने नाट्यकला के समान ही संगीतकला को महत्त्व दिया है। ललितकलाओं में जो स्थान संगीतकला को मिला वह मूर्तिकला वास्तुकला को नहीं। कवि ने ललित शब्द का उपयोग इस कला की अभिव्यक्ति के लिए अधिक किया है। इन्दुमती ललितकलाओं में अज की शिष्या थी[1]। अतः यहाँ संगीत और चित्रकला से ही कवि का आशय है। इसी प्रकार का संगीत के प्रति अभिव्यक्ति का एक उदाहरण मालविकाग्निमित्र में भी मिलता है[2]।

संगीतशास्त्र का नाट्यशास्त्र से कितना सम्बन्ध है, यह अभी दिखाया जा चुका है। वास्तव में नाट्य बिना संगीत के अपूर्ण ही है। संगीत के तीन भेद हैं—गीत वाद्य और नृत्य।

गीत—आजकल की तरह गीत के -

थे। कवि ने अनेक स्थानों पर 'गीत'[1] शब्द का प्रयोग किया है जिससे ऐसा आभासित होता है कि प्रत्येक प्रकार के गीत गीत कहलाते थे। कवि के ग्रन्थों में गीत जितने भी आए हैं वे अधिकांश में प्राकृत गीत हैं[2]। गीत की तरह कवि ने संगीत[3] शब्द का प्रयोग किया है परन्तु गीत और संगीत में अन्तर है।

---

१ आर्ये किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनहेतोर्गीतादपरमस्ति।

—अभि० पृ० ४

—तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः। —अभि० पृ० ५

—इदं विस्मृतं मया गीतवस्तु। —अभि० अंक १ पृ० ४९

—कलविशुद्धाया गीते स्वरसंयोग श्रूयते।

अहो रागपरिवाहिनी गीतिः। —अभि० अंक ५ पृ० ७९

—प्रारम्भे मुरजरवस्थिते पञ्चतालिकं नाम कथमपुरारं प्रगीता।

—विक्रम० १।१

—श्रवणु तव निशम्य कामिनीभि समीगो निशि मुकुलितमाने हृन्यस्ते सुमन।

—ऋतु० १।२८

—सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्। —रघु० ६।४५

२ ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमारकेसरसिहाइं।
ओदंसअन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं॥ —अभि० १।४

—तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवा वि रत्तिम्मि।
णिग्घिण तवइ बलीअं तुइ वुत्तमणोरहाइं अंगाइं॥—अभि० ३।१४

—दुल्लहो पिओ मे तस्सि भव हिअअ णिरासं
अम्हो अपंगओ मे परिप्फुरइ कि वि वामओ।
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उण उवणइदव्वो
णाह मं पराहीणं तुइ परिगणअ सतिण्हम्॥ —माल० २।४

—सामिअ संभाविआ जह अहं तुए अमुणिआ
तह अणुरत्तस्स सुहअ णाम तह उवरि।
णवरि मे ललिअ पारिजाअसअणिज्जम्मि होन्ति
णन्दणवणवाआ वि अच्चुण्हआ सरीरए॥ —विक्रम० २।१२

३ तदारभ्यतां संगीतम्। —माल० अंक १ पृ० २६१

—प्रासादे संगीतरचना यया तत्परतो
इदं प्रेक्षस्व गमनं संगीतकेऽस्मिन्कर इव। —माल० पृ० २७८

—मालविके, इत एत। पश्यत हे संगीतकपरिपाटीं रोचते।

—माल०, अंक ५, पृ० १४९

गीत में केवल कण्ठ-संगीत है, परन्तु संगीत में गीत के साथ वाद्यादि के रहने का अनुमान है, (पूर्वमेघ १)। यह कवि के प्राकृतगीतों से स्पष्ट हो जाता है। मालविका के गीत में नृत्य का भी योग था[1]। यक्ष की पत्नी वीणा बजा-बजाकर पति के गुणों के गीत गाती थी[2]। आज भी दक्षिण-भारत में मद्रास की तरफ वीणा बजाकर गीत गाने का रिवाज है। वैसे भी कण्ठ-संगीत में पीछे-पीछे सारंगी और तानपूरा आजकल भी बजाया जाता है। उस समय भी गीत के साथ कोई-न-कोई वाद्य बजाया जाता था। लोकगीत के वाद्यों में वंशी अपरिहार्य जान पड़ती है क्योंकि कवि ने अरण्य प्रदेशों के गीतों के साथ वंशवाद्य का वर्णन किया है[3]। वस्तुतः वंशी आज भी पहाड़ी देशों में अधिक प्रचलित है। प्राचीन काल में उन प्रदेशों का यह मुख्य वाद्य था यह कालिदास के उद्धरण से स्पष्ट है। दूसरी बात और भी महत्त्वपूर्ण है। वे वंशी वाद्य को 'ताल' के रूप में प्रयोग करते थे और यह माना जाता था कि 'ताल' का सच्चा रूप वंश वाद्य में ही साध्य है[4]। इसीलिए भरत ने ताल को वंशी की ध्वनि से तानना

---

१ अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥ —माल० २।८

२ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा। —उत्तरमेघ २६

३ सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ —रघु० २।१२

—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ —पूर्वमेघ १

—यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।

लिया है[१]। मल्लिनाथ म स्पष्ट रूप म ग्राम का ... माना है[२]।

सगीत के पारिभाषिक शब्द

नाद[३]—सगीत की परिभाषा के अनुसार नाद का म... दो प्रकार का होता है आहत तथा संगीतोपयोगी नाद। संगीतोपयोगी नाद का आश्रय लिया जाता है।

स्वर[४]—इन स्वरा म उत्थान षड्ज और मध्यम[५] ग्रामों रा...

ग्राम— ग्राम तीन कहे जाते हैं। षड्ज मध्यम और ... स्वर का यही कवि म नाम लिया है "मध्यमस्वरोत्पा मार्गी" मे ग्राम ही से है।

सप्त स्वरों को २२ श्रुतियो पर भिन्न क्रम से स्थित ग्राम ... हुआ है। अर्थात् श्रुतियो पर शुद्ध स्वरो की स्थापना के तीन भेद तीन ग्राम बने हैं जिनके नाम षड्ज ग्राम गान्धार ग्राम और म... ग्राम स्वर का बन है, स्वर क्रमपूर्वक गायन या वादन करना।

मूर्च्छना—सातो शुद्ध स्वरों के क्रमानुसार आरोहावरोह को ... म प ध नि म) इस प्रकार करने को मूर्च्छना कहते हैं[७]। इसी ... रे से प्रारम्भ कर दूसरे सप्तक के रे तक समाप्त किया जाय ... मूर्च्छना हुई[८] इसी प्रकार ग से ग तक तीसरी मूर्च्छना हुई[८]। प्रत्येक सप्तक में ७ मूर्च्छनाएँ होती हैं[९] और तीनो ग्रामो म २१ ...

१ ग्रामा षं षं स्वरं गच्छन्तु षं षं कठेन गायताम् इति भारत। टीका मल्लिनाथ—रघु

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ४

३ उरभूमिर्ऽ परभूतस्य मधुरालाप भोगप्रियमधुरस्य च गीतनादै।

४ कर्णविनाशाया गीत स्वरगणाः श्रूयन्। —रघु० ...

५ षड्जसंवादिनी केका द्विधा भिन्न शिखण्डिभिः (रघु० १।३९)
— निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। इत्यमी सप्त कण्ठोत्थिता स्वरा इत्यमर। मधुरं मध्यम— षड्जं मयूरो वक्ति
टीका मल्लिनाथ—रघु० १।...

६ निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मार्गी मार्जना मरुपति मायणा मदाति।
—माघ ११२

७-८ मूर्च्छना स्वरारोहावरोहक्रमः ग्रामाणां स्थापना सप्त मूर्च्छना सप्तस्ता, इति सगीतरत्नाकरे। —टीका मल्लिनाथ—उत्तरमेघ ...

है। कवि ने मूर्च्छना शब्द का प्रयोग दो स्थानों पर किया है। कुमारसम्भव तथा मेघदूत[2] में।

ताल—गाने बजाने में लगते हुए स्वरों के और बोलों के समय की गिनती को ताल कहते हैं। ताल ताली बजा के बताया जाता है, इसी कारण इसको ताल की संज्ञा दी गई है। मेघदूत में यक्ष की पत्नी घुँघरुदार कड़े वाले हाथों से तालियाँ बजा-बजाकर मोर को नचाया करती थी[3]। इसमें ताल शब्द का प्रयोग कवि ने किया है और मल्लिनाथ ने 'तालै' का अर्थ करतलध्वनि किया है, जिससे ताल के वास्तविक अर्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है।

लय—एक मात्रा से दूसरी, दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी मात्रा तक पहुँचने में जो बराबर-बराबर समय लगता है उसी को लय कहते हैं। लय तीन हैं। पहली लय की गति मन्द रहती है। दूसरी लय की गति पहली से दूनी रहती है, तीसरी की दूसरी से दूनी रहती है। मालविकाग्निमित्र में मालविका के नृत्य करते समय 'लय' का उपयोग कवि ने किया है[4]।

तान—तान शब्द का अर्थ तानना या विस्तार करना है। तान स्वरों के उस समूह को कहते हैं जिनसे राग का विस्तार किया जाता है। स्वयं कवि तान का यही अर्थ लेता है। प्राचीन काल में वंशी के वाद्य को तान के अर्थ में प्रयुक्त करते थे यह पीछे कहा जा चुका है।

उपगान[5]—गीत गाने के पूर्व स्वरालाप द्वारा राग का आवाहन करके राग का रूप स्पष्ट करते हैं। यही उपगान कहलाता है। इसमें ताल की आवश्यकता नहीं रहती पर स्वर ज्ञान अवश्य अच्छा होना चाहिए।

---

१ स मधुमत्त मृदुस्वरोत्थित मस्तकुम्भकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुपसि गीतमङ्गलः।—कुमार० ८।८२

२ उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि
द्भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥—उत्तरमेघ २६

३ तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते

वर्णपरिचय[1]—वर्ण संगीत का पारिभाषिक । स्वरों की जो चाल मिलती है, उसे वर्ण कहते हैं । यह स्थायी वर्ण—इसमें एक ही स्वर बार-बार गाया जाता रे रे रे रे आरोही वर्ण—इसमें स्वरों को क्रम से ऊपर जैसे स रे ग म रे ग म प अवरोही वर्ण—इसमें स्वरों का गाया जाता है जैसे ध नी ध प नी ध प म सञ्चारी वर्ण तीनों प्रकारों का मिश्रण हो जाता है ।

परिचय का अर्थ अभ्यास है जिसे आजकल 'रियाज' परिचय का अर्थ स्वरों का अभ्यास है । कवि ने अर्थ में परिचय का उपयोग किया है[2] ।

मायूरी और मार्जना[3]—मृदंग के विशेष विशेष प्रकार लिए मायूरी और मार्जना शब्दों का प्रयोग होता है । थी भी इनका विशेष-विशेष प्रकार के बजाने की शक्ति के लिए कवि ने ऐसा मानते हैं ।

पादन्यास[4]—नृत्य करते समय विशेष प्रकार के पग धरने कहा जाता है ।

द्विपदिका[5]—एक विशेष प्रकार की धुन है ऐसा भी कहता है साथ में यह एक छन्द का भी नाम है ।

१ वर्णविभूषिता गीत स्वरसंयोग भूषने । वाने तनमयी परिचयं करोमीति ।—अभि० अंक ५ पृ० ७६

२ देखिए, पादटिप्पणी सं० १

—अभिनवलस्वरितमुखितोत्सा अम्बरमार्गगतिरुद्धरम्भा ।

अमरवरसारसरञ्जिता मग मार्जिता कल्पितार्माहिताम्नि ॥—रघु ६।

३ श्रीमन्मतिनिर्दिष्टविधिमधुरैर्नूपुरैरपुरुश्रितम्ब पुरस्तात् ।

निर्ह्लादिमन्द्रविमलमवरोमा मायूरी मन्यति मार्जना मनांसि ॥

४ अंगरसविनिवेशयते मुखिन गम्यम पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।—माल० २।८

—माल० २।५

५ बलगुरे निशिनिशा निशो बदमोल—विक्रम० अंक ४ पृ० २२२

और पादटिप्पणी २ व ४ के लिए देखिए Ma…–Kalidas and Music by G. N. Majumdar—Annals of Bhandarkar Research Institute Vol VII

शाखा[1]—नृत्य करते समय बाहुओं की एक विशेष मुद्रा का नाम है। बाहुओं को लहराकर भावनाओं को अभिव्यक्त किया जाता है।

सत्त्व[2]—स्वयं मल्लिनाथ ने सत्त्व को वीणा खूँटी कहा है। अतः पारिभाषिक रूप में ही कवि ने इसको लिया है।

राग—राग शब्द का कवि ने अनेक स्थानों में प्रयोग किया है[3]। अनुमान अवश्य किया जाता है कि चूँकि उसने अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है और उनसे उसका संगीत-सम्बन्धि ज्ञान व्यक्त होता है अतः अवश्य ही राग का तात्पर्य संगीत वाले राग से ही होगा।

भरत मुनि के अनुसार भैरव कौशिक हिंदोल दीपक श्रीराग और मेघ—६ विशेष राग हैं। कवि ने इनमें से कौशिक का विशेष रूप से निर्देश किया है[4]।

कौशिक—कौशिक राग बहुत सुन्दर राग माना जाता है। इसका उल्लेख रामायण में भी है जहाँ कौशिक राग में निष्णात' के लिए कौशिकाचार्य शब्द का व्यवहार किया गया है। मंगल कौशिक सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन वैदिक रागों में गिना जाता था परन्तु श्री के० वी० रामचन्द्रन के अनुसार यह कौशिक राग जिसका व्यवहार शिव को जगाने के लिए किया गया था 'भौंडी ढंग का था'[5]।

सारंग—सारंग का अर्थ है हिरन और इसमें सारंग राग की भी प्रतिध्वनि हुई है। अभिज्ञानशाकुन्तल के नटी के गाने के पश्चात् सूत्रधार कहता है

---

१ शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ ।
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥ —माल० २।८
नोट देखिए लेख—Kalidas and Music by G. N. Majumdar—Annals of Bhandarkar Research Institute Vol VIII

२ प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ —रघु० ८।४१
—वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तन्त्रीणामवस्थानकः मठाकाविशेषः ॥—टीका मल्लिनाथ

३ अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः ।
—अभि० अंक १ पृ० ५
—तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः । —अभि० अंक १ पृ० ५
—तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् । —कुमार० ७।९१

'उत्थापित गीतरागेण लग्निन्या प्रथम तृण । (कुम. उत्तर)
सारङ्गनादिवर्णमा ॥ इस श्लोक में लिखन के साथ-साथ सारग ठीक बैठ जाता है। श्री कि० का० रामचन्द्र इस सारंग में [illegible] भी लेते हैं'।

ललित[1]—ललित शृंगारी राग है और [illegible] हिमके मम [illegible] विरहि [illegible] भार्गी छन्द है, [illegible] विरह के भावों की अभिव्यक्ति विरह के भावों की [illegible] उपयुक्त भय है। इसकी पुष्टि कुमारसम्भव के [illegible] से भी [illegible] 'प्रतिबद्धरागम्' को मल्लिनाथ ने [illegible] [illegible] कहकर स्पष्ट किया है। [illegible] ललित के साथ [illegible] व्यक्ति हो जाती है।

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में [illegible] प्राकृत उद्धरण [illegible] भी [illegible] द्वारा [illegible] [illegible] में [illegible] नहीं है इसमें [illegible] शास्त्रीय गानों का निर्देश मिलता है। [illegible] एक गीत है जिसको नट द्वारा हाथ द्वारा [illegible] के साथ गाया जाता है। [illegible] भी एक गान-प्रकार है। [illegible] अन्य [illegible] का गीत है। संगीत का एक राग है। [illegible] भी एक राग है जिसका [illegible] [illegible] की जाती है। इसी प्रकार [illegible] राग विशेष का नाम है। भी एक प्रकार का राग है जो विशेष वाद्य [illegible] के साथ है। [illegible] भी एक राग था।

[illegible] गीतों के अतिरिक्त [illegible] भी थे जो विवाह [illegible] पर गाए जाते थे। [illegible] में [illegible] की [illegible] में बैठकर गान की प्रथा भी इसी प्रकार [illegible] के समय भी [illegible] [illegible] गीत गाती थी[illegible]

—

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ५
२ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
—अभि० अङ्क २ प
३ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ —कुमार०
४ [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] ॥—रघु० ११२०
५ [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ —रघु० १

बात विशेष रूप से कथनीय है—जहाँ कहीं भी गीत गाने का प्रसंग है वहाँ स्त्रियाँ ही गाती हुई दिखाई गई हैं यद्यपि संगीताचार्य पुरुष ही होते थे।

वाद्य-संगीत—प्राचीन वाद्यविद् लोगों ने वाद्ययन्त्रों को चार भागों में विभक्त किया है (१) तन्त्रीगत (२) आनद्ध तथा अवनद्ध (३) सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त और (४) घन अर्थात् धातुनिर्मित। तन्त्रीगत में समस्त तारों के वाद्य आते हैं उदाहरणार्थ वीणा। अवनद्ध में मुरज पटह, पुष्कर आदि का नाम है। रन्ध्रयुक्त वाद्य वंशी आदि को सुषिर कहा जाता है। करताल आदि धातुमय वाद्यों को घनवाद्य कहते हैं।

अथवा भरत के अनुसार वाद्ययन्त्रों के चार भेद किए जा सकते हैं शुष्क गीतानुग नृत्तानुग और द्वयानुग[1]। इनमें से कवि ने गीतानुग शब्द का प्रयोग किया है और इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[2]।

तन्त्रीगत वाद्य—तन्त्रीगत वाद्ययन्त्र का साधारण नाम वीणा है। 'संगीत रत्नाकर' में उन्नीस प्रकार की वीणाओं का उल्लेख है। एकतन्त्री नकुलोष्ठी किन्नरी मधुकिन्नरी विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा चित्रा घोषवती जया हस्तिका कुब्जिका कूर्मी सारंगी परिवादिनी त्रिशवी शततन्त्री नकुलौष्ठी औदुम्बरी पिनाकी निःशंक पुष्कल गदावारणहस्त रुद्र मधुस्यन्दी स्वरमण्डल और घोष।

कवि ने साधारणतः वीणा शब्द प्रयुक्त किया है[3] परन्तु 'संगीत

१ पुनश्चतुर्विधं वाद्यं भरतेनानुसारतः।
शुष्कं गीतानुगं नृत्तानुगमन्यद् द्वयानुगम्॥
चतुर्भेदमत वाद्यं तत्र शुष्कं प्रयुज्यते।
गोष्ठिना गीतनृत्ताभ्यां तद्गोष्ठीत्यभ्यते बुधैः॥ —संगीतरत्नाकर

२ श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्। —रघु॰
मितमीक्षमिवैत्तमीश्वरम्।
मारव॥ —रघु॰

के वीणा के प्रकारों के अनुसार उसने वल्लकी[1] और प[...] उल्लेख किया है। एक स्थान पर तंत्री[3] का भी प्रयोग [...]

इनमें अवश्य ही थोड़ा-बहुत भेद रहा होगा। वल्लि न और वल्लकी रहा है, वहाँ वे इसी विशेष प्रकार की वीणा है। मल्लिनाथ परिवादिनी को वीणा ही कहते हैं। इसम + परिवादिनी वीणा। वीणा तु वल्लकी। विपंची तु तंत्रीभि सप्त[...]

एओलियन हार्प (Aeolian Harp)—श्री के० वी० मतानुसार प्राचीन भारत, चीन और ग्रीस में एक विशेष प्रकार की वीणा पाई जाती थी जिसे वे 'एओलियन हार्प' कहते हैं। इस वीणा के पृथक मात्राएँ के होते थे और वे उपरियों पर पृथक-पृथक कसे थे। वायु के कम्पन से उसके प्रवाह के अनुसार स्वर उत्पन्न होते थे और इनके मिश्रण से दिव्य संगीत की उत्पत्ति। इसका उदाहरण श्री राम जी निम्नलिखित श्लोक से देते हैं—

> स्वच्छिद्रमापद्‌यमया समस्त पूर्वमिभिन्नमनिर्मदम्य स्वरैः ।
> स्फुरीभवद्‌ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणा मरुता मधुव्रताः ॥

कवि कालिदास ने भी इसी 'एओलियन हार्प' का स्पर्श में भारत में संकेत किया है। वायु के स्पर्श से तारों के कम्पन द्वारा उत्पन्न संगीत को सुनकर इन्दुमती ने सदा के लिए आँखें बन्द कर ली थीं। संगीत-शास्त्र के अनुसार राग तीन ग्रामों में पाए जाते थे। षड्ज और मध्यम। गांधार ग्राम केवल देवताओं द्वारा ही प्रयुक्त होता था किन्नर गन्धर्व द्वारा। इनके मतानुसार 'एओलियन हार्प' इसी ग्राम में रहती थी जो मनुष्यों द्वारा न बजाई जाकर, वायु के कम्पन से बजती थी[4]।

---

१ प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ —रघु० ८।४१
—मधुकरकोलाहलविलीनमिश्रितविप्लवे पुन[...] मन्मथ । कालु०

२ भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ —रघु० ८।३५

३ मूर्छितसौंध मन्मथ दीपमं तन्त्री निशीथप्रमदानि वादिन । —रघु०

४ Kalidas and Music by K. V. Ram Chandran
Journal of U. P. Historical Society Vol XXII Pts 1 2 (194

वीणा सदा गोद में रखकर बजाई जाती थी ऐसा कई स्थानों पर संकेत मिलता है[1]। स्वयं कवि वीणा बजाना जानता होगा अन्यथा इन्दुमती के मृत शरीर को अज न उसी प्रकार अपनी गोद में रख लिया जैसे वीणा मिलाने के लिए गोद में रख ली जाती है यह उपमा उसे कभी न सूझती। इसी प्रकार वीणा के तारों के भीग जाने से उसकी ध्वनि में दोष उत्पन्न हो जाता है यह वह जानता होगा इसीलिए 'यक्ष-पत्नी अपने आँसुओं से भीगे वीणा के तारों को पोंछ लेती थी' ऐसा उसने कहा है[2]।

सुषिर अर्थात् रन्ध्रयुक्त वाद्य—इन बाजों में शंख शृंग तथा बंसी के समस्त प्रकार आते हैं। कवि ने सुषिरवाद्यों में वेणु[3] कीचक[4] शंख[5]

१ उत्संगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्। —उत्तरमेघ २६
—वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥—रघु १९।३५
देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं० १ —रघु ८।४१
—अंकमंकपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी च हृदयंगमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना॥—रघु १९।१३
२ तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती। —उत्तरमेघ २६
३ वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः। —रघु० १९।३५
४ सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुंजेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ —रघु २।१२
—यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥
—कुमार० १।८
—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः... ... ...—पूर्वमेघ ६०
५ पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशंखे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे॥ —रघु० ६।९
—तं प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः। —रघु ७।६३
शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।

पूर्व[1] को लिया है। इसका संकेत ही उसके ग्रन्थ म ... विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जायगा।

शंख मांगलिक वाद्य है। विवाहादि मांगलिक अवसरों पर इसका उपयोग किया जाता था। तूर्य भी मांगलिक वाद्य है। इसे मङ्गलवाद्यों में मानते हैं[2] पर कवि के ग्रन्थों में इसका युद्ध के समय इसका प्रयोग किया जाता था।

एओलियन फ्लूट (Aeolian Flute)—एओलियन ... प्रो० के० बी० रामचन्द्रन् एओलियन फ्लूट की कल्पना करते हैं। पवन के प्रवाह से आप ही बजने लगती है, ऐसा उनका विश्वास है

> यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन,
> उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥

टीकाकार के मतानुसार इसके दो अर्थ हो सकते हैं या तो षड्जस्वर अथवा तान का गुण संचित था अथवा किन्नरों के गीत के थे। श्री रामचन्द्रन दूसरा अर्थ लेते हुए कहते हैं कि यह कीचक ... के अनुसार इधर-उधर तानादि लेते थे और यह वायु के वहन से आरो... होता था। इसकी पुष्टि वे दूसरे श्लोक से करते हैं—

> स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
> शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ —रघु०

---

१ सुरगजः मंगलतूर्यनिस्वनाः प्रयोन्मुखे सह चारणादिभिः ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥—रघु०
देखिए पिछले पृ० की पादटिप्पणी सं० ५ —रघु० ११९
—प्रमाणेन सर्वाणि सन्निहितानी मङ्गलनिर्घोषविनादमुपाय ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां प्रत्यावभाषे च पुनः सुतानाम् ॥ —रघु०
—पुष्पसम्प्रदायानां पूर्वाणां तस्य पुत्रिण ।
आरम्भं प्रथम चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ —रघु० १०।७६
—निम्नपूर्णनिर्घोषस्तुतो विनिता
संयोज्य तस्य वपुः पुण्यमाल्यकलापा —रघु० ११।८०
—मङ्गलमादिग्नमपरापौर्वे वादमार्गे वपुषानुपूर्वं ...
निनदं मुखरितं विविधप्रकारं नदति यत्तदा ॥ —किरा० ७।१२

२ इण्डिया इन कालिदास पृ० २२७

जब दिलीप वन में प्रविष्ट हुए तब उन्होंने वनदेवताओं को उच्च स्वर से अपना यश गाते हुए तथा एओलियन फ्लूट (कीचक) को उनके संगीत का अनुकरण करते हुए सुना।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उद्गीयमान या उद्गास्यमान का अर्थ यहाँ गान्धार ग्राम में गाना है, जिसका देवतागण ही प्रयोग करते थे अथवा जिसका देवयोनि के किन्नर, गंधर्व उपयोग करते थे।

> शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
> संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
> निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
> संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥—पूर्वमेघ १

इन सभी श्लोकों में कीचक बाँसों की तरह ही विविध ध्वनि करते हैं यह कवि द्वारा प्रदर्शित किया गया है। अन्तर यही है बाँसी मनुष्य द्वारा बजाई जाती है और कीचक वायु द्वारा स्वतः ध्वनि उत्पन्न करते हैं। अपेक्षा इसके कि यह कहा जाय कि वायु बाँसों में प्रविष्ट होकर सुन्दर ध्वनि उत्पन्न करती है, यह अधिक अच्छा है कि इसको एओलियन फ्लूट की संज्ञा दी जाय। डाक्टर कर्न के मतानुसार यह एक विशेष प्रकार की लम्बाई का बाँस है जिसे एक ऊँचे पेड़ पर रख दिया जाता है। इसकी गाँठों पर छेद कर दिए जाते हैं। हवा के चलने पर इनसे ऐसी सुन्दर और तेज ध्वनि उत्पन्न होती है कि वह बहुत दूर से भी सुनी जा सकती है। ग्यारहवीं शताब्दी की कविता 'अर्जुन-विवाह' में इसका प्रसंग है। जावा में आज भी यह एओलियन फ्लूट है और इसका नाम 'सुन्दरी' है।

महाराज उदयन की घोषवती वीणा खो जाने के पश्चात् बाँसों के झुरमुट में पड़ी थी तब उस पर स्वाभाविक हवा और बाँसों ने मिलकर ऐसा सुन्दर संगीत उत्पन्न किया था कि उसे सुनकर तत्काल ही राजा ने उसे प्राप्त कर लिया। उसकी यह वीणा आप ही बज रही थी और बाँसों से ध्वनि आप ही निकल रही थी। कारण केवल वायु का चलना था[1]।

अवनद्ध वाद्य—इनमें चर्मबद्ध वाद्य आते हैं। कवि ने इस वर्ग के

अन्तर्गत मुरज १ पुष्कर २ मृदंग ३ दुन्दुभि ४ पटह ५ मरस ६

१ शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ —पूर्वमेघ
—पैर्यायसम्भिन्नमपि स्वरमस्ति मा मुरजवाद्यरागोऽस्मम् ।
अवतरत मिश्रितपर्व दत्त- स्वमनोरमस्येव ॥
—धिक्करामकामैषाना भाग्यस्थे यत्र वामनाम् ।
अनुपजितवर्तिका करणीमुरजध्वना ॥ —कुमार०
—विपत्वर्त्त हस्तितवनिता सेन्द्रचापं सचित्रा
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम् । —उत्तरमेघ
—यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
२ आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं ।
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ —उत्तरमेघ ५
—स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु०
—जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥ —माल
३ मायूरी मर्दयन्ति—माल० अंक १ प० २०१
—मस्यानमर्वाद्गन्धोपमान प्रमत्तमगोत्रमर्गपार । —रघु० ११।८८
—आरम्भितं यत्नमहाम्बराणम दंगपीरध्वनिमनवद्यम् ।
बन्धेरिनामी मरियैस्वरम शृंगारतं शोभति दीर्घिकानाम् ॥
—पावन संधूपनि स्कमाणां पीतावर्त वारिमृदङ्गवाद्यम् । —रघु० १६।१
—कामिनीमन्थरस्य कामिनमस्य च मधु मर्दगतानि । —रघु० १६।६४
४ पुत्रजन्मप्रवेशानां तूर्याणि तस्य पुत्रिण
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ —रघु० १०।७६
५ उत्थित स रुणसदनमादौ पटपटहस्वनिभिर्विनीतनिद्रः । —रघु० ९।७१
सुगोस्तमोमन्मानुयस्यां हिस्तदोन्मनमन्त्र । —रघु० २।१
—व्यायदावस्थानि रन्ध्रपटना मुरेन्द्रार्थे दयलार्थदिनुन्म् ।—रघु० ७।१४

मुरज पुष्कर एवं मृदंग में क्या भेद है, इसका संकेत कवि के ग्रन्थों में नहीं है। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में नेपथ्ये मृदंगध्वनि इसके बाद है— पुष्करस्य मायूरी मदयति मार्जना मनांसि" (श्लोक २१) इस पर राजा कहता है, 'मैं विकल्पितमपि त्वरयति मां मुरजवाद्यरागोऽयम्'। अतः स्पष्ट ही या तो कवि के समय तक आते-आते भेद लुप्त हो गया था या भेद इतना सूक्ष्म था कि कवि उससे अवगत न था।

पुष्कर का अर्थ वायु, जल मेघ और वाद्य विशेष है। प्रारम्भिक पुष्कर सब भांड (Pot Drums) होते थे। कवि ने 'मार्जना' शब्द का प्रयोग (मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक श्लोक २१ में) किया है, जिससे उसे पृथक्-पृथक ग्राम में मिलाने का आशय है। एक टीकाकार के अनुसार 'मायूरी' वो मयूरों को बादल की ध्वनि के सदृश लगी थी का बायाँ भाग 'स' से बायाँ न से और ऊपर का म से मिला था। मुख्य स्वर 'म था जो मालविका के प्रेम-प्रसव के बिलकुल अनुकूल था। इसीलिए 'मध्यमस्वरोत्था मायूरी' शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है। तीन स्वरों से यह मिलाया जाता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसके तीन मुख होते थे। इस पर वायु, जल और मेघ का प्रभाव पड़ता था। कवि को इसकी आवाज मेघ से बहुत मिलती हुई लगती थी[१]।

संगीत में 'जल' का भी विशेष महत्त्व है। जलतरंग में जल की क्या महत्ता है यह संगीतकोविदों से छिपा नहीं है। कालिदास ने जिस प्रकार पुष्कर पर जल और मेघ का प्रभाव दिखाया है उसी प्रकार रघुवंश के १६ वें सर्ग में प्रमदाओं का जल-क्रीड़ा करते समय हाथों के थपेड़ों से मृदंग की-सी ध्वनि करना दिखाया है।

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।

श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदंगवाद्यम्॥ —रघु १६।६४

इसके विषय में डाक्टर कुमुद का कहना है कि जल में अथवा जल के ऊपर हाथों को खड़े अथवा पड़े ढंग से विभिन्न प्रकार द्वारा लयपूर्ण प्रहार करना 'विजल्प' कहलाता है। मृदंगवाद्य के बजाने का एक विशेष ढंग भी विजल्प कहलाया। इस प्रकार वाद्य को मृदंग का एक प्रकार ही 'विजल्प' कहलाने लगा[२]।

पुष्कर शब्द का अब एक विशेष अर्थ भी है किंकिणी के ध्वनि के सदृश होती है। किंकिणी की अन्यत्र प्रतीक लिया गया है। पथिक प्रायः हंसों की ध्वनि की करधनी की किंकिणी की आवाज समझ बैठते थे। नूपुरों की ध्वनि के साम्य होने के कारण प्रीतकाल में हंसों स्त्रियां के नूपुर में बांध माना जाता था। वाल्मीकि मुनि भी जिसका उल्लेख वाल्मीकि के आधार पर कालिदास ने कई ध्वनियों का एकत्र उल्लेख मिलता है जिसमें प्रमोदवन द्वार बन्द और पक्षियों की ध्वनि मुखर है। कालिदास ने पथास्वर में इस विभिन्न वाद्य का समागम व्यक्त किया है जो सदा मृदंग स्त्रियों का मुखरित करती थे परन्तु जिनके उद्गम का पाता था। वे माना मन्वन्तरपर्यन्त से प्रवाहित होते थे[1]।

घनवाद्य—इसके अन्तर्गत केवल घण्टा का नाम कालिदास के मिलता है[2]।

नृत्य, संगीत अथवा नृत्यकला

नृत्यकला में नृत्य के तीन भेद माने गए हैं—नृत्त (ताण्डव) नृत्य (और लास्य। नृत्त में भाव नहीं होते नृत्य में भाव होते हैं। नृत्त में

The cheilon has also given its name to a certain way of d playing thus the cheilon afterwards became the name one of the drum form themselves

—Kadis & Music by K V Ram Chandran Journal U P Historical Society Vol. XXII Pts I II (1949

१ रम्यमुत्सेषमिनी ... पंचाप्सरा नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ —रघु० १३।३८
—पुरा स दर्भांकुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पंचाप्सरो यौवनकूटबन्धम् ॥ —रघु० १३।३९
—तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥
—रघु० १३।४०
२ रघो [illegible] विरते [illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० ७।४१

ओज है, कठोरता है, नृत्य में सुकुमारता और स्त्रीत्व। नाट्य में भाव रस और अभिनय का समन्वय है।

स्वयं कवि ने नृत्त और नृत्य दोनों का उपयोग किया है और दोनों को स्पष्ट भी किया है कि महादेव जी ने किस प्रकार उमा से विवाह कर अपने शरीर में नाट्य के ताण्डव और लास्य दो भाग कर दिए है[1]। अतः वे नृत्य के दो भेद ताण्डव और लास्य स्वीकार अवश्य करते है।

यद्यपि नृत्त और नृत्य दोनों का कवि ने उपयोग किया परन्तु ऐसा आभासित होता है कि वस्तुतः उन्होंने नृत्त और नृत्य का भेद नहीं माना है। मयूर के नृत्य के लिए नृत्त और नृत्य दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है[2]। इसी प्रकार मालविका के नृत्य में भाव के साथ-साथ रस का भी उल्लेख है, पर उसने उसे 'नृत्त' कहा है[3]।

यदि एक ओर वे भी महादेव जी के ताण्डव नृत्त का वर्णन करते है[4] तो दूसरी ओर वे वारयोषितों के नृत्य का विशद उल्लेख करते है[5]। यह नर्तकियाँ

---

१ देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम्॥ —माल० १।४

२ पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे॥ —रघु ६।९

—उद्गलितदर्भकवला मृगाः परित्यक्तनर्तना मयूराः। —अभि ४।१२

३ वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामाविटपसदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्॥ —माल० २।६

पुत्रजन्मोत्सव पर भी नृत्य किया करती थी१ और वैसे
के लिए भी२।

नृत्य के प्रकार—ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के
का बड़ा चलन था। स्त्रियाँ हाथ में चामर लेकर तरह-तरह
द्वारा नृत्य करती थी३। इसी प्रकार बाहुओं को पताकाओं की
कर नृत्य करना भी नृत्य का विशेष प्रकार है इसमें
रहता था४। नृत्य का एक प्रकार 'छलिक' भी है, जिसे

नृत्य के साथ संगीत का भी आयोजन रहता था।
हाव भाव गीत रस सब ही थे५। इसी प्रकार रघुवंश में उन्होंने

१ पुत्रजन्मा मंगलतूर्यनिस्वना प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ......

२ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृतलोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनी पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु

—वारनृत्यविरमे च तस्य तं स्वेऽभिगम्य विनयार्द्र परिश्रमात् ।
प्रमदतानिमित्त सिक्तस्वेदबिन्दुमलकैरुपाश्रये ॥—रघु०

—संयमनवनावसरं मिव स्त्रीव नृत्यमुपाय दधयत् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसंनिधौ ॥—रघु

३ पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः ।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान् ॥—पूर्वमेघ ३९

४ धुतिमुखभ्रमरस्वनगीतया कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलता पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ —रघु० ९

—मुखविकसितविकसितपताकं नृत्यति कल्पतरु ।—विक्रम० ४।१२

—गर्वोदिशितबाहुप्रवर्धमानोत्सव... मेघार्थिनृत्यति हरविनिमनिषिद्धाय

—शौरसेनिलिखितम नृपितिः सम्यपम —विक्रम०

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥—माल० २।८

देखिए, पाद-टिप्पणी सं० ४ —माल० २।८

गीत प्रदर्शित किया है[1]। नृत्य सिखाने वाले नाट्याचार्य कहलाते थे[2]। 'लासक' शब्द का प्रयोग भी कवि ने नृत्य-शिक्षक के लिए किया है[3]।

नृत्य और अभिनय—जैसा पहले कहा जा चुका है कि नृत्य का तीसरा प्रकार नाट्य है जिसमें नृत्त और नृत्य दोनों का समन्वय है या दूसरे शब्दों में भाव रस और अभिनय तीनों का समन्वय नाट्य था। अभिनय के द्वारा चित्त वृत्ति का साधारणीकरण मालविका के नृत्य की विशेषता थी[4]। मालविका ने अभिनय के द्वारा अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त किया था। अभिनय के अर्थों को कवि नृत्य के साथ ही लेता है। आंगिक वाचिक आदि अभिनय का नृत्य से क्या सम्बन्ध है यह रघुवंश में कवि ने भली प्रकार व्यक्त किया है[5]। मालविका के—

जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्या स्वांगनिर्देशपूर्वं।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥

श्लोक में 'वचनमभिनयन्त्या' में वाचिक अभिनय स्वांगनिर्देश में आंगिक तथा व्यक्त प्रेम सात्त्विक अभिनय में आता है। मल्लिनाथ 'सत्त्वं अन्तःकरणं' कहकर स्पष्ट करते हैं[6]। मालविका के पंचांगाभिनय से गीत वाद्य और नृत्य ये ही तीन आंगिक सात्त्विक तथा वाचिक अभिनय से कवि का आशय होगा। मालविका का छलिक नृत्य भी इसी की पुष्टि करता है।

निस्सन्देह कवि संगीतज्ञ था। संगीत-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों को प्रदर्शित करना इसकी पुष्टि करता है। बेसुरे स्वर को दारुण समान कहना * राग के पूर्व

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४ —रघु० १।१५

२ सम्पूर्ण मालविकाग्निमित्र में नृत्य-शिक्षक के लिए नाट्याचार्य शब्द आया है।

३ नवजलकणसङ्गाच्छीततामादधानः कुसुमभरनतानां लासकः पादपानाम्।
जनितरुचिरगन्धः केतकीनां रजोभिः परिहरति नभस्वान्प्रोषितानां मनांसि॥
—ऋतु० २।२०

४ जनमिममनुरक्तं विद्धि नाथेति गेये वचनमभिनयन्त्या स्वांगनिर्देशपूर्वम्।
प्रणयगतिमदृष्ट्वा धारिणीसंनिकर्षादहमिव सुकुमारप्रार्थनाव्याजमुक्तः॥
—माल २।५

५. अंगसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।

वर्ण परिचय [१] सावधान[२] तत्पश्चात् गीत गाना[३] संगीत के साथ ही ताल के लिए मुरज पुष्कर अथवा मृदंग का होना पीछे अनुकरण करना[४] उसके संगीत-सम्बन्धी ज्ञान का परि भी तानपूरा या सारंगी गाने के साथ-साथ बजती रहती पखावज ताल के लिए प्रयुक्त होता है।

कवि ने सफल संगीत का कामगुण के रूप में किया है[१]। राजन्नित संगीत में डूबा रहता था। वह कामी राजा भवनों म न्नित-राग पड़ा रहता था जिसम बराबर मृदंग बजते प्रतिदिन ऐसे एक-से-एक बढ़कर उत्सव होते थे कि उनके आगे उत्सव फीका पड़ जाता था[१]। इन्दुमती ने बल से ही क्री की थी[०]। अत राजभवन में संगीत प्रतिदिन होता था। राजा संगीत म इतना रुचि रखने लगा था कि वह रानी की हो गया था[८]। अग्निमित्र को निर्णायक बनाना[१] इसकी पुष्टि

---

१ जाव तत्रभवतो हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति। —अभि॰ अंक

२.१ उत्थाय गत्वा अनुष्ठस्वस्तु गायति। —माल॰ अंक २

४ पीठ बजाया जा चुका है। देखिए, बाद पंत—मृदंग गोवध

५. मुर्तीविगीर्ण मरमस्य वीरमं गुणी निशोधेन्नुमबन्धि कामिनः।
—म वास्तवीकार्यभणीवनिस्वनैर्विबोध्यते मुख इवाय मन्मथ।

—अंगमनाविलमोचिते तम्य निम्नगुरुणुम्नवामुभे। —रघु
वस्नवी च हुरंगमस्तका वामुवागरि च बामम्नेषना॥ —रघु॰ १
—अमुना दयनीडितापरा बीणया मनसारिकोरव।
निष्काय उमदेन वैभिजम्भं विश्लिष्यमयना प्रलाभयत्॥

६ कामोमीमवृत्तस्य कामिमसजस्य कम्ममु मर्थमान्दु। —रघु॰ १
मार्गविमयमपरिजितपु पूवमुज्यवमपोरकुमव॥ —रघु॰ १६५

७ मृत्नमी सखिव सती मिथ: निवशिल्पा ललिते कलाविधौ। —रघु १६

८ यदि राजकार्येष्वीश्वरस्यावनिपुणत्वानुज्ञम्य तत् योग्यं भवत्।
—माल॰ अंक १ पृ॰ २०

९ अनभवत चित्र मम च अनुभवप्यमयोरिकामवर्गविधि अग्रभवानिमं मां च प्राश्न प्रयोगे च विमृशतु। देव तव भी विशदज्ञ प्राश्निक॥
—माल॰ अंक १ पृ॰ २०१

संगीतज्ञ था। अग्निवर्ण भी नृत्य का आचार्य था और वह नर्तकियों की संगीत सम्बन्धी अशुद्धियों को ठीक कर देता था जिनसे उनके शिक्षक लज्जित हो जाते हैं[1] ।

संगीत और नृत्य का इतना अधिक प्रचार था कि संगीतध्वनि से नगर सदा प्रतिध्वनित रहते थे। अलकापुरी मृदंग के सदृश वाद्य-यंत्रों से सदा गूँजती रहती थी[2]। नृत्यकला की शिक्षा वारयोषिताओं के अतिरिक्त कुलीन कन्याएँ भी लेती थीं। मालविका और रानी इरावती दोनों नृत्यकला में दक्ष थीं। 'संगीत-शाला'[3] संगीत के प्रति लोगों की आस्था का प्रमाण है। संगीतशाला की तरह नाट्यशाला भी थी जहाँ नृत्य आदि किया जाता था। मालविका का नृत्य ऐसी ही नाट्यशाला में हुआ था।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़ा, कागज, लकड़ी आदि कोई भी वस्तु हो सकती है, जिसपर चित्रकार तूलिका अथवा लेखनी से भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं और जीवधारियों की आकृति अंकित कर सके। अपनी तूलिका अथवा शलाका द्वारा समतल धरातल पर स्थूलता, न्यूनता, दूरी, निकटता प्रदर्शित करना ही उसकी प्रतिभा एवं कलानैपुण्य है। चित्रकार अपनी चित्रकला के द्वारा मानसिक सृष्टि का सृजन करता है। किसी घटना, दृश्य अथवा व्यक्ति को चित्रित करने के लिए उसके बाह्य अंगों के साथ सजीवता लाना भी उसके लिए वांछनीय है। अतः मानसिक भावों की सजीव सृष्टि ही उसकी सफलता का मानदण्ड है।

काव्यकला की तरह चित्रकला भी आन्तरिक अभिव्यक्ति का सुन्दर माध्यम है। कालिदास को जितने काव्य, नाट्य, संगीत प्रिय हैं उतनी ही चित्रकला। उस समय के समाज में भी इस कला के प्रति कितनी रुचि और सम्मान भाव

---

१ स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ —रघु० १९।१४

२ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः

था यह कवि के ग्रन्थों से स्वतः सिद्ध हो जाता है। चित्रशाला[1] और चित्रशाला[2] दोनों शब्द जनता की अभिरुचि तथा चित्रप्रियता [illegible] करते हैं। इसी चित्रशाला की तरह भवभूति ने उत्तररामचरित में वीथिका शब्द का प्रयोग किया है, जहाँ दीवारों पर [illegible] किए गए थे।

कवि ने चित्र[3] तथा प्रतिकृति[4] दो शब्दों का चित्रकला के [illegible] किया है। जिस पर रखकर चित्र खींचा जाता था वह चित्रफलक[5] था। यह एक लकड़ी का चौकोर तख्ता था।

'चित्रलेखा'[6] और 'वर्णराग'[7] शब्दों से व्यक्त होता है कि पहले रूपरेखा खींचकर रंग भरे जाते थे। रंगों के लिए गीले रंगों का [illegible] था (Water Colour) क्योंकि जब राजा चित्रशाला में प्रविष्ट हुआ चित्र प्रत्यग्रवर्णयुक्त गीले थे। ये चित्र सुखाने के लिए लटका दिए जाते थे। ये चित्र वस्त्र पर बनाए जाते होंगे या कागज पर।

---

१ चित्रशाला गता देवी यथा प्रत्यग्रवर्णरागां [illegible] [illegible] निर्व्यति। —माल० पृ० २६४

२ तपोवनावस्थितमिन्द्रियार्थानामनुरागा सहसा चित्ररागम्। —रघु० १४।२८

३ मालविकामुपगतामपहाय मूर्ख चित्रलिखितां पुनरिमां बहुमन्यमानः।
—अभि०

—इयं चित्रगता भट्टिनी। —अभि० पृ० १११

—न जातो देव्या प्रत्यग्रवर्णरागं चित्रं दृष्टं। —माल० अं० १ पृ० २६१

—तस्मिन चित्रगतो भर्ता। —माल० अंक ४ पृ० ३१५

४ इवि में प्रतिकृति निर्वर्तति। —माल० अंक ६ पृ० १२०

—तत्र स चित्रकृताफलका स्मरस्त्विन्निगता तत्रभवत्या शकुन्तलायाः [illegible] मानयति। —अभि० पृ० १०८

—अथवा तत्रभवतो तपस्या प्रतिकृति चित्ररम्य आलिख्यारमोदयिष्यामि
—विक्रम० पृ० ११

५ देवि वर्तिकाफलकं में ४ —अभि० प० १ [illegible]

—तत्र मे चित्रफलकगता चित्रवर्णावसाराधार ॥ —अभि० प० १[illegible]

—आर्य माधव्य अवलम्बस्व चित्रफलकम्। —अभि० प० ११५

देवि, वर्तिकादी मं० ४ —विक्रम० प० १७८ अथवा तत्रभवता

६ ● देवि, वर्तिकादी में १ —माल० प० २६४ चित्रशाला इत्या

तिलक मंजरी (पृ० ७१ १७१) में सबसे प्रथम भित्तिचित्र शब्द आया है। कवि कालिदास ने भी भित्तिचित्रों का प्रसंग दिया है। घर की दीवारों को तरह-तरह के चित्रों से अंकित किया गया है। सद्मसु चित्रवत्सु'[1] 'सचित्राः प्रासादाः'[2] में जहाँ सुन्दर चित्रों की पेण्टिङ्ग से युक्त सौन्दर्य के प्रतीक प्रासाद मेघों के सम्मुख झूम जाते हैं वहीं द्वार पर लिखित शंख पद्म आदि के चित्र[3] कलाप्रियता और सौभाग्य दोनों की अभिव्यक्ति करते हैं।

एक प्रसंग मेघदूत में भी चित्रों का आया है, कि मेघ वायु के झोंकों के साथ वहाँ के भवनों के ऊपरी खण्डों में घुसकर चित्रों को अपने जल-कणों से भिगो कर नष्ट कर देते हैं[4]। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ये भित्तिचित्र थे या भूचित्र। व्यक्ति इतने कलाप्रिय थे कि घर के तोरण पर स्वस्तिकरूप कमल शंख आदि के चित्र बनाते थे[5]। ऐसे भित्तिचित्र भी थे जिनमें केलिदृश्यों के चित्रण थे जिनमें हाथी कमल के ताल में उतरते दिखाए गए थे और हथिनियाँ उन्हें सूँड से कमल की डंठल तोड़कर दे रही थीं[6]। अजन्ता के चित्रों की तरह

---

१ तमोवशार्थिर्मिर्तभर्त्रियार्थिनासेदुषो सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥
—रघु० १४।२५

२ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः। —उत्तरमेघ १

३ एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा। —उत्तरमेघ १०

४ नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमि
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ —उत्तरमेघ ८

तोरणेन।

कालिदास ने भी शिला पर गैरिक आदि धातुओं से मनस्विनी का चित्र बनाना कहा है[१]।

चित्रकला के उपकरण—चूँकि पीले एवं मूँगे नाना प्रकार के चित्र . है इसलिए तूलिका[२] तथा वर्तिका[३] (Brush & Colour Pencils) . कवि ने कदाचित् इसी विभिन्नता को दिखाने के लिए प्रयत्न किए हैं। . भी इसी प्रकार की वर्तिका का कोई प्रकार प्रतीत होती है, जिससे रूपरेखा बनाई जाती थी। कूंच तूलिका की तरह ही था। यदि . तूलिका को मोटी नोक वाली कलम कहते हैं और कूंच को ब्रश। . से दो बातें प्रतीत होती हैं प्रथम यह कि कूंच के दो प्रकार थे लम्बे और दूसरे कूंच आजकल के ब्रश की तरह बाला की कोई वस्तु थी जिसमें रंग लगाया जाता था। जिस बक्स में चित्रकला के लिए आवश्यक वस्तुएँ संग्रहीत . वह 'वर्तिकाकरण्ड'[५] कहलाता था।

चित्र की रूपरेखा बनाने के लिए काली पेन्सिल प्रयुक्त होती धातुराग भी चित्र की रूपरेखा के लिए प्रयुक्त किए जाते थे[६]। . . अनुसार धातुराग में गैरिक तथा अन्य धातुएँ हैं[७]। चित्रकार पहले चित्र

---

१ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ —उत्तरमेघ ४७

२ उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमार० १।३२

३ गच्छ वर्तिकां तावदानय। —अभि० अङ्क ६ पृ० ११५

४ तां दृष्टिमा गुणवा गभीरां ..... मराम।
..... रसावसाने ॥ —कुमार १।..
—तस्याः ..... वाल्मिभु .....।
ता बोध ..... ॥—कुमार० १।४८

५. यथार्हं पश्यामि पूर्ववृत्तान्तं चित्रगतं ..... तामाला .....
—अभि० पृ० १११

६ वर्तिकाकरण्डं गृहीत्वाऽगतं प्रतिपालयामि। —अभि० पृ० ११६

७ देखिए पादटिप्पणी सं० ४ —तस्याः ....

८ देखिए पादटिप्पणी सं० १ —त्वामालिख्य प्रणयकुपितां..........

९ धातुरागाद् .... इति मल्लि। —उत्तरमेघ ४७

स्थूल रेखाएँ खींचते थे जो रेखा[1] कहलाती थी। यह रूपरेखा कवि की सम्मति में लाल चाक से जिसे 'गैरिक' कहते थे खींची जाती थी। काली पेन्सिल भी रेखा के लिए प्रयुक्त की जाती थी।

वर्ण—चित्र में रंग की बड़ी उपयोगिता थी। लाल पीला भूरा आदि रंगों का सम्मिश्रण चित्र को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करता था[2]। रंगों का ठीक-भरा जाना ही सौन्दर्य की वृद्धि मे सहायक था[3]।

चित्र के प्रकार

(१) सामूहिक चित्र—मालविकाग्निमित्र प्रथम अंक में रानी के साथ दासियों में मालविका का चित्र था[4]। इसी प्रकार शकुन्तला के चित्र में उसके साथ उसकी दोनों सखियाँ भी थीं[5]।

(२) व्यक्तिगत चित्र—यक्ष का पत्नी का चित्र बनाना[6] पत्नी का पति का चित्र बनाना[7] पुरूरवा को उर्वशी का चित्र बनाने के लिए विदूषक का कहना[8] पार्वतीजी का शंकरजी का चित्र बनाना[9] पूजा-गृह में दशरथ का चित्र

---

१ दयितामुखस्य सुखमपि रेखाप्रिय प्रथम दृष्टेयम्। —मालविका २।८
—तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्। —अभि० ६।१४

२ रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सन्ध्ययानया वर्तिकाभिरिव साधुमण्डिताः ॥—कुमार ८।५४

३ उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमार १।३२

४ उपाचारान्तरमेकासनोपविष्टेन भर्त्रा चित्रगताया देव्याः परिजनमध्यगता-मासन्नदारिकां दृष्ट्वा देवी पृष्टा। —माल० पृ० २६४

५ भो इमास्तिस्रस्तत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वाश्च दर्शनीयाः। कतमात्र तत्र भवती शकुन्तला।—अभि० पृ० ११४

६ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्। —उत्तरमेघ ४७

७ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ २६

चित्रफलक आलिख्याग्रतोऽर्पयितव्यः।

होना प्रदर्शित करता है[1] कि अकेले व्यक्ति का चित्र भी बनाया जाता था।

(२) वस्तुचित्र—उत्तरमेघ में द्वार पर शंख पद्म का चित्र होना प्रकार एक स्थान पर दासी का विदूषक के लिए आलेख्य वानर इव[2] कह प्रमाणित करता कि इन सबके चित्र भी बनाए जाते होंगे मुद्रा स नाट बड़ा होना[3] आदि वस्तुचित्र के सजीव उदाहरण हैं।

चित्र की सजीवता के लिए पृष्ठभूमि को महत्ता दी जाती थी। दु शकुन्तला के चित्र में मालिनी नदी हंसों के जोड़े मयूर, हरिण आदि वस्तुएँ बनाता है। यहाँ तक कि पेड़ों पर वल्कल टाँगना भी नहीं शकुन्तला के स्तनों के बीच तन्तुमाला और कानों में शिरीष के बनाता है[4]।

स्मरणशक्ति से चित्र खींचना (Memory Drawing)— को देखकर चित्र बनाने को कवि न स्थान न देकर स्मरणशक्ति को महत्ता दी है। व्यक्ति अपनी भावनाओं के अनुसार कल्पना कर उसके उचित परिवर्तन भी उपस्थित कर सकता था। विरहतनु भावगम्यं इसका प्रमाण है कि विरह के कारण स्वामी इतना क्षीण हो गया होगे कर (यक्षपत्नी) यक्ष का विरह से दुर्बल शरीर चित्रित करती है। दु स्मृति के द्वारा शकुन्तला का चित्र बनाता है। पन का पानी का

---

१ [illegible] ।—रघु० १

२ अहो आलेख्यवानर इव विभाति [illegible]

—विक्रम०

३ [illegible] पक्षिवासिन ।—मा० अंक १ प० २

४ कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥—अभि० ६
—[illegible]
[illegible]

५ मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।—उत्तरमेघ

चित्र बनाना, पार्वती का शंकर का चित्र बनाना, पुरूरवा का उर्वशी का चित्रांकन करना इसके प्रमाण हैं।

सफलता—कवि ने चित्र के लिए प्रतिकृति शब्द का प्रयोग बहुत किया है। अतः चित्र वही अद्वितीय सुन्दर था जो बिल्कुल ऐसा लगे कि वही व्यक्ति हो। मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र का चित्र इतना सजीव था कि मालविका राजा को प्रेमपूर्वक इरावती की ओर देखते हुए देखकर डाह से मुँह फेर लेती है[1]। तत्पश्चात् स्वयं अपने मन की इस अवस्था पर दुःखी होती है[2]। शकुन्तला के चित्र की भी यही विशेषता थी। सानुमती का कथन 'एवा राजर्षे निपुणता' आदि सख्यप्रमा में यथा इति विश्वास दिलाता है कि उसे अवश्य ही ऐसा लगा होगा कि शकुन्तला साक्षात् होकर सम्मुख खड़ी है[3]। भवभूति ने भी 'वीथिका' में सम्मुख रामायण के चित्र इतने सुन्दर दिखाए हैं कि सीता देखते देखते इतनी तन्मय हो गई कि उन्हें बताना पड़ा, याद दिलाना पड़ा कि यह चित्र है सत्य नहीं (अयि चित्रमेतत्)।

चित्र की सफलता के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—

(१) वर्ण (Colour) (२) भाव (Expression) (३) आलेखन (Drawing)। कवि ने इन तीनों की उपयुक्तता और समन्वय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रत्यक्षदर्शन मालविका के चित्र पर दृष्टि जाते ही राजा ने जिज्ञासा की कि यह कौन है। शकुन्तला के मुख का भाव इतना सजीव एवं स्वाभाविक था कि स्वयं विदूषक को बहुत आश्चर्य हुआ था कि वह कह उठा 'इसके अंग-अंग आपने इतने सुन्दर बना दिए हैं कि इसके मन के भाव ठीक-ठीक उतर आए हैं[4]। चित्र बन चुकने के पश्चात् आलेख्यगत अथवा चित्रार्पित' कहलाता था। संस्कृत-साहित्य में 'चित्र' धातु का बहुस्थलों में प्रयोग किया है।

१ बकुला—(आत्मगतं) चित्रगतमर्तारं परमार्थत मंकल्प्यासूयति।
—माल० प० १२६

२ मालविका—(आत्मगतं) कथं चित्रगतो भर्ता मयासूयित।
—माल० पृ० १२७

हर्ष ने भी नागानन्द में 'लिखु'¹ धातु का इसी अर्थ में उपयोग किया है (५ नाम का लिखते)।

चित्र बनाने वाले विशेष निपुण व्यक्ति चित्राचार्य[2] कहलाते थे। साधारणतः यह कला सामान्य रूप से सर्वत्र प्रचलित थी। पार्वती अग्निमित्र पुरूरवा दुष्यन्त सब इस कला में सिद्धहस्त थे। अपने हाथ से बनाए चित्रों अधिक महत्ता थी। कवि ने इसके लिए 'स्वहस्तोल्लिखित'[3] शब्द प्रयुक्त है। इस कला का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि अरण्यवासिनी कन्याएँ भी इससे पूर्ण परिचित थी। शकुन्तला की सखियों ने ... आभूषणों से शृंगार चित्रकला के अनुभव पर ही किया था[4]।

चित्रांकन विनोदार्थ होता था। विरह की दीर्घ अवधि काटने अथवा मन बहलाने के लिए इस कला का अभ्यास किया जाता था। कवि इसको योगाभ्यास की समता देता है। राजनीति ... बार में शिल्पी के लिए यह आवश्यक कहा गया है कि मूर्ति-निर्माण उसे प्रतिपाद्य मूर्ति के ध्यान में लीन होकर बैठना चाहिए और जब

---

१ मत्सदृशं सा लिखिता देव्या मासमन्ना मालविका कि ज्ञापयति।
—माल० अंक १ पृ०

—भो वयस्य विमन लिखितमस्ति ? —अभि० पृ० ११६

—यो मे प्रदेशः सख्या मैत्र्या ... तमालिलिखिषुः गामी भवेत्।
—अभि

—तव मे चित्रफलकगता स्वहस्तलिखिता तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिः। अभि० पृ १०८

—इति स्वहस्तोल्लिखितं च मुग्धया ... ।
—कुमार

—मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती। —उत्तरमेघ २५

—त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्। —उत्तरमेघ

—अथवा तत्रभवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिं चित्रफलके
—विक्रम०

२ चित्राचार्यः पताकादेवी ... प्रतिपादयन्ति ... दिष्टि —माल० पृ० २६४

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —तव मे चित्रफलकगता...
—अभि० पृ० १०८ इति

४ चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्मः। —अभि० अंक

भावावस्थित हो जाय तभी उसे बनाना प्रारम्भ करना चाहिए। मूर्ति का कोई दोष कलाकार की शिथिल समाधिवश होता है। कवि ने भी मालविकाग्निमित्र में 'शिथिल समाधि'[1] शब्द का प्रयोग किया है। मालविका के चित्र को देखने के पश्चात् जब राजा ने वास्तविक रूप से मालविका को देखा तब चित्र उसके सम्मुख फीका लगा तब उसे लगा कि चित्रकार की समाधि में शिथिलता थी जिसके कारण उसके शरीर का लावण्य पूर्ण व्यक्त नहीं हो पाया।

मूर्तिकला

मूर्तिकला के सम्बन्ध संकेत कवि के ग्रन्थों में बहुत कम हैं, परन्तु आज के संग्रहालय में तत्कालीन मूर्तियों से उस समय की मूर्तिकला का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है।

एक स्थान पर कवि का कथन 'गोपुर की उत्कृष्ट रम्यता के कारण नीड़ में अलसाए मोर अपने मकरे पर बैठे हुए पत्थर में खुदे हुए-से मालूम पड़ते हैं'[2] स्पष्ट करता है कि उस समय पत्थर पर खोद कर मूर्तियाँ बनाई जाती होंगी। इसी प्रकार का एक संकेत और भी प्राप्त होता है। अयोध्या में भी खम्भों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं परन्तु जब नगरी उजाड़ हो गई तब साँप इन मूर्तियों को जिनका रंग उतर गया था चन्दन का वृक्ष समझ कर लिपटे रहते थे। उनकी छोड़ी केंचुल ही उन स्त्रियों के स्तनों का आवरण बन गई थी[3]। मथुरा म्यूजियम में इन दोनों प्रकारों के उदाहरण हैं। रेलिंग स्तम्भों पर उत्कीर्ण 'कुषाण यक्षियों' की मूर्तियाँ संग्रहालय के एक पूरे विभाग में भरी हुई हैं। अवश्य ही कवि ने मथुरा के रेलिंग स्तम्भों को इन यक्षियों की मूर्तियों को देखकर कल्पना की होगी। इसी प्रकार रघुवंश की उत्कीर्ण नारी-मूर्तियाँ सम्भवतः राजमहल के रेलिंग स्तम्भ थे। कवि ने गंगा तथा यमुना की चामर ग्राहिणी मूर्तियों का उल्लेख किया है[4]। देवताओं की चामरग्राहिणी के रूप में

---

१ चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम्।
[illegible]

इन दोनों मतों-धर्मों की मूर्तियों का आरम्भ कुषाण-काल के [illegible] गुप्तकाल के प्रारम्भ में हुआ था। मथुरा म्यूजियम में ऐसी मूर्तियाँ पाई गई हैं।

कवि के ग्रन्थों में देव-प्रतिमाओं का अभाव नहीं है[1]। इन में ब्रह्मा का उल्लेख रघुवंश और कुमारसम्भव में है[2]। विष्णु का एक पद वर्णन करते हुए कहते हैं कि वे शेष-शय्या पर बैठे हैं। शेष फनों से उनका शरीर और मुकुट ढका है। उनके पास कमल पर लक्ष्मी बैठी हुई हैं जिनकी कमर में रेशमी वस्त्र पड़ा है और जो विष्णु के चरणों को अपनी गोद में लेकर सहला रही हैं[3]। जब तक कवि ने इस प्रकार कोई चित्र या मूर्ति न देखी हो वह इतना सजीव वर्णन नहीं कर सकता। कवि ने वर्णन करते समय स्वयं विग्रह शब्द प्रयोग किया है, जिसका अर्थ मूर्ति है। इसी रूप में उन्होंने एक स्थान पर उनका चिह्न शंख चक्र और तलवार वर्णन किया है पद्म नहीं[4]। गरुड़ उनका वाहन है[5]। और स्थान पर वे वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि धारण किए हुए हैं और लक्ष्मी हाथ में कमल का पंखा लिए हुए हैं ऐसा उल्लेख करते हैं[6]।

---

१ तत्र सार्धं समयूपवारं पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।—रघु० १६।३९
—अमात्यादेवतावैर्न प्रत्यासन्नमापिता ।
अनुरम्पुरनुप्येयं सान्निध्ये प्रतिमागतं ॥—रघु० १७।३६
—प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥—रघु० १७।३१

२ तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥—रघु० १०।७३
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥—कुमार० २।३

३ भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥—रघु० १०।७
—श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥—रघु० १०।८

४ गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥—रघु० १०।६०

५ हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥—रघु० १०।६१

६ बिभ्रता कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥—रघु० १०।६२

संग्रहालयों में शेष-शय्या वाली तथा दूसरी खड़ी दोनों मूर्तियाँ मिलती हैं। त्रिमूर्ति[1] जिसे कवि ब्रह्मा विष्णु महेश कहता है म्यूजियम की सामान्य वस्तु है। एक और मासकम मूर्ति का संकेत एक स्थान पर हमको प्राप्त होता है। 'सोते हुए कमलों के बीच में अज ऐसे लगते थे मानो कमलों के बीच में चन्द्रमा की प्रतिमा हो'[2]।

मृण्मूर्तियों का संकेत भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में मिलता है। भरत का मिट्टी के मोर से खेलना[3] बताता है कि उस समय मिट्टी के खिलौने बनाये जाते और रंगे जाते थे। मथुरा-संग्रहालय में एक मृण्मय मयूर प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार 'जालग्रथितांगुलि'[4] जो भरत के चक्रवर्ती होने का प्रमाण है, गुप्त काल की विशेष वस्तु है। लखनऊ म्यूजियम में बुद्ध की मूर्ति में यही विशेषता अंकित है।

असाक्षात्संकेत—भास्कर्म कला से सम्बद्ध ऐसे अप्रत्यक्ष प्रमाण भी हैं जिनसे तत्कालीन कलात्मकता का सम्यक् परिचय मिलता है। यहाँ कवि प्रत्यक्ष रूप से किसी विशेष प्रतिमा का संकेत नहीं करते वह अप्रत्यक्ष रीति से उसका पूर्ण चित्रण कर स्पष्टतया प्रकट अवश्य कर देते हैं। ऐसे असंख्य संकेत उनके ग्रन्थों में हैं जिनकी अनुकृति अथवा प्रतिकृति भारतीय-संग्रहालयों में देखी जा सकती है।

(१) प्रभा मण्डल—कालिदास ने प्रभा मण्डल[5] छाया मण्डल[6] तथा

---

१ नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ —कुमार २।४

२ पर्यस्तनाभिकमला निद्रुतास्तं शयानम् ददृशुः स्वयोनाः ।
निमीलितानामिव पंकजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥—रघु ७।६४

३ (प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता) तापसी । सर्वदमन । शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व ।
—अभि० पृ० ११८

४ प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः ।—अभि , ७।१६

५ एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुवः ।
ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ —रघु० १५।८२

स्वरत्न प्रभामण्डल[1] का उल्लेख किया है। उत्तरी-भारत में प्रभामण्डल वास्तविक प्रदर्शन मूर्तिकला में एशियामिनर सम्पर्क के द्वारा यदि सम्भव तो कुषाण काल से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भिक गुप्त काल में यह ... धारण कर सामान्य वस्तु ही जाता है। पहले मूर्तियों के पीछे ... जाता था वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का प्रभामण्डल बन गया। और मालवाय दोनों संग्रहालयों में एसे अनेक उदाहरण हैं।

(२) मयूरासीन कार्तिकेय[2]—कवि के पद्यों में स्पष्ट है और ... संग्रहालय में मयूरारूढ़ कार्तिकेय का बिल्कुल ऐसा ही नमूना है। ... की सम्मति अनुसार यह नमूना उस समय के कलाकारों का इतना प्रिय ... की भुजाओं पर पहनाए गए केयूर नाचते हुए मयूर के ... अनुरूप पर बनाए गए हैं और यह कुषाण युग के मूर्तिकार पर ... पड़ते हैं[3]।

(३) केयूर आभूषण[4]—इस आभूषण का अनेक स्थानों पर मिलता है। कवि को यह आभूषण अति प्रिय है। इसका प्रयोग ... किया गया है।

(४ ... और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर ... तथा ... का प्रसंग लिया है। यक्ष मेघ को भवन पर भी पहचान ही यह है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है जो देवगढ़ के मन्दिर में प्रदर्शित

---

१ स ... विद्युमताए प्रभाप्रभाव प्रकम्प ... ।
... ॥—रघु
... ॥—रघु
—... ।
... ॥—रघु०

२ ... ।
... ॥ —रघु ६।४

३ Lotus in Kalidas Page 239

४ इसके अनेक प्रमाण हैं—रघु ६।१४, ५४, ६८, ७१ ...
१६।६६, ६०, ७१ आभूषणागार विक्रम० केयूर कहीं मन में है।

है। बाहर की तीन दीवारों के द्वारों पर (रथिका बिम्ब) जहाँ मनोरमोग
शेषशायी विष्णु और नर-नारायण दिखाए गए हैं वहाँ शंख और पद्म का भी
उत्कीर्ण रूप में सम्यक् प्रदर्शन है[1]। तत्कालीन मथुरा के अनेक स्तंभों में पत्रलता-
युक्त शंख पद्म देखने को मिलते हैं। कुषाण काल की कला में यह सामान्य रूप
से प्रचारित नहीं था यद्यपि कहीं-कहीं शंख पद्म हैं पर द्वारोपान्त पर नहीं है
तथा पत्रलता का भी चिह्न कहीं प्राप्त नहीं है। अवश्य ही कवि ने तत्कालीन
अति प्रचलित चित्रों को ही देखकर ही अपने काव्य में उनको स्थान दिया है।

(४) कपालाभरणा काली[2] का उल्लेख कवि के युग की सामान्य आकृति
है। इसी प्रकार सप्तमातृका[3] कैलास को उठाए रावण[4] सब गुप्त कला के उदा-
हरण हैं। एलोरा में काली की विशेष आकर्षक आकृति देखी जा सकती है और
मथुरा संग्रहालय में दूसरे दृश्य (कैलास को उठाए रावण का) सुन्दर नमूना है[5]।

(६) इसी प्रकार खिले कमल पर खड़ी[1] कमलदंड हाथ में धारण किए हुए

---

१ V S Agarwala Gupta Art (1947) P. XII & XIII.

२ तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे।
—कुमार ७।

—तारका चक्रपाणमुण्डका कालिका लिखिता बलाकिनी।
—रघु० ११

३ तामर्चयस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम्।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥—कुमार ७।
—दं मातरो देवमनुव्रजन्त्य स्वावाहनक्षोभचलावतंसाः।—कुमार० ७

४ गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।—पूर्वमेघ ६२

५ Mathura Art Museum No. 2577 V S Agarwala
Images in Mathura J I. S. O. A. 1937 p. 127 pl. xv (

या कमल-नाल के साथ क्रीड़ा करती[1] लक्ष्मी को कवि के ग्रन्थों में वर्णित मथुरा[2] और अन्य स्थानों के संग्रहालयों में देखी जा सकती है। लीलारविन्द[3] के संकेत भी मिलते हैं। कवि द्वारा शिव-पार्वती का वर्णन कुषाण काल की बहुत मूर्तियों में मूर्त है। चोटी खोलने और गूँथने के दृश्य[4] भी मथुरा के ... देखे जा सकते हैं[5]। मथुरा के एक वेदिका स्तंभ पर शृंगार-प्रसाधिका[6] लिए ...बिका की सुन्दर मूर्ति खुदी हुई है[7]। इसी प्रकार कवि के ग्रन्थों में पाए ... हाथ से गेंद मारना-उछालना[8] मुर्गी पालन[10] हाथ में दंड लिए[11] ...

---

१ मुखनिर्विनिरुद्धामविसृज्यलग्नं विम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम्।
प्रतिसाधं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ —कुमार० ३।
—लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती। —कुमार० ६।८४

२ Exhibit No. 2345

३ रत्नाभिगन्धपरिवर्धपि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ —रघु० ६।१

४ भूयो भूयः कठिनविषमा सारयन्ती कपोला-
दामोक्तव्यामयमितनखेनैकवेणीं करेण। —उत्तरमेघ ३०

—प्रत्यागणप्रसरमसकृत्स्पर्शनसन्हतुलम्‌
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतं भ्रूविलासम्‌ ॥ —उत्तरमेघ ३७

—या तृणानि त्वरयति वपि मांस्यता प्रोषितानां
मन्दस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि । —उत्तरमेघ ४१

५. Exhibit No. 186

६ प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव ।—रघु० ७।६

७ Exhibit No. (J) 369 M. Museum

८. तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्
—रघु

Exhibit No. 62 M. Museum

९ करामिघाताभ्युत्थितं कन्दुकमासाद्य ... —रघु० १
Exhibit No. J61 M. Museum

१० ... —रघु० १
Exhibit No. 62 M. Museum

११ ... —कुमार०
Exhibit No. G 1 Page 14 68 M. Museum

१२ देखिए, पादटिप्पणी नं० ११

आदि की समानता मथुरा संग्रहालय की वस्तुओं में प्राप्त है। यहाँ तक कि कवि के किन्नर[1] और अश्वमुखी[2] तक के प्रतिरूप मथुरा में सुरक्षित आकृतियों में है[3]। गुप्तकालीन प्रतिमाओं में कालिदास द्वारा वर्णित कुबेर वरुण इन्द्र का भी बहुत सादृश्य है। रघुवंश के तपोवन के हरिणों से भरे द्वार वाले उटज[4] भी मथुरा की एक मूर्तिमेखला में उत्कीर्ण है, जहाँ एक मुनि का उटज हरिण एक वेदी एक कमण्डलु और तपोवन के अन्य पदार्थों का पूर्ण चित्रण है[5]।

(७) कामदेव और यक्ष—कवि ने पुष्प धनुष और पंच बाण लिए कामदेव का जैसा वर्णन किया है[6] बिल्कुल ऐसी ही मृण्मयी मूर्ति मथुरा संग्रहालय में है[7]। मौर्य शुङ्ग कुषाण और प्रारम्भिक गुप्त कला में यक्ष की बहुत-सी मूर्तियाँ हैं यहाँ तक कि विशेष कला का द्योतक यक्ष-सम्प्रदाय तक चल पड़ा था। कालिदास भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके और उन्होंने प्रथम-प्रतीक यक्ष को अपने मेघदूत का नायक बनाया। यक्ष का वर्णन अन्यत्र भी उनके ग्रन्थ में उपलब्ध है[8]। मथुरा संग्रहालय में यक्ष की अनगिनत मूर्तियाँ हैं[9]।

(८) शिव और बुद्ध—कुमारसम्भव तीसरे सर्ग में समाधिस्थित शिव का वर्णन पढ़कर ऐसा विश्वास हो जाता है कि उन्होंने बुद्ध और बोधिसत्व की

---

१ उद्वमास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।—कुमार १।१८
२ न दुवहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्य ।—कुमार० १।११
३ Exhibit No F L M Museum
४ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥—रघु १।४९
—आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥—रघु १।५
५ Exhibit No 1 4 M. Museum
६ इसके अनेक प्रसंग हैं। देखिए, कुमार० ३।४१ २।६४ ७।९२
—रघु० ३।३६ ११।४५
७ Exhibit No 1448
८ गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ।—पूर्वमेघ ७

प्रतिमाओं का सम्यक् अवलोकन किया है। इनका अधिक सादृश्य किसी कालमेघ का ही नहीं सकता। शिव का योगासन मुद्रा में समाधिस्थ बैठना, दोनों नयनों का कुछ आधे का मुँदा रहना, दोनों हथेलियों को कमल की तरह अपने अंक में रखना, सिर के बालों का एक गाँठ द्वारा बँधा, ओठों का कुछ खुला और मुँदा होना, नितान्त स्थिर दीपशिखा की प्रतिभासित होना सम्पूर्ण चित्र योगीश की ध्यानावस्था का चित्रण है। संग्रहालयों में विशेषकर मथुरा में ऐसी बुद्ध और तीर्थंकर की प्रतिमाएँ हैं[1] यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि कवि ने इन प्रतिमाओं के पर ही शिव की समाधि का चित्र गढ़ा है।

(९) चतुस्स्तम्भ—ऐसा आभासित होता है कि चार स्तम्भों पर छोटा-सा मण्डप जिस पर छत्र या वितान रहे, गुप्त कला की विशेष वस्तु। कवि ने इसकी 'चतुस्स्तम्भ प्रतिष्ठित वितान'[2] कहा है। इसी वस्तु को भट्ट ने और स्पष्ट कहा है 'मौक्तिक' कहकर इसका परिमाण स्पष्ट 'मणिरचित चतुष्क' वाक्यावलि से आकार की अभिव्यक्ति कर दी। वहीं छत पर मोतियों की लड़ियाँ लटक रही थीं कहकर उसके सौन्दर्य परिचय दे दिया[3]। अजन्ता की गुफाओं में इसकी प्रतिकृति देखी जा है[4]। ऐसा वितान 'राजकीय आगम' की तरह प्रयुक्त किया जाता था।

(१०) शार्दूल—कवि ने जिस प्रकार का शार्दूल अंकित किया कुषाण और गुप्तमूर्तिकला दोनों में प्राप्त होता है[5]। अशोक वन में है जिस उग्र पर पराक्रम करने को तत्पर या पदाघात करती हुई यक्षी दिखाई गई है। उसकी आकृति की सुन्दरता, सौन्दर्य स्निग्धता कवि के वर्णनों से समानता रखता है। श्री भगवत्शरण जी ने इसकी उदाहरणों से भली भाँति स्पष्ट किया है[6]।

---

१ M. Museum Nos A 27 45 1 B 1 (Jina) 57 (Ja

२ वे तन्व कल्पलतामुकुलभिराव शिशिरभि ।
विमानं नवम इरि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ —रघु० १६।१६

३ कादम्बरी पी० एल० वैद्य पृ० ६ चतुःस्तम्भस्थिता
—कादम्बरी

४ V S Agrwa's Gupta Art (1947) p 24 fig 26

५ Exhibit Nos J 55 F 27 E

६ India in Kalidas Page 240

केश-विन्यास—कवि के ग्रन्थों में न मालूम कितने केशविन्यास के ढंग अंकित हैं। अमरकोष के अनुसार 'अलक' का आशय चूर्णकुन्तल है। अर्थात् बालों को घुँघराली आकृति में करना है। कालिदास ने इन्दुमती के बालों को अलक कह स्वयं अलक की व्याख्या 'वलीभूत' शब्द के द्वारा कर दी है[1]। इसके लिए प्रसाधिकाएँ बालों में तरह-तरह के अवलेप प्रयोग किया करती थीं जिससे उनके सरलता से बालों को मरोड़-मरोड़ कर बनाए जा सकें। पति के विरह में पत्नियों के बालों के लिए कवि ने 'लम्बालक' कहा है, अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्याग करने से और शुद्ध स्नान करने के कारण तैलादि का प्रयोग न करने से उनके केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[2]। यह अलक विशेष प्रकार का केश-विन्यास गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्तियों में देखा जा सकता है।

इसी प्रकार एक और केशविन्यास-प्रणाली बर्हभार केश [3] था। दंडी और कालिदास दोनों ने इसको विशेष प्रकार का केशविन्यास कहा है। बीच में माँग निकाल कर दोनों ओर इस प्रकार के फूले-फूले बाल बनाए जाते थे कि मोर के पूँछ की आकृति के हो जाते थे। यह प्रणाली भी कुछ मूर्तियों में मिलती है[4]। इसी प्रकार 'मुक्ताजालग्रथित अलकम' [5] स्पष्ट करता है कि बालों में मोतियों की लड़ियाँ गूँथी जाती थीं। यह गुप्त काल में प्रचुरता के साथ देखने को मिलता है। अवश्य ही कवि ने इसको देखकर ही अपने काव्य में प्रयुक्त किया होगा।

---

१ कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ —रघु० ८।५३

२ हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति । —उत्तरमेघ २४
—निश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम् । —उत्तरमेघ, ३१
M. Museum Exhibit 10 124

३ श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातम्
[illegible] भारेषु केशान् ॥ —उत्तरमेघ ४१

कालिदास ने नारी-सौन्दर्य में अंग-सौष्ठव पर बहुत ध्यान दिया सबसे बड़ी विशेषता है पयोधरों का पीन होकर परस्पर इतना सट बीच में इतना स्थान भी न रखना कि कमलनाल का एक सूत्र भी गुप्तकला में इसका आभास देखा जाता है, कुषाणकला में इसका विशु

मथुरा[१] से बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनकी छाती छटक ... पीन हैं कटि क्षीण है चौड़ी मेखला और नितम्बों को ... रहा है। अर्थात् गहरी नाभि का आवर्त्ताकार है यह सब एक ओर कवि के कल्पना मना रखती है दूसरी ओर गुप्तकला की विशेषता है। मथुरा के ... पर यक्षिणियों की मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं[२]।

कवि के ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मेखला के उदाहरण देख ... और यह कुषाण काल के उत्तरार्द्ध और गुप्त काल के पूर्वार्द्ध में तत्कालीन मूर्तियों में बहुलता के साथ है[३]।

इन सब कथनों से विश्वास करना पड़ता है कि कवि गुप्त काल के ... उनके ग्रन्थों में तत्कालीन कला की पूर्ण छाया है। यह कलात्मकता उस की मूर्ति-कला पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं।

वास्तुकला

मूर्तिकला से अधिक वास्तुकला के संकेत कवि के ग्रन्थों प्राप्त हैं। विदा के निनाद ... की उद्घोषणा[४] तथा कुशल शिल्पी-संघ द्वारा ... का वास्तुकला हो जाना[५] वास्तुकला के विकास का परिचायक है।

नगर—नगर का कवि ने सूक्ष्म वर्णन किया। साथ ही उसका ... सुयोजित था है। नगर की मध्य सड़क राजमार्ग या राजपथ थी[६]। ...

---

१ अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम्।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥—कुमार, १।४०

२ मथुरा 10 J 7

३ मथुरा १० F १४ १६६२ १० ११

४ उपोढशब्दा न रथाङ्गनामा रघुवीरा ।—रघु० १६।११

५ तां शिल्पिसंघाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां संभृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥—रघु० १६।३८

६ ... न ... नगराज ... ।—रघु० १४।१२
—... राजपथं ... ।—रघु० १४।३०
—... ।—रघु० १।६३

मध्य बाजार (विपणि) था जिसमें बहुत भीड़ रहती थी। प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ यहाँ क्रय की जा सकती थीं[1]। बाजार के राजपथ दोनों ओर बड़े बड़े मकान निर्मित थे[2]। यह मार्ग आपण मार्ग कहलाता था[3]। नगर में अट्टालिकाएँ, आकाश को छूने वाले भवन प्रासाद और उन्नत महल थे। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक उपवन सोपानों से युक्त स्नानागार, मणिस्तंभ तोरण क्रीड़ाशैल प्राकार, सिंहद्वार, परिखा आदि का भी कवि ने सम्यक् एवं प्रचुर वर्णन किया है। इन सबको हम अब सविस्तर और एक-एक कर लेंगे।

राजपथ—नगर का मुख्य मार्ग राजपथ था। श्री भगवत्शरण चौड़ी सड़क बड़ी सड़क और उच्च पथ को राजपथ[4] कहते हैं[5]। कवि ने राजपथ के लिए राजवीथी[6] शब्द भी कहा है। श्री पी० के० आचार्य ने राजपथ का पृथक् उल्लेख इस प्रकार किया है 'सार्वजनिक सड़क राजपथ नगर या ग्राम के चातुर्दिक् घूमने वाली सड़क मंगलवीथी या रथवीथी भी कहलाने वाला'[7]। कवि ने राजपथ और राजवीथी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। संभवतः राजपथ राजकीय राजमार्ग था जो नगर के मध्य से जाता हुआ अन्य नगरों तक पहुँचता था और राजवीथी

---

१ सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥ —रघु १६।४१
—हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥ —पूर्वमेघ ३४

२ तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि॥—कुमार ७।५६
—तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि॥—कुमार ७।६३

३ स प्रतियोपारिकमम्युलभीर्णामपुरप्रवेशरतामुपेत्य।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम्॥ —कुमार० ७।५५

राजपथ का एक अंग थी अर्थात् राजपथ का जो भाग वीथी कहलाता था। पथ के दोनों किनारों पर स्वेत[1] ... वातायन और गवाक्ष बने रहते थे[२]। इसी राजपथ के पास था जहाँ सम्पन्न और ऊँची दुकानें[३] बनी हुई थीं।

राजप्रासाद—राजप्रासाद कई मंजिलों वाली ऊँची एक विशाल इमारत थी। इसमें अनेक कक्ष[४] रहते थे। ऊपर के लिए सीढ़ियाँ[५] होती थीं। यह विशाल प्रासाद था भाषा में ...

---

१ प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि

२ आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥
—प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥
—विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥
—जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः।—कुमार
अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥—कुमार०

इसके पश्चात् भी ३ श्लोक इसी प्रसंग के हैं। रघुवंश ९ से १२ श्लोक तक भी ये ही पंक्तियाँ पुनरावृत्त हुई हैं।

३ या मधुरार्थमपिमिमुरगे ... पुरभागे विपणिरपाम्या सर्वाङ्गनतामरणेन नारो॥—रघु ११
—प्रासादमर्मदिरमहर्मेनमापुस्तरोर्नाम्नापुरम॥—कुमार० ७।२५

४ आलोकरिमर्मदितामवोचां प्रासादमर्मनिरमारोह॥—रघु १४।२६
—अमात्मीर्दे मदिम-मरम्बुगमभ्रमिणा
प्रासादगेहा दुर्गजुम्भं मम 'दीर्घविराज'।—उत्तरमेघ १

५ सान्यानि पुरु बमम्मामीत ...सम्माराम्पदिरमौविवेश।—कुमार० ७।७
—स्थानमध्यवविनविरीसर. मार्गाममिनिषिता... ।—कुमार० ८।१८
—वर्तिनिरिमिर्मदीरुद्दरो सपसमपु मिनापुरिपु।—रघु० ११।५२

६ सर्वे सोपानारोहणं मारम्भमु।—विक्रम ३० १११

अन्तर्भाग[1] में अन्तःपुर या राजकीय हर्म्य रहता था और बहिर्भाग में आगत मुनियों से भेंट करने योग्य अभ्यागार[2] सभागृह[3] कारागृह[4] चित्रशाला[5] संगीतशाला[6] मज्जनशाला[7] आदि रहते थे। महलों पर खुली छत होती थी, जहाँ से नगर-शोभा भली-भाँति देखी जा सकती थी[8]। संभवतः राजा ग्रीष्म ऋतु में खुली छत पर शयन किया करता था[9]।

महलों से लगा हुआ प्रमदवन[10] होता था। जहाँ राजा इच्छानुसार अपना मनोरंजन किया करता था। प्रमदवन का मार्ग महल से ही लगा रहता था और कोई पृथक गुप्त मार्ग भी सम्भवतः था जिससे राजा सबकी आँख बचाकर जा सकता था[11]। इस वन में नाना प्रकार के पुष्प फल लतागृह[12] होने के

---

१ पी के आचार्य इंडियन आर्किटेक्चर, पृ० ५८

२ अभिशरणमायमादेशय—अभि पृ० ८२
—स तं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।—रघु० ५।२५

३ स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मां नवमां सभाम्॥—रघु० १७।२७
—नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत॥—रघु० ३।६७

४ सा तपस्विनी तया पिंगलाक्ष्या सारभाण्डगृहे नागकन्यामिव निक्षिप्ता।
—माल० पृ० ११६

५,६ देखिए पूर्व अध्याय संगीत और चित्रकला

७ एष अभिनवसुधासेकसश्रीकः सन्निहितमेघप्रतिच्छन्दो प्रासादः।
आरोहतु देव।—अभि० पृ० ८१

८ देखिए, पूर्व पृष्ठ विक्रम० पृ० १९१, १९७

९ कमलवनचिताम्बुः पाटलामोदरम्यः सुखसलिलनिषेकः सेव्यचन्द्रांशुहारः।
व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन॥
—ऋतु० १।२८

प्रमदवनमनय।—अभि पृ० १०७

सिम विसापट्टक[1] और मनक पनो[2] सरोवर, प्रमार वणन स्वतन्त्र किया जायगा।

मासाद के प्रकार—कवि के ग्रन्थों में विमानम मेघप्रतिच्छन्द[3] देवछन्दक[4] आदि नाम आए हैं। इन सब भी मगवत्‌शरण जी ने पुराण के मत के अनुसार मणिमा वाला बहुसम्पक कंगूरा से युक्त और जिसकी विशाल प्रासाद कहा है[8]। पी० के० आचार्य मणिहर्म्य को एक स्फटिक महल और रत्नजटित प्रासाद कहते हैं[9]। कालिदास

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १२

२ उष्णासु शिशिरे नियोऽपि वरीमूलाल‌वासे शिशी
निभिद्यारिकपिकारमुद्गुमम्पासोपते पदपद।
वर्षं वारि विहाय तीरनलिनी कारण्डव सेवते
क्रीडावेश्मनि चैव पंजरशुक‌ स्वाम्यो जर्न मावते॥ —विक्रम०
—गवाक्षायम् हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्
विमुभपानिपानु परिमरति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रम्।—माल

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० २ माल० २।१२
—नित्य धधांशवतनीतराजय मराविरियिवं अमरगममन्दिरम्।
—मंत्रपार्ह तिति है परीतम् रमन पौनात्मवपोदमनम्य। —रघु
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धाराग्रहेष्वातपमर्द्धिमन्तः॥

४ उत्तरमेघ १ (निर्णयसागर प्रम संस्करण) —रघु० १

५ एतेन गंगातरंगप्रधीतेन स्फटिकमन्दिरालनेनारोहतु ... मणिहर्म्यपृष्ठम्। —विक्रम० पृ० १६६

६ मनुष्यलोक देवानि यतवारिजस्य मेघप्रतिच्छन्दस्यापप्रभूमिमारोहिता।

७ तदाराम राजा सर्वाभिमप इस आगादि तावद्गिमन्निरतलमनगमाने —अभि० पृ० १
ठम्न प्रासाद आरुह्य स्तमरे। —विक्रम० ष० ११५

८ India in Kalidas Page 247

९ A Dictionary of Hindu Architecture Page 467

शिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेन'[1] से आचार्य के 'स्फटिक महल' की पुष्टि होती है। हो सकता है कि यह संगमरमर का बना हो और निर्माण के कुछ उपकरण मणिमय पदार्थों से बने हों। मेघप्रतिच्छन्द की समानता मानसार के मेघकान्त से है, जिसके अनुसार यह दस मंजिलों वाले क्रम में आता है[2]। देवच्छन्द भी इसी प्रकार की एक इमारत है। एक और प्रकार के प्रासाद का नाम समुद्रगृह[3] मिलता है। यह प्रमदवन के पास ही रहता था। ग्रीष्म ऋतु में विश्राम करने के लिए यह एक शीतल स्थान था। यह आवास एक प्रकार का विहार-भवन था जहाँ राजा विहार का आनन्द लिया करता था। मालविकाग्निमित्र में राजा ने मालविका के साथ विहार समुद्रगृह में ही किया था। मत्स्यपुराण के अनुसार यह १६ भुजाओं का दुमंजिला महल है[4]।

सौध तथा हर्म्य—कवि के ग्रन्थों में सौध तथा हर्म्य के अनेक संकेत हैं। प्रोफेसर आचार्य सौध को 'एक पलस्तर किया हुआ चूने की सफेदी वाला मकान एक बड़ा महल एक अट्टालिका एक प्रासाद कहते हैं'[5]। मानसार ने हर्म्य को ७ मंजिल की इमारत कहा है[6]। अत सौध और हर्म्य ऊँची छत वाली इमारतें हुई। मेघदूत में अलकापुरी की इन्हीं वर्ग की इमारतों का कवि ने वर्णन किया है[7]। इन महलों में कपोत निवास करते कहे गये हैं[8] और कपोत ऊँचे मकानों में ही अपना निवास स्थान बनाते हैं। कुबेर की राजधानी अलका

---

१ देखिए, पिछले पृ० की पादटिप्पणी नं ७

२ XXVIII 19-17 Acharya A Dictionary of Hindu Architecture Page 512

३ त्वरतां भवान् समुद्रगृहे पर्यवसिता मालविका स्वामिनीस्त्वा भवन्तं प्रत्युद्गमताऽसीत्। —माल० पृ० १२४

४ अध्याय २६९ १८, ३१

५ A Dictionary of Hindu Architecture Page 642

६ २४ २९

के भवन के शिखर बादलों को छूते हुए बताए गये हैं[1]। यह 'अभ्रंलिह'[2] कहलाते थे। जिसमें ऊपर खुली छत [2] या सौध[4] कहलाती थे। यह ईंटों के बने होते थे और रहता था। सौध शब्द से इसी ही अभिव्यक्ति होती [6] इसी का संकेत करता है। 'मणिशिलागृह'[5] शब्द से ऐसा भगवान् अपने गृह का निर्माण संगमरमर से करते होंगे। [7] वाली थी और इस बात को वलभी[7] की संज्ञा दी गई है ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है छत ऊपर, गृह का काठ वाले मकानों का एक वर्ग प्रकोष्ठ, झरोखा इत्यादि[8]। भवन[9] आयताकार आंगन से युक्त एक गृह था।

---

१ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम्।
अंतस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ —उत्तरमेघ १

२ पूर्वोल्लेख

३ यत्र तव निशाय कामिनीभिः समेतो निशि सुखमिन्गोष्ठे ...
—मणिहर्म्यपृष्ठ सुरसमरवाः। —विक्रम० ... ११२ —ऋतु

४ गच्छेरुपं मुखविमुग्धं यस्य मार्त्यो निशीथ
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः। —उत्तरमेघ २८
—उत्तरसाकोशमुत्तराणां सौधेषु कामोन्मत्तासु। —रघु०

५ मणिमया च कमनिरत्ना नाम महारत्नगा
बाह्यावमासितगहरनिरत्नदिवापि सौधम्यां। —पूर्वमेघ ७

६ ...मूर्तिरालयात् प्रासिश्वमर्पितिन्यार्गा ... —कुमार० ८।८१

७ तो वस्याविहरमलमो मुख्याराजनाती
भीला राजि विरचितममामलविटमनम। —पूर्वमेघ ४२

८ A Dictionary of Hindu Architecture Page 537

९ मंदिर, वास्तुशास्त्र पृ० ७

इसके भीतरी कमरों में शयनागार[1] सम्पगार[2] गर्भवेश्म[3], क्रीडावेश्म[4] सार माण्डगृह[5] आदि थे।

गृह के वातायन[6] सड़क की ओर[7] खुलते थे। छत पर वलभि[8] (झरोखे) होते थे। गृह का अग्रभाग 'मुख'[9] कहलाता था जिसको दूसरे शब्दों में द्वार कहा जा सकता है। द्वार के ऊपर तोरण रहता था जो मत्स्य या मकर की आकृति का होता था। मथुरा के म्यूजियम में मकरतोरण का उदाहरण है[10]। तोरण के नीचे देहली भी रहती थी[11]। शिखर मंजिल पर तल्प[12] भी होते थे। इनका अब पृथक विवेचन किया जायगा।

---

१ वैश्रवणी पर्यङ्कोऽस्मि। शयनभूमिमासमादेशय।—अभि० पृ ६६
—अथावरामे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे गुप्तजने प्रसुप्त।—रघु १६।४

२ पूर्वोल्लेख।

३ अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु।—रघु १९।४२

४ क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुक कलमो वक्ष्यं पाचते।—विक्रम० २।२२

५. सा खलु तपस्विनी तथा पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।
—माल० पृ० ११५

६ प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुरांगनानाम्।—रघु ६।२४
—प्रासादवातायनदृश्यबीची प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्।—रघु० ६।५६
रघु० ७।५–१२ पूर्व उल्लेख। इसी प्रकार कुमारसंभव सप्तम सर्ग पूर्व उल्लेख। वातायन के अनगिनत प्रसंग हैं। अतः उल्लेख करना अति विस्तृत हो जायगा। पूर्वमेघ उत्तरमेघ विक्रमोर्वशीय मालविकाग्निमित्र सब में इसका प्रसंग है।

७ सड़क की ओर खुलते थे इसका प्रमाण सबसे बड़ा यह है कि अज और महादेव की बारात ऊपर से ही स्त्रियों के द्वारा देखी गई थी—रघु० ७।५–१२ कुमार० ७।५६–६१ पूर्व उल्लेख।

८. एष अभिनवसम्मार्जनसश्रीक सन्निहितहोमधेनुर्वलभिमारोहतु देव।—अभि० प ८१

९. माल पृ १०६ Edited by S P Sana & Shri G M G-dbole या पृ० ७२ निर्णयसागर प्रेस।

तोरण[१]—यह मकान या महल का सबसे पहला फाटक ... कभी अस्थायी भी रहता था। अर्थात् यहीं पर आए हुए ... की जाती थी[२]। किसी महापुरुष अथवा सम्मानित अतिथि के ... निर्मित किया जाता था। श्री भगवत्शरण इसको मन्दिर या ... या ग्राम अथवा नगर का बहिर्द्वार कहते हैं[३]। आचार्य की ... इस प्रकार की है— एक महराब आकृति में ठोस पत्थरों को ... या पारस्परिक दबाव के कारण एक-दूसरे से सटे हों[४]। इन ... मूर्तियों अथवा मकरों के चित्र और पुष्प-मञ्जरी की उत्कीर्ण ... थी[५]। इन्द्रपुर की आकृति के तोरण का भी उल्लेख है[६]।

अलिन्द[७]—यह एक प्रकार का बरामदा था। आचार्य की ... व्याख्या इस प्रकार मिलती है— अलिन्द शब्द से बाहर की दीवार ...

—मणिमया तोरणेष्वनूम प्रोवाच पूर्वाभिमुखम् । —रघु
—शिलीपवन्धादुत्तमो निवेश पथ्यागतः प्रभुता विमान ।—रघु०
—तत्र तोरणमलिनेन तोरणात्समन्तमन्निर्मूर्तिमिः पुरी । —रघु०

१ मनोज्ञपाणिग्रहभिरत्नमा तोरणम् ।
मार्गे समन्विताहैं वर्णितुमनिशलनी ॥ —रघु० ११४१
—नानाद्रोमणिमयतोरणमिलगयपारितजोरणम ।
वर स बसा सह राजमार्ग प्राप प्रासादोपानिवारितान्नम् ॥—रघु०
—प्रासादं ... मनरविशुद्धगुरुत्वाम्बरीष
मूयत्कान्तं पुष्पजितगन्धाना तोरणम ।
दन्तोत्कीर्ण ... काञ्चना वनिता म
... नमिता ... ॥ —उत्तरमेघ १५
—प्राप्तमानगुणैर्विनुर्मीनितोरणं पताका ध्वजे ।
प्रासादानपि निर्माति पुष्पम्नोत्सागार्भिर्युग्मानि ॥
—कुमार० ७।३३

२ हैवल, पार्टलिपी सं० १
३ India in Kalidas Page 249
४ Acharya A Dictionary of Hindu Architecture Page 247
५ हैवल, पार्टलिपी सं० ४ पृ० २४८
६ हैवल, पार्टलिपी सं० १ उत्तरमेघ १५
७ ... उद्योग

रास्ते का बोध होता है जो मौसम के सामने हो [1]। पर यह कालिदास के द्वारा वर्णित अलिन्द से समानता नहीं रखता। इसका झरोखे का आशय ही उपयुक्त लगता है। सभी बड़े मकानों की छतों पर झरोखे होते थे। अभिज्ञानशाकुन्तल का सभ्यागार के ऊपर का अलिन्द और मालविकाग्निमित्र (निर्णयसागर प्रेस, संस्करण) में समुद्रगृह का अलिन्द इसके प्रमाण हैं।

अट्ट और तल्प—भवनों को सजाने के लिए उन पर अट्ट[2] और तल्प[3] बनाया जाता था। अयोध्या के उजड़ जाने पर उसके भग्न अट्ट और तल्प का कवि ने वर्णन किया है[4]। आचार्य जी अट्ट को प्रकोष्ठ कहते हैं[5]। श्री भगवत् शरण गृह के शिखर प्रदेश में अवस्थित कमरे को तल्प कहते हैं[6]।

वातायन—राजपथ की ओर खुलते हुए वातायनों का प्रसंग दिया जा चुका है। खिड़की की सामान्य संज्ञा 'वातायन' थी। इसके कई भेद थे—आलोकमार्ग[7] गवाक्ष[8] जालमार्ग[9]। आलोकमार्ग के नाम से व्यक्त होता है कि यह ऐसी खिड़की

---

१ A Dictionary of Hindu Architecture Page 54

२ नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः। —रघु० ६।६७
—विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे॥
—रघु० १६।११

३ पूर्व उल्लेख।

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २ —रघु० १६।११ विशीर्णतल्पाट्ट...

५ A Dictionary of Hindu Architecture Page 15

६ India in Kalidas Page 250

७ आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः। —रघु० ७।६

८ विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्। —रघु० ७।११
—गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्॥ —रघु० १९।७
—विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे।
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः॥ —उत्तरमेघ ४०

थी जिसमे होकर प्रकाश गृह में प्रविष्ट होता था। धार्मिक पषाण गार का थोंव से गाढ़ूप रगते थे। मानसार में भी है¹। मानसिराध्यिमित्र में एमी गिन्नी का प्रसंग आया है जिसमे देगमें क माप-गाप मन्त प्रविष्ट होती हुई पवन के साथों का म जा सके²। आम्माग में सफही प्रस्तर प्लास्टर आदि की आमो कालिन्गग म माने की आमो मभी निरका का कथन किया है³। और बन्द होते थे। चांदनी उनमे प्रवेश कर कमरे म भर जाती कि इनसे वारका क टक प्रविष्ट हो भित्तिचित्रो को भी मलिन कर

आँगन—चारा ओर कमारा से घिरा हुआ घर म एक आँगन इसम म कोई हार्द स्फटिकशिला थ⁴ जो दिन में सूय के प्रकाश से और रात म आकाश के ग्रहादि की प्रतिच्छाया स प्रतिबिम्बित ⁵ं

आलिमाग—भवना के वातायनादि पर आगी लगी रहती कथन किया जा चुका है। भवना क गवाक्ष धूम इनम बाहर निकला

—मानोन्मोचैर्गविवरा गतिर्मनागम्पूर्णे
कम्परोम्ना मवनशिशिविमित्तनरोमरहार। —पूर्वमेघ ११
—गतनिग्रहस्तगशिगिरा आम्यागत्रविशा
ग्रूढोम्न गवमिमर्ग गमितुर्ग दधव। —उत्तरमेघ १२

१ मानसार ३३ ५६८–५६७
२ देखिए, पिछले पृष्ठ का पादटिप्पणी सं० ८ का अन्तिम वाक्य १५ ।
३ वन्मनागोरनायणा गौरनु वामोरम्याम्यग्मु। —रघु० ७।५
४ देखिए पिछले पृष्ठ का पादटिप्पणी स० ६ का अंतिम श्लोक 'पादलिप्ते
५ मेरा मोता गवाग्निना गन्धामायमूमि
हाम्यांगर्भा मरकण्ठैरस्मादि मद।
दग्धास्य इव मनुष्यस्याशुषा आम्मानं
यमोद्गानयुक्तिमुना भवता निन्दर्भिव ॥ —उत्तरमेघ ८
६ दिवसायुरनिन्द्रोनिमारडसमरास्मिर्गतिवि। —कुमार० ७।१०
७ मदमूर्ति-गारमाग स्वागतनमूर्ति।
ग्रसैनिम नशिवमानि नयमनाम्यान ॥ —कुमार० १।४२
८ उन्मेषो इव वामन्द्रि निरानिन्दमा की प
परमूर्तिनि गोकामर नन्दागरजा ॥ —शिशु ३।२

स्नानागार—यंत्रधारागृह[1] तथा धारागृह[2] का कवि के ग्रन्थों में प्रसंग है। ये स्नानागार के ही बोधक हैं। यहाँ पानी के यन्त्र भी लगे रहते थे जो स्नान और शीतलता की आवश्यकता के लिए सदा जल प्रवाहित करते रहते थे[3]।

अश्वशाला—प्रासाद के बहिर्भाग में घुड़साल[4] तथा हाथीशाला[5] होती थी। हाथियों को बाँधने के लिए वहाँ स्तंभ लगे रहते थे[6]।

सोपान—राजमहल[7] सरोवर[8] आदि सबके प्रसंग में सोपान का नाम आया है। विक्रमोर्वशीय में सोपान स्फटिक के होने से इसका संकेत है। यहाँ गंगा की तरंगों की शोभा स्फटिक सोपान के समान कही गई है[9]। उत्तरमेघ में तड़ाग के जल तक पहुँचने के लिए मरकत के सोपान कहे गए हैं[10]।

वासयष्टि और स्तम्भ—गृहपक्षियों के बैठने के लिए गृहों में वासयष्टियाँ थीं[11]। रघुवंश में ऐसे स्तम्भों का वर्णन है, जिन पर स्त्रियों की आकृतियाँ उत्कीर्ण

---

१ तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यंत्रधारागृहत्वम्। —पूर्वमेघ ६१

२ यंत्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ —रघु० १६।४९

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० २

४ सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरंगैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पुरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वांगनद्धाभरणेव नारी ॥ —रघु १६।४१

५,६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ४ रघु १६।४१

७ वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम्। —रघु ६।३
—सोपानमार्गमादेशय—अभि० पृ १२६
—एतेन गंगातरंगसश्रीकेण स्फटिकमणिसोपानेन आरोहतु भवान् चन्द्रोदयावसर
रमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठम्। —विक्रम पृ० १६९

८ सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्। —रघु० १६।१५
—सा तीरसोपानपथावतारादम्भोप्यपूर्वमिवद्दृष्टिमीभि। —रघु १६।५६
वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा। —उत्तरमेघ १६

थी[1]। मालविकाग्निमित्र में भी स्तंभ[2] का नाम आया है पर काम बिल्कुल न था।

अन्य इमारतें—उपरोक्त इमारतों के अतिरिक्त। सभागृह[4] चतुःशाला[5] आदि भी थे। विवाह-मंडप चतुष्क अभिषेकगृह स्थापी। इसी प्रकार यज्ञशाला[6] भी थी जो मध्य की ही थी। यहाँ यज्ञ हुआ करते थे। देवताओं के बलि-प्रदान को प्रतिमागृह[7] थे। स्वयंवर[8] के लिए राजप्रासाद के बाहर मंच बनाई जाती थी। इसके बीच में मार्ग रहता था[10]।

उपवन और उद्यान—नगर के उद्यानों की परम्परा थी[11]। प्रकार हमको प्राप्त होते हैं प्रमदवन[12] और नागरिकों के उद्यान[13]

---

1 स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्। स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥—रघु

2 स्तम्भान्तरिता पश्याव तावदेनम्। —माल० पृ० १११
—अहमपि तावदस्य प्रभुतामाच्छाद्य स्तम्भान्तरिता भवामि।
—माल०

3 चतुष्पुरुषसहवर्तीमयो परीणाहि की वाम सतानुबध्यते। —कुमार०
—तामी इमान्नामभिषेकयोग्यं नायः चतुष्कासितमुर्वं स्तम्भैः।
—वैदर्भीनिर्दिष्टमसौ विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः। —रघु०, ७।

4 पूर्व उल्लेख

5 माल० पृष्ठ ८७ (निर्णयसागर प्रेस संस्करण)

6 माल० पृ० १०२ (निर्णयसागर प्रेस संस्करण)

7 तस गायीं दशपूरपासो पुरः पर्याप्तप्रतिमागृहाया। —रघु० १६।१९
—अपोढगोदेवतार्चनैर्न प्रमत्तायनमर्चिता।
अनुग्रहमुपेयेव मानिनी प्रतिमागते॥ —रघु० १७।३६

८. रघु० सर्ग ६

९ न तत्र मंचस्य मनोज्ञवेषान्विमानयानानुरूपानवरम्। —रघु० ६।१

१० विनेव मध्यमार्गमवाप्य पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा। —रघु० ६।१०

११ नियाम्यनुद्यानवनानि नागरिकाः ... —रघु० ६।३५

१२. पूर्ववत्

११ निर्गमितवान्यनिशानि पौरे पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे। —रघु० १६।३०

राजा और उसके विशेष सम्बन्धियों के लिए होता था अतः राजमहल के पास होता था। दूसरे प्रकार के उद्यान सामान्यतः नगर के बाहर होते थे। दोनों उद्यान ही अति दीर्घाकार होते थे। इनमें अनेक प्रकार के फल और फूल रहते थे, स्फटिक की शिलाएँ[1] पड़ी रहती थीं। विशालरूप तड़ाग (दीर्घिका)[2] वापी[3] और कूप[4] रहते थे। पक्षियों के बैठने के लिए वासयष्टि[5] फव्वारे[6] यहाँ तक कि श्री भगवतशरण जी के शब्दों में चिड़ियाखाना तक रहता था[7]।

दीर्घिका वापी और कूप—इनमें अवश्य अन्तर था। दीर्घिका[8] कदाचित् लम्बा तड़ाग थी और सम्भवतः उद्यान के निर्झर से इसमें पानी आता था। प्रो० आप्टे वापी की व्याख्या एक तालाब, एक कुँआ, एक पानी का गड्ढा करते हैं[9]। कालिदास वापी को रमणीय तड़ाग के अर्थ में प्रयोग करते हैं। हो सकता है कि दीर्घिका और वापी में आकार का ही अन्तर हो, एक लम्बा हो

---

१ पूर्व उल्लेख अभि० पृ० १०९

२ विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलापविहंगमा। —रघु० ९।३७

—वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम्।

—रघु० १६।१३

—पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते॥ —कुमार० २।३३

—पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्। —माल० २।१२

—दीर्घिकावलोकनगवाक्षगता प्रवातमासेवमाना निर्वृति।

—माल० अंक १ पृ० २६६

३ वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः। —उत्तरमेघ १६

—वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम्।

—ऋतु० १।४

४ भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छन् शरभकुलमजिह्मं प्रोद्धरत्यम्बु कूपात्।

—ऋतु० १।२

दूसरा और। पुष्पवाटिका[1] और दीर्घिका में भेद था। [illegible] को पर वाटिका नहीं। [illegible] उत्तरम के लिए थी। कवि ने [illegible] का उल्लेख किया है[2]। ही [illegible] भी आमोद-प्रमोद के लिए बना रखे थे[3]। टीकाकार के अनुसार यह 'सुरत' और [illegible] थे[4]। [illegible] का आशय हुआ है।

क्रीडाशैल—[illegible] कृत्रिमशैल[5] था [illegible] क्रीडाशैल कहलाते थे। उत्तरमेघ में वर्णित [illegible] को भी था[6]। कुमारसम्भव का [illegible][7] इसी क्रीडाशैल है। यह उद्यानों में विद्यमान रहता था[8] और [illegible] उपयोगिता था।

उत्स-निर्झर—[illegible] जलधारा-गृह और [illegible] किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त [illegible] वारियन्त्र[9] [illegible] [illegible] में [illegible] किया है—[illegible] वारियन्त्र से [illegible] को [illegible] के लिए [illegible] है[10]। [illegible] तथा [illegible] के [illegible] में [illegible] कहा गया है। [illegible] 'उत्स' को [illegible]

१ [illegible] देखिए [illegible] पार्टलिपुत्र नं० ३
२ [illegible] ।—उत्तरमेघ १६
३ [illegible] ।
[illegible] ॥—रघु०
४ देखिए, इसी की टीका 'मोहनगृहाणि' [illegible] ।
५ [illegible]
—विक्रम० पृ० १
६ [illegible]
[illegible] ।—उत्तरमेघ १७
७ [illegible] ।
[illegible] ॥—कुमार० २।४१
८ देखिए, पादटिप्पणी नं० ५
९ [illegible] ।
[illegible] ॥—कुमार० ७।११
१० देखिए, पादटिप्पणी नं० ६ ११ [illegible]

इसमें छिटकती हुई बूँदें कही गई हैं और 'रघु' के श्लोक से बूँदें छिटकती नहीं अपितु जल नीचे टपकता है। इसके अतिरिक्त भ्रान्तिमद् शब्द का प्रयोग इसके लिए नहीं हो सकता[1]। अतः कवि का स्पष्ट ही अपनी मति से आयतन 'शीकर निर्झर' से आशय है। इसके ऊपर का दीप घूमता रहता था अतः मयूर को जल पीने के लिए चारों ओर चक्कर लगाना पड़ता था।

देवालय और यूप—महाकाल[2] स्कन्द[3] विश्वेश्वर[4] आदि अनेक देवताओं के मन्दिर का कवि के ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है। नगर में जय स्तम्भ[5] भी थे और यूप भी। यूप बलिपशु को बाँधने का स्तम्भ था[6]। मथुरा संग्रहालय में इसके नमूने प्रदर्शित हैं।

नगर के प्राकार के विशाल द्वार अर्गला की सहायता से बंद हुआ करते थे[7]। मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित यूप में बीच की ओर अर्गला की आकृति भी अंकित है।

---

१ India in Kalidas Page 254

२. भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः॥
—अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ —पूर्वमेघ, १७, १८

३ तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः॥ —पूर्वमेघ ४७

४ आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा॥ —रघु १८।२४

५. इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः।

गुफाएँ—कवि ने ऐसी गुफाओं का वर्णन किया है ... किया करते थे। वे दरीगृह[1] कहलाती थीं। ... समान गुफाएँ थीं।

कुञ्ज—तपस्वी अपने रहने के लिए जिन झोपड़ियों ... पर्णशाला[3] अथवा उटज[4] कहलाती थीं। इनका उल्लेख ...

१ वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥
—यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया ... [?]
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा ...
—उत्पतन्ति पवनस्य पवनानां दरीषु।
स्यन्दति पटलिनाद स्पन्दनस्येव ॥ —कुमा० १।२५
२ स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
गुहाश्रयाणि प्रपन्नानि शिमार्दमृगीर्यौवनानि ॥ —कुमार० २७
३ पर्णशालामथ क्षिप्रं विसृष्टाग्नि प्रविश्य सः।
... ... तामपोथयत् ॥ —रघु० १२।४०
४ आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ —रघु० १।५०
—सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ —रघु० १।५२
—असौ पुनस्ते ... माला गमारम्भ ...।
... ... ॥ —रघु०।
—... ...।
... ... ॥ —रघु० १४
—... ... ।—रघु०
—... ... पावनम्।—कुमार०
—... ...
... ... ॥ —कुमार० ८।२
—... ... ।—अभि० पृ० १-

वास्तुकला के नियम के अनुसार किसी निर्माण कार्य के समाप्त हो जाने पर
स्य के अधिष्ठाता देवता की पूजा की जाती थी इसमें पशुओं की बलि भी दी
ती थी[1]। पूजन के पश्चात् ही उस भवनादि का प्रयोग किया जाता था।

ग्यारहवाँ अध्याय

शिक्षा

शिक्षा-केन्द्र

(१) आश्रम—नगर के कोलाहल तथा अशान्त [illegible] ऋषियों के आश्रम जहाँ शान्ति और निस्तब्धता की प्रचुर [illegible] सर्वोत्कृष्ट केन्द्र थे। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ टागोर हमारे [illegible] कि भारतवर्ष में सबसे आश्चर्यजनक बात ध्यान देने की यह है कि [illegible] जंगल सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के उत्पत्ति-स्थान [illegible] थे परन्तु संघर्ष और श्रम का लेशमात्र भी [illegible] न था। यह आश्चर्यजनक बात है कि इस हमारे जीवन और एकान्तता से [illegible] न बनाकर ज्ञान का विस्तार ही किया[1]। वाल्मीकि [illegible] ऐसे ही ऋषि थे जो उदासीन होते हुए भी शिक्षा प्रदान करने में [illegible] पूरा [illegible] सब इन्हीं ऋषियों द्वारा आश्रम में [illegible] राम ने वाल्मीकि आश्रम में [illegible] को भारने समय [illegible] सीता था।

[illegible] का [illegible] उल्लेख [illegible] में किया है। [illegible] में बड़े-बड़े [illegible] आश्रम थे [illegible] शिष्यों को शिक्षा दी [illegible] प्रकार से ज्ञान में निपुण [illegible] करते थे [illegible] यज्ञ [illegible] के लिए [illegible] और [illegible] के अनुसार [illegible] में [illegible] विशेष [illegible] [illegible] में [illegible] आश्रम [illegible]

१ A most wonderful thing we notice in India is that here forest not the town is fountain head of all its civ[illegible]

—Centres of education in Ancient India by Radha K[illegible] Mukerjee pub[lish]ed in Annals of Bhandarkar Oriental [illegible] Institute Vol XXV —Page 63 & [illegible]

मोक्षधर्म न्याय कला आदि के परम ज्ञाता इस आश्रम में रहा करते थे। यज्ञ की वेदी पृथक्-पृथक् आयत और आकार के बनाए जाने के जो अनेक स्थानों में संकेत हैं, अतः (Solid Geometry) के पारंगत (Zoologist) बन्दर, चिड़ियों आदि के ज्ञानी आदि का भी यहाँ निवास था। अतः यह एक विश्वविद्यालय था। विश्वामित्र और वसिष्ठ आश्रम की भी यही विशेषता थी[1]।

(२) राजाओं के प्रासाद —कालिदास के ग्रन्थों में कण्व वसिष्ठ आदि के आश्रमों का उल्लेख है परन्तु गुरु राजपुत्रों को महल में भी जाकर शिक्षा प्रदान करते थे। रघु की शिक्षा किसी गुरुकुल या आश्रम में नहीं हुई थी। उन्होंने चारों विद्याएँ विद्वानों से सीखी थीं और मंत्रयुक्त अस्त्रों की शिक्षा पिता से ली थी[2]। मालविकाग्निमित्र में भी आचार्य गणदास और हरदत्त मालविका और रानी इरावती को महल में ही शिक्षा दिया करते थे। इन्दुमती अज की कलाविकलाओं में शिष्या थी[3]।

उपर्युक्त वृत्तान्त से दो निष्कर्ष निकलते हैं प्रथम यह कि आश्रमों में ही बालक शिक्षा ग्रहण करें, यह अनिवार्य नहीं था दूसरी बात यह कि ऋषि अथवा आचार्यों के अतिरिक्त पिता अथवा पति भी शिक्षक हो सकता था।

यद्यपि राजमहल में ही शिक्षा प्राप्त करने का प्रबन्ध कर दिया जाता था परन्तु उस स्थान को राजभवन के पास रखते हुए भी कुछ हटा कर निर्धारित कर दिया जाता था[4]।

(३) विहार—कालिदास ने कहीं विहार का संकेत नहीं किया; परन्तु उस समय बौद्ध धर्म का प्रभाव यथेष्ट था। मालविकाग्निमित्र में परिव्राजिका के प्रसंग से इस बात की पुष्टि होती है। बौद्धों के विहार शिक्षा के केन्द्र थे। इनमें यहाँ भी आचार्य और उपाध्याय होते थे। आश्रम और विहार के वातावरण में

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ पृ० ७१–८०

२ पितुः समर्पि ...

बहुत विभिन्नता थी। आश्रमों में वैयक्तिक महत्त्व था। विद्यार्थी के साथ सीधा सम्पर्क रहता था। रुचि और शिक्षा दी जाती थी। विहार में सामूहिक जीवन सामूहिक गौण। सामान्य अनुशासन सामान्य शिक्षा सामान्य धम विहार एक प्रकार से पृथक नगरी (Separate Colon) थी के द्वारा धर्म उपजाया जाता था। इसके विपरीत गुरुकुल मा रहता था। अतः घर की-सी देख-रेख घर का-सा स्नेह विहार में यह भावना न थी। उसका वातावरण आधुनिक था यद्यपि सामूहिक जीवन के साथ-साथ एकान्तिक जीवन और अध्ययन कर सके गुरु के निर्देशन और संरक्षण में इस सुविधा प्राप्त हो जाती थी।

अमीर घर के छात्र समस्त शिक्षा का शुल्क पहले ही दे देते म गुरु की सेवा करते और इसके बदले रात में पढ़ते थे। यहाँ को वहीं रहते थे और पढ़ते थे और एक भी या केवल धर्म के अतिरिक्त) छात्र रहते थे (public Schools) परन्तु कुछ ब्राह्मणों के लिए या केवल क्षत्रियों के लिए (Community School

शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श

कालिदास में शिक्षा का ध्येय 'सम्यगागमिता विद्या उपमा के द्वारा प्रबोध अर्थात् ज्ञान प्राप्ति तथा विनय अर्थात् शील इन दोनों का ही बताना है। केवल ज्ञान से ही मनुष्य पशु नहीं शीलवान् भी होना चाहिए। कदाचित् उनका यही अभिप्राय था कि न होने से मनुष्य के स्वभाव में लोभ मात्सर्य द्वेष ईर्ष्या विकास पा अतः यदि इस प्रकार के मनोविकार जन्म लें तो ज्ञान से कोई लाभ

दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं अपितु का पूर्ण विकास था। शिक्षा का तात्पर्य मस्तिष्क को सूचनाओं से भरना अपितु उसकी शक्ति को विकसित करना था। म न में चरित्र

---

१ Taken from Imperial Age of Unity of India—Education Radha kumud Mukerjee page 591

२ मुनी ... सुविधा सुनते थी। सम्यगागमिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ —रघु १।१३

व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन संस्कृति की रक्षा, धार्मिक और सामाजिक-क्षेत्र में उदीयमान सन्तति का परिस्थिति के अनुसार दीक्षण शिक्षा के प्रधान उद्देश्य थे[1]।

राम, दुष्यन्त आदि के चरित्र से स्पष्ट है कि सत्य बोलना, वचन से मुँह न मोड़ना, पराई स्त्रियों की ओर न देखना, आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, संयम उत्तम शिक्षा के आदर्श थे। सदाचार, पवित्रता और अनुशासन का जीवन के प्रत्येक अंग में स्थान था। उत्तरदायित्व समझना, कर्तव्यपालन और सामाजिक कर्तव्यों पर ध्यान देना मुख्य था।

शिक्षा का सच्चा उद्देश्य और आदर्श इसी बात में है कि वह जीवन का अलंकार और पवित्रकर्ता बने। हिमवान् पार्वती के जन्म से ही पवित्र हो गया था[2]। अतः सच्चा आदर्श यही नहीं कि वह जीवन क्षेत्र और सामाजिक क्षेत्र के लिए योग्य बनाए, वरन् उसके जीवन को पवित्रता की ओर ले जाय। असतो मा सद्गमय उपनिषद् के वाक्य को सार्थक बनाना ही शिक्षा का चरम आदर्श था। थोड़े-से शब्दों में आदर्श जीवन ही आदर्श शिक्षा है। सच्चा मनुष्य वही नहीं जो युद्ध में शस्त्रों के बीच वीरता दिखाए, अपितु जीवन-संग्राम में भी वीर प्रमाणित हो। दिलीप इस प्रकार का आदर्श था जो आकार और बुद्धि दोनों में चरम पराकाष्ठा को प्राप्त कर गया था[3]। रघु और राम भी इसी आदर्श के प्रतीक थे। धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग की प्राप्ति जो शिक्षा कराए वही सच्ची शिक्षा है।

त्रिवर्गसिद्धिनिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ।—रघु० १८।५

१ Formation of character, building up of personality, preserva-tion of ancient culture and training of the rising generation in the performance of the social and religious duties—were the main aims of education.

—Education in Ancient India by Dr. A. S. Altekar

२ प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥

—कुमार० १।२८

आदर्श शिक्षक—शिक्षा के आदर्श के सम्बन्ध में कालिदास [illegible] पर अधिकार करते हैं। आदर्श शिक्षक वही है जो ज्ञान [illegible] पर शिक्षा देना भी जानता हो[1]। जिसकी शिक्षा दूसरों को दी जाती है उसके ज्ञान की वृद्धि होती है[2]। इसके अतिरिक्त वेतन आदि लेकर शिक्षा दान करना निन्दनीय है। आत्म उपकार का रहना चाहिए। [illegible] ज्ञान बेचने वाले शिक्षक का कवि वणिक कहकर उपहास करता है[3]

शिक्षक का कौशल इसी में है कि वह विद्यार्थियों के मन की लगन पात्रता को देख कर उसके अनुरूप शिक्षा दे। इस प्रकार का परिश्रम निष्फल नहीं हो पाता। शिक्षा के लिए यथायोग्य विद्यार्थी का [illegible] का मन [illegible] होता है[4]। [illegible] में शिक्षा [illegible] विद्यार्थी पात्र होता है तो वह उसकी योग्यता में सब कुछ [illegible] आभासित होता है कि वह [illegible] को शिक्षा रहा है[5]। [illegible] पाकर शिक्षक भी अति प्रसन्न होता है। उसे इतनी प्रसन्नता होती है [illegible] के मुख को प्राप्त कर सका हो[6]। विद्यार्थी का मैत्रीभाव बनाना शिक्षक का कर्तव्य था।

शिक्षक वही सफल था जिसके छात्र की प्रशंसा अन्य सदस्य [illegible] प्रमाण निर्णायक की प्रशंसा दी।

१ [illegible] क्रिया [illegible] विशेषयुक्ता।
[illegible] ॥
—माल० [illegible]

२ [illegible] । —माल० अङ्क १ पृष्ठ २

३ [illegible] । —माल० १।

४ [illegible] । —माल० [illegible]
[illegible] ।
—माल० अंक १ पृष्ठ २

५ [illegible] । —माल० १।२

६ [illegible] ।
[illegible] ॥ —माल० १।[illegible]

७ [illegible] गुणान्तरं [illegible] ।
[illegible] ॥ —माल० १।[illegible]

८ [illegible] ।
[illegible] ॥ —माल० ३।[illegible]

गुरु का उत्तरदायित्व—योग्य शिष्य को विद्यादान देना गुरु का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व था[1]। योग्य शिष्य का चुनाव और उसको योग्य बनाने में गुरु की सावधानता थी। शिष्य की योग्यता गुरु की योग्यता थी। अपना सब कुछ सिखा देना गुरु का कर्तव्य था। संक्षेप में शिक्षक अपने आदर्शों का पालन करे यही उसका दूसरे शब्दों में उत्तरदायित्व था।

यथार्थ में शिष्य अपने पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण ही विद्या को देर से अथवा शीघ्र ग्रहण करता है[2]। यह उस समय का विश्वास था परन्तु फिर भी शिष्य के मन्द बुद्धि होने पर भी उसे योग्य-से-योग्य बनाना शिक्षक का कर्तव्य और उत्तरदायित्व था।

शिक्षक का समाज में स्थान—जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से सोए हुए संसार को जगा देता है वैसे ही अज्ञान का नाश कर मनुष्य को नवीन बुद्धि देने में शिक्षक समर्थ होता है। इस उपमा के द्वारा कालिदास ने शिक्षक-वर्ग को सूर्य कहकर उन्हें समाज में अति उच्च स्थान दिया है[3]। अपना सब कुछ सिखा देने वाला शिक्षक न केवल शिष्य के द्वारा अपितु राजा के द्वारा भी अपूर्व सम्मान प्राप्त करता था। गुरुओं का देवता के समान आदर होता था। समय-समय पर विद्या की समाप्ति के पश्चात् भी व्यक्ति परिस्थिति के अनुसार उनके पास जाते और उचित परामर्श किया करते थे। सभी रघुवंशी राजा कुलगुरु वसिष्ठ से प्रत्येक बात निवेदित कर उनसे परामर्श लेते[4] और उनके आदेशों को वेद-वाक्य मानकर अक्षरशः पालन किया करते थे[5]।

---

१ सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता —अभि० अंक ४ पृ० ११

२ तां हंसमालाः शरदीव गंगां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥ —कुमार० १।३०
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।
॥ —रघु० ५।४

शिक्षक-वर्ग—इस युग के अन्तर्गत गुरु[1] आ[illegible] कुलपति[4] आदि कई प्रकार के शिक्षक आते हैं। वसिष्ठ जी गुरु थे। वे कुलगुरु कहलाते थे। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी मुक्त हो जाने के कारण जिसके द्वारा शाप दिया गया था मैं उपाध्याय कहा है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदत्त [illegible] नाम आए हैं। कण्व ऋषि कुलपति कहलाते थे। इन [illegible] है कि इनमें विभिन्नता थी। आचार्य कदाचित् वे कहलाते होंगे के ज्ञाता हों। मालविकाग्निमित्र के आचार्य हरदत्त और [illegible] में ही दक्ष थे। अतः आचार्य एकांगी विद्वान् ही हुआ करते थे। थी वे रघुवंशी सभी राजाओं में जिनमें प्रत्येक को भी अब के प्रकार की विद्या जानने वाले थाव। सारे वेद के साथ दर्शन आदि सभी विद्याएँ उन्होंने राजकुमारों को पढ़ाई होंगी। अतः गुरु [illegible] विषयों के ज्ञाता हुआ करते थे। आचार्य की अपेक्षा गुरु का स्थान भी [illegible] उपाध्याय का सांसारिक और [illegible] का ज्ञाता कहते हैं[5]। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के द्वारा [illegible] हो उस विद्या अर्थात् नाट्यशास्त्र में बता [illegible] दिया था। यही भरत उपाध्याय के रूप में कवि के द्वारा विभूषित किए गए हैं। आश्रम में पुरुषों का गुरु अथवा ऋषियों का स्वामी होता था। कुलपति [illegible] सब उनकी आज्ञा इसी प्रकार शिरोधार्य करते थे जैसे समस्त [illegible]

---

१ अथाभ्यस्य विभावरीं प्रमदी गुरुदाम्पत्या।
सौ [illegible] गुरोरम्यगुरुपदम्॥—रघु० १।९५

२ [illegible] मर्यादानीति इति [illegible] सर्व [illegible]।—विक्रम० अंक ३ पृ० १२१

३ [illegible]।
—मालव० अंक १ पृ० २७

४ अपि [illegible] कुलपति —अभि० अंक १ पृ० ६

५ "The Adhyapaka seems to have been a teacher with the teaching of secular and scientific treatises whose later designation Upadhyaya is often mentioned in the Maha bhashya" —India as known to Panini Page 283

मुख्य प्रयोक्ता व्यक्ति था। वसिष्ठ भी कुलगुरु के साथ कुलपति भी थे[1]। इसी प्रकार कण्व भी कुलपति कहलाते थे[2]।

यह गुरु प्रायः मुनि-स्वभाव के होते थे परन्तु आज्ञा का उल्लंघन किसी प्रकार का व्यवधान[3] अथवा शिष्य की अविनयशीलता[4] इनको असह्य थी। वैसे वे अपने शिष्यों के प्रति अति स्नेह सहानुभूति करने वाले और उदार थे। इनके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे संन्यासी या ब्रह्मचारी अथवा गृही हों। कण्व संन्यासी और ब्रह्मचारी थे[5] परन्तु वसिष्ठ सपत्नीक अरुन्धती के साथ हो रहते हुए अध्यापन किया करते थे[6]।

वेतन—कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि ठीक-ठीक निश्चित हो जाए कि अध्यापक या गुरु का वेतन कितना होता था। ऐसी सम्भावना हो सकती है कि विद्या की समाप्ति पर जो जितना देना चाहता था दे देता था। उसके न दे सकने पर राजा का कर्तव्य था कि वह दे। न दे सकने पर विद्यार्थी का इतना अपमान नहीं था जितना राजा का[7]। इसी गुरुदक्षिणा को वेतन कहा जा सकता है, परन्तु गुरु निर्धनता के कारण किसी का तिरस्कार करे और न पढ़ाए, ऐसा नहीं होता था। गुरु शिष्य की भक्ति से प्रसन्न होकर उसकी गुरु-भक्ति को ही गुरु-दक्षिणा समझ लेता था[8] और कुछ भी नहीं लेता था। कौत्स ऋषि के उदाहरण से इन सब बातों की पुष्टि होती है।

---

१ निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः।
—रघु० १।९

२. अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः—अभि० अंक १ पृ० ९

३ न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः—विक्रम० अंक १ पृ० २९१

४ निर्बन्धसंजातरुषार्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ —रघु० ५।२

५. भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि स्थित इति प्रकाशः।
—अभि० अंक १ पृ०

- तस्य तपोनिधिम्।

दक्षिणा गुरु माँगता था। अब वह चाहे कुछ भी था। उसके द्वारा माँगे जाने पर शिष्य को कहीं-न-कहीं वस्तु देनी होती थी। इसी को विद्यार्थियों की फीस या समझता है। यह दक्षिणा अवश्य और परिस्थिति के होती थी और चाहे तो गुरु नहीं भी लेता था। गुरु कभी कोपित भी बहुत होता था[1]। अब निश्चय निकलता मात्र से पढ़ाने व और धन प्राप्ति का गुण समझते थे। उस गुरु को बनिया कहकर ही तिरस्कृत दृष्टि से देखा गया है। मालविकाग्निमित्र में आचार्य हरदास आचार्य गुण की शिक्षा देते थे परन्तु विदूषक के कहने के ढंग से लिया जाय इन वेतुओं का कारण नहीं था इनको वतन ही था[2]। अवश्य ही वतन लेकर पढ़ाना निन्दनीय समझा सम्भावना लगती है।

गुरुशिक्षा में स्वयम्भु [illegible][3] तथा माता[4] का प्रश्न [illegible] पर उनकी अपनी ही सम्पत्ति हो जाती होगी जिसे व परिवि- अपने आश्रम में रहने वाले शिष्यों के ऊपर व्यय कर देते होंगे। को रखने के लिए आश्रम हो पर चाहिए। इसके अतिरिक्त आश्रमों उपार्जन के लिए खेती या अन्य कोई व्यवसाय न था। अतः जीवन [illegible] को पूरा करने के लिए गाय से दूध दही आदि की स्वल्पताओं से थोड़ा-बहुत अन्न और अन्य आवश्यकताओं को जाती होगी।

विद्यार्थी

शिक्षा प्राप्ति की अवस्था—दीक्षा काल में शिक्षा का [illegible]

१ निरूप्य[illegible]धर्मविधिना [illegible]।
[illegible] विद्यापरिसंख्यया च [illegible] ॥ —रघु०
२. [illegible] उपाम् [illegible] । [illegible] गनेशाम् ।
३ देखिए पाणिनि सूत्र [illegible] १ —मान० अंक १ प०
४ [illegible]
[illegible] ॥

जाता था[1]। चूड़ा-संस्कार के पश्चात् विद्यारम्भ हो जाता था[2]। अतः सम्भावना नहीं है कि इसी वय में शिक्षा पढ़ानी प्रारम्भ कर दी जाती थी। थोड़ा-बहुत वर्णमाला का लिखना-पढ़ना इसी अवस्था में सीखते थे[3]। आरम्भ में तीन प्रकार की शिक्षा दी जाती थी—मौखिक और लिखित[4] तथा व्यावहारिक[5]। उपनयन संस्कार के पश्चात् पूरी तौर से पढ़ाई प्रारम्भ हो जाती थी[6]।

विद्याध्ययन की अवधि—आश्रमों में उपनयन-संस्कार के पश्चात् बालक प्रविष्ट होते थे इसके पूर्व बालक पिता से भी कुछ सीख सकता था। रघु ने बहुत सी बातों की शिक्षा पिता से ही ली थी[7]। इसी प्रकार कुश ने भी विद्या अपने पुत्रों को पढ़ा दी थी[8]। आश्रमों में बालकों की शिक्षा युवावस्था तक होती थी। बाल्यावस्था व्यतीत करने के पश्चात् जब बालक युवावस्था में प्रवेश करता था तभी उसकी विद्याध्ययन की अवधि भी समाप्त हो जाती थी। इसी समाप्ति पर उसका विवाह होता था[9]। राजकुमार आमस जब कवच धारण करने योग्य हो गया तब उसकी शिक्षा समाप्त हो गयी और वह पिता के पास पहुँचा दिया

———— ————

१ पंपावैश्यस्वविद्यानाम्—रघु० ३।८

२ स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ —रघु० ३।२८

३ देखिए पादटिप्पणी नं० २

४ व्यस्तापराधमदमूमिकायां कात्स्न्येन गृह्णाति लिपिम्न तावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ —रघु १८।४६

५ व्यूढ स्थिता किमिपिविधोतथपयुक्तपूर्वोर्ध्वतत्स्यमवामु ।
बालममात्यैरनवाप्ययत्ना अरोपयत्समयु विनीयमान ॥ —रघु० १८।५१

६ अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥
—रघु० ३।२९

७ स्वयं स मेध्या परिवाय पौरवीमपिरतास्यं पितुरेव मन्त्रवत् । —रघु० ३।३१
कृत्स्नविद्यानामवगमयितासावभूत् ।

गया¹। उसके मान पर उसके पिता ने कहा कि पुत्र अब ... । के अब तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो²। शकुन्तला और उसकी सखियाँ वयस्क थीं अब भी आश्रम में रहती थीं और जब दुष्यन्त ने शकुन्तला से पूछा था कि यह जन्म भर आश्रम में वनवास का आचरण ही करेगी अथवा विवाह होने तक ही रहेगी³। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वयस्क तक शिक्षा चलती थी। सम्भवतः सात आठ वर्ष में धार्मिक-शैक्षिक विद्याध्ययन की अवधि थी। परिस्थिति और व्यक्ति की विभिन्नता से भी भिन्नता होती। अतः कोई नियम नहीं लगता। मनु ने ब्राह्मणों का सोलहवें वर्ष में और क्षत्रियों का बाईसवें वर्ष में कहा है⁴। बालक जब धारण करने योग्य हो जाता था तभी विद्याध्ययन समाप्त कर ... । प्रवेश करता था कहकर कालिदास ने भी इसी बात की सम्भवतः पुष्टि की

छात्र का वस्त्र, गुण और स्वभाव

छात्र-वस्त्र—छात्र वल्कल धारण करते थे। ऋषि मुनि की तरह पहनना और कमर में मेखला बाँधना उनकी प्रधान वेश भूषा थी⁵। इसके सिवा ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के कारण वे सिर पर जटाएँ और हाथ में पलाशदंड धारण करते थे⁶।

---

१ एष पर्याप्तविद्य मातुः सम्प्रति ... । ... ते मनु न निर्दिष्टो ... ।

—विक्रम अंक ५, पृ० २

२. ... तथा पूर्वमिन्द्रायपि । ... ।

—विक्रम अंक ५ पृ० २४६

३ ... मन्मथ ... ।
... ॥

—अभि० १।२४

४ ... विदीर्ण ।
... ॥ टीका मल्लिनाथ —रघु० ३।३३

५ ... —रघु० ३।३१

६ ... ।
... ॥ —कुमार० ५।३०

छात्र के गुण और स्वभाव

पहले में छात्र अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के होते थे[1]। ऐसे ही छात्र धीमता से अपने ज्ञान की वृद्धि किया करते थे। अध्ययनशील और रात-दिन परिश्रम करने वाले विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ हुआ करते थे। कौत्स ने अपनी सेवा और भक्ति से गुरु को इतना प्रसन्न कर लिया था कि उनके गुरु ने उन्हें १४ विद्याएँ पढ़ाई थीं[2]। श्रीराधाकुमुद मुकर्जी का कहना है कि विद्यार्थी ¼ भाग अपने गुरु से सीखता था ¼ भाग अपनी कुशाग्र बुद्धि से ¼ भाग अपने सहपाठियों से और शेष चौथाई समय और अनुभव उसे शिक्षा देता था[3]। वे अत्यन्त प्रसन्नभाव[4] और विनम्र[5] होते थे। अपवाद भी मिलता है कोई-कोई अति उग्र स्वभाव वाले भी होते थे जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शार्ङ्गरव।

शिष्य के विविध कर्म तथा कर्तव्य—शिष्य का काम गुरु को प्रसन्न रखना था अतः हर प्रकार का छोटे-से-छोटा और तुच्छ-से-तुच्छ काम करने को वह प्रस्तुत रहता था। गुरु की भक्ति और सेवा ही गुरु की प्रसन्नता प्राप्ति का साधन था। शिष्य अपने गुरु की आज्ञा चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो टालने का साहस नहीं करता था। कौत्स ऋषि ने अपने गुरु के आज्ञानुसार करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ कहीं-न-कहीं से लाकर दी ही थीं। गुरु के वचन शिष्य के लिए प्रत्येक परिस्थिति में मान्य थे। रघुवंशी राजा वशिष्ठ की प्रत्येक आज्ञा का

---

१ धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ —रघु० ३।
—अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। —रघु० ५।४

२ वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ —रघु० ५

३ A student learns a fourth from his acharya a fourth own intelligence a fourth from his fellow pupils and the experience.

किया करते थे। ईंधन जुटाना समिधा लाना [1] समय मालूम करना [2] गुरु । आसन ढोना [3] गुरु की अनुपस्थिति में अग्निहोत्र का काम करना [4] ... शिष्यों के विविध कर्म थे। इनसे ही वे अपने गुरु की प्रगल्भ रक्षा करते थे।

सुशिक्षित के लक्षण—ज्ञान और विनय दोनों का योग सुशिक्षित का था। विद्या की तभी सार्थकता थी जब ज्ञान के साथ अहंकार का समावेश न करती हुई विनय को छात्र में बनाए रखे। शिक्षा आदि संस्कारों से नम्र रहना ही छात्र की विशेषता थी। रघु का यह विनयशीलता ही सबसे बड़ी विशेषता थी [5]।

विषय, शिक्षा-विभाग—सुविधा के लिए सम्पूर्ण विषयों का पृथक् ... समूहों में विभाजन हो सकता है।

शिक्षा—कालिदास ने सब अध्ययन के विषयों को 'विद्या' [6] ही कहा है।

---

१ वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूज्यमानमदृश्याग्नि प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ —रघु० १।४९

२ ... प्रमाणं ... तत्रभवता प्रयागादुपावर्तन ... । प्रसादं ...
... इति ।

—अभि० अंक ४ पृ० ६१

३ ... भगवतापायनेन ... प्रतिपादित ।

—विक्रम अंक ३ पृ० १६२

४ अग्निशरण ... । —विक्रम० अंक ३ पृ० १९२
—... विद्या प्रयोग ... । —रघु १०।३१

५ ... । —रघु० ३।१४
—... । —रघु० ३।१५

६ ... —रघु० १।८
—... । —रघु० १।२३
—... ।
... ॥ —रघु० १।८८
—... । —रघु ३।२०
—... ॥ —रघु० ३।२१
—... विद्या प्रयोग ... —रघु० १०।३१
—... विद्या ... ।

—रघु०, १८।२०

इस विद्या को कहीं वे तीन प्रकार की[1] कहीं चार प्रकार की[2] और कहीं वे चौदह प्रकार की[3] बताते हैं। त्रयी विद्या में वेद वार्ता और दंडनीति कही जाती हैं[4]। वेद के अन्तर्गत चारों वेद वेदांग—छन्द मन्त्र निरुक्त ज्योतिष व्याकरण शिक्षा ब्राह्मण उपनिषद् आरण्यक उपवेद य धनुर्वेद आयुर्वेद स्मृतिशास्त्र इतिहास काव्य पुराण सब लिए जाते हैं। वार्ता के अन्तर्गत कृषि तथा व्यापार दंडनीति य राजनीति। दंडनीति में सम्भवतः कौटिल्य का अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र और उशनस् के सूत्र हों। कालिदास ने उशनस् का में संकेत किया है[5]।

चार प्रकार की विद्या के अन्तर्गत आन्वीक्षिकी वार्ता त्रयी और दंडनीति है मल्लिनाथ का ऐसा ही उद्धरण है[6]। आन्वीक्षिकी में प्रथम तर्क त्रयी में वर्ताय वार्ता में व्यापार और दंडनीति में राजनीति आते हैं। वार्ता[7] दंडनीति[8] दोनों का प्रसंग कालिदास में है। कौटिल्य के मतानुसार सांख्य योग और लोकायत हैं[9]। कहना असंगत न होगा कि हिन्दू इन्हीं सिद्धान्तों का कवि ने संकेत किया है। मीमांसक का नित्य का संकेत 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' में मिलता है[10]। इसी प्रकार

---

१ स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपारा स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्या प्रकृतीश्च पित्र्या ॥ —र

२ धिय समग्रैः स गुणैरुदारधी क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमा ।
निवर्गसंस्कारणात्पात्र्यर्दमर्षिस्थापिता पुरुषापमुक्त ।

३ विद्यस्य विद्यापरिसंख्यया म कोटीस्थयत्नो इव बाहुर्ति ॥ —
तस्यार्थिममस्य प्राप्तेऽमूर्त तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्तादंडनीति —।

४ —मल्लिनाथ टीका

५ अध्यापितस्योशनसापि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते । —कु

६ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
परिकीर्तिताः ॥ —टीका

की समाधि में पतञ्जलि के योगसूत्र का आभास[1] ... और कुमारसम्भव में शिव की समाधि में[2] योगशास्त्र का ... राजा वसिष्ठ, जो इसी रघुवंश के राजा थे ... का प्रथम है ... के शिष्य बनकर उनसे योग सीखा था और संसार के ... थे। अतः जैमिनि के योग का भी साक्षात् प्रसंग कवि ने ...

जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कवि योग ... का उल्लेख करता है। याज्ञवल्क्य और मनु योग प्रकार की ...

१ [illegible] ।
[illegible] ॥
—[illegible] ।
[illegible] ॥

—[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥

—मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥
२ [illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु० ८।१

—[illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु०

—[illegible] ।
[illegible] ॥ —रघु०

३ [illegible] ।
[illegible] ॥ —कुमार० १
—[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ —कुमार० १

में ऐसा प्रसंग भी है[1]। कवि ने वेदांग[2] शब्द का भी प्रयोग किया है जिससे छन्द व्याकरण शिक्षा उपनिषद् आदि सभी की पुष्टि होती है।

भगवद्गीता—मत्सर क्रोध काम आदि दशाएँ तथा समाधि में चित्त को वश करनेवाला योगी वायुहीन स्थान में दीपक के समान रहता है भगवद्गीता में वर्णित है। इसका संकेत कुमारसम्भव में है। शिव जी की तपस्या में इन मत्सरों की—मत्सर प्रभृति और काम[3]—प्रशमित हुई है। उनकी तपस्या भगवद्गीता की वायुहीन स्थान में दीपक के समान कही गई है[4]।

गीता के बहुत-से सिद्धान्तों की प्रतिच्छाया कालिदास के ग्रन्थों में मिलती है—

(१) अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। (गीता १५।१८)
हरिरेवैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः। —(रघु० ३।४९)

(२) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा—(गीता ४।३७)
प्रययौ हृदयेश्वर स्वकर्मणा वपुरविज्ञानमयेन वह्निना। (रघु ८।२)

(३) समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। (गीता १४।२४)
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः। (रघु० ८।२१)

(४) नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि। (गीता ३।२२)

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥ (रघु १०।३१)

इसी प्रकार आत्मा की अमरता भगवान् की महानता अनुग्रह, अभिव्यक्ति अवतार कर्मयोग भक्ति ज्ञान सब में गीता की झलक दीखती है।

शास्त्र—यद्यपि शास्त्र के अन्तर्गत अर्थशास्त्र कामशास्त्र नाट्यशास्त्र

---

१ त्रयी विग्रहवत्येव सममध्यात्मविद्यया —मालविका० १।१४

२ तां च वेदमभ्यास्य किंचिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम्॥ —रघु० १५।३३

३ मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ —कुमार ३

ण्यायविद्याशास्त्र आदि सभी लिए जा सकते हैं परन्तु कवि म राजनीति के ही अर्थ में किया है[1]।

नीतिशास्त्र : राजनीति—राज्य चलाने के लिए प्रकार की विद्याओं[2] का जानना परमावश्यक था। राज्य न किए रहता था[3]। शत्रुओं का दमन करने के लिए और रा बनाने के लिए साम दाम दंड भेद का उचित प्रयोग जानना खोट शत्रुओं को उखाड़ फेंकना[4] गद्दी पर बैठते ही उसको उखाड़ देना[5]। दूसरे का कमी खोजने से पूर्व अपना कमी राजनीति का ही अंग है। दण्डनीति[6] या दण्डों के अन्तर्गत है। दूसरों के साथ छल कर और धोखा देकर अपना काम नि नीति है। कवि इस विद्या को पराविमर्षपान विद्या[7] कहता है।

---

१ पासभ्यनुष्ठिता बुद्धिमतां धर्मनि चामता —रघु॰ ११११
—पारमुद्रमाह—भास॰ अङ्क १ पृ २१८
२. नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥—रघु॰ १७।३८
३. बालक प्रकरणमिव प्रतिकूलकारी च मे वत्स।—भास॰ अङ्क १
४ इति क्रमात्प्रयुञ्जाना राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थमप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥
—कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥
—रघु॰ प्रतापमत्यायतनीना तस्य दुष्करम्।
रघो दण्डमिवास्य गच्छमिस्मात्यरश्मिम ॥—रघु॰ १७।५८ ६१
५. बालक प्रकरणमिव प्रतिकूलकारी च मे वत्स। तदाउन्नत्य स्थितस्य मोहस्थितमनुभूतमाना धीरगम्भीरं दशवक्रमाराय।
—भास॰ अङ्क १ पृ॰ २९
अधिपर्यस्थितराज्य प्रभु प्रकृतिष्वप्रमुमस्तात्।
अमरोत्सर्गादिचिराज्यरिव सुकर गमुन्मुत् ॥—भास॰ ११८
औत्सर्गिकं विमुखति यदि पूर्व मन्दं मम स्यात्।
मास्मा मायावेनसत्रो मया कम्पनागदः ॥—भास॰ ११७
८ नवापि तावत्स दण्डयोगारम्भा नाम स दण्डनीते।—रघु॰ १८।४९
९ आत्मनः सम्यमतिर्मितां कदम्यामार्गं वर्तनं समरे।
परापिगम्यामदधीन्द्रे ८।३८।३ स ग्नु विनान्याव ॥—अभि॰ ३।१३

दर्शनशास्त्र—कवि की व्याख्या करते समय पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दू दर्शनशास्त्रों के सभी सिद्धान्तों का कवि ने संकेत किया है। जैमिनि ऋषि के सिद्धान्त, पतञ्जलि का योगसूत्र और मीमांसा के सिद्धान्त कालिदास के ग्रन्थों में बिखरे हुए हैं। समस्त जगत् में एक ही तत्व भरा है, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सब उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं यह वेदान्त शास्त्र की कल्पना सर्वत्र है। कुमारसम्भव में ध्यानावस्थित शिव का जो रूप कवि के द्वारा वर्णित है उससे योगशास्त्र का अच्छा परिचय मिलता है। पर्यङ्कबन्ध[1] और वीरासन[2] आदि भी कवि के द्वारा चित्रित हैं। यही नहीं वैशेषिक दर्शन से भी उनका पूर्ण परिचय था। रघुवंश में शब्द आकाश का गुण है इसकी स्पष्ट व्यञ्जना है[3]। यदि सांख्य-सिद्धान्त देखते हैं तो कुमारसम्भव में देखिए जहाँ वे कहते हैं कि आपको ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए मनुष्य को प्रवृत्त करने वाली मूल प्रकृति कहते हैं और आप ही उस प्रकृति का दर्शन करने वाले उदासीन पुरुष भी माने जाते हैं[4]।

अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र की बहुत-सी संज्ञाएँ—प्रकृति, प्रसमन, मूल आदि कवि के द्वारा प्रयुक्त की गई हैं, जिन्हें नीतिशास्त्र के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थशास्त्रकारों ने दिन और रात के विभिन्न विभाग किए हैं इसी के अनुसार राजा की दिनचर्या नियत की है। रघुवंश में इसकी स्पष्ट अभिव्यञ्जना है[5]। अर्थशास्त्र के नियमानुसार अग्निमित्र, पुरूरवा, दुष्यन्त की आमात्य परिषद् थी जिसकी सलाह से राजा काम किया करते थे।

खगोल-शास्त्र—यामित्र[1] उच्च संस्थ[2] आदि संज्ञाओं के प्रयोग देखकर

---

१ पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये॥ —कुमार० ३।४५

२ वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि॥—रघु० १३।५२

३ अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच॥—रघु० १३।१

४ त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥—कुमार० २।१३

इस विद्या के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। लिए भी कवि इस शास्त्र के तथ्य और सिद्धान्त लेता है की तरह लोगों का नाश करने के लिए उत्पन्न हुआ[1] चढ़ाई करने वाला राजा उत्तरपथ दिशा को नष्ट करता भौंह चढ़ाकर मदन म शंकर के शरीर म प्रवेश ... उत्तराभिमुखी नक्षत्र से जब योग होता है तब मैत्र मुहूर्त ... म सुहागिन स्त्रियों ने पार्वती के कर गृहे[3]। इसी प्रकार पूर्वराशि पर आता है[4] आदि सिद्धान्त रोहिणी नक्षत्र[5] बिना कभी इस शास्त्र की संज्ञाएँ कवि ने अपने भाव प्रकाशन अवसर प्रयुक्त की। पुनर्वसु नक्षत्र के समान रामचन्द्र और लक्ष्मण जैसे वर्षा के इस मौसम में ठहरता हुआ गुप्त शरीर को घूम अतिथि-सत्कार करने वाले साधियों के आश्रमों म टिकते हुए की ओर चले[8]। ये उपमाएँ उपरोक्त कथन की पुष्टि करती हैं पर ये कहते हैं कि निर्मल चन्द्रबिम्ब पर पड़ी पृथ्वी की छाया का ...

---

१ मवस्त्रयपरीतीमस्तारकाग्नो महागुर।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थित ॥ —कुमार० २।३२

२ दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य काम पुर शक्रमिव प्रयाग।
मास्तेव संमत्तममेत्यनामं ध्यानास्पदं मन्मथोऽविशत ॥ ...

३ मैत्र मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु।
तस्या शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो या पतिपुत्रवत्य ॥

४ सावत्रावारको राशिमिथुनं प्रतिपन्नं न वर्षति। ... ।

५ एष रोहिणी मनोरञ्जनापि तोमते भगवान् मान्मथ ...।
—मार० अंक ३ पृ०

६ ...स्याद्विनीतां नियमपोषरया ... ... इव ...।
—मार० अंक ३ पृ०
अपुनर्विनो राजति। —विक्रम० अंक १ ... १११

७ सौ विश्लेषयोऽनिर्वाणमा ना ... ... पतत्तु —रघु० ११।११

८ प्रवचनानिसज्ज ... काल्पित ... म
र्दाणा निवास ... मान्दर। —रघु० १२।२२

का कलंक कहते हैं[1]। नक्षत्रों में उन्होंने बुध और बृहस्पति[2] को भी नहीं छोड़ा। 'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्'—अभि० ७।२२। चन्द्रपूर्णिमा के दिन सागर में ज्वार आता है—'चन्द्रप्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'—(रघु० ५।६१) 'चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः'—(कुमार० ३।६७) सूर्य की प्रभा ही संसार को जीवनदान करती है—'लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः' (रघु० २।४) सूर्य की किरणों से ही चन्द्रमा में ज्योति आती है—'करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा'—(कुमार० ७।८)। इसी बात को २०० वर्ष बाद अंग्रेजी कवि शैली ने लिखा—

The moon had fed exhausted form at the sunset's fire

नाट्यशास्त्र—विक्रमोर्वशीय में कवि ने भरतमुनि-प्रणीत नाटक का नाम लिया है[3]। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में पञ्चांग अभिनय[4] छलिक गुरम[5] कुमार सम्भव में शिव-पार्वती के विवाह के पश्चात् शृंगार आदि रसों वाला और सन्धियों से युक्त अप्सराओं द्वारा खेला गया नाटक नाट्यशास्त्र के विस्तृत परिचय की पुष्टि करता है[6]। इसमें सन्धि वृत्ति रस राग सभी संज्ञाओं के नाम आए हैं।

भौतिक-शास्त्र—भौतिक-शास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है अतः यह विषय उस समय प्रचलित अवश्य होगा। एक स्थान पर कवि कहता है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेता है और सहस्र गुना बरसा देता है[7]। लगभग इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कुमार सम्भव में है—नदियाँ गरमी में सूर्य की किरणों को जल पिला कर छिछली हो

---

१ छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।
—रघु० १४।४०

२ लोपायनं बुधबृहस्पतियोग्यलुप्ततारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम्।
—रघु० १३।७६

३ तस्मिन्मुने सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरे तन्मयी आसीत्। —विक्रम० अंक ३ पृ० ११२

४ देव शर्मिष्ठया कृतिं चतुष्पादोत्थं प्रसिद्धं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।
—माल० अंक १ पृ० २७८

५ इदानीमेव पंचांगाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीपिका

जाती है, उन्हीं नदियों में वर्षा आने पर बाढ़ आ जाती है[१]। ... परिवर्तित कर पुनः समुद्र में डालता है[२]। धुएँ, अग्नि, जल ... से ही बादल की सृष्टि होती है[३]। पहली वर्षा को सही पड़ी गरम ... जंगल की लकड़ी की आग चाहे पृथ्वी को जला दे पर पृथ्वी को ... बना देती है[४] आदि बातों से उनके भौतिकशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान परिचय मिलता है।

फलित ज्योतिष शास्त्र—मालविका के विषय में एक साधु ने ... से होने वाली बातों जनता को थी कि इसे एक वर्ष तक दासी ह... पड़ेगा पर इसके पश्चात् बड़े योग्य पति से इसका विवाह हो जायगा[१] भविष्यवाणी पूरी हो गई थी, अतः इस शास्त्र के अस्तित्व की भी पुष्टि ...

काम शास्त्र—कण्वमुनि का शकुन्तला को उपदेश वात्स्यायन के ... से बहुत मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के प्रथम अंक में सखियों की ... से बातचीत शकुन्तला की लज्जा बहुत कुछ कामसूत्र के 'कन्या ... अभियोग' आधार पर है। इसमें यह बताया गया है कि कन्या-अवस्था की अपने प्रियतम से किस प्रकार बोलना चाहिए। 'उसको चाहिए कि सखियों द्वारा प्रियतम से सम्भाषण प्रारम्भ करे। वार्तालाप के मध्य में कभी सिर झुका कर स्मित हास्य करे। सखी के व्यंग्य करने पर ... हो और उसके कहने पर कि 'नायिका ने मुझसे ऐसा कहा है' अस्वीकार नहीं नहीं आगे भी कहा गया है कि प्रियतम द्वारा उत्तर की याचना ... भी मुख से एक शब्द भी न निकाले और यदि कुछ निकाले भी तो वह ... पड़े। प्रियतम को देख कर मन-कटाक्ष फेंके और स्मित हास्य करे। ... शाकुन्तलम् में इसको बहुत कुछ दिया है। अज और इन्दुमती की

---

१ ... ... पुनरोपम ... ।—कुमार० ४।४४
२ ... ... ।—रघु० १३।४
३ धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः —मेघदूत पूर्वमेघ ५
४ ... ...
... ... ।—पूर्वमेघ १२
—... ... ... ।
—कुमार० ५
५ ... ... ।
—रघु० ६

६ मा० अंक ५, पृ० १२१।

का कलंक कहते हैं[1]। नक्षत्रों में उन्होंने बुध और बृहस्पति[2] को भी नहीं छोड़ा। उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्—अभि ७।२२। चन्द्रपूर्णिमा के दिन सागर में ज्वार आता है—'चन्द्रप्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली' (रघु ५।६१) चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि—(कुमार० ३।६७) सूर्य की प्रभा ही संसार को जीवनदान करती है—'कोकेन वर्त्मन्यमिवोष्णरश्मे' (रघु ५।४) सूर्य की किरणों से ही चन्द्रमा में ज्योति आती है—करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशांकरेखा'—(कुमार० ७।८)। इसी बात को २००० वर्ष बाद अंग्रेजी कवि शैली ने लिखा—

The moon had fed exhausted form at the sunset s fire

नाट्यशास्त्र—विक्रमोर्वशीय में कवि ने भरतमुनि-प्रणीत नाटक का नाम लिया है[3]। मालविकाग्निमित्र के प्रथम अंक में चर्तोम अभिनय[4] छलिक नृत्य[5] कुमार सम्भव में शिव-पार्वती के विवाह के पश्चात् शृंगार आदि रसों भावों और वृत्तियों से युक्त अप्सराओं द्वारा खेला गया नाटक नाट्यशास्त्र के विस्तृत परिचय की पुष्टि करता है[6]। इसमें सन्धि वृत्ति रस राग सभी संज्ञाओं के नाम आए हैं।

भौतिक-शास्त्र—भौतिक-शास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों का प्रतिपादन कालिदास के ग्रन्थों में मिलता है, अतः यह विषय उस समय प्रचलित अवश्य होगा। एक स्थान पर कवि कहता है कि सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जल सोख लेता है और सहस्र गुना बरसा देता है[7]। लगभग इसी सिद्धान्त की पुनरावृत्ति कुमार सम्भव में है—नदियाँ गरमी में सूर्य की किरणों को जल पिला कर जिसमें हो

---

१ छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः।
—रघु १४।४०

२ योपातर्न बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम्।
—रघु० १३।७६

३ तस्मिन्पुन सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे तेषु तेषु रसान्तरे तन्मयी आसीत्। —विक्रम अंक ३ पृ० १६२

४ देव शर्मिष्ठायाः इति चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।
—माल अंक १ पृ २७८

५ इदानीमेव पंचाङ्गाभिनयमुपदिश्य मया विश्रम्यतामित्यभिहिता दीर्घिका-

जाती है उन्हीं नदियों में वर्षा आने पर बाढ़ का परिवर्तित रूप पुनः स्पष्टतः म दीखता है[१]। वर्षा से ही बादल की सृष्टि होती है[३] पहली वर्षा की झड़ी जंगल की लकड़ी की आग चाहे पृथ्वी को जला दे पर बुझा देती है,[४] आदि बातों से उनके मौ[illegible] परिचय मिलता है।

फलित ज्योतिष-शास्त्र—पार्वती के विषय में होने वाली बातों नारद की थी कि इसे एक बार तक पढ़ेगा पर इसके पश्चात् बड़े योग्य पति से इसका विवाह भविष्यवाणी पूरी हो गई थी अतः इस शास्त्र के अस्तित्व की

काम-शास्त्र—कण्वमुनि का शकुन्तला को उपदेश से बहुत मिलता है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में से वात्स्यायन शकुन्तला की लज्जा बहुत-कुछ कामसूत्र के अधिकरण आधार पर है। इसमें यह बताया गया है कि लज्जा का अपने प्रियतम से किस प्रकार बरतना चाहिए। 'उसको सखियों द्वारा प्रियतम से सम्भाषण प्रारम्भ करे। कभी सिर झुका कर स्मित हास्य करे। वार्तालाप के हो और उसके कहने पर कि 'नायिका ने मुझसे ऐसा कहा है, कहे नहीं आवे भी कहा गया है कि 'प्रियतम आप उत्तर को मी मुख से एक शब्द भी न निकाले और यदि कुछ निकाले भी तो पे। प्रियतम को देख कर मन-कटाक्ष फेंके और स्मित हास्य करे'। शाकुन्तलम् में इसको बहुत-कुछ पाया है। अज और इन्दुमती की

१ दिनेषु गच्छत्सु समानपूर्वी शुभ्रपेन हि पुनर्नवे गवा। —कुमार० ४।४४
२. मम स्वच्छ पदीव्योतोऽमाभिर्विमजतावहि बहुलि। —रघु० १३।४
३ पूर्वपयोतिर्मानमस्तो सम्मिलत का मेन —मनपुत पूर्वमेघ १
४ पाने पाने बहति मरुतो यस्य संयोगमेत्य
स्वामवतिर्षिर्धवनस्पर्शं पुंसो वानरकृत्तम्। —पूर्वमेघ १२
—वनान्ते बालस्मिर्दग्धा अप्युत्कानमनुभृत्यकम्।
५. इत्थं रजन्यां पथ गिरिरप्सन्सिलो शीघ्रगत्मनी मानस कीर्तिः।
—कुमार० ६।७३
६ मा० अंक ५, पृ० १११।

का वर्णन कवि ने कामसूत्र के अनुसार ही किया है। अग्निमित्र को इरावती ने कामतन्त्र-सचिव कहा है[1]। विवाह प्रकरण के ही कामशास्त्र के बहुत-से सिद्धान्तों की पुष्टि की जा चुकी है।

धर्मशास्त्र—धर्मशास्त्र के अनुसार निम्नस्थान मनुष्य का धन ... मिला किया जाता है। इसका संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलम् में है। किस का क्या दण्ड मिलना चाहिए, रघुवंशी राजा यह बात भली भांति जानते

इतिहास—मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र का सेनापति की पदवी रखना और अश्वमेध यज्ञ करना आदि ऐतिहासिक बातें हैं। वाल्मीकि पुराण आदि का भी ज्ञान कवि को है अतः इतिहास विषय अवश्य उस समय होगा। शकुन्तला में इतिहास शब्द का प्रयोग आया है[4]।

भूगोल—भूगोल भी शिक्षा के विषयों में से एक था। कुमारसम्भव समस्त मेघदूत इसके साक्षी हैं। हिमालय पर्वत का सांगोपांग वर्णन ... के किनारे केसर की उत्पत्ति[5], बंगाल के शालि धान्य[6], दक्षिण में ताम्रपर्णी के तीर पर मोतियों के कारखाने[7], नगर वर्णन अलकापुरी तक की यात्रा पर्वत नदी पर्वत पर रात्रि के समय ओषधियों का चमकना[8] आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। दक्षिण दिशा में समुद्र के किनारे सुपारी के पेड़[9], मलयाचल

---

१ इयमस्य कामतन्त्रसचिवस्य नीतिः। —माल० अंक ४ पृ ११५

२ राजयामो तस्यापराधस्य इत्येतदस्मात्सेम लिखितम्।

३ यथापराधदण्डानाम् —रघु० १।६ —अभि० अंक ६ पृ १२१

४ मातृभी इतिहासनिबन्धेषु कामयमानामवस्था प्रयते तावद् ते पश्यामि।

५ विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः। —अभि० अंक १ पृ ४४
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥

६ आगारशूममपता

की तराई में पानी मिश्र[1] आदि कवि के भौगोलिक
की दिग्विजय और अयभूत भूगोल के अनुसार उदाहरण

व्याकरण—रघुवंश प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक
वागर्थप्रतिपत्तये तथा दाशरथिप्रभावः (रघु० ३।११) —
कवि के समय में शब्दों का इतिहास और उनका उत्पत्ति
में आये। एक स्थान पर अर-अप् का मिश्र कवि प्रवृत्ति —
करता है[२]। रघु[३] अज[४] और निर्वचन नामों की उत्पत्ति
है। दशरथ की वीरता की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है।
पीछे सेना चल रही किन्तु वह बने ही रथ को जैसे ह
उगाय। अतः व्याकरण को विशेष विवर हाथ[५]

शिक्षा—उदात्त अनुदात्त स्वर[६] उच्चारण[८] आदि के
सम्बन्ध और रघुवंश में प्रमाण हैं।

काव्य—कालिदास आदि कवि वाल्मीकि के आभारी हैं।
दो स्थानों पर आता है। कवि के सभी कथानक पुराण से लिए

१ कैरब्धमृविनाम्बन्य विविमोगगमाप्नन ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यका ॥ —रघु ४।४६
२ गौन्मन्ब्रवपुमसाम प्रतनयद्दविरागमस्मिम । —रघु ११।
३ धनस्र पाताररमस्ससमात्स्मवा परेता मपि भवि पाचिव ।
मरन्न पानागमनायमयनिचकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥ —
४ काम पुर्वं शिस इस दवौ कुमारकल्प सुरव कुमारम् ।
का शिता बधाय एव नाम्ना समारमजन्मानमजं चकार ॥ —रघु०
५ अन गम्नु त्रिपदाभि स्वम् । —अभि० अ० (पृ ११
६ रामोन्मानुन्ना सेना सन्नापगिदय ।
परमान्वरसनापन्न पानीर्मपरियामरा ॥ —रघु० १।१६
७ उदाय प्रन्त्रा मामो न्यायलिमिन्योन्म् ।
रम मन एन्तं रान्ध्राग तं प्रन्गो न्यिम् ॥ —कुमार० ।१२
८ कुवन्न वधीयुन बनस्यानगमोन्ति ।
अभूव हर्गनारा बरिवान्र भारा ॥ —रघु० १०।१६
९ अथवा इत्यासरी बंटैन्गिमूरपूर्णि ।
दन्तो बयगमरबोर्वं गूश सन्नि वे ल्य ॥ —रघु ११४
—मार्ग च बस्मरन्य रिविकुमारन् न्यो ।
राशनि ——मान बन्निपमार्न्य ॥ —रघु० १४।३३

पुराण भी उस समय पढ़े और पढ़ाए जाते होंगे। राम और
जाते हुए विश्वामित्र मार्ग में उन्हें अनेक कहानियाँ सुनाते चलते हैं[1]
वे ही कथानक होंगे। प्राचीन कवियों और उनके काव्यों का ज्ञान
कराया जाता होगा। स्वयं कवि अपने पूर्ववर्ती भास सौमिल्ल,
नाम लेता है[2]।

टेक्निकल शिक्षा (Technical Education)

अथर्ववेद : आयुर्वेद—मालविकाग्निमित्र की कौशिकी आयुर्वेद-
उसने साँप काटे का इलाज बताया है कि या तो उस अंग को काट
या जला देना चाहिए अथवा दाह में से लहू निकाल दिया जाय तो प्राणी
बच जाते हैं[3]। रघुवंश में कवि उपमा देता है कि ऐसे दुष्टों का वसी
परित्याग कर देता था जैसे साँप से डसी उँगली काट दी जाती है[4]।
मदमाते मनुष्य को मिश्री और भी उन्मत्त कर देती है[5]।

धनुर्वेद—अंकुश[1] कसाव[2] आदि संज्ञाएँ और संगम
को नहीं मारना चाहिए,[3] हाथियों को एकत्र करना[4] राजा की सुर
आदि धनुर्वेद के विषय हैं।

---

१ पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः। —रघु० ११।
२ प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्त
कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।
—माल० अंक० १ पृ०
३ छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः॥ —माल० ४।४
४ त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता। —रघु० १।२८
५ वचनम् एतत्तु सीधुपानोद्वेजितस्य मत्स्य

सैनिक-शिक्षा (Military Education)

धनुर्विद्या तथा अन्य शस्त्रों की शिक्षा—धनुर्विद्या तथा शस्त्र-संचालन क्षत्रियों की शिक्षा का मुख्य अंग है। क्षत्रियों का काम रक्षा करना था। उनके हाथ में सदा धनुष रहता था जिसे वे किसी भी अवस्था में पृथक् नहीं कर सकते थे[1]। इसलिए धनुर्विद्या शिक्षा का मुख्य अंग था। रघुवंशी सभी राजा धनुष चलाने में निपुण थे। राजा दिलीप धनुष चलाने में अद्वितीय थे[2]। रघु की दिग्विजय उनके शस्त्र-संचालन की योग्यता की द्योतक है। अज भी स्वयंवर से लौटकर सब राजाओं से युद्ध करते हुए विजयी हुए। दशरथ का निशाना अचूक था[3]। श्रवणकुमार इसी कारण नहीं बच सका। राम का धनुष तोड़ना तथा रावण युद्ध उनकी रण-दक्षता का साक्षी है। राजा सुदर्शन छोटे ही थे पर बाल्यावस्था में ही धनुष चलाना सीख गए थे[4]। कालिदास का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जहाँ इस विद्या का अतिशय न हो। पुरूरवा का उर्वशी-उद्धार, दुष्यन्त का आश्रमरक्षा के हित धनुष-बाण उठा लेना मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र की विजय इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। विक्रमोर्वशीय में आयुष ने इस विद्या का भलीभाँति अध्ययन किया था। 'गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीतः' इसका पुष्ट प्रमाण है[5]।

धनुष के अतिरिक्त अन्य शस्त्र भी थे। इनमें शूल[6] शक्ति[7] परशु[8] चक्र[9]

---

1 कुमारस्यायुधमर्मवर्जितं बद्ध्वा प्रणमति। —विक्रमो॰ अंक ५, पृ॰ २४९
—धानुष्क न धनुर्भर्तृ त्यजन्। —रघु॰ ११।६४

२ पार्श्वेष्वपुंखिता मुष्टिर्मौर्वी धनुषि चातता। —रघु॰ १।१९

३ रघु॰ सर्ग ९ सम्पूर्ण।

४ स्थाने स्थितः [illegible] ।
[illegible] ॥—रघु॰ १८।५१

५. विक्रम॰ अंक ५ पृष्ठ २४६।

६ [illegible] शूली [illegible] । —रघु॰ १५।५

७ ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदय [illegible] ॥ —रघु॰ १२।७७

८ [illegible] परशुधारया मम। —रघु॰ ११।७८

९ [illegible] —रघु॰ ७।८६

परिघ[1] मुद्गर[2] पुरज[3] भस्त्र[4] शरा[5] शतघ्नी[6], प्र
पाश्मनी[8] के नाम लिए जा सकते हैं। समय-समय पर फेंके जाते थे[9]। मन्त्र पढ़ कर अस्त्र फेंकना भी सबको सिखाया इनमें गान्धर्वास्त्र[10] मोहनास्त्र[11] और ब्रह्मास्त्र[12] के नाम लिए हैं। चक्र और विविध मन्त्रों[13] का भी प्रयोग हुआ करता था।

चाप कई प्रकार के थे किन्हीं में कंक का पर[14] और किन्हीं में मोर

---

१ २ पादपाविद्ध परिघ शिलानिष्पिष्टमुद्गर ।
अतिशस्त्रनखन्यास शैलरुग्णमतंगज ॥ —रघु० १२।७३

३ मामो भिषाजपरिभोगकपूलमोपानृवद्गनारकार नृपतिर्निर्निर्ववै मार्ग
—रघु ८

—स सुबाहुरिति राक्षसःपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ —रघु ११।

४ भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् । —रघु० ४।६३
—तस्यार भो मल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः । —रघु० ७।५
—भ्रमरावृरिव प्रवर्तितास्य भरविरलयविकष्मसल्लवर्षी –रघु० ६।५

५. व्यरश्ती पराम्यासतसप्रहारी चमापुषी बाहुविमर्दनिष्ठौ —रघु , ७।५२

६ अथ पोजुषितां रत्न शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ —रघु० १२।९५

७ मर्मिभद्भिपत्ताद्पहृर्तोतनोय सधौ विमानप्रभुतामुपेत्य —रघु० ७।५१

८ देखिए, पादटिप्पणी नं० ६

९ नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् —रघु० ४।७७

१० गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं —

११ सम्मोहनं नाम मन्

लगा रहता था अथवा अन्य किसी भी पक्षी का पर। कोई सर्प की तरह होता था[1] कोई मकर की तरह[2]। कोई-कोई प्रकाश निकालता हुआ चलता था[3]। किसी पर नाम खुदा रहता था[4]।

सेना के कई विभाग थे। पैदल[5] घुड़सवार[6] रथ[7] हाथी[8]

---

१ [illegible] —रघु० ३।५७

२ रघु [illegible] —रघु० १।७६

३ [illegible] —रघु० ३।६०

४ [illegible] नामाङ्कितं चापभृतः सदर्पः। —रघु० ७।३८

—[illegible] —रघु० १२।१०३

—निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य। —कुमार० ३।२७

—भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् —रघु० ३।५५

—उर्वशीसम्भवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः।

कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम् ॥ —विक्रम० ५।७

५ पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम्।

यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ —रघु० ७।३७

६ संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः।

शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ —रघु० ४।६२

—ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः।

वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ —रघु० ४।७१

७ रथ—देखिए पादटिप्पणी नं० ५

—पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्। —रघु० ३।४२

—[illegible]।

[illegible] ॥ —रघु० ४।३०

—न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्।

रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ —रघु० ४।८२

—इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।

रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ —रघु० ४।८६

८ हाथी—देखिए पादटिप्पणी नं० ५

—[illegible]।

[illegible] ॥ —रघु० ४।२९

—[illegible] —रघु० ६।८०

—[illegible]। —रघु० ५।५४

नौसेना[1]। अतः प्रत्येक प्रकार की गतिविधि अर्थात् जैसे घुड़सवार की चाहिए, जैसे हाथी पर बैठ कर आदि-आदि भी अवश्य सिखाया जाता था।

कालिदास ने सेना का वर्णन करते हुए छह प्रकार की सेना का [illegible]न। है।[2] परन्तु ये प्रकार रथ पैदल आदि की तरह नहीं है। सेना कितनी थी कितनी अस्थायी सेना की वृद्धि किस प्रकार होती थी आदि-आदि ही स्पष्ट होता था। जो भी हो इससे इतना अवश्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है सैनिक-शिक्षा का सब समय प्रचार था।

ललितकला

संगीत—संगीत के तीनों प्रकार कंठ्य वाद्य और नृत्य का उल्लेख कवि ने किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में गाया हुआ गीत इतना सुन्दर था कि सब प्रेक्षक उसमें तल्लीन हो गए थे। इसी प्रकार हंसपदिका का उलाहना भरा गीत लव और कुश का रामायण-गान आदि इस कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पार्वती के मुख से त्रिपुर-विजय के गीत सुनकर किन्नरियाँ आँसू बहाती थीं। मूर्च्छना ध्वनि वचपरिणम षड्ज मध्यम आदि संज्ञाएँ भी यथास्थान प्रयुक्त हैं।

---

१ नौसेना—वंगानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः॥ —रघु० ४।३६

२ षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया —रघु० ४।२६
—स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः —रघु० १७।६७

मल्लिनाथ की टीका के अनुसार ६ प्रकार—मौल भृत्या श्रेणय सुहृद् द्विषद् आटविका थे।
मौल —वंशकुल के व्यक्ति और जिनके यहाँ यह पेशा चलता (मौरूसी) था।
भृत्या —वेतनभोगी।
सुहृद् —मित्र

वाद्य में मृदंग वीणा वंशी आदि की शिक्षा सर्वप्रिय होगी। इन्दुमती ललितकलाओं की शिक्षा अपने पति से लिया करती थी। यक्ष-पत्नी का वीणा वादन यक्ष की विरह में याद आता है। प्रातःकाल स्वरा के आरोहावरोह का अनुसरण कर तारों पर हाथ फेरने वाले मंगल गीतों से जाकर जाग्रत हुए थे।

मालविका का छलिक नृत्य नृत्यकला की दृष्टि से उत्तम था। रानी इरावती भी नाट्यकला की शिक्षा लिया करती था। उस समय वेश्याएँ भी थीं जिनका नाचने-गाने का पेशा था। कौटिल्य का विषय पुष्टि करता है कि वह इस कला में विशारद होती। अभिज्ञान वेश्याओं से जब मुक्त होतो थी तब उसे सुधार देता था। अग्निमित्र के समय संगीतशाला भी थी।

काव्य-कला—उर्वशी का पत्र श्लोक रूप में था। शकुन्तला का प्रणय निवेदन भी काव्यबद्ध था। यही नहीं कालिदास की उत्कृष्ट काव्यकला इसका सर्वसम्मत प्रमाण है कि यह कला अपने चरम विकसित रूप में थी।

चित्रकला—दुष्यन्त पुरूरवा यक्ष यक्षपत्नी इन्दुमती सब इस कला में निपुण थे। मालविका का चित्र देखकर ही अग्निमित्र आकर्षित हुआ था। पुरूरवा से उसके मित्र ने कहा था कि उर्वशी से मिलने का उपाय हो यही है कि या तो आँख बन्द कर लो अथवा चित्र बनाकर देखो। दुष्यन्त का बना चित्र साक्षात् सजी शकुन्तला का प्रतीक था। सुन्दर चित्र के लिए दुष्यन्त पृष्ठभूमि की आवश्यकता भी समझता था।

मूर्तिकला—कमलों से भर ताल में उतरते हाथी सूँड़ से कमल की डंठल तोड़ती हथिनियों मूर्ति में ही इतनी सजीव थी कि इनके मस्तकों की सिरों के पंजों से सच्चा हाथी समझकर फाड़ डाला था। खंभों पर स्त्रियों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं। अतः मूर्तिकला भी उस समय उन्नत थी।

वास्तुकला—देवी-देवताओं के मन्दिर, राजभवन महल अटारी, झरोखे सरोवर आदि का विशद् विवरण इस कला के परिपक्व स्वरूप का उदाहरण है। पुल बनाने का प्रसंग भी यत्र-तत्र मिलता है।

व्यवसायी शिक्षा

औद्योगिक शिक्षा—इसके अन्तर्गत छोटी-छोटी अनेक विद्याएँ आ जाती हैं। रघुवंश से निष्कर्ष निकलता है कि शस्त्रों का निर्माण भी होता होगा। आभूषणों के विवरण से पता चलता है कि सुनार भी सोने चाँदी जो

नोट— ... के अनुसार इनके उदाहरण लिए जा सकते हैं।

मणि आदि को गढ़ते और तराशते थे[1]। मिट्टी के खिलौने[2] व्यवहार के बरतन घड़ों के निर्माण का भी कौशल था। वस्त्रादि का सिलाया जाता होगा। विवाहादि के अवसर पर सुगंधित तेल का प्रयोग सिद्ध करता है कि इसकी कला जानने वाले भी थे। कवि सेंध की विद्या तक का प्रसंग देता है[3]। नाव आदि भी बनाई जाती होंगी। पास ऐसे साधन थे कि मरुभूमि में जल की धाराएँ बह सकती थीं। भूमि में रास्ता माप बन जाता था और नदियों पर पुल। (रघु० ४।३१)।

कृषि-विद्या—एक स्थान से पौधे उखाड़ कर दूसरी जगह बोने से अच्छी होती है (रघु ४।३७)।

मंत्रादि की सिद्धि—अपराजिता[4] जिसको शिखाबन्धिनी विद्या भी कहा है तथा तिरस्करिणी[5] जिसकी सिद्धि पर कोई उस व्यक्ति को देख नहीं सकता के कथन से कहा जा सकता है कि मंत्रों की सिद्धि भी की जाती थी।

लेखनकला—पढ़ने के साथ-साथ लिखना भी सिखाया जाता था। उर्वशी द्वारा लिखा गया प्रणय-पत्र[1] शकुन्तला का पत्र-लेखन[2] इसके साक्षी हैं।

---

१ दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ —रघु ३।१८

२ मयीये वर्णे मार्कण्डेयस्यऋषिकुमारस्य वर्णचित्रितो मृत्तिकामयूरस्तिष्ठति। —अभि अंक ७ पृ ११५

३ कमपहीतेनापि कुंभीलकेन संधिच्छेदे शिक्षितोऽस्मीति वक्तव्यं भवति। —माल० अंक ३ पृ ३१०

४ भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबंधन विद्यामुपदिश्य त्रिदश-प्रतिपक्षस्यालंघनीये कृते स्वः। —विक्रम० अंक २ पृ० ११९
—एषाऽपराजिता नाम —अभि० अंक ७ पृ० ११६

५. तिरस्करिणी प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तस्यभूत्वा

मुण्डन-संस्कार के पश्चात् रघु ने वर्णमाला लिखना पढ़ना सीखा था[१]। ... के भी लिखना सीखने का वर्णन है[२]। मालविकाग्निमित्र में राजनीतिक ... की सूचना कि समय की उसने पत्नी लिखकर ही भेजी थी होगी। ... वसुमित्र ने किस प्रकार अश्वमेध यज्ञ में घोड़े की रक्षा की इसकी सूचना ... से ही मालती है[३]।

पत्र ही नहीं जीवनचरित्र भी लिखे जाते थे। ... की कौमि ... के वने वस्त्र पर लिखी थी ऐसा कवि कहता है[४]। इसी प्रकार ... चरित्र भी लिखे जाते होंगे। ... के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं। शकुन्तला को दी गई अंगूठी पर लिखा दुष्यन्त का नाम[५] ... किया उसका परिचय[६] इसकी पुष्टि करते हैं।

अध्ययन के साधन—लिखने के लिए ... भूमिका[७] भूजपत्र[८] पत्र[९] का प्रसंग है। अक्षर-भूमिका तख्ता का प्राचीन ... जाता है। पर शकुन्तला ने पत्र लिखा था। भूर्जपत्र पर उर्वशी ने हृदयगत भाव ... लिए थे। भूर्जपत्र भी लेखन-साधन था[१०]।

कवि का 'लिपिसादनम्'[११] शब्द इंगित करता है कि लेखन साधन भी

---

१ लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु ३।२८

२ ... भूमिकायां ... लिपि ... —रघु० १८।४

३ ... मालविकां ... —माल० अंक ५ पृ० ३५

४ विच्छित्तिशेषैः सुरसुन्दरीणां वर्णैरमी ... ।
विविक्त ... चरितं लिखन्ति ॥ —विक्रम० ३।४

५ उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परमवलोकयतः —अभि० अंक १ पृ० ...

६ ... । कुमारकल्पो ... ॥
—विक्रम० ५।

७ ... भूमिकायां ... लिपि ... ।
—रघु १८।

८ भूर्जपत्रगतमक्षरविन्यासम् । —विक्रम० अंक २ पृ० १८०

९ ... । —अभि० पृ०

१० ... भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
... विद्याधरसुन्दरीणाम् ॥ —कुमार १।

११ स यत्र ... लिपिसादनानि ... । —अभि० अंक ३ पृ० ४८

पर क्या (यह स्पष्ट नहीं होता। कुमारसंभव में धातुरस[1] शब्द आया है जिसकी व्याख्या मल्लिनाथ 'सिन्दूरादि द्रव्य' करते हैं। अनुमान है सिन्दूर मनःशिल (मैनसिल) गेरू आदि का प्रयोग लिखने के लिए किया जाता होगा। मेघदूत में आया 'धातुराग'[2] शब्द भी यथाकथित कथन की पुष्टि करता है। नख से भी लिख लिया जाता था[3]।

लेखनशैली—प्रारंभ में आशीर्वाद या स्वस्ति वचन अवश्य लिखे जाते थे[4]। पत्र गद्य तथा पद्य दोनों में लिख सकते थे। वसुमित्र का पत्र गद्य में था परन्तु शकुन्तला और उर्वशी के पद्य में।

शिक्षण-पद्धति (Method of Teaching)

व्यक्तिगत शिक्षण (Individual Teaching)—शिष्य की योग्यता के अनुसार पढ़ाया जाता था। एक ही शिक्षा सबको न दी जाती थी। 'नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्'[5] से ही समस्त शिक्षण-पद्धति स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक काल में जिस वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार हुआ है—(From part to whole) अंश से सम्पूर्ण स्थूल से सूक्ष्म यह वही पद्धति थी।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी आत्मनियंत्रण और अनुशासन को साधन मानते हैं[6]। चित्त की एकाग्रता को उस समय प्रधानता दी जाती थी। अहंभाव (Individuation) को तिरस्कृत किया जाता था क्योंकि इस भावना से अज्ञान बंधन और अपवित्रता आती थी। संक्षेप में शिक्षा चित्तवृत्तिनिरोध थी[7]।

श्रवण मनन और निदिध्यासन (अभ्यास) शिक्षण-पद्धति की सीढ़ियाँ थीं इनसे होकर ही छात्र ज्ञान की प्राप्ति करता था[8]। शुश्रूषा (जिज्ञासा) श्रवणम्,

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० १०

२ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्.... —उत्तरमेघ ४०

३ कार्यान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः —अभि०, ३।२४

४ स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्यमित्रो वैदिशस्थं....
—माल० अंक ५, पृ० ११२

५ लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् —रघु० ३।२८

६ Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vol. XXV Glimpses of Education in Ancient India by Radha Kumud

ग्रहणम् धारणम् (Retention) उपाद (Discus
wledg of the meaning conveyed by the
मिविवेच मादि के द्वारा प्रस्थापित्ता का ज्ञान प्राप्त ...

श्री मुकर्जी का कहना है कि छात्र चौथाई भाग आच
चौथाई अपनी बुद्धि से ग्रहण करता था एक चौथाई
का मस्तक सिखा देता था और एक चौथाई समय और
सिखा देता था[१] । इसका आशय यह हुआ कि आचाय ...
ही बताते थे शेष सब छात्र मनन और मननम करने की

शिक्षा सैद्धान्तिक ही न थी उसे व्यावहारिक भी बना...
कला का अभ्यास कराया जाता था । ... ...
अभ्यास किया करती थी । अभिज्ञान की ... म ...
इससे व्यावहारिकता की पुष्टि होती थी ।

छात्र गुरु की सेवा करते थे । ... ...
गायों को चराना आदि सभी काम सीख जाते थे । ...
करते थे अतः आत्मनिर्भरता बाल्यावस्था से ही उनका गुण ...
म अपेक्ष भाव से गुरु के समान अंधकार का ... ...
मापकता थी[३] ।

पाठ्यक्रम (Courses and Curriculum) इसका निश्चित
है । इसमें सब विषय एक साथ और सबको नहीं पढ़ाए जाते थे
शिक्षा के योग्य होता था वही सब उसको बता दिया जाता था ।
वैदिक-शिक्षा आधार थी अन्य ... ...
शिक्षा अलग उसको दी जाती थी । धर्मविद्या ... ...
विषय थे । इसी प्रकार आभूषण बनाने की कला ...
शिक्षा दी जाती होगी । सब कुछ गुरु के ऊपर निर्भर था । ...

१ Imperial Age of unity of India Education by
—P. K. Mukerjee P

२ "A student learns a fourth from his acharya, a fourth
own intelligence, a fourth from his fellow pupils and the
remaining fourth in course of time by experience. Imperial
unity of India—Education by P. K. Mukerjee Page 548

३ ... ... —पृ० ११६

पर क्या (यह स्पष्ट नहीं होता। कुमारसंभव में धातुरस[1] शब्द आता
व्याख्या मल्लिनाथ 'सिन्दूरादि द्रवैः' करते हैं। अनुमान है सिन्दूर,
(गैरिक) गेरू आदि का प्रयोग लिखने के लिए किया जाता होगा
म आया धातुराग'[2] शब्द भी यथाकथित कथन की पुष्टि करता है।
भी लिख लिया जाता था[3]।

लेखनशैली—प्रारंभ में आशीर्वाद या स्वस्ति वचन अवश्य लिखे
थे[4]। पत्र गद्य तथा पद्य दोनों में लिख सकते थे। अग्निमित्र का पत्र
था परन्तु शकुन्तला और उर्वशी के पत्र पद्य में।

शिक्षण-पद्धति (Method of Teaching)

व्यक्तिगत शिक्षण (Individual Teaching)—शिष्य की योग्यता
अनुसार पढ़ाया जाता था। एक ही शिक्षा सबको न दी जाती थी।
अनुग्रमाविषयं'[5] से ही समस्त शिक्षण-पद्धति स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक
में जिस वैज्ञानिक पद्धति का आविष्कार हुआ है—(From part to whole)
अंश से सम्पूर्ण स्थूल से सूक्ष्म वह यही पद्धति थी।

श्री राधाकुमुद मुकर्जी आत्मनिर्यंत्रण और अनुशासन को साधन मानते हैं[6]।
चित्त की एकाग्रता को उस समय प्रधानता दी जाती थी। अहंभाव (Indiv
duation) को तिरस्कृत किया जाता था क्योंकि इस भावना से अज्ञान बंधन
और अपवित्रता आती थी। संक्षेप में शिक्षा चित्तवृत्तिनिरोध थी[7]।

श्रवण मनन और निदिध्यासन (अभ्यास) शिक्षण-पद्धति की सीढ़ियाँ थी
इनसे होकर ही छात्र ज्ञान की प्राप्ति करता था[8]। शुश्रूषा (जिज्ञासा) श्रवणम्,

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १०

२ त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम् —उत्तरमेघ ४०

३ कस्मद्यी मममपीथ्य एप नलिनीपत्रे नखैरर्पित —अभि- ...

४ स्वस्ति यज्ञशरणात्सेनापतिः पुष्पमित्रो

५ ...

ग्रहणम् धारणम् (Retention) ऊहापोह (Discussion) विज्ञान (Full knowledg of the meaning conveyed by the teacher s words) तत्त्वाभिनिवेश आदि के द्वारा उच्चशिक्षा को छात्र प्राप्त करने में सक्षम था[1]।

श्री मुकर्जी का कहना है कि छात्र चौथाई अंश आचार्य से सीखता था चौथाई अपनी बुद्धि से ग्रहण करता था एक चौथाई सहयोगी और ... का मस्तक शिक्षा देता था और एक चौथाई समय और परिस्थितियाँ का शिक्षा देता था[2]। इसका आशय यह हुआ कि आचार्य जितना आवश्यक था ही बताते थे शेष सब छात्र अपने आप अध्ययन करते और मालूम करते थे।

शिक्षा सैद्धान्तिक ही न थी उसे व्यावहारिक भी बनाया जाता था। ... कला का अभ्यास कराया जाता था। मालविका, इरावती आदि नृत्यकला अभ्यास किया करती थी। अग्निमित्र की चित्रशाला में चित्र भी बनते रहते थे इससे व्यावहारिकता की पुष्टि होती थी।

छात्र गुरु की सेवा करते थे। अतः ईंधन के लिए लकड़ी काटना संग्रह करना, गायों को चराना आदि सभी काम सौंपे जाते थे। वे छोटे-छोटे कामों को करते थे अतः आत्मनिर्भरता बाल्यावस्था में ही उनका गुण हो जाती थी। ... में अपने ज्ञान से सूर्य के समान अंधकार को दूर करना ही शिक्षण-पद्धति सार्थकता थी[3]।

पाठ्यक्रम (Courses and Curri ulum) इसका निश्चित रूप नहीं है। इसमें सब विषय एक साथ और सबको नहीं पढ़ाए जाते थे। जो ... शिक्षा के योग्य होता था वही सब उसको बता दिया जाता था। क्षत्रियों के ... सैनिक-शिक्षा आवश्यक थी अतः योग-शस्त्र साहित्य ... आदि के अतिरिक्त शिक्षा अवश्य उनको दी जाती थी। धर्मशिक्षा दंडनीति राजनीति राजपुत्रों विषय थे। इसी प्रकार आभूषण बनाने की कला वास्तुकला आदि जैसी शिक्षा दी जाती होगी। सब कुछ गुरु के ऊपर निर्भर था। जब वह देख लेता

---

१ Imperial Age of unity of India Education by
—R. K. Mukerjee Page ...

२ "A student learns a fourth from his acharya a fourth by his own intelligence a fourth from his fellow pupils and the remaining fourth in course of time by experience Imperial age of unity of India—Education by R. K. Mukerjee Page 549

३ ज्ञानमयेन प्रदीपेन ... ।—रघु० ५।४

कि शिष्य को जितना आवश्यक है वह सीख चुका तब वह उसे अनुमति दे देता था। इसी लिए रघु ने कौत्स से पूछा था कि क्या वे प्रसन्न होकर आपका गृह लौटने की और गृहस्थ बनने की अनुमति देते या आश्रम विधा पढ़ना चाहते थे पर सम्भव थे। दुष्यन्त ने कि सखियों से पूछा था कि यह आश्रम पढ़ती रहेगी या इसका विवाह है[1]। एक और बात भी स्पष्ट नहीं होती वासुकन्या रत्नादि की सुनना आदि भी क्या आश्रम में गुरुजी सिखाया करते थे? सम्भवतः नगर में ही व्यक्ति सीख लेते होंगे। पुत्रों को विद्या गुरु पिता से ग्रहण होगा। एक स्थान पर कवि ने स्वयं कहा है कि रघु ने शस्त्र-विद्या अपने सीखी थी[2]। पुत्र ने भी अपने पुत्रों को समस्त शिक्षा दे दी थी[3]।

फीस (शुल्क)—गुरु का कर्तव्य शिक्षा-दान था अतः इसका प्रश्न नहीं उठता था। निर्धन छात्र निःशुल्क शिक्षा प्राप्त किया करते थे। बताया जा चुका है कि गुरु शिक्षा-समाप्ति पर दक्षिणा लिया करता था भी कोई नियम नहीं था। अपनी अपनी सामर्थ्य से जो जो भेंट कर देता था गुरु उसको ही ग्रहण कर लेता था। यही छात्र का शुल्क कहा जा सकता है।

परीक्षा—कोई निश्चित कक्षा और परीक्षा का नियम स्थापित न था। गुरु जब देख लेता था कि शिष्य इस योग्य हो गया है कि आगे बढ़ सके तब बढ़ जाता था। जैसे कालिदास ने विद्यार्थियों के प्रति कहा है कि बिना पूरी तैयारी हुए परीक्षा में नहीं बैठना चाहिए इससे अपनी भी हानि और अध्यापक के प्रति अन्याय है[4]। विद्या अभ्यास से आती है[5]।

परीक्षक—परीक्षक के लिए सबसे मुख्य गुण 'पक्षपात का न होना' है। अभिनिविष्ट परिव्राजिका को इसी कारण परीक्षिका बनने पर विवश करता है कि

१ अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीया
नाथा[illegible]

वह और रानी दोनों ही [illegible] हो सकते थे[1]। अतः विद्यार्थी के किसी [illegible] को परीक्षक नहीं बनाना चाहिए।

एक ही परीक्षक के मत पर परीक्षा का परिणाम निर्धारित [illegible] में विद्यार्थी के प्रति अन्याय हो सकता है। अतः [illegible] या उससे अधिक [illegible] निर्णय करना चाहिए[2]।

मुख्य नीति मात्र [illegible] अथवा प्रयोगात्मक [illegible] का [illegible] ज्ञान यथेष्ट नहीं होता। [illegible] प्रकार [illegible] कार्यों का [illegible] विषय में मत और निश्चय देना चाहिए[3]।

जनसाधारण की शिक्षा—आजकल प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा पृथक्-पृथक् [illegible] हैं, परन्तु उस समय ऐसा कोई भेद नहीं था। छात्र जिस वर्ग [illegible] का होता था उसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर लेता था। छोटा-बड़ा प्रारम्भिक शिक्षा-[illegible] [illegible] आदि [illegible] ही समान रूप से मिल जाते थे। [illegible] जिज्ञासु छात्र आगे बढ़ जाता था। उच्च विद्या के लिए [illegible] का [illegible] नहीं [illegible] होता। साधारणतः थोड़ी-सी शिक्षा के बाद [illegible] पुरुष की विद्या [illegible] कर सकते थे। ऐसी भी सम्भावना है कि पुरुष का विद्या [illegible] कर लेते हों [illegible] का ज्ञान सब न करते हों।

स्त्री-शिक्षा

पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त किया करती थीं। उनको सभी धार्मिक कार्यों में समान अधिकार थे। कुमारसम्भव [illegible] आदि में स्त्री के बिना कोई धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, इस पर जोर दिया गया है[4]। अतः वे भी कार्यों की शिक्षा प्राप्त करती होंगी। [illegible] [illegible] के पुत्र आश्रम की शिक्षा देने वाली [illegible] [illegible] थीं। वे भी पुरुषों के समान यदि चाहें तो आजन्म कुमारी रह कर उच्च शिक्षा प्राप्त

---

१ [illegible] —[illegible] [illegible] १२८

२ [illegible] —[illegible] [illegible] १२६

३ [illegible] [illegible]।
—[illegible] [illegible] १ पृ० [illegible]

४ [illegible] —[illegible] [illegible]
[illegible] में [illegible] का [illegible] [illegible] है।

कर सकती थी इसका संकेत शकुन्तला में है। सम्भव है शूद्रादि ि स्त्रियों से विवाह करने के कारण भाषा उच्चारण आदि की मर्यादा पर उनके अधिकार और शिक्षा आदि की योग्यता छीन ली गई हो अभिमित्र की रानी धारिणी पढ़ना नहीं जानती थी अत: उसने पत्र पढ़ कर पढ़वाया था[1]।

परन्तु शकुन्तला अनसूया प्रियंवदा इन्दुमती मालविका उर्वशी सबका शिक्षिता थीं। अनसूया प्रियंवदा ने अंगूठी पर लिखा हुआ नाम पढ़ लिया था। शकुन्तला और उर्वशी का प्रणय-निवेदन काव्यबद्ध अतः वे काव्य-रचना की पारंगता थीं। गाना नाचना और चित्र-रचना सबकी विशेषता थी। इन्दुमती अज से ललितकलाएँ सीखा करती थी[1]। आश्रम में भी पढ़ती थी और घर पर भी। विवाह होने के पश्चात् भी शिक्षा चलती रहती थी। यह सब उनकी इच्छा पर था। इन्दुमती की ि पति द्वारा हो हुई थी।

ललितकलाओं के अतिरिक्त स्त्रियों के व्रत आदि करने धार्मिक अनुष्ठान में पति के सहयोग देने से स्पष्ट होता है कि धर्मशिक्षा उनको शिक्षा का अंग थी।

स्त्रियाँ काम-शास्त्र भी पढ़ती थी। अनसूया और प्रियंवदा ने शकुन्तला से कहा था कि कामीजनों की जो अवस्था हमने पढ़ी है, वह तुममें दिखाई दे रही है[3]। पार्वती ने भी काम-कला शंकर से सीखी थी[4]। इन्दुमती के स्वयंवर के समय सुनन्दा ने राजाओं का जैसा परिचय दिया था वह समस्त विवरण इसका साक्षी है कि कामशास्त्र सब पढ़ती थीं और इसकी बातें सुमेभाव कर ली जाती थीं इसकी चर्चा ही न हो ऐसा यह विषय नहीं समझा जाता था।

राजपूत रमणियों के समान स्त्रियाँ युद्ध-शस्त्रसञ्चालन सीखती थीं इसका कहीं संकेत नहीं है। उर्वशी अपनी रक्षा नहीं कर पाई थी। अवन्य अपनी रक्षा और युद्ध करना नहीं जानती ~।

स्त्रियों को ि

अपने अध्ययन के क्रम से युवतियों में चातुर्यता का ... प्रसाधन-कला पर सजाना, माला बनाना, अतिथि-सत्कार के अंग थे। वैसे ही साहित्य और ललित कलाएँ पढ़ती थीं। और पटुता पर ... से ध्यान दिया है कि वे बिना ... चतुर हो जाती हैं तब फिर इन समसामयिक शिक्षित स्त्रियों का ...

वेतन की शिक्षा भी स्त्रियाँ जानती थीं। जल-विहार में आनन्द लिया करती थीं[1]।

जब स्त्री और पुरुष की शिक्षा में सीमित भेद था। सुकुमारता और हृदय की मधुर भावनाओं के अनुसार का ... जाती थी दी जाती थी।

स्त्रियों का क्षत्र पर ही नहीं बाहर भी था। जल पर की ... धनी और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ ही थीं। उद्यान-पालिका का भी ... शासिनिक में उस की रक्षिका मार्गदर्शा था।

---

१ विलासमन्दिर... ते कामदर्शिनीर्युः ।—अभि० ... ४ ...
२ ... द्रुमे विलस ... ।

३ ... —अभि० ...
...
...

बारहवाँ अध्याय

दर्शन तथा धर्म

'धम चर' धर्मान्न प्रमदितव्यम् आदि सूक्तियों से सामान्यत परिचित है परन्तु इस धम शब्द के क्या वास्तविक अर्थ है—इस सामान्यत कोई गंभीरता से विचार नहीं करता। व्याकरण की दृष्टि से धातु में मन् प्रत्यय लगाने से 'धम' शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार होती है—'ध्रियते लोक अनेन इति धम' जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है धरति धारयति वा लोकं इति धर्म जो लोक को धारण करे वह धम है, 'ध्रियते य स धर्म' जो दूसरो से धारण किया जाय वह धर्म है। महाभारत म धर्म का लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया गया है— धारणाद् धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजा । अत धम शब्द का वास्तुगत अर्थ धारण करना ही है।

जैसे अग्नि का धम उष्णत्व है, उष्णता न हो तो अग्नि की कोई सत्ता नहीं इसी प्रकार धम के बिना समाज की भी कोई सत्ता नहीं। भारतीय-संस्कृति का आधार ही धर्म है। विश्व म विनाश की ओर जाने की प्रवत्ति धर्मत्याग से ही आई है, 'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।

धम शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक बन है। कुल-धम जाति-धर्म देश-धम आदि सब इसकी ही सीमाएँ हैं। जीवन के नैतिक नियम भी इसी धम शब्द के अन्तगत हैं। मनु ने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर सत्य संयम अक्रोध आदि गुणों को धर्म के दस लक्षणों म माना।

महात्मा बुद्ध ने प्रबुद्ध मन से जीवन
किया कि धम

धारणा थी परन्तु एवं सद्विद्या बहुधा वदन्ति एक ।
है अत नाना मार्ग इसी धर्म की व्याख्या के अन्तर्गत ।

(१) ईश्वर के विषय में धारणा

परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप के विषय में कथन करते कि उसका यथार्थ कथन नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अगोचर है[1]। प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तवचन से ही, पर ईश्वर इन सबसे परे है।

> प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
> आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥

उसमें अनेक विरोधी गुण दृष्टिगत होते हैं। इसी कारण को अवगत नहीं होता। वह स्वयं अज है पर फिर भी ... आप्तकाम है, फिर भी शत्रुओं का संहार करता है[2]। उ... इच्छा नहीं है पर उसकी इच्छा वह पूर्ण करता है। उसको कोई जीत... पर उसने सबको जीत लिया है। वह किसी को प्रत्यक्ष नहीं पर उसने जगत् को उत्पन्न किया है[3]। वह सबके हृदय में रहता है तब भी ... रहित है फिर भी (नरनारायण के रूप में बदरिकाश्रम में) तपस्या ... दयालु है फिर भी दुःख उसको स्पर्श नहीं करता। सब उसे पुराण ... पर फिर भी वह कभी वृद्ध नहीं होता[4]। वह जितना स्थूल है उतना ही सूक्ष्म, जितना अणु है उतना ही महान्[5]। वही सृष्टि की उत्पत्ति और लय का कारण है।

सांख्य मत—महर्षि कपिल के मतानुसार पुरुष और प्रकृति दो

---

१ ...मनसामगोचरम् ।—रघु० १।११

२ अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥—रघु० १०।२४

३ अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते ।
... ।

४ ... ॥—रघु० १०।१८
...

५ ... ॥—रघु० १।१११
...

क्रम है। कुमारसम्भव में इस मत का सम्यक आभास है[1]। वह संसार की और प्रलय करने में किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। अपने आप ही को वह उत्पन्न करता है सृष्टि कर चुकने पर कार्य की समाप्ति पर अपने को अपने में लीन कर लेता है[2]।

सभी प्रकार के कर्म प्रवृत्तियाँ अनुभूति आदि त्रैगुण्यानुरूप हैं[3]। संसार की रचना का मूल कारण है जगत् का विकास है, महत् अव्यक्त ए प्रकृति इन्द्रियों का विषय है, परिवर्तन का सिद्धान्त है परन्तु पुरुष इस सृष्टि में कोई काम नहीं। वह निष्क्रिय है। प्रकृति पुरुष के लिए ~ करती है। कालिदास सांख्य के इस मत से सहमत है[4]। वे भी प्रकृति को , की इच्छा के लिए ही मानते हैं[5]। प्रकृति के लिए 'पुरुषार्थ प्रवर्तिनी' संज्ञा पुरुष को उदासीन और तटस्थ कहना सब सांख्यदर्शन के सिद्धान्त हैं।

जगत् की प्रकृति के सम्बन्ध में भी उन्होंने सांख्य विचारों को मान्यता ~ है। सत्व रजस् और तमस् तीनों गुणों का उल्लेख वे बार-बार करते हैं[7]। इन तीनों का समन्वय ही प्रकृति है[8]। इसी प्रकार 'गुणैरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति'[9] कहकर उन्होंने फिर सांख्यमत की मान्यता स्थापित की है। महत् या बुद्धि को अव्यक्त से उत्पन्न कहते हैं और सांख्यकारिका भी। इसको भी अवतरण में अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है[10]। सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए उन्होंने

---

१ त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ —कुमार० २।१३

२ आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे॥ —कुमार० २।१०

३ गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे। —कुमार० २।४

४ पूर्व उद्धृत

५ त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥ —कुमार० २।१३

६ देखिए, पादटिप्पणी में ५

७ देखिए

दोनों प्रमाणों का (अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और [illegible]

वेदान्त मत—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और [illegible]
प्रतिपादन इन ग्रन्थों में मिलता है। वेदान्त का [illegible]
है। व प्रचलित वेदान्त और सम्प्रदाय [illegible] का ही [illegible]

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं [illegible]
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषय शब्दो [illegible]
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु [illegible]

इस पद से उपनिषद् वर्णन अधिक अभिव्यक्त होता है। [illegible]
का कारणस्वरूप मानता है[1]। साथ ही वेदान्त और योग
और आराध्य वस्तु भक्ति द्वारा सुलभ बताई गई है। इसमें [illegible]
के समय में कालिदास द्वारा प्रतिपादित अभिप्राय का प्रचार [illegible]

विष्णु की प्रशंसा करते हुए उन्होंने उनको सत्य
सनातनकर्ता कहा है[3]। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म निराकार और
निर्गुण और उसके विषय सिद्धान्त में विरोध भी नहीं है। जिस
प्रकार नदी सागर आदि जल मिलता है [illegible] के आकार का
है, इसी प्रकार ब्रह्म भी सत्त्व रजस और तमस् गुणों से युक्त होकर
कर्ता और संहारकर्ता बन जाता है। वे एक ही ब्रह्म को त्रिदेव के
रूप देते हैं[4]। ब्रह्मा विष्णु, महेश सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं।

---

१ [illegible] —रघु० १३।६०
—[illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] [illegible] ॥ —रघु
२ [illegible] [illegible]।
[illegible]। [illegible]। [illegible]। —[illegible]
३ [illegible] [illegible]।
[illegible] ॥ —रघु० १०।२१
४ [illegible]।
[illegible] ॥ —कुमार० २।४
५ [illegible]।
[illegible] ॥ —कुमार० २।६

वाक्यांश में भी वेदान्तीय सिद्धान्त है। ईश्वर जगत् का ४ कारण है, अतः जगत् में उसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता सम्बन्ध में इनके विचार गीता से प्रभावित लगते हैं। जैसे— भी पिता देवताओं के भी देवता स्रष्टाओं के भी स्रष्टा ही हव्य है और आप ही होता आप ही भोज्य है और आप आप ही भोक्ता है और आप ही ज्ञाता आप ही ध्येय'[1]। विष्णु के गुण जिनके द्वारा वह का विस्तार कर सकता है हृदय मे निवास करता हुआ भी दूर पर भी तपस्वी दयालु होकर भी शोकरहित पुरातन होते हुए भी रहित[3] उपनिषदों के सदृश ही है[4]। इसी प्रकार वह सबका होते हुए है, सबको उत्पत्ति का हेतु होते हुए भी स्वयं किसी के द्वारा उत्पन्न गया है सबका स्वामी है, पर स्वयं स्वामिरहित है एक होते हुए भी धारण करता है[1] दया करके पृथ्वी पर अवतार लेता है और मनुष्य आचरण करता है[1]। ये सब गीता के सिद्धान्तों से समानता रखते हैं[4]। श्लोकों में अवतार के सम्बन्ध में इसी प्रकार के उद्‌गार व्यक्त किए गए यही नहीं— आप लोक-पालन में समर्थ हैं फिर भी उदासीन हैं यह विचार गीता से लिया गया लगता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण कवि के ग्रन्थों देखे जा सकते हैं जैसे— गंगाजी की सभी धाराएँ समुद्र में आ गिरती हैं, प्रकार परमात्मा के समस्त मार्ग जो भिन्न-भिन्न धर्मग्रन्थों में वर्णित हैं उसी जाकर मिल जाते हैं। यह गीता के समकक्ष समानान्तर ही है। जिन पुरुषों

1 त्वं पितॄणामपि पिता देवानामपि देवता।
परतोऽपि परश्चासि विधाता वेधसामपि॥—कुमार० २।१४
2. त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वत।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥ —कुमार
3 रघु० १०।१९ पूर्व श्लोक
4 तदेजति तन्...

सांसारिक भोग-कामना पूर्णरूप से नष्ट हो गई है और जिन्होंने अपने हृदय उसमें लीन कर लिया है और अपने कर्मों को आप पर अर्पित कर दिया है उनके परमपद प्राप्ति के लिए आप ही एकमात्र शरण हैं[1]। यह विचार गीता के इन श्लोकों में भी मिलता है—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥—९।२७
>
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥—९।३४

भगवान् की भक्तियोग से प्राप्ति का भी एक सार्वत्रिक उदाहरण गीता के ... में समानता रखता है[2]।

योग—योग का अर्थ मोक्ष प्राप्ति[3] और परमात्मा के साथ एकाकार होना है[4]। कवि ने 'योग' शब्द का इस अर्थ में तथा इस आत्मचिन्तन का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। ध्यान धारणा और समाधि के द्वारा योगाभ्यासी परमात्मा के साथ एकाकार होते हैं। कवि ने भी योग के इन अंगों का वर्णन

---

१ [illegible] —रघु० १०।२०

२ अनन्यपरमसि ... [illegible]।—विक्रम० १।१

—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥—गीता ८।१४

३ अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥—रघु० १०।२३

—मही महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्स योगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः॥

—रघु० १८।

४ न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्।—रघु० ८।२२

तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।—रघु० ८।२४

५ द्रष्टव्य, पादटिप्पणी सं० ३, ४

६ [illegible] ... ।
... ॥

—रघु०, १३।

धारणा[1] और समाधि[2] का वर्णन किया है। मन म
आत्मा का अनुभव करना अथवा निराकार का चिन्तन के द्वारा
योगविधि है—योग मार्ग के विद्वानों का मत अतः तत्कालीन
मान्य है[3]। पतंजलि के योगसूत्र के आधार पर ही कवि ने अपने
व्यक्त किए हैं।

समाधि अन्तिम अवस्था है, जिसमें मन और इन्द्रियों की सम्पूर्ण
पूर्णत बन्द हो जाती है। तत्पश्चात् यह स्थिर धी[4] की अवस्था
हो जाता है जो गीता के स्थितप्रज्ञ[5] की ही अवस्था है। यह पूर्ण
अवस्था है।

योगसाधन की प्रक्रिया पर्यङ्कबन्ध[6] और वीरासन[7] दोनों का कवि ने
किया है। कुमारसम्भव में शिवजी की तपस्या करते समय की मुद्रा वीरासन
इसी योगसाधन के अनुसार ही है। उनका ऊपरी आधा शरीर सीधा
निश्चेष्ट होना कमल के समान हथेलियों को अंकों पर उत्तमुख रखना कन्धों
कुछ झुका होना[8] अर्धनिमीलित और स्थिर दृष्टि का नासिका के अग्र

१ परिचेतुमुपांशुधारणा कुशपूर्वं प्रवयास्तु विष्टरम् ।—रघु० ८।१८
२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ४ रघु ८।२४ ६
—प्रत्यर्थिभूतामपि ता समाधे शुश्रूषमाणा गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा ॥
—कुमार० १।५९
—आत्मेश्वराणा न हि जातु विघ्ना समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥
—कुमार ३।४
३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ३ ४।
४ न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ।—रघु०, ८।२२
५ प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना ...

पर लगा रहना[1] शरीर में अन्तःस्थ वास करने वाले पाँचों पवनों का पवन रहित स्थान में निष्कम्प प्रदीप के समान हो जाना[2] सब योगसूत्र के अनुकरण पर हैं। अतः जनता की उस समय योग पर बहुत [illegible] प्रतीत होती है।

एक स्थान पर कवि ने 'शिरस्तः'[4] शब्द का प्रयोग किया है। [illegible] के अनुसार इसका संकेत ब्रह्मरन्ध्र से है जो बुद्धि का चरम केन्द्र है और जि[illegible] सम्बन्ध सुषुम्ना के साथ है।

इसी प्रकार [illegible] पादटिप्पणी[5] में पाए जाते हैं। इसमें किसी को बाह्य चेतना नहीं रहती परन्तु आन्तरिक चेतना और स्मरणशक्ति [illegible] है। दूसरे शब्दों में यह योगी की निद्रा है अभ्यासी की चरमगति है।

समाधि की अवस्था में बाह्य पदार्थों के साथ सम्पूर्ण सम्पर्क को रोक मन को बिलकुल निगृहीत कर लिया जाता है आत्मा की ज्योति को [illegible] देखने का प्रयत्न किया जाता है[6]। अन्त में अक्षर ब्रह्म[7] में ध्यान लगा योगी परम पदप्राप्ति[8] को प्राप्त कर लेता है। गीता में भी समाधि की यही [illegible] वर्णित है। अक्षर ब्रह्म की भी पूर्ण विवेचना है[9]।

इस प्रकार की समाधि के लिए एकान्त वाञ्छनीय था। अतः [illegible] वीरासन में समाधि लगाए तपस्वियों को [illegible] के बीच में [illegible] समाधिस्थ लगते थे[10]।

---

१ किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः॥ —कुमार० ३।४७

२ अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्॥ —कुमार

३ देखिए, पादटिप्पणी सं० २

४ कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः। —कुमार० ३

५ [illegible] —रघु० ११।६

६ मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ —कुमार० [illegible]

७, ८. देखिए पादटिप्पणी सं० ६

९. अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ —गीता ८।३

१० पूर्वोक्त रघु० ११।२३

अत परमात्मा की प्राप्ति के लिए कवि के समय मे तीन साधन योगाभ्यास भक्तियोग[1] और कर्मयोगपालन[1]। ये सब उसके पास भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार इन उपयोग कर । चाहिए। इसको इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतव ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥—रघु० १०।२६

गवद्गीता मे भी ज्ञान योग भक्ति और निष्काम कर्मयोग पर ...प्ति के साधन कहे गए हैं।

( ) जगत् के विषय में धारणा

सांख्य मत को कवि ने इस सम्बन्ध में मान्यता दी है, अर्थात् सृष्टि-रचना का मूल कारण है[3]। ब्रह्मा की उपासना करते हुए ने जो कुछ कहा उससे जगत् के विषय में धारणा की पुष्टि हो जाती है आपने सबसे पहले जल उत्पन्न करके उसम ऐसा बीज बो दिया जो कभी व्यय नहीं होता और जिसमें एक ओर यह पशु-पक्षी मनुष्य आदि चलने वाले जीव और दूसरी ओर वृक्ष पहाड़ आदि न चलने वाला जगत् उत्पन्न हुआ है[4]। आप ही संसार की उत्पत्ति पालन और नाश करने वाले हैं[5]। सब कुछ आप अपने से ही उत्पन्न करते हैं और सब कुछ अपने में ही लीन कर लेते हैं[6]। ... ब्रह्मा के एक दिन के बराबर है, जिसमें यह सृष्टि रहता है। इसके पश्चात् इतने ही समय की रात्रि आती है, जिसमें सर्वत्र प्रलय का साम्राज्य छा जाता है। इसम विष्णु क्षीरसागर में शेष-शय्या पर सो जाते हैं[7]। प्रात होने पर फिर सृष्टि की रचना प्रारम्भ हो जाता है।

---

१ पूर्वोल्लेख विक्रम० १।१
२ मारुति सामर्थ्य दीप समारंभित निमम । —रघु १२।६०
इसमें उपमा के द्वारा ध्वनि है।
३ पूर्वोल्लेख

कालिदास ने मृष्टि के [illegible] लोगों का
नहीं नहीं लिए हैं। परम्परा के अनुसार यह
के शोर मृग क ऊपर ता गय अथवा प्रम के
उच्च प्रदेश तथा भृगु और अन्य शिव कारिदा का

(२) मृत्यु का सिद्धान्त

जीवन सुख तथा दुःख दोनों का समन्वय है।
कभी उन्नत और कभी अवनत होता है[2]। देह का
स्वाभाविक है[3]। किसी सम्बन्धी की मृत्यु होने पर
है मानो उनके हृदय में कील गड़ गई हो। परन्तु [illegible]
माविक मान कर दुःखी नहीं होते। उनका कथन है कि
सामारिक दृष्टि से मन के भिन्न [illegible] हो जाता है [illegible]
उनके हृदय में कभी कोई [illegible] गई हो[4]। आत्मा के
नहीं किन्तु उसकी दीपशिखा है[5]। [illegible] भी विश्वास था
सम्बन्धिता के [illegible] इस प्रकार से [illegible] दुःख [illegible] होती है[6]
मरण के विषय में [illegible] धारणा प्रचलित थी। कालिदास ने
और जीवन को विकृति माना है—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ॥

विष्णु और ब्रह्मा को [illegible] में [illegible] की
हो है चाहे स्तुति ब्रह्मा की हो अथवा विष्णु की।

१ [illegible] ।
[illegible] ॥
२ [illegible] ॥ —रघु १।
[illegible] ।
३ मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ॥ —रघुवंश ८।
४ [illegible] । —रघु
[illegible] ।
५ [illegible] ॥ —रघु
[illegible] ।
६ [illegible]

(४) मोक्ष

कवि का ध्येय स्वर्ग और सुख की प्राप्ति न था। यह छान्दोग्य निषद् (८ १ १) में कथित स्वर्ग के सभी सुख नश्वर हैं, गीता के 'ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'[1] विश्वास करके ही 'पुण्य संचय की कमी होने पर स्वर्गीय जनों ने पृथ्वी पाकर पुण्य से उज्जयिनी नगरी के रूप में स्वर्ग का एक सुन्दर भाग बसाया'[2] ऐसी उत्प्रेक्षा की है। मारीच के आश्रम में रहने वाले ऋषि प्रत्येक प्रकार के सुख का मोह छोड़कर उत्तरोत्तर परशान्ति के लिए तपस्या करते कहे गए हैं[3]। भरत वाक्य में भी पुनर्जन्म से ही मुक्ति माँगी गई है[4]। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव (पशु) का शिव के (पशुपति के) स्वरूप का ज्ञान नहीं अपितु परब्रह्म में स्थित होना ध्येय था[5]।

हिन्दू धर्म की दृष्टि से कालिदास के समय की जनता भी जीवन की सार्थकता एवं सिद्धि अर्थ धर्म काम और मोक्ष[1] मानती है। कवि ने मोक्ष को मुक्ति[2] अपवर्ग अपुनर्भव[3] अनावृत्ति अवस्था[4] आदि शब्दों से व्यक्त

---

१ गीता ९।२१

२ प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥ —पूर्वमेघ १२

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभि...

ममापि च

किया है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती में अनेक जन्म धारण किया ही करता है। पुण्य है पर पुण्यों की समाप्ति पर फिर [illegible] में केवल सुख की प्राप्ति म [illegible] है। अत [illegible] नहीं कराते। कवि के मतानुसार याग और समाधि से जब ब्रह्म और जीव का भेद मिट जाए[1]।

बौद्ध दर्शन—बौद्ध [illegible] के अनुसार पूर्ण [illegible] मुक्ति 'निर्वाण' से प्राप्त होती है। [illegible] अवस्था में परम शान्ति है। कवि ने निर्वाण[2] [illegible] प्रयोग किया है यद्यपि सब कहीं है इसमें [illegible] है। [illegible] धार्मिक 'स्पर्श धाम्' [illegible] का उच्चारण करना है [illegible] है। इसी प्रकार [illegible] की समाधि में भी बौद्ध प्रभाव कवि का [illegible] धारणा पर बौद्ध दर्शन का [illegible] का एक [illegible] 'प्रासादना'। ([illegible]) [illegible] धर्म का कोई प्रभाव कवि की किसी कृति में उपलब्ध हो

(६) कर्मवाद और पुनर्जन्म

उस समय कर्मवाद और [illegible] [illegible] आत्मा का [illegible] को [illegible] में माना जाता था। आत्मा को [illegible] होता है तब यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के अनुसार [illegible]

१ [illegible] सुवासिनी [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
– [illegible]
३ [illegible] [illegible]।—[illegible] १२
—निर्वाण [illegible]।—[illegible] १११
—[illegible] [illegible]।—[illegible]
[illegible] [illegible]।
४ [illegible] ३५
६ [illegible] [illegible]
७ [illegible] [illegible]
[illegible]

ऐसा वसिष्ठ ने अज को समझाया था। मनुष्य को कर्म का फल
है, किन्तु ज्ञान से ही कर्म क्षय होते हैं यह भगवद्गीता का तत्व
स्वकर्मणा बध्नते ज्ञानमयेन वह्निना'१ में ध्वनित है। कवि के विश्वास
कि उस समय कर्मवाद में आस्था थी निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त ...

फलानुमेया प्रारम्भा संस्कारा प्राक्तना इव' —रघु० १।२०

अत पूर्वजन्म के संस्कार मनुष्य के साथ-साथ चलते हैं। 'मनो हि ...
सपविसम्'२ इसको पुष्टि कर देता है। पूर्वजन्म में स्थापित मित्रता
आगामी जन्म में यद्यपि मनुष्य भूल जाता है पर वह बिल्कुल लुप्त नहीं ह...
कवि का ऐसा भी कथन है कि प्रत्येक प्रकार के सुख के साधन उपस्थित
पर भी मनुष्य कभी-कभी उदास हो जाता है। उसे कोई भी वस्तु प्रसन्न
कर पाती यद्यपि वह अपनी उदासी के कारण को जान नहीं पाता। ४
मतानुसार मनुष्य पूर्व जीवन के किसी प्रिय के प्रेम को भी नहीं भूल पाता।
यह प्रेम उसकी अचेतनावस्था में उस जन्म में भी उपस्थित रहता है।

सीता अपने जन्मान्तर के पातकों को ही इस जन्म के दुःख का कारण
बताती है४। इसी प्रकार दुष्यन्त का कथन—'अथवा भवितव्यानां द्वाराणि
भवन्ति सर्वत्र'६ यह भी पूर्वजन्म के लिए कर्म के अनुसार सिद्धि प्राप्त होने का
कवि का विश्वास है, परन्तु कठोर साधना के द्वारा अन्य जन्म में मनुष्य की
अभिलाषा की पूर्ति का भी कवि ने कथन किया है—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥ —रघु० १४।६६

(७) आत्मशुद्धि

कर्तव्यपरायणता और ईश की कृपा द्वारा ही जीवन सार्थ...
इसके लिए आत्मशुद्धि को परम

का अध्ययन आवश्यक समझता है[१]। श्रुति स्मृति और [illegible]। स्वीकार करता है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है नैतिक जीवन आदर्श और नियमबद्धता[२]। इसी आत्मनियन्त्रण और अनुशासन अथवा जिस समूह में मनुष्य रहता है उस पर प्रभाव पड़ता है[३]। प्रत्येक व्यक्ति उसकी उन्नति और अवनति के लिए उत्तरदायी है व्यक्तियों का आदर करने से कल्याण होता है[४]। मनुष्य को [illegible] नहीं करनी चाहिए। दूसरे के द्वारा निन्दा करते हुए सुनने का [illegible] है[५]। अनुचित काम करने पर या अनजान में भूल होने पर, [illegible] करना चाहिए[६]।

आध्यात्मिक मार्ग अथवा धर्म का महत्त्व—आध्यात्मिक पतन वाले मनुष्य को प्रातःकाल बहुत जल्दी उठना चाहिए और ध्यान भजन करना चाहिए क्योंकि इस समय हृदय बहुत स्वच्छ रहता है। कुमारसम्भव में कवि ने सन्ध्या पर भार दिया है[७]। मानसिक पवित्रता की आवश्यकता समझाई है। एक स्थान पर [illegible] काम से ऊपर धर्म को मान्यता देता है[८]। रघुवंश में धर्म की [illegible] है[१०] और उस को अमूल्यता का वर्णन है। कुमारसम्भव प्रथम सर्ग में [illegible]

---

१ उदात्तः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्। —कुमार० २।१२
—श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्। —रघु० २।२

२ अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना॥ —रघु० १।२३

३ रघुवंशी राजा ऐसे ही आत्म-[illegible] थे। यथा—[illegible]।

४ प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः। —रघु० १।७९

५ न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।
—कुमार०, ५

६ [illegible]। —रघु० १०।१९

७ निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता।
सेयमस्तमुदयं च सेवते तेन मानिनि ममात्र गौरवम्॥ —कुमार० ८।

८ [illegible]। —अभि० १।२१

९ [illegible]।
[illegible]॥—कुमार० ५।

१० दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्। —रघु० १।२६

तपस्या पञ्चम सर्ग में उमा की तपस्या षष्ठ सर्ग में सप्तर्षियों का अपनी तपस्याओं द्वारा स्वर्ग को शोभा प्रदान करना धर्म-महिमा है। साधना भी दूसरे शब्दों में तपस्या है। शकुन्तला के पश्चात् दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों आत्मशुद्धि और साधना सम्पन्नता को प्राप्त करते हैं। अज और मकपत्नी का विरह भी है। विक्रमोर्वशीय में पुरूरवा का उर्वशी के लिए विलाप इसी एकांगी तप है। अतः तपस्या की मान्यता सर्वत्र है।

यह तपस्या सार्थक तब है जब भगवान् प्रसन्न हों। अतः ईश के सच्चा प्रेम और उसकी कृपा की प्राप्ति ही समस्त धर्म का मूल है। यही कर्ता पालनकर्ता और प्रलयकर्ता है; एक ही ईश की ये तीन शक्तियाँ हैं।

अपने समय में पूजित अन्य देवताओं की चर्चा भी कवि ने उपेक्षा की वरन् वैदिक और पौराणिक समस्त देवताओं का उसने अपनी कृतियों समावेश किया है।

वैदिक तथा पौराणिक देवता—देवताओं के लिए कवि ने देव[1] दिवौकस[2] शब्दों का प्रयोग किया है। इन देवताओं में इन्द्र[3] अग्नि[4]

—हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ —रघु० १।६२

१ तं मातली देवमनुष्यमत्यं सत्साधुनयोविनयस्य तन्त्रः ।—कुमार० ७।४८

२ तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।—कुमार० २।१

३ अतीत्य ... ।—रघु०, ३।४२

—रमायूपाङ्को ... ।—रघु०

—अपूर्ववेषेण ...

—कुसुम ...

वरुण[1] सूर्य[2] यम[3] त्वष्टा[4] द्यावापृथिवी[5] और रुद्र[6] मुख्य द्यावापृथिवी तथा अग्नि के अतिरिक्त सभी पुराने देवता भी बैठे। प्रकृति की अभिव्यक्तियों का भाव समाप्त हो गया। विष्णु प्रकृति न रह कर पृथक व्यक्तिमान् देवता बन गए जिनके कृष्णादि अवतार भी हुए। नवीन देवताओं की भी योजना हुई जैसे

---

१ ममत्वया धनुर्धरैर्विक्रमैर्नियमनात्मजा च नराधिप ।
अनुपदी ममनुष्यमन्दरो मवरनावस्मामर यथा ॥—रघु० ६।६
देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ रघु० ६।२४
—इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्
यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोशवृद्धिं कुबेर
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥—रघु० १७।८१

२ सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयंगमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥—कुमार० ८।
इसके पश्चात् के ३ श्लोकों में भी इसी सूर्य की स्तुति का विवरण है।

३ प्राप्तिममाशाम्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ।—रघु
देखिए, पादटिप्पणी नं० १
—यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा ।—कुमार० २।२१

४ उवाह तस्य पुरतोऽपि त्वष्टा नवं निर्मितमातपत्रम् ।—कुमार०
—आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्टेव यत्नोल्लिखितो विभाति ।
—रघु० ६

५ द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ।—रघु० १०।५४

६ इमामतूर्ति भुजगेन्द्रभोगस्यैव मे गुरुर्नयनप्रपन्नाम् ।—रघु० २।५८
—रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुंकारशंसिनः ।—कुमार० २।२६

७ अत्र शिवा वहन्ति ते मम्मा तमापतत्सापमर्थं चकार ।—रघु० १।
—अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे । —कुमार० २।३
इस सर्ग के ४ से १५ श्लोक तक ब्रह्मा की स्तुति है।

विष्णु[1], शिव[2], इन तीनों का एक रूप त्रिमूर्ति[3], कुबेर[4],

---

१ हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।—रघु० ३।४९
—पृथ्वीमन्तरीसूर्ते क्षीरोर्मिव स्वायम्भुवम् । —रघु ४।२७
—यस्य स्वमप्यापितवर्ण वपाम सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ।—रघु० ६।४९
—पृथुमेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् । —रघु ७।११
—बलिप्रदिष्टां नियमात्रयाणां पैविकस्य पादमिवेन्द्रपाणु ।—रघु० ७।१५
—प्रबुद्धपुंडरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।—रघु० १०।९
रघुवंश दशम सर्ग में ६ से ११ श्लोक तक विष्णु की स्तुति है।
—येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः । —पूर्वमेघ १५
—त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे ...। —पूर्वमेघ ६०

२ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघु० १।१
—अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् । —रघु० २।३५
—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन । —रघु २।३६
—व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमंकागतसत्त्ववृत्ति । —रघु० २।३८
देखिए, पादटिप्पणी नं० १ रघु० ३।४९
—स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः । —रघु० ११।१३
—आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।—रघु १८।२४
—यत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः । —कुमार० १।५७
—संयमस्थे निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः । —कुमार २।५७
—उभे एव क्षमे बोद्धुमुभयोर्वीर्यमाहितम् ।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ —कुमार० २।६०
—गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम् ।
—कुमार० ३।१७

इसी में देखिए श्लोक ६६ से ७ सम्पूर्ण कुमारसम्भव ही शिवजी विषयक श्लोकों से भरा हुआ है। इसके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तलम्

३६७

स्कन्द[1] सेन[2] प्रद्युम्न[3] सामनी[4] मदन[5] और लोकपाल[6] मुख्य हैं। के लिए कवि ने स्वयम्भू चतुरानन वागीश आदि शब्दों का प्रयोग है। इसी प्रकार विष्णु के लिए हरि पुरुषोत्तम त्रिविक्रम पुंडरीकाक्ष ५६ अच्युत चक्रधर भगवान् कृष्ण नारायण आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त हैं शिव के लिए ईश ईश्वर, महेश्वर परमेश्वर, अष्टमूर्ति वृषभध्वज . ।

—पृथिवीं शशास तिस्रो लोकपालान् ...
तस्मिन्नदौलोकपरिनं मेनिरे लोकपाला । —रघु० १७।८१
—कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम्। —कुमार० २।२२
—संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य। —पूर्वमेघ ७

१ यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः। —रघु० २।३६
—तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः। —पूर्वमेघ ४०

२ भौमिर्भीणामसमासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः। —रघु० १।१७
—मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा। —रघु० १०।१३

३ रमापुर्योसौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ। —रघु० ३।२३
—असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः। —रघु० ६।७८

४ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली या सिषेवे। —पूर्वमेघ ५१

५ तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे। —कुमार० ३।२२
—अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा॥
—कुमार० २।६४
—मन्दरायते मन्मथस्य निधनान्निधनादपि पञ्चमानुषमिन्द्रियः।
—कुमार० ४।४
—अभवद् इति रत्नकृत पुरा पुरुषिन्त्र्यक्षवपुर्विनिर्मितः।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशालमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः॥
—कुमार ५

६ देखिए, पादटिप्पणी नं० ५ —रघु० १७।८१
—सा लोकपाला पुष्पवृष्ट्या योगमार्गेभिनन्दितः। —कुमार० १
—सारंगवंशसमुद्भवे नम्रमाप तस्मी पुरुषैर्भिर्निर्दिष्टं लोकपालनम्॥
—रघु० ~

विष्णु [1] शिव [2] इन तीनों का एक रूप त्रिमूर्ति [3] कुबेर

---

१ हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।—रघु० ३।४९
—पुरुषमन्तरितमूर्तिं श्रीधरमिव स्वाम्बुजम् । —रघु ४।२०
—ततः स्वसम्भावितमं यथाऽन्यः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ।—रघु० ६।४९
—पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् । —रघु० ७।१३
—बालप्रदिष्टा नियमाबद्धानं मैथिलं पादमिवेन्द्रपादम् ।—रघु० ७।१९
—प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।—रघु०, १०।९
रघुवंश दशम सर्ग में ६ से ३२ श्लोक तक विष्णु की स्तुति है ।
—येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः । —पूर्वमेघ १५
—त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे ...... । —पूर्वमेघ ४०
२ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥—रघु १।१
—अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् । —रघु २।३५
—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन । —रघु २।३६
—भासारिव पृष्ठगता विभाति सिंहस्तमेकाम्बरसत्त्ववृत्ति । —रघु० २।१८,
देखिए, पादटिप्पणी नं० १ रघु ३।४९
—त्र्यम्बकस्य पुरस्तपोधने प्रस्थ वाचरचिरात्तकार्मुकः । —रघु० ११।१३
—आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।—रघु० १८।२४
—यथाभिमानाय ममिस्थमिदं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः । —कुमार० १।५७
—अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः । —कुमार० २।५७
—उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्वीर्यमाहितम् ।
सा वा शंभोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ —कुमार० २।६०
—पुरीमिमामावस शक्रनगर्या इवात्मतुल्यामधिवासकायाम् ।

स्मर[1] देव[2] जयन्त[3] मांमनो[4] मदन[5] और लोकपाल[6] मुख्य हैं। के लिए कवि ने स्वयम्भू चतुरानन वागीश आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार विष्णु के लिए हरि पुरुषोत्तम त्रिविक्रम पुंडरीकाक्ष ५८० अच्युत चक्रधर भगवान् कृष्ण नारायण आदि संज्ञाएँ प्रयुक्त हैं शिव के लिए ईश, ईश्वर महेश्वर परमेश्वर अष्टमूर्ति वृषभध्वज .

—पूर्वापि सन् विरचे कोपवृद्धि नवैर
  स्तस्मिन्नंशोपगतचरितं भेजिरे लोकपाला । —रघु० १०।८१
—कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् । —कुमार २।२२
—संतप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
  सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य । —पूर्वमेघ ७
१ यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः । —रघु० २।३६
—यत्र स्त्रस्य नियतवसति पुण्यमेकीकृतात्मा
  पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः । —पूर्वमेघ ४०
२ भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः । —रघु० १०।७
—मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा । —रघु० १०।१३
३ जयाद्युपांशोः परमं मता यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ । —रघु० ३।२३
—असौ कुमारस्तमजोऽनुयातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः । —रघु० ६।७८
४ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
  बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे । —पूर्वमेघ ५१
५ तपेति शैलाधिप भूमृदाम्नायाव भूमौ मदन प्रकृत्य । —कुमार० ३।८
—अथ स मन्मथवीपि रमृत्वावारस्मृतं रतिवनपणरनाके वारमामस्य कंठे ।
  मधुकरमधुरम्तत्यस्तनूनारदास शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा ॥
—कुमार० २।६४
—मन्मथाय मदनस्य निपहान्निमारतामि पतिमाशुमिन्दति ।
—कुमार० ४।८
—अथाय हुताशनिर्गच्छन पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
  इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥
—कुमार० ५।५४
६ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ —रघु० १०।८१
—नं लोकपाला पुरुहूतमुख्या वीप्सानीम्नाप्रचिनीभरेत । —कुमार ७।७८
—मरुत्पिनाकमुखी समभापत ततो मुरारिमर्पविनिमिरं लोकपालनुमार ॥
—रघु० २।७५

स्थाणु, नीललोहित विरूपाक्ष शंभु, हर, गिरीश शिव . . . . आए हैं[1]।

देवियाँ—इनमें इन्द्र की पत्नी शची[2] सरस्वती[3] और पृथिवी[4] है। सरस्वती और भारती[5] दोनों से विद्या की[6] देवी का भाव प्रकट पौराणिक देवियों में लक्ष्मी[7] पार्वती[8] और सप्त मातृकाएँ[9] हैं। लिए उमा अम्बिका भवानी गौरी आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। वाहन सिंह है। सरस्वती ब्रह्मा की पत्नी और लक्ष्मी विष्णु की

---

१ पूर्वोल्लेख उदाहरणों में देखिए। सम्पूर्ण उदाहरणों के श्लोक कारण दिए नहीं जा सके।

२ प्रसूत पूर्व समये शचीसमा त्रिदायना छमितरिकार्भमजनम्॥ —रघु॰ ३।

—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ॥ —रघु॰ ३।२

३ स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती। —रघु॰ ४।६

—निधमभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च। —रघु ६।२०

— द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव। —कुमार॰ ७।९०

४ द्यावापृथिव्यौ प्रत्यग्रमहपतिरिवाध्वरम्। —रघु॰ १०।५४

५ बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थेव भारती। —रघु १०।३६

६ देखिए, पादटिप्पणी नं ३ और ५

७ पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्। —रघु॰ ४।५

—भिय पद्मनिषण्णाया' क्षौमान्तरितमेखले। —रघु १०।८

८ कुमार॰ ५।१–२१ उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम्।

—कुमार॰ ६।८२

सप्तम अष्टम सब सर्गों में पार्वती-विषयक असंख्य श्लोक हैं।

—जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

कही जाती है। कवि ने इसको पद्म पर बैठी हुई और विष्णु के चरण ... हुई कहा है। अमरकोश में सप्त माताओं के नाम ब्राह्मी माहेश्वरी कौमा... वैष्णवी वाराही इन्द्राणी और चामुंडा दिए हैं।

भूचर देव और देवियाँ—इनमें गन्धर्व[1] यक्ष[2] किन्नर[3] कि...[4] गुह्यक[5] विद्याधर[6] और सिद्ध[7] हैं। गन्धर्वों की स्त्रियाँ अप्सरा[8] सुरांगना[9] कही गई हैं।

देवी-देवताओं के वाहन—शिव का वाहन वृष[10] विष्णु का ग...

---

१ अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य। —रघु० ५।५३
२ यक्षाः किंपुरुषाः पौराः योषितो वनदेवताः। —कुमार० ६।३९
—यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु। —पूर्वमेघ १
३ असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि सुप्यते। —रघु० ८।६४
—उद्भास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्।
—कुमार०
—अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत्।
—कुमार०
४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २ कुमार० ६।३९
—यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाङ्गनानाम्।
—कुमार० १।
५. अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा। —रघु० ९।६
६ अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता। —रघु० २।६०
७ उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः। —कुमार०
८ यत्राप्सरो विभ्रममण्डनानां संपादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति। —कुमार० १।४
—अमरसमारोऽपि यथाभिरामोऽप्सरः प्राविशदीर्घिकाः। —रघु०
—कथीकृता विबुधवधूविलासमार्गे ... गतोऽन्यम्।
—विक्रम० १
९. ससार सैन्यासनमान्यपी सुरांगनार्पितपयोरथी। —रघु० ९।२७
१० कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्। —रघु० २।३५
—अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन। —रघु० २।३६
—स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम्। —कुमार० ७
११ मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता॥ —रघु० १०।१३

और शेष शय्या[1] पार्वती का वाहन सिंह[2] इन्द्र का ऐरावत ... देवत्व की विभूति नन्दिनी गा... को भी प्राप्त हुई है। गंगा यमुना भी आकार म चामरधारिणी[4] का कार्य करती है। अत नदियों को भी प्राप्त हुआ है।

दैत्य-दानव—देवताओं के विरोधी दैत्य[5] और सुरद्विप[6] कहलाते रावण[7] कालिय[8] लवण[9] आदि असुरों का कवि ने उल्लेख किया है। ...ह और केतु[11] दो क्रूर ग्रहों को भी दैत्य रूप मे परिणत कर लिया गया। के अनुचरगण[12] प्रेतयोनि के थे। शाकुन्तल में एक अदृश्य प्रेत[13] ने ... को पीड़ित किया था[14]।

---

१ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं ११
—भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकस । —रघु १०।७
२. रघु० सर्ग २
३ अर्संपदस्तस्य वृषेण गच्छत प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोरुणांगुलि ॥—कुमार० ५।८०
४ मूर्ते च गंगायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।—कुमार० ७।४२
५. दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभि ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ —रघु १०।१२
६ प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषां ।
अथैनं तुष्टुवु स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥—रघु० १०।१५
७ रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन स ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ —रघु १२।११
—स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मन सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थित ॥ —रघु १२।५५
८ अस्तेन तावदधिष्ठिता कालियेन मणि विसृष्टं यमुनौकसा य ।
अत स्पृशन्त्यापि दर्श स्वामा सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्
९. अथापूर्ण तमागाय अमर्ष
वराह संमर्द ...

वन में रहने वाले 'वन देवता'¹ का भी ~ मरुर्दि² भी देवतुल्य माने गए। इसी प्रकार । महापुरुष दिव्यशक्ति-सम्पन्न प्रतिभासित होते हैं।

इन्द्र—वैदिक देवताओं में यह एक शक्तिमान् अन्य महत्त्वपूर्ण देवताओं में गिना गया। ब्रह्मा देवता रह गए, शेष सब गौण। कवि ने उल्लेख किया है। इन्दुमती के प्रथम इन्द्र³ और यज्ञ इन्देव के पूजन की प्रथा का अन्त हो गया। मय जो अब १०० यज्ञ करना चाहता था उसे यह

---

१ यथा विपुरना पौरा योषितो वनदेवता। —कुमार
—आने आतिथ्यमस्मिन्यामिरनुमन्यगमनार्थम ...

२. पूर्वोल्लेख

३. मध्यरिस्तावचितामैरावणो विरम्यामरिवमान।
—विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न मार्ग सम्मिने।

कुमार० ११-१२ श्लोकों में सप्तर्षियों का उल्लेख है।

४ वनामिनवं विम्यायां निर्गोलनि च मध्यमि।
मरुर्गिम परे मम मर्गमिररुर्मिवरे ॥ —रघु० ,

५. रघु० सग ३ कमि० सर ६
—ते लोकपाला पुरहूतमुख्या श्रीमल्लोकमधिकैवरा।

६. पुरहूतप्रभवेव तपोऽभूमिर्नरेश्वर।
मवाम्बुनामरागिम्यो मनसु उन्मा प्रभार ॥ —रघु० ४।१
—बार्गिर्ष संग्रहरेम्ने धनुर्वेद स्पर्शी।
प्रजापालन हो हि पर्वतादिकामवे ॥ —रघु० ४।१६

७ मिट्टम न हेमपुरधराम पवर राजपुत्रैरम्नम्।
मनुष्यदेवैन उपकरणक र्न्द्र मनमार्गरम्भार म ॥ —रघु० १।
—मनोजमाया च्यवो मर्धिर्मिग्नदेव देवेन पूर्व निम्ने।
बलन देवा—चान मधुरो निर्दरवार सर्व प्रवन्दे ॥

था। इसके पुरुहूत[1] शतक्रतु[2] वज्रपाणि[3], पुरन्दर[4] हरि[5] शक्र[6] मघवा[7] वासव[8] गोत्रभिद[9] आदि नाम कवि के साहित्य में प्राप्त होते हैं। इसके पुत्र का नाम जयन्त[10] था।

अग्नि—वैदिक काल का यह मुख्य देवता था पर अब केवल यज्ञ[11] और विवाह[12] में ही इसका उल्लेख मिलता है। राजा जब तपस्वी आदि जनों से भेंट करता था तो ऐसे अग्न्यागार[13] में जहाँ सदा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। इसका उल्लेख किया जा चुका है। आहुतियाँ लेने के कारण ही यह हविर्भुज[14] कहा गया है।

वरुण—इस समय वरुण जल का देवता[15] माना जाता था। यह आठ लोकपालों में से है। अतः कालिदास का राजा कुमार्ग पर चलने वाले को न्याय के लिए इसी के पथ से उपस्थित करता है[16]। कुषाण और गुप्त मूर्तियों में इसका उल्लेख है[17]। यह मगर पर बैठा हुआ दिखाया गया है और दंड के लिए हाथ में पाश लिए हुए है।

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ५ और ६
२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७ —रघु० ३।३८
३ वज्रपाणि —रघु० २।४२
४ मघावमस्तेन शचीपुरन्दरौ। —रघु० १।२१
५. हरि —रघु ३।४३ ६ रघु ३।४६
७ रघु० ३।४९ ८. रघु० ३।५८
९ रघु० ३।५३ १० पूर्वोल्लेख
११ अथ तस्य विशांपत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम्॥ —रघु० १०।५०
१२ तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयाञ्चकार॥ —रघु० ७।२०
—तौ दम्पती त्रिःपरिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ।
—कुमार० ७।८०
१३ पूर्वोल्लेख

यम—कवि ने यम के लिए दण्ड[1] और
है। इसके आयुध का नाम कूट शाल्मली है।
किया है[3]।

त्वष्टा—यह देवताओं का शिल्पी है।
हुआ हुआ।

रुद्र—कालिदास ने इसका शिव के साथ ।
शिव के लिए त्र्यम्बक[5] शब्द का प्रयोग भी किया है।
के लिए आया है।

लोकपाल—यह आठ देवताओं का वर्ग था। ये
इस वर्ग में इन्द्र वरुण यम और कुबेर भी थे। ऐसी
मन्तान की उत्पत्ति के पूर्व वे रानी के गर्भ में प्रवेश करें[7]

कुबेर—यह सम्पदा का स्वामी[8] और उत्तर दिशा
है। इसकी मूर्ति सर्पोथी अथवा बनिया के रूप में।
थैली और मोटी तोंद इसकी विशेषता है। मथुरा म्यूजियम
प्राप्त होती है। इसकी पूजा अब बंगाल भाषा में प्रचलित
के अवसर इसका उल्लेख किया है[9]।

सूर्य—ऋग्वेद में वरुण की तरह सूर्य भी नियन्ता
गुप्त कविता में निहित थे कालिदास ने वे ही गुण इसके
प्रयुक्त कर निहित कर लिए हैं[10]। सूर्य के लिए रवि[11] भानु[12]

---

१ पूर्वोल्लेख
२ कृतो दण्डधरस्येव कन्याप्रतिमर्पितम्। —रघु० १२।१६
३ देखिए पादटिप्पणी नं० २
४ कर्ण तु यस्तोऽभूमयो माल्योविमापनाप्नापनर्मिमोभाम्।
इमामुक्तो सुरमेरुहि प्रतीमता तु महर्षे रत्नाप्याम्॥
—भारविलयमौलिविमर्मिदाविकोटन।
प्रणामवति मूर्धनि यद्रस्मारर्पित॥ —कुमार०, ३।११
५ रघु ३।४९
६ वाजसनेयी संहिता ३ ८ शतपथ ब्राह्मण २ ६ २. ६
७ रघु० २।७५, पूर्वोल्लेख
८ पूर्ववत् १ ९ पूर्वोल्लेख १० ...
११ कुमार० ८।४१ १२ रघु० ५।४ १३ ...

हरिरश्वरोचिति[1] शब्द भी आए हैं। सूर्योपासना का 'वैदिक काल' ... भवन था। कुषाण और शक साधारणतः सूर्य के बड़े उपासक थे, संग्रहालय में सूर्य देव की अनेक प्रतिमाएँ हैं। कालिदास ने इसके ... सात घोड़ों का उल्लेख किया है जो एक रथ में जुते हैं[2]। मथुरा ... भी इन प्रतिमाओं के घोड़े रथ में जुते हुए हैं जो रथ को लेकर ... इन पर विदेशी संस्कृति की छाप भी स्पष्ट है। लम्बे जूतों का जोड़ा ... उदाहरण है। बनारस के भारत कला भवन म सूर्य देव का रथ है, जिसमें प्रतिमा बैठी है। उसका उष्णीश सारथी अरुण रथ हाँक रहा है।

ब्रह्मा—ब्रह्मा विष्णु महेश ये कालिदास द्वारा वर्णित मुख्य देवता ... इन तीनों का समन्वय ही त्रिमूर्ति कहलाता है। ब्रह्मा स्वयम्भू[3] ... चराचर विश्व का उत्पत्तिदाता[4] कहा जाता है। यह प्रकृति के स्थिति और प्रलय का कारण है। ऐसा कहा जाता है कि सृष्टि रचना के लिए अपने शरीर के नर और नारी दो भाग किए। यह दिन में काम करता और रात्रि में सोता है। यही सृष्टि और प्रलय है। यह अज है। स्वयं अनादि जगत् का आदि स्वयं प्रभुरहित जगत् का प्रभु है। अपने आप से ही यह रचना करता है अपने से ही इसे प्रेरणा मिलती है और अपने आप में ही यह विलीन हो जाता है। यह तरल भी है और ठोस भी। स्थूल भी है और सूक्ष्म भी। हल्का भी है और भारी भी। यह हवि भी है और होता भी। भोज्य भी है और भोक्ता भी।। ज्ञान और ज्ञाता दोनों है। इसी प्रकार ध्येय और ध्याता भी दोनों है[7]। कालिदास ने 'सर्वतोमुख'[8] शब्द का प्रयोग कर, इसके चार सिर हैं, इसकी पुष्टि कर दी है। भारतीय संग्रहालय म इसकी मूर्ति में चार सिर चार हाथ जिनमें वेद कमण्डलु स्रुवा और सुवा है और दाढ़ी वाली आकृति है। कवि ने कहीं ब्रह्मा के मन्दिर का उल्लेख नहीं किया है।

---

१ रघु० ३।२२
२. पुनीत सृष्टि ...
३ ...रामा...

प्रजापति—कवि ने ब्रह्मा से प्रजापति का आश्वलायन गृह्यसूत्र[1] भी दोनों को एक मानता है ब्राह्मण[3] के अनुसार यह सभी देवताओं का पिता है।

विष्णु—विष्णु के लिए, जैसा पहले उल्लेख पुरुषोत्तम त्रिविक्रम पुण्डरीकाक्ष परमात्मा भगवान् कृष्ण[4] आदि नाम प्रयुक्त किए गए हैं। और इसका आशय सूर्यरश्मि का ग्राम गतिशील बन गया। ऋग्वेद में यह तीन डग लेकर भूमण्डल[1] बाद में पौराणिक वामनावतार का प्रतीक बन गया। पर वर्णन इस प्रकार है— विष्णु शेष शय्या पर बैठे हैं। अपनी गोद में उनके चरणों को रख दबा रही हैं। रेशमी वस्त्र पड़ा है। विष्णुजी के चौड़े वक्षस्थल पर रहा है जिसमें लक्ष्मी जी शृंगार के समय अपना मुख उनकी सेवा में निरत उनका स्वामिभक्त सेवक गरुड़ है न पापों की पहुँच है न मन की। पहले विश्व को पालन करने वाले और अन्त में उसका संहार करने वाले धारण करते हैं। जिस प्रकार वृष्टि का जल समुद्र एकरस है के संयोग से विभिन्न स्वादयुक्त हो जाता है वैसे ही वे समस्त सत्व रज और तम के गुणों में मिल विभिन्न रूप धारण अजन्मा हैं पर सार भारा का उ [illegible] न सार डाला है। स्वयं सबकी कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं। स्वयं अजय हैं पर जय कर लिया है। स्वयं अगोचर हैं पर सारे दृश्य जगत् के हृदय में निवास करते हुए भी दूर हैं निष्काम होते हुए भी तप होते हुए भी मान से रहित हैं। सब होते हुए भी अज्ञात हैं। सोते हैं पर स्वयं स्वयम्भू हैं। भागवत के नाना प्रकार के गोता गुणों के गीत हैं। आप ही नाना समय के जल में निवास करने

१ १ ४ २ ११ १ ११ १८ १ ८ १

४ इसके उदाहरण विष्णु के जहाँ उदाहरण हैं वहाँ देखिए। सब १० सब में हैं जहाँ विष्णु का स्तुति की गई है।

५. ५. ११ ४ १ ३ ११

८. दर्शिका प्राचीनता विवेचन सम्पत्ता—एप ७ एप १०। १०।११

प्रकार की अग्नि आपके ही मुख हैं। सातों लोकों के आप ही आश्रय हैं। धर्म अर्थ काम मोक्ष उनके ही चार मुखों से निकले हैं। सत्ययुग, द्वापर, त्रेता कलियुग चार युग और चातुर्वर्ण्य सब उनका ही उत्पन्न किया हुआ है। योगी लोग प्राणायाम आदि के द्वारा ज्योति-स्वरूप आपकी ही खोज करते हैं। अजन्मा होते हुए भी वे जन्म लेते हैं। कर्मरहित होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में निद्रित भी जागरूक हैं। परमानन्द के सभी मार्ग यहीं आकर मिल जाते हैं। जो योगी सदा उनका ध्यान करते हैं, जिन्होंने सब कर्म उनको समर्पित कर दिए हैं और जो राग-द्वेष से परे हैं उनको वे जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा देते हैं। उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनके स्मरण मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है। दया दर्शाने के लिए वे अवतार लेते हैं और मनुष्य के सदृश आचरण करते हैं[1]।

नारायण—विष्णु के लिए ही नारायण शब्द प्रयुक्त किया गया है। उर्वशी के विषय में विवेचना करते हुए कवि कहता है 'नर के मित्र मुनि नारायण की जाँघ से उत्पन्न उर्वशी जब कैलासपति की परिचर्या समाप्त कर लौट रही थी देवताओं के शत्रु राक्षसों द्वारा वह मार्ग में बन्दी बना ली गई'[2]। इस कथन के अनुसार नर और नारायण दो प्राचीन ऋषि हैं। बाद में नर का एकीकरण अर्जुन से और नारायण का वासुदेव कृष्ण से हो गया। ऊपर के प्रसंग की उर्वशी अपने पिता के मध्यलोक (विष्णु[3]) आकाश में उड़ जाती है। वामन के दूसरे डग से आकाश की प्रतीति होती है। आकाश विष्णुलोक के लिए एक और स्थल पर भी प्रयुक्त हुआ है। कालिदास 'आत्मनः पदम्'[4] से विष्णुलोक का ही आशय लेते हैं। जैसा बताया जा चुका है, विष्णु पहले सूर्य ही था अतः सूर्यलोक आकाश लोक हुआ।

अन्य अवतार—महावराह[5] राम[6] वासुदेव कृष्ण[7] सब विष्णु के ही

---

१ रघु० १०।१६-३१

२. ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना।
बन्दीकृता विबुधशत्रुभिरर्धमार्गे क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम्॥
—विक्रम० १।८

३ पित्र्यं पदं मध्यममुत्पतन्ती [illegible]

अवतार थे क्योंकि इनका एकीकरण विष्णु से ... दानवों के हाथ से पृथ्वी का उद्धार किया राम ... रूप में क्रूर वंश का ।

कुषाण काल में वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदाय की ... की रूप-रेखा को विकास प्राप्त हुआ । कवि ने ... हुए मोर पंख[1] बलराम[2] और उनकी पत्नी रेवती[3] है । कालिय[4] और कौस्तुभ[5] का भी संकेत है परन्तु ... मिलता । इससे निष्कर्ष निकलता है कि कवि के ... सम्प्रदाय हो गया था । गुप्त काल के लेखों से कृष्ण उपासक होना भी सिद्ध होता है । मध्य-भारत की ... रूप में पृथ्वी का उद्धार करते हुए विशालकाय ... अवतार) की मूर्ति है । झाँसी के पास मन्दिर के ... कृष्ण के [illegible] और गोवर्धन उद्धार के चित्र हैं । शेषशायी विष्णु और उनके अवतारों की अनेक प्रतिमाएँ हैं ... वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हो चुका था । उनके समय में ... ब्रह्मा विष्णु और महेश की एकता इस समय स्थापित हुई ।

शिव—कालिदास को शिव सबसे अधिक प्रिय हैं ... प्रारम्भ शिव की स्तुति से हुआ है । कवि स्वयं अनुमान ... शिव के ही उपासक थे । परन्तु उनका पक्ष किसी संकुचित ... सीमा में जकड़ा नहीं था जैसा विष्णु और ब्रह्मा की ... होता है ।

जो भी हो शिव का महत्व बहुत अधिक था । इसके लिए

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ७

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ७

३ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे ।—मेघदूत ५१

४ देखिए पादटिप्पणी सं० १

५,६ [illegible]
[illegible] ॥—[illegible]

७ रघु० ११।

८ रघु० ११।

प्रकार की अग्नि आपके ही मुख हैं। पाँचों लोकों के आप ही आश्रय हैं। धर्म अर्थ काम मोक्ष उनके ही चार मुखों से निकले हैं। सतयुग द्वापर, त्रेता कलियुग चार युग और चातुर्वर्ण्य सब उनका ही उत्पन्न किया हुआ है। योगी लोग प्राणायाम आदि के द्वारा ज्योति-स्वरूप आपकी ही खोज करते हैं। अजन्मा होते हुए भी वे जन्म लेते हैं। कामरहित होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में निद्रित भी जागरूक हैं। परमानन्द के सभी मार्ग वहीं — जाते हैं। जो योगी सदा उनका ध्यान करते हैं, जिन्होंने सब कर्म उनको कर दिए हैं और जो राग-द्वेष के परे हैं उनको वे जन्म-मरण के बन्धन छुटकारा देते हैं। उनकी महिमा का बखान नहीं किया जा सकता। मात्र से ही मनुष्य पवित्र हो जाते हैं। उनके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रक्षा उत्पत्ति के लिए वे अवतार लेते हैं और मनुष्य के सदृश आचरण करते हैं

नारायण—विष्णु के लिए ही नारायण शब्द प्रयुक्त किया गया उर्वशी के विषय में विवेचना करते हुए कवि कहता है 'नर के मित्र नारायण की जाँघ से उत्पन्न उर्वशी जब कैलासपति की परिचर्या लौट रही थी देवताओं के शत्रु राक्षसों द्वारा वह मार्ग में बन्दी बना ली इस वचन के अनुसार नर और नारायण दो प्राचीन ऋषि हैं। नर का एकीकरण अर्जुन से और नारायण का वासुदेव कृष्ण से हो गया। के प्रसंग की उर्वशी अपने पिता के मध्यलोक (विष्णु[3]) आकाश में ०, है। वामन के दूसरे रूप से आकाश की प्रतीति होती है। आकाश के लिए एक और स्थल पर भी प्रयुक्त हुआ है। कालिदास वामन से विष्णुलोक का ही आशय लेते हैं। जैसा बताया जा चुका है विष्णु ही था अतः सूर्यलोक 'आकाश लोक' हुआ।

अन्य अवतार—महावराह[4] राम[5] वासुदेव कृष्ण[6] एवं

---

१ रघु० १०।१६–३१

२. अलङ्कर्तु नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना
। बन्दीकृता वरमप्सरसां गतोऽस्मि

अवतार थे क्योंकि इनका एकीकरण विष्णु के साथ किया गया है दानवों के हाथ से पृथ्वी का उद्धार किया राम ने रावण का कृष्ण ने क्रूर कंस का।

कुषाण काल में वासुदेव कृष्ण के सम्प्रदाय की अधिकांश की रूप-रेखा को विकास प्राप्त हुआ। कवि न गोपाल कृष्ण[1] का हुए और कंस[2] बलराम[3] और उनकी पत्नी रेवती[4] आदि का भी है। कालिय[5] और कौस्तुभ[6] का भी संकेत है परन्तु राधा का नहीं मिलता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि कवि के समय म सम्प्रदाय हो गया था। गुप्त काल के लेखों से गुप्त राजाओं का उपासक होना भी सिद्ध होता है। मध्य-भारत की उदयगिरि गुफा रूप में पृथ्वी का उद्धार करते हुए विशालकाय महावाराह (अवतार) की मूर्ति है। जोधपुर के पास मन्दौर के पाँचवीं शताब्दी मध्य के घपट उलटने और गोवर्धन उठाने के चित्र हैं। एलौर के देवस्थानी विष्णु और उनके अवतारों की अनेक प्रतिमाएँ हैं। अतः वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित हो चुका था। उनके समय में इसम और ब्रह्मा विष्णु और महेश की एकता इस समय स्थापित हुई।

शिव—कालिदास को शिव सबसे अधिक प्रिय हैं लगभग सभी प्रारम्भ शिव की स्तुति से हुआ है। अतः ऐसा अनुमान किया शिव के ही उपासक थे। परन्तु उनका मन किसी संकुचित सम्प्रदाय सीमा में जकड़ा नहीं था जैसा विष्णु और ब्रह्मा की स्तुति से होता है।

जो भी हो शिव का महत्व बहुत अधिक था। इसके लिए ऐति

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७

३ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।—पूर्वमेघ ५१

४ देखिए पादटिप्पणी नं० ३

५,६ त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥—रघु०

७ मान० १११

८ विक्रम०, १११

महेश्वर,[1] परमेश्वर,[2] अष्टमूर्ति[3] शूलभृत[4] पशुपति[5] त्र्यम्बक[6] स्थाणु,[7] नीललोहित[8] नीलकण्ठ[9] वृषभध्वज[10] विश्वेश्वर[11] चन्द्रशेखर,[12] महाकाल[13] शम्भु,[14] हर,[15] गिरीश[16] भूतेश्वर[17] भूतनाथ[18] शिव[19] पिनाकी[20] आदि अनगिनत विशेषण आए हैं। उज्जयिनी के महाकाल[21] बनारस के विश्वेश्वर[22] के मन्दिर का कवि ने उल्लेख किया है।

शिव की स्तुति द्वारा उनके निम्नलिखित गुणों की अभिव्यक्ति होती है। 'वह मनुष्यों को आठ रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जल के रूप में वह ब्रह्मा की सृष्टि में सर्वप्रथम है। अग्नि के रूप में वह विधिपूर्वक हुत-सामग्री को ग्रहण करता है। होता के रूप में वह यज्ञ-कर्मों का सम्पादक है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह दिन और रात का नियामक है। आकाश के रूप में वह विश्व में व्याप्त और शब्द गुण वाला है। पृथ्वी के रूप में जो उत्पत्ति का स्थल है, वायु के रूप में सभी जीवधारियों का जीवनदाता है'[23]। शिव के आठ रूप अन्यत्र भी वर्णित हैं। मालविकाग्निमित्र के प्रथम श्लोक में शिव को सांसारिक भोग धन

---

१ रघु० ३।४९ २ रघु० १।१ ३ रघु० २।३५
४ कुमार० ६।२४ ५ कुमार० ६।९५ ६ रघु० ३।४९
७ कुमार० ३।१७ ८ कुमार० २।५७ ९ कुमार० ७।३१
१० रघु० २।३६ ११ रघु० १८।२४ १२ पूर्वमेघ ३७
१३ पूर्वमेघ ३८ १४ पूर्वमेघ ५४ १५ कुमार० ७।४४
१६ कुमार० ३।३ १७ रघु० २।४६ १८ रघु २।५८
१९ कुमार० ५।७७ २० कुमार० ५।७३
२१ अस्त्री महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
—रघु० ६।३४ पूर्वमेघ ३८
२२ आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥—रघु० १८।२४
नोट शिव के विशेषणों के पूरे उद्धरण कुछ पहले दिए जा चुके हैं। उल्लेख
. . . शिव की उपासना स्वतन्त्र शिव एक सम्प्रदाय

स्त्री और अहंकार से सर्वथा उदासीन एवं मुक्त व्यक्त किया गया है[१]। धर्मों में लोभ काम और अहंकार को छोड़ने से ही भगवान् की प्राप्ति हो है। शिव सभी के स्रष्टा पालक और संहारकर्त्ता हैं। अथवा इन सबके हैं[२]। वास्तविक नाम उनका संहार है। उनकी मूर्ति जल में व्याप्त[३] रहती है। यह इस बात का प्रतीक है कि प्रलय होने पर सम्पूर्ण पृथ्वी जाती है। शिव की उपाधि ईश्वर भी है और यह सार्थक है। वेदान्ती लोग अकेला पुरुष बताते हैं। यह पृथ्वी और आकाश में रमा होने पर भी अलग है। मोक्षार्थी इसे अपने हृदय में खोजते हैं[४]। व्याप्य स्थितं रोदसी उसकी महत्ता लक्षित होती है। 'ममापि स क्षपयतु नीललोहित पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः'[५] से वे ही जन्म-मरण के बंधन से मुक्ति दे सकते हैं यह सार्थ होता है।

वे विश्व का रूप हैं[६]। वे अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हैं[७]। वे को[८] धारण करने वाले हैं। विश्व में किए जाते प्रत्येक कर्म के वे साक्षी हैं[९] सभी लोकपाल इन्द्र सहित उनके सम्मुख नतमस्तक होते हैं[१०]।

---

१ एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥—माल० १।१

२. स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः। रघु० २।४४

३ सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम।—कुमार० २।६

४ वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥—विक्रम० १।१

५. अभि० ७।३५

६ विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः॥—कुमार० ५।७८

७ अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम्।—कुमार० ६।७५

८ यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुः।—कुमार० ६।७६

९ साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्।—कुमार० ६।७८

१० तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥—कुमार० ७।

शिव का स्वरूप—गुप्तकाल की शिव की अपनी और पार्वती के अनेक प्रतिमाएँ मिलती हैं। कुमारसंभव में कवि ने शिव के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। सर्वांग में भस्म[1] ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा[2] शरीर गजाजिन[3] (अंग के आभूषण[4] सर्प के रूप में) उसकी विशेषता उसका वाहन वृषभ[5] है जिसके गले में सोने की छोटी-छोटी घंटियाँ रहती हैं। पीठो भाग से चलने वाला सीगों से बादलों को विदीर्ण करता आगे बढ़ता जाता है[6]। उस पर व्याघ्राम्बर[7] बिछा रहता है। गङ्गा, यमुना तथा यमुना सब उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। शिव नन्दी और वाहन वृषभ नन्दी में कवि भिन्नता समझता है—ऐसा भी का मत है पर वास्तव में दोनो स्थानों पर नन्दी गण के ही लिए आया

शैव सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाएँ

कश्मीरी शैव मत—इसमें दो मत हैं—स्पन्दशास्त्र और शास्त्र। स्पन्दशास्त्र से इसके सिद्धान्तों का साम्य नहीं है। थोड़ा-बहुत मालूम होता है यह उपनिषद् आदि ग्रन्थों के अभ्यास और सिद्धान्त ही है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र भी बिलकुल भिन्न है। इस शास्त्र के के अनुग्रह से ही आत्म-स्वरूप का ज्ञान होता है, पर कालिदास ने के महत्त्व पर प्रकाश डाला ही नहीं है। स्पन्द शास्त्र के मतानुसार साधन योग मानते हैं परन्तु गीता के छठे अध्याय में भी योग

---

१ अमृत भस्म सितासन। —कुमार ७।३२

२ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ६

३ गजाजिनस्यैव दुकूलभाव। —कुमार० ७।३२

४ यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम्।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभा॥

५ तं च तेजस्वी गुरुतो विलम्बता ककुद्मता शारदशैलहार्यया।
तया महाप्रथ स्मेरमुखी

का निरूपण है अतः वे उपनिषद् गीता आदि से अधिक प्रभावित थे। । शैवमत का प्रभाव नहीं था। श्री अमीश्वर अवस्थी ने नाना उदाहरणों . कालिदास का प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के साथ सम्बन्ध स्थापित अवश्य किया है उनका यह साम्य इसलिए भी हो सकता है कि शैव प्रदेश में वे कुछ रहे हों। वे उसी के अनुयायी थे ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पाशुपत धर्म—पशुपति[1] भूतनाथ[2] और भूतेश्वर[3] कहकर कवि इस धर्म का भी अप्रत्यक्ष संकेत किया है। इस पद्धति के पति पशु और पाश सिद्धान्त हैं[4] और विद्या क्रिया योग और चर्या चार विभाग हैं[5]। ऋग्वेद रुद्र को पशुप कहा गया है[6]। अथर्ववेद में भव और शर्व को भूपति और कहा है। पशुपति के शासन में गौ अश्व नर अज और मेष ये पंचजीव हैं[7] महाभारत में[8] पाशुपत पाँच धार्मिक सिद्धान्त में से एक है। अर्जुन ने पशास्त्र प्राप्त करने की कोशिश की है। कवि ने भी इस देवता को दुर्लभ योगमुक्त[9] कहा है।

महाकाल के मन्दिर में पशुपति शिव संगीत-प्रिय नृत्य करते । गए हैं[10]। शिव की नृत्य-प्रियता और संगीत-प्रियता का संकेत एक स्थान और भी कवि ने किया है—

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संरक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्यात्
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः॥ —पूर्वमेघ ६०

---

१ पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः। —कुमार० ६।९५
२ तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं संबन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्। —रघु २।५८
३ भूतं च भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचित्प्रहस्यार्थपतिं बभाषे। —रघु० २।४६
४,५ भंडारकर वैष्णविज्म शैविज्म आदि —पृ० १०३
६,७ इंडिया इन कालिदास पृ० ३२४
८ शान्ति (नारायणीय) अध्याय ३,९६४
९ विक्रम० १।१
१० पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्तारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ —पूर्वमेघ ४०

कालिदास ने अर्धनारीश्वर[1] का भी उल्लेख किया है। गुप्तकालीन ... में शिव के दाहिने भाग में पार्वती दिखाई पड़ती हैं।

युद्धदेव और देवताओं के सेनानी स्कन्द[2] का भी कवि ने उल्लेख किया ... देवगिरि पर्वत पर[3] इसका मन्दिर भी था। सामान्यतः इसका वाहन मयूर माना है। कवि ने भी इसका चित्रण किया है[4]।

महाकाल शिव की संहारकारिणी-शक्ति महाकाली[5] है। यह मनुष्य खोपड़ियों[6] का मुंडमाल धारण करती है। कवि ने इसका स्वतंत्र उल्लेख है तथा अथवा अन्य मातृकाओं के साथ एकीकरण नहीं हुआ है। ... विवाह के पूर्व शिव मातृकाओं के पीछे यह अनुगमन करती है[7]। शिव के इसका स्पष्ट सम्बन्ध है।

अनेक देवी-देवताओं का प्रसंग देने पर भी कवि एक ही ईश्वर पर करता है। उसने स्वयं जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि उनका समन्वय कर दिया है। ब्रह्मा और विष्णु की स्तुति में अभेद है। उसने एक स्थान पर नहीं अपितु अनेक स्थलों पर इन तीन ... भाव को दृढ़ाने का अथक परिश्रम किया है–

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥ —कुमार॰

---

१ जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ। —रघु॰ १।१

२ सेनान्यं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभिद् । —कुमार॰ २।५

—तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः ।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना-
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः ॥ —पूर्वमेघ

३ देखिए, पादटिप्पणी सं॰ २।

... श्लोक में देवगिरि का प्रसंग आया है।

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ —कुमार० २।१२

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥—कुमार०

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ —रघु० १०।१७

इस प्रसंग में सबसे सुन्दर अभिज्ञानशाकुन्तल का अन्तिम श्लोक है—

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् ।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥
—अभि० ७।३

यह उस समय की आस्था का साक्षात् प्रतीक है ।

पूजा करने की विधि

मूर्ति-पूजा—भक्तिपरक के अध्याय में देवताओं की प्रतिमा और का (प्रतिमागृह) उल्लेख किया जा चुका है । स्पष्ट रूप से बनारस के मंदिर[1] (जो आजकल विश्वनाथ जी का मन्दिर कहलाता है) और के महाकाल[2] का मन्दिर देवगिरि पर्वत के स्कन्द के मन्दिर[3] का भी कवि प्रसंग दिया है । अतः जनसाधारण प्रतिमापूजन अर्थात् मूर्तिपूजा को शुरू चुका था ।

धार्मिक अध्याय में संस्कार यज्ञ व्रत अनुष्ठान आदि को लिया जा है । इनमें संस्कार पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है । अब यज्ञ व्रत आदि का वर्णन किया जाएगा ।

यज्ञ—कालिदास ने अनेक स्थलों पर यज्ञ[4] का वर्णन किया है । इन में अश्वमेध विश्वजित् और पुत्रेष्टि यज्ञ आते हैं । अश्वमेध यज्ञ राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्ता रखता है । इसकी पूर्ति पर राजा चक्रवर्ती सम्राट् कर दिया जाता था ।

कवि ने दीर्घसत्र[5] यज्ञ का उल्लेख किया है । अश्वमेध में

---

१ २ ३ पूर्वोल्लेख

४ यथाविधिहुताग्नीनाम् । रघु० १।६
उत्तराये हविर्भोक्तृयजमाय स्वराविम् । —कुमार०, १।२८
देखिए ५ अगले पृ० पर २ १ ४ लगभग यज्ञ का ही प्रसंग और संकेत है

५ हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ —रघु० १।८०

यह यज्ञ किया था जिसमें आहुति की सामग्री देने के लिए कामधेनु गई हुई थी भागवत पुराण के अनुसार एक वर्ष से सहस्र वर्ष तक 'सत्र' यज्ञ करने अवधि थी (१ १ ४) ।

कालिदास ने अध्वर का भी उल्लेख किया है[1] । अध्वर[2] में पशुबलि स्पष्ट उल्लेख है[3] । मेध्य आरंभ में उस वस्तु के लिए आता था जिसकी चढ़ाई जाती थी । बलि पशु को एक स्तंभ से बाँध दिया था जो यूप[4] था । अतः बलि के लिए पशु को बाँधने की क्रिया भी यज्ञ का[5] ही था । कवि ने ब्राह्मणों को दान में दिए जाने वाले ऐसे ग्रामों का किया है जो यूपों से भरे हुए थे[6] । अर्गला के साथ ऐसे यूप की दी मथुरा संग्रहालय में देखी जा सकती है ।

एक स्थान पर तो शकुन्तला की विदा के समय कवि ने वैदिक की रचना कर डाले हैं—

१ मनुस्मृति ५।४४
२ कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये । रघु० ११
—वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ।—
—क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्र । रघु० ६।२
३ तत् अपर्ण्ं सपयूपहारो गुरु पराध्यप्रतिमासुहाग ।—रघु०
—सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रिय ॥
—अहं येनेष्टिपशुमारं मारित सामेन स्वामदेनाभिनंदते ।

—अकानि या तीर्थनिखातयूपा महत्यमोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ —
४ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघा प्रतिगृह्णन्तावर्ध्यानुपदमाशिष ॥ रघु० १।४४
.... । नियातयूप । —रघु०

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ –अभि० ४

यज्ञ के आरंभ में यजमान का[1] एक धार्मिक-संस्कार होता था जो दीक्षा कहलाता था। यह विश्वास था कि शिव यजमान के शरीर में[2] प्रवेश कर अपनी तरह पवित्र बना देते हैं। यजमान एक बार[4] यदि यज्ञशरण[5] (भूमि का घेरा) में प्रवेश कर लेता था तो उसको छोड़ नहीं सकता था।

अवभृथ[6] एक मुख्य संस्कार था जो यज्ञ की समाप्ति का बोधक दीक्षा के समाप्त होने पर यह लोकह स्नानार्थ पुरोहितों के द्वारा। जाता था।

विश्वजित्[8] दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था। इसमें यजमान सारा कोष दान कर देता था[9]। पुत्र की कामना से किया जाने वाला यज्ञ, यज्ञ कहलाता था[10]।

---

१ ततस्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारभिम् । –कुमार० ५।२८
—अभिनवमुर्द कुशमेखला यमभिरं मगस यजरिग्रहाम् ।
अपिधर्मस्तगुमण्डरदीक्षितामसयमामनमासयदीश्वर ॥ –रघु० ५।२१
२ अथ तं सवनाय दीक्षित प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषंगजडं विजज्ञिवानिति शिष्यैः शिक्षयामास बोधनम् ॥ —रघु० ८।७५
—तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।–रघु० ११
३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ रघु० ५।२१
४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २ रघु० ८।२५
५ स्वस्ति यज्ञशरणमासेवमानेति पुष्पमित्रो अग्निरथं ५१ ।५
स्नेहार्द्रामिवमेघमनुदर्शयति । —माल० अंक ५ पृ० ३५२
मुखं शोष्टन पुंडरीको वैमेस्मावबमस्दरि ।
प्रसन्नैनाभिवपन्तो वस्त्रालाकश्रयतिमा ॥ —रघु० ११८४
—अस्तानि या दोर्धनिगादस्ता वसरवनाप्तानथ राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ रघु० १३
७ दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञ (अमरकोष)
८ तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोशजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ —रघु० ५।१
९ देखिए, पादटिप्पणी नं० ८
१० अपुत्रस्य पादमानात् मन्त्रः संतानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ —रघु० १०।४

यह यज्ञ क्रिया था जिसमें आहुति की सामग्री देने के लिए कामधेनु पाई हुई थी। भागवत पुराण के अनुसार एक वर्ष से सहस्र वर्ष तक 'सत्र' यज्ञ करने की अवधि थी (१ १ ४)।

कालिदास ने अध्वर का भी उल्लेख किया है[1]। अध्वर[2] में पशुबलि का स्पष्ट उल्लेख है[3]। मेध्य आरंभ में उस वस्तु के लिए आता था जिसकी बलि चढ़ाई जाती थी। बलि पशु को एक स्तंभ से बाँध दिया था जो यूप[4] कहलाता था। अतः बलि के लिए पशु को बाँधने की क्रिया भी यज्ञ का[5] संस्कार ही था। कवि ने ब्राह्मणों को दान में दिए जाने वाले ऐसे ग्रामों का उल्लेख किया है जो यूपों से भरे हुए थे[6]। अर्गला के साथ ऐसे यूप की दो प्रतिमाएँ मथुरा संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

एक स्थान पर तो शकुन्तला की विदा के समय कवि ने वैदिक मंत्र की भी रचना कर डाली है—

---

१ मनुस्मृति ५।३४

२ कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये । रघु० ११।१
—वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ।—रघु०, १६।३५
—क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः । रघु० ६।२३

३ तत्र सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।—रघु० १६।३९
—सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥ —अभि० ६।१
—अहं येनेष्टिपशुमारं मारिष्ये सोऽप्नेन स्वागतेनाभिनन्दते ।
—अभि पृ १२१
—जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ —रघु० १३।६१

४ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ रघु० १।४४
—संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः । —रघु० ६।३८
—यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः ।

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु ॥ —अभि०

यज्ञ के आरंभ में यजमान का[1] एक धार्मिक-संस्कार होता था जो[2] कहलाता था। यह विश्वास था कि शिव यजमान के शरीर में प्रवेश कर अपनी तरह पवित्र बना देते हैं। यजमान एक बार[4] यदि यज्ञशरण[5] (भूमि का पीठ) में प्रवेश कर लेता था तो उसको छोड़ नहीं सकता था।

अवभृथ[6] एक मुख्य संस्कार था जो यज्ञ की समाप्ति का बोधक दीक्षान्त के समाप्त होने पर यह सोलह स्नानारम्भ पुरोहितों के द्वारा ि जाता था।

विश्वजित्[8] दिग्विजय के पश्चात् किया जाता था। इसमें यजमान द्वारा कोष दान कर देता था[9]। पुत्र की कामना से किया जाने वाला यज्ञ [illegible] यज्ञ कहलाता था[10]।

---

१ उमासमेते हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् । —कुमार० ६।२८
—अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ —रघु० ९।२१

२ अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ —रघु० ८।७५
—तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः । —रघु० ११।२

३ देखिए, पादटिप्पणी नं० १ रघु० ९।२१

४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २ रघु० ८।७५

५ स्वस्ति यज्ञशरणालोकनागत पुष्पनिधी बन्दिरूपं पुत्रमायुष्मन्तमभि स्नेहार्द्रस्थितमेनमुपस्थापति । —माल० अंक ५ पृ० १५२
मुखं बाष्पेण पुंसोऽग्नौ सिध्देनावभृथार्पति ।
प्रसवेनाभिवर्षन्तो यमाभावरर्वाजिना ॥ —रघु० १।८४
—अवनानि या तोयनिमग्नतनूः ...
पुरंदरपावनमावर्तीर्मिरिवायुधि पुष्पराशिकानि ॥ रघु० १

७ दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञः (अमरकोश)

८ तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ —रघु० ५।१

९ देखिए, पादटिप्पणी नं० ८

१० ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ —रघु० १०।४

यज्ञ के अन्त में पुरोहितों को दक्षिणा[1] दी जाती थी। पुरोहितों की १६ थी। इनमें से होता[2] और ऋत्विज[3] का कवि ने उल्लेख किया है। यजमान के लिए भी प्रयोग किया जाता था। पुरोहितों को दक्षिणा देने बाद ही रघु का कोष रिक्त हो[4] गया था और उसे मिट्टी के पात्र काम लाने पड़े[5]।

यज्ञ की प्रदत्त वस्तु मेध्य[6] कहलाती थी। इसमें पशु हवि[7] पयश्चरु[8] सभी आ सकता था। हवि ग्रहण करने के कारण ही नाम हविर्भुज[10] पड़ा। यज्ञ बलि इन्द्र[11] के लिए भी ... यह अरणि[14] कहलाता था। विकंकतस्रुवा[13] का प्रयोग होता था। यज्ञ में कुश[15] का आहुति[17] देने के लिए प्रयुक्त होती थी।

---

१ पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा। —रघु० १।३१

—ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च॥ —रघु १७।८०

२ इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्। —रघु० १।८२

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० १ और इस पृष्ठ की नं० १ में रघु० १७।८०

४ देखिए, पूर्वोल्लेख रघु० ५।१

५ समृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशील। —रघु०

६ देखिए पूर्वोल्लेख रघु १।८४

७ हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः। —रघु० १।८०

—प्रात्ता हविर्गन्धि रजोविमुक्त .... —रघु० १३।१७

—रक्षसेव हृष्यं होता च मोक्ष्यं भोक्ता च शाश्वतः।

८ स ददर्शमसत्पात्रामुखी मृतपानप्रसवे स पार्थिवः। —रघु०

९ हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानं पयश्चरुम्। —रघु० १०।५१

१० मुमूर्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्। —रघु० १०।७९

। —रघु०

होता था। यज्ञ के समय यजमान एक दण्ड धारण करता और अजिन बैठता था[1]। वेदी[2] यज्ञ के चबूतरे का दूसरा नाम था।

जैसा कहा जा चुका है कि यज्ञ में पशुबलि दी जाती थी। परन्तु धर्म के प्रभाव से बलि बुरी मानी जाने लगी थी। मालविकाग्निमित्र में ५
क्रतु चाक्षुषं[3] में ऐसा ही संकेत मिलता है।

पूजन-कर्म सपर्या[4] क्रिया[5] अथवा[6] अतिक्रम[7] पूजा[8] आदि सब ६
कर्म थे। पूजा की दोनों[9] विधि कहलाती थी। पूजन-सामग्री में कुश[10] दूर्वा अक्षत[11] पुष्प[12] आदि प्रमुख होते थे। मधु पर्कादि से निर्मित अर्घ्य देवताओं और अतिथि-सेवा[13] के लिए था। प्रातः[14] और सायं[15] दो बार दान दिया जाता था। अग्निहोत्र[16] जलदान की दैनिक क्रिया थी।

---

१ अजिनदंडभृतं कुशमेखलं यतगिरं मृगशृंगपरिग्रहाम्। —रघु० ३।२१
२ वेदिव वेदिमिव रत्नविभूमिकम्पुमीवपुपुमि प्रदूषिताम्। —रघु० ११।२
३ देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्। —माल० १।४
४ तथानिवेदी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती। —कुमार० ५।
५ क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु। —रघु० ५।७
६ ननु भवता धनुष्मतापा सो स्थानेऽतार्थनीया। —अभि० पृ० ५८
७ आचारप्रयतः सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतो। —विक्रम० ३।२
— आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा। —उत्तरमेघ २५
८ वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यप्य पूजामुपदाच्छलेन। —रघु० ७।३०
९ अपविधिवमाम्य पात्रदृष्ट निजमनुगौरिनमंवितालितमा। —रघु० ५।
१० देखिए, पूर्वोक्त पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी, नं० १६ रघु १।४६
११ सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वांकुरलांछितालका। —विक्रम० ३।
१२ प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता। —रघु० २।२१
देखिए, पूर्वोक्त अध्याय विवाह रघु० ७।२८ कुमार ७।८८
१३ देखिए पादटिप्पणी नं० ५ विक्रम० ३।२
१४ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ७ —रघु० ५।२
—तावन्मंगिनमारात्र पुरातापुष्पी दिदि। —कुमार ६।५०
१५ देखिए, पूर्वोक्त अध्याय सामाजिक जीवन रीति-रिवाज आचार
१६ देखिए पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ६ रघु० ५।७६
१७ दिवे सायंतनसन्ध्या न ददृश तोरणेन्दुम्। —रघु० ११।२६
१८ अग्निहोत्रनदे नवविन्यासमन्दुर्दिवांकालिया। —कुमार०,

की अग्निक्रिया में तिल घी[1] मिला रहता था। शास्त्रानुसार ही पूजा-विधियों का पालन किया जाता था[2]।

अनुष्ठान और व्रत—कवि ने अनुष्ठान और व्रतों का भी उल्लेख किया है। उपवास और आहुति देने के पश्चात् निश्चित समय तक निश्चित बार वैदिक मन्त्रों का जाप करना भी अनुष्ठान था। किसी आने वाली भयानक आपत्ति को टालने के लिए,[3] किसी विजयकामना के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही[4] अनुष्ठान किया जाता था। अनुष्ठानादि धार्मिक कार्यों के लिए घर का एक भाग निश्चित और सुरक्षित रहता था, जिसे मंगल-गृह[5] कहा जाता था।

व्रत का मुख्य अंग उपवास[6] था। स्वल्पाहार पारण[7] के द्वारा यह व्रत तोड़ा जाता था। तब ब्राह्मण भोज होता था और उनको दक्षिणा[8] दी जाती थी। प्रतिज्ञापूर्ति पर और धार्मिक त्योहारों पर व्रत रखे जाते थे। व्रत के स्त्रियाँ श्वेत वस्त्र धारण करती थीं और अभिराम आभूषण। केश में

---

१ अन्यथा अवश्यं सिक्तं मे तिलोदकम्। —अभि० पृ० ४९

२. देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ९ —रघु० ५।७९

—अथ गृहमर्मिसंग्रमावृता मुद्रये विधिविदो गुणान्तमी। कुमार०

३ इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्र शमयितुं सोमतीर्थं गतः। —अभि० पृ० १

४ अतः प्रभृति सेनापतियज्ञतुरंगरक्षणे नियुक्तो भर्तृदारको वसुमित्रस्त- स्यायुर्निमित्तं निष्कशतसुवर्णपरिमाणां देवी दक्षिणीयं

—माल० पृ० १

५ मंगलगृहे आलपन्ता भूत्वा निरर्थविषयाद्भावा वीरसेनेन प्रेषितं सिद्धं देवीस्वयमात्मं गृह्णाति। —माल० अंक ५, पृ० ११९

६ आवामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति।

—अभि० पृ०

—दीक्षोपयुक्तगुरुवर्तोव मुमुक्षु प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव।

—रघु०

सौंपती थी[1]। पत्नी का पति को प्रसन्न करने के लिए प्रियाप्रसादन नाम आया है। प्रायोपवेश[2] भी एक व्रत था जिसमें उपवास के ८। ५ प्राप्त होता ध्येय था। दिलीप के गोव्रत[4] का कवि ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। एक ही शय्या पर पत्नी के साथ शयन करते हुए भी कामोपभोग न 'असिधाराव्रत'[5] कहलाता था। इसी प्रकार पति का विरह स्वयं पत्नी के कठिन व्रत के समान था[6]।

तीर्थयात्रा—तीर्थों में स्नान करने से आत्मा पुनर्जन्म से मुक्त ९ (समुद्रपत्न्योर्जलसंनिपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्। तत्त्वावबोधेन भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः। —रघु० १३।५८) और देवपद देवशरीर की प्राप्ति हो जाती है (पूर्वाकारेण—रघु० ८।९५)। तीर्थ गङ्गातीर्थ और सोमतीर्थ का उल्लेख किया जा चुका है। अन्य तीर्थ गोकर्ण (रघु० ८।३३) पुष्कर (रघु० १८।३१) और —ठ (अभि० ५।३०) के नाम कवि ने दिए हैं।

लोकप्रचलित विश्वास और अन्धविश्वास—कालिदास ने । के लिए दाहिनी आँख फड़कना[7] अशुभ और बाईं फड़कना[8] शुभ कहा

---

१ सितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।

२ प्रतापदेशोन्मितमण्डलिता मयि प्रसन्ना मम च ललते।

—विक्रम०

—प्रतिनिर्दिष्टं संपादितं मया प्रियानुप्रसादनं नाम व्रतम्।

—विक्रम० अंक ३ पृ०

३ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ६ —रघु० ८।९४

४ देखिए, रघु० सर्ग २—दिलीप की गो सेवा और विशेषकर पद्य ५
इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः। —रघु०

५ विना विनष्टो मदरेखया न प्रियं ... ।
यद्यर्थ तथा महोदधेस्त्रोपाय ... । —रघु० १
—प्रवेदयसत्कारि प्रमदा आत्मजन्मने।
अनिवार्यदर्शं तं च ... ॥ —पादप

६ वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥ —अभि०

७ अहो किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति। —अभि० पृ० ८४

८ अपि च दक्षिणेतरमपि मे नयनं वाम स्फुरति। —माल० पृ० १४१

पुरुष के लिए दक्षिण भुजा फड़कना शुभ थी[1]। इसी प्रकार शृगालों का बोलना अपशकुन[2] था। गीध का मँडराना भी विपत्ति का सूचक था[3]।

रक्षा के लिए[4] ताबीज और विजय के लिए[5] कंगन पहनने की प्रथा थी। ताबीज के अन्दर मंत्रों से सिद्ध कोई जड़ी-बूटी[6] रख दी जाती थी। भरत की बाहु में अपराजिता बूटी बाँध दी गई थी जिसके अनुसार विश्वास प्रचलित था कि माँ-बाप के अतिरिक्त यदि कोई दूसरा उस ताबीज को उठाएगा तो वह सर्प बनकर उठाने वाले व्यक्ति को काट लेगा[7]।

अपराजिता की तरह तिरस्करिणी[8] का भी उल्लेख मिलता है। इस विद्या की सिद्धि से अदृश्य रहने की शक्ति प्राप्त हो जाती थी।

हस्त-रेखाओं के द्वारा भी भविष्य की घटनाएँ जान ली जाती थीं। फलित ज्योतिष में भी तत्कालीन विश्वास था। अर्थात् शुभ अथवा अशुभ ग्रह से मनुष्य के भाग्य पर प्रभाव अच्छा या बुरा अवश्य पड़ता था[9]।

जनसाधारण के कुछ अन्य विश्वासों का भी कवि ने वर्णन किया है। जैसे

---

१ शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। —अभि० पृ ११
—अयं मां स्पन्दितेनाभिमुरास्थापयति दक्षिण। —विक्रम० ३।८

२ नरम्मुखोल्काविचिताभिपाभि स वाहनैः राजपथं शिवाभि। —रघु० १६।१२

३ तमुपद्रवन्दपरि ध्वजमापयौ वाजमामयमृतावृतम्।
रमसा अवनयातरम्बरे आमयमयनेरितम्भजम्॥ —रघु० ११।२९

४ अहो रक्षाकरंडकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते। —अभि० पृ० १६८

५ रघु० १६।७२-७४

६, ७ एषाऽपराजिता नामौषधिरस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता।
एतां किल मातापितरावात्मानं च वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।
'अथ गृह्णाति'। 'ततस्तं सर्पो भूत्वा दशति'। —अभि पृ० १६९
विक्रम० में भी चित्रलेखा ने अपराजिता के विषय में कहा है—
विद्या के बल पर देवों के शत्रु भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।
—विक्रम०, पृ० १

८ अविस्पष्टिते सम्प्रति तिरस्करिणीकाशि। —विक्रम० पृ० २०१
। —विक्रम० पृ०

हंस का दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देना[1] इत्यादि का मृत्युपरान्त की योनि प्राप्त करना।

सर्प के सम्बन्ध में कुछ और विश्वासों का भी उल्लेख है जैसे मंत्र से सर्प का बांधना[2]। सांप के काटने पर उसका विष उदकुंभ विधान[3] के द्वारा, सर्प की मुद्रा से अंकित वस्तु प्रधान रहती थी उतारा जाता था। मालविकाग्निमित्र में विदूषक के विष को दूर करने के लिए नागमुद्रा से अंकित का प्रयोग किया गया था[4]। यह भी विश्वास प्रचलित था कि जो किसी रोग ग्रस्त होने का बहाना रचता है उसे वही रोग हो जाता है। विदूषक ने काटने का बहाना बनाया था अतः वह एक स्थान पर कहता है कि उस हुए सर्पदंश का फल भोग रहा हूँ[5]।

राजसभा में दैवचिन्तक[6] होते थे जो भाग्य की भविष्यवाणी किया करते थे। इनको भी अन्य अधिकारियों की तरह वेतन प्राप्त होता था[7]। दुर्दैव शान्ति से शान्त हो जाया करता है यह विश्वास प्रचलित था[8]।

प्रेतबाधा[9] और प्रज्ञाचक्षु व्यक्तियों[10] का भी विवरण मिलता है। विश्वास था कि मूर्धविद्या से आश्चर्यजनक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। अणिमा आदि ऐसी ही सिद्धियाँ थीं जिनके द्वारा आकाश मार्ग[11] से इधर-उधर जाया

---

१ हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः। —अभि० ५।२८

२ राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मंत्रौषधिरुद्धवीर्यः। —रघु० २।३२

३ उदकुंभविधानेन सर्पमुद्रितं किमपि कल्पयितव्यम्। —माल० पृ० ११०

४ माल० अंक ४ पृ० १२०—देखिए, पादटिप्पणी नं० ३

५. अहं खल्वनेन स्वप्नेन ..... इत्थं सर्पदंशेन .....हतः

.....क्रमे ..... —माल०, पृ० १११

६ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ६

७. अर्थशास्त्र खंड ५ अध्याय ३

८. पूर्वोक्तेन अभि० पृ० ९—दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः।

९. ..... —अभि० अं० ६

—..... —अभि० ६। १२४

१० देखिए पादटिप्पणी नं० ९

११ मातलि—..... ।

..... ।

—अभि० ७०

सकता था। सोमाभ्यास के द्वारा बन्द कमरे में भी प्रविष्ट होना सम्भव था[1]।

उस समय अनेक पौराणिक विश्वास भी प्रचलित थे जैसे—घट से अगस्त्य मुनि की उत्पत्ति[2] विष्णु के पद-नख से गंगा का जन्म[3], भगीरथ के प्रयत्न से शिव की जटाओं से निकल कर पृथ्वी में अवतरण[4] आदि। ऐसे ही शिलावर्षक पर्वत[5] उड़ने वाले पहाड़[6] आकाश में विचरण करने वाले देवता[7] दिव्यांगनाएँ[8] विष्णु के नाना अवतार[9] इन्दुमती के रूप में हरिणी का जन्म[10] शमी वृक्ष में अग्नि का निवास[11]।

संक्षेप में धार्मिक विधि-विधानों एवं विश्वासों से तत्कालीन परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। ये लगभग आदि काल से चली आई पद्धतियों की विकसित अवस्थाएँ हैं। संस्कार, संध्या-जाप चाहे प्रारंभ काल के सदृश ही हों पर इनके अतिरिक्त पौराणिक संकेत नए देवी-देवता धार्मिक विश्वास सब तत्कालीन विकसित अवस्था के परिचायक हैं।

---

१ अम्भस्तरा सावरणोऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्ति चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥ —रघु ११।७

२ प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः॥ —रघु० ४।२१

३ यथैव श्लाघ्यते गंगा पादेन परमेष्ठिनः। —कुमार० ६।७०

४ अमी हरजटाभ्रष्टां गंगामिव भगीरथ। —रघु० ४।३२

५. पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः। —रघु० ४।४

६ गुरोरपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्रावभिज्ञाः कुलिशक्षतानाम्। —कुमार०, १।२०

कालिदास का समय

कवि के समय के ऊपर भारत के विभिन्न उच्चकोटि के विद्वानों के समयानुसार वृहद् संख्या में प्रकाशित होते रहे हैं और घोर वाद-विवाद उपरान्त भी किसी निर्णय को सर्वमान्यता नहीं दी गई। अब दो मत हो गए एक मत उन्हें ई० पू० में रखता है और दूसरा चौथी शताब्दी गुप्तकाल में।

कवि-काल की आरंभिक सीमा मालविकाग्निमित्र नाटक के आधार निर्धारित की जाती है। इसी में सर्वप्रथम कवि के नाम का उल्लेख दूसरी सीमा सातवीं शताब्दी ईसवी है। बाण ने हर्षचरित में कालिदास का उल्लेख किया है।

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसार्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥

दूसरा प्रमाण एहोल का शिलालेख (६३४ ई०) है जिसमें कवि रविकीर्ति अपने स्वामी पुलकेशिन द्वितीय के यशवर्णन में अपना कालिदास और भारवि की पराजित करना लिखा है। अतः उनका समय ईसवी पू० से सातवीं ईसवी तक किसी भी समय हो सकता है। अब संक्षेप में विभिन्न विद्वानों के मत प्रकाशित करते हुए इस सीमा को संकीर्ण करने का प्रयत्न किया जाएगा।

द्वितीय शताब्दी ई० पू०—शोध पतंजलि के समय के नहीं हैं क्योंकि योगसूत्र में प्रयुक्त शब्दों से खूब परिचित लगते हैं। अतः पतंजलि के बाद हुए। दूसरा प्रमाण ई० पू० प्रथम शताब्दी के पूर्व किसी राजा ने [illegible] की उपाधि नहीं स्वीकार की और परम्परा कवि को विक्रमादित्य का सभासद मानती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू०—इस सिद्धान्त का मुख्य आधार यह है कि कवि के आश्रयदाता विक्रमादित्य ने ई०पू० में विक्रम संवत् चलाया। सिद्धान्त को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रथम यह कि प्रथम ई० पू० में ऐसा कोई विक्रमादित्य नहीं हुआ जिसने शकों का नाश

शकारि की उपाधि ग्रहण की और जिसने नवीन संवत् भी चलाया। प्रथम शताब्दी ई० पू० में किसी संवत् का नाम नहीं मिलता। प्रोफेसर चट्टोपाध्याय प्रथम शताब्दी ई० पू० के सिद्धान्त के और समर्थक हैं और प्रोफेसर मिराशी ने इनके सिद्धान्त का अच्छी तरह खण्डन किया है। चट्टोपाध्याय ने अपने सिद्धान्त को अश्वघोष पर आधारित किया है। दोनों कवि अर्थात् अश्वघोष और कालिदास भावप्रयोग में बहुत समानता रखते हैं। चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष ने कालिदास के ग्रन्थों को पढ़कर उस आधार पर अपना काव्य किया है। चूँकि अश्वघोष का काल ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी है अतः कालिदास ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुए।

वास्तव में उन्होंने जिस समानता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है, वह संस्कृत-साहित्य में सभी स्थलों पर ऐसी ही पाई जाती है। संस्कृत-साहित्य की बहुत-सी बातें सब कवियों में प्रायः समान हैं अतः यह समानता इनमें भी देखी जाती है।

प्रोफेसर चट्टोपाध्याय का कहना है कि अश्वघोष दार्शनिक था अतः काव्य-रचना बिना दूसरे का अनुकरण किए नहीं कर सकता था। परन्तु अश्वघोष ने किसी विवशता के फलस्वरूप अपने ग्रन्थ की रचना की यह कहीं स्पष्ट नहीं होता। उनके बुद्धचरित और सौन्दरनन्द निश्चय ही उत्तम ग्रन्थ हैं। अतः वह अच्छा कवि भी था।

चट्टोपाध्याय जी का यह मत कि उसके काव्य में असंख्य पुनरुक्तियाँ हैं अतः वह निपुण कवि नहीं था भी निर्मूल है। स्वयं कवि कालिदास के रघुवंश में सातवें सर्ग के ६ से १२ तक श्लोक बिल्कुल ज्यों-के-त्यों कुमारसम्भव के सातवें सर्ग में ५७ से ६२ तक प्रयुक्त हुए हैं। महाशय चट्टोपाध्याय मानते हैं कि कालिदास के एक श्लोक (कुमार० ७।६२ रघु० ७।११) को अश्वघोष ने दो बार पुनरुक्ति की है। परन्तु एक सीधी बात यह है कि यदि अश्वघोष ने कालिदास की चोरी की होती तो क्या वे पुनरुक्ति कर बार-बार अपनी चोरी प्रदर्शित करते? फिर यह श्लोक स्वयं कवि ने भी दो बार प्रयुक्त किया है एक रघुवंश में दूसरा कुमारसम्भव में।

उनका यह भी तर्क है कि अश्वघोष का मारविजय-वर्णन 'कामदहन' से अपहृत किया गया है। परन्तु यह बात ध्यान देने की है बुद्ध के चरित में यह घटना स्थान पा चुकी है अतः यह भी सम्भव है प्रोफेसर साहब के तर्क का ठीक उलटा हुआ हो। वे यह भी दलील पेश है कि पुष्यमित्र के राज्य में खारवेल ने बड़ा उत्पात मचाया था। ५८ पुष्यमित्र के नाम वाली मुद्राएँ प्राप्त हो चुकी हैं। इस मुद्रा का के हथिगुम्फ शिलालेख के बृहस्पतिमित्र के साथ समीकरण उचित नहीं है कम-से-कम इस सामग्री के आधार पर दोनों समसामयिक नहीं कहे जा सकते चन्द्रगुप्त उज्जयिनी का राजा नहीं कहा जा सकता। इनके इस सिद्धान्त निराकरण इस तरह किया जा सकता है कि अवन्ती और सौराष्ट्र के होने के अधिकार से वह उज्जयिनी का राजा था। कुमारगुप्त का मन्दसोर शिलालेख और स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ चट्टानलेख इस बात साक्षी है कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों का इन दोनों प्रान्तों पर दिनों से अधिकार था।

अतः वे ई० पू० प्रथम शताब्दी में नहीं थे। उपर्युक्त सिद्धान्तों के अति रिक्त कुछ और प्रमाण भी इसी की पुष्टि में दिए जा सकते हैं।

कवि ने अपनी सारी रचनाओं में कहीं शकों का उल्लेख नहीं किया। वे ई० पू० प्रथम शताब्दी ई० पू० ५७ के निकट होते तो वे गार्गी संहिता युग पुराण (दीवान बहादुर प्रो० के० एच० ध्रुव का संस्करण जे० बी० आर० एस० भाग १६ पृ० १ २१ १९१ पृ० ४१) में उल्लिखित आक्रमण को अवश्य जानते जो ई० पू० १९ के आसपास हुआ था।

कवि के सभी ग्रन्थों में शान्तिकाल और विलास-प्रियता है। अतः शताब्दी ई० पू० में जब राजनैतिक अवस्था बड़ी डांवाँडोल-विक्षोभित इतने विलासप्रिय शान्तिमय ग्रन्थ नहीं रचे जा सकते। पौराणिक ५९ और विवरण जो कवि ने मधुरता के साथ प्रस्तुत किए हैं अधिक सम्भवतः गुप्त काल में ही सम्पादित हुए थे।

हिन्दू देवताओं की अनेक प्रतिमाएँ और मन्दिर जिनका कवि के ने बार-बार उल्लेख मिलता है ई० पू० प्रथम शताब्दी की प्रमाणित नहीं करते प्रतिमा-पूजा यद्यपि भारत में बहुत पहले प्रचलित हो चुका था किन्तु काल के पश्चात् इन प्रतिमाओं को विविध बनाना आरम्भ हुई। ईसवी की प्रथम शताब्दी के महायान बौद्ध धर्म-पन्थ ने इसको प्रश्रय दी थी इसमें बुद्ध की मूर्तियों की अर्चना भी हो चुका होगा थी।

इन सब तर्कों के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है । प्रथम शताब्दी ई० पू० का नहीं था ।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी—रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की प्रसंग म (तत्र प्रवस्ते कौबेरी ... रघुचेष्टितम् ११ ६८) के किनारे हूणों को पराजित करने का उल्लेख है । प्रोफेसर पाठक का मत यह आक्रमण कुमारगुप्त के अन्तिम समय में हुआ था । युवराज हूणों का सामना किया था । यह जूनागढ़ के समीप गिरनार के शिलालेख (४५९ ई०) से भी सिद्ध हो चुका है । रघुवंश में हूण आक्रमण नदी पर थे यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी । इसी से वे उनका समय शताब्दी मानते हैं ।

परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक भारतीयों का हूणों से बिल्कुल भी नहीं था—ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता । पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ और महाभारत में भी हूणों का उल्लेख है । ईसवी तीसरी शताब्दी में ललित विस्तर ग्रन्थ में बुद्ध ने बाल्यकाल में हूणों की लिपि सीखी थी प्रसंग आया है । कई शताब्दी ई० पू० में ही हूणों ने यूएची—जिसका बाद चलकर कुषाण नाम हुआ—लोगों को आक्सस नदी के दक्षिण किनारे पर मार कर भगा दिया था (१४० ई० पू० के लगभग) । तब से ही वे वहाँ रहने लगे थे । पाँचवीं शताब्दी से हूणों ने वहाँ राज्य स्थापित किया । अतः यह कैसे संभव हो सकता है कि कवि को तब तक हूणों का पता न लगा हो ।

छठी शताब्दी ईसवी—मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री होर्नले और आदि विद्वान् कवि को छठी शताब्दी ईसवी का मानते हैं । इन सबने कवि की यशोधर्मन का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिनके मतों का विरोध डाक्टर ए० बी० कीथ और बी० सी० मजूमदार ने योग्यतापूर्वक कर इस सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक सिद्ध कर दिया है ।

हुएनसांग जो भारतवर्ष में ६२९ से ६४५ ईसवी तक रहा लिखता है कि मालव देश में (...)

नगर का वमन किया है। अतः यह छठी शताब्दी का होना चाहिए। [illegible]दित्य का समय भी यही ठहरता है। हुएनसांग का शिलादित्य और यह [illegible]दित्य एक ही व्यक्ति होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों [illegible] पराजित किया था। इसी शताब्दी में मालव में यशोधर्मदेव एक [illegible] राजा हुए थे। इनके मंदसोर के लेख से मालूम होता है कि इन्होंने [illegible] नामक महाबली हूण राजा को हराया था और राजाधिराज परमेश्वर की [illegible] अपने नाम के साथ जोड़ी। अतः यही कल्हण के विक्रमादित्य और [illegible] के शिलादित्य हैं। पराजित हूणों को कल्हण और अलबरूनी ने शक नाम [illegible] होगा। मातृगुप्त ही अतः कालिदास हुए।

इस सिद्धान्त पर आक्षेप यह है कि हुएनसांग का मोलापो देश कौन सा है? हुएनसांग ने उज्जयिनी का पृथक् वर्णन किया है। अतः मोलापो की उज्जयिनी नहीं थी। प्रोफेसर मिराशी का कहना है कि हुएनसांग ने [illegible] बहुत प्रशंसा की है वही यशोधर्मन नहीं अपितु उससे का पहला शिलादि[illegible] होगा। राजतरंगिणी का प्राचीन इतिहास अतिशयोक्ति है यद्यपि [illegible] नहीं—यह सिद्ध हो चुका है। एक और भी बात है—यदि यशोधर्मन ही [illegible]दित्य होता तो राजाधिराज परमेश्वर की तरह विक्रमादित्य की उपाधि का तो कहीं वर्णन आता। उसके पश्चात् बिलकुल नहीं कहा जा सकता। ईसा की छठी शताब्दी में शकों का नाम कहीं नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त कालिदास होता तो कल्हण ने जो २०० श्लोक मातृगुप्त के वर्णन में लिखे वहीं तो कालिदास होने का प्रसंग देते। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिए [illegible] नहीं रखा क्योंकि राजतरंगिणी में इसका उल्लेख नहीं है। कल्हण ने यह भी [illegible] है कि प्रवरसेन और विक्रमादित्य में दुश्मनी थी और प्रवरसेन के सिंहासन पाते ही उसके आदर करने पर भी मातृगुप्त वहाँ नहीं रहा।

कवि ने मेघदूत में 'दिङ्नाग' शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार इस से एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक का जो छठी शताब्दी में हुआ, प्रसंग मानते हैं। इसी से वे कवि का समय छठी शताब्दी निर्धारित करते हैं।

कवि ने कभी-कभी श्लेष का प्रयोग अवश्य किया है पर बाण और [illegible] की तरह प्रचुर मात्रा में कहीं नहीं। दूसरी बात यह कि 'दिङ्नागानाम्' से यदि कवि का आशय होता तो वह बहुवचन का प्रयोग करता। यदि दिङ्नाग को व्यक्ति विशेष मान भी लिया जाय तब भी इससे कवि के समय [illegible] प्रकाश नहीं पड़ता। [illegible] प्रोफेसर [illegible] दिङ्नाग को [illegible] ४० के लगभग मानते हैं। [illegible] ने [illegible] में उल्लेख किया है

इन सब तर्कों के आधार पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है प्रथम शताब्दी ई० पू० का नहीं था।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी—रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की प्रसंग में (ततः प्रतस्थे कौबेरीं ... बभूव रघुचेष्टितम् ११ ६८) क किनारे हूणों को पराजित करने का उल्लेख है। प्रोफेसर पाठक का मत यह आक्रमण कुमारगुप्त के अन्तिम समय में हुआ था। युवराज हूणों का सामना किया था। यह जूनागढ़ के समीप गिरनार के शिलालेख (४५६ ई०) से भी सिद्ध हो चुका है। रघुवंश में हूण आक्सस नदी पर थे यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी। इसी से वे उनका समय शताब्दी मानते हैं।

परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक भारतीयों का हूणों से बिल्कुल भी नहीं था—ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ और महाभारत में भी हूणों का उल्लेख है। ईसवी तीसरी शताब्दी में 'ललित विस्तर' ग्रन्थ में बुद्ध ने बाल्यकाल में हूणों की लिपि सीखी थी प्रसंग आया है। कई शताब्दी ई० पू० में ही हूणों ने यूएची—जिसका बदलकर कुषाण नाम हुआ—लोगों को आक्सस नदी के दक्षिण किनारे पर मार कर भगा दिया था (१४० ई० पू० के लगभग)। तब से हूण वहाँ रहने लगे थे। पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने यहाँ राज्य स्थापित किया। अतः यह कैसे संभव हो सकता है कि कवि को तब तक हूणों का पता न लगा हो।

छठी शताब्दी ईसवी—मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री, हॉर्नले आदि विद्वान् कवि को छठी शताब्दी ईसवी का मानते हैं। इन सबने कवि को यशोधर्मन का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिनके मतों का विरोध डाक्टर ए० बी० कीथ और बी० सी० मजूमदार ने आग्रहपूर्वक कर इस सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक सिद्ध कर दिया है।

हुएनसांग जो भारतवर्ष में ६२९ से ६४५ ईसवी तक लिखता है कि मालव देश में (४

नगर का वर्णन किया है। अतः यह छठी शताब्दी का होना चाहिए। [illegible]
दित्य का समय भी यही ठहरता है। हुएनसांग का शिलादित्य और यह [illegible]
दित्य एक ही व्यक्ति होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों
पराजित किया था। इसी शताब्दी में मालव में यशोधर्मदेव एक [illegible]
राजा हुए थे। इनके मंदसौर के लेख से मालूम होता है कि इन्होंने [illegible]
मानक महाबली हूण राजा को हराया था और राजाधिराज परमेश्वर की [illegible]
अपने नाम के साथ जोड़ी। अतः यही कल्हण के विक्रमादित्य और [illegible]
के शिलादित्य हैं। पराजित हूणों को कल्हण और अलबरूनी ने शक नाम [illegible]
होगा। मातृगुप्त ही मत कालिदास हुए।

इस सिद्धान्त पर आक्षेप यह है कि हुएनसांग का मोलापो देश कौन था [illegible]
हुएनसांग ने उज्जयिनी का पृथक वर्णन किया है। अतः मोलापो का [illegible]
उज्जयिनी नहीं थी। प्रोफेसर मिराशी का कहना है कि हुएनसांग ने जिन [illegible]
बहुत प्रशंसा की है वही यशोधर्मन नहीं अपितु वलभी का परमार शिलादि[illegible]
होगा। राजतरंगिणी का प्राचीन इतिहास अतिशयोक्ति है, यद्यपि [illegible]
नहीं—यह सिद्ध हो चुका है। एक और भी बात है—यदि यशोधर्मन ही [illegible]
दित्य होता तो राजाधिराज परमेश्वर की तरह विक्रमादित्य की उपाधि का [illegible]
तो कहीं वर्णन आता। उसका [illegible] बिल्कुल नहीं कहा जा सकता
ईसा की छठी शताब्दी में शकों का नाम कहीं नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त
कालिदास होता तो कल्हण ने जो २० श्लोक मातृगुप्त के वर्णन में लिख
वहीं तो कालिदास होने का प्रसंग देते। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिए [illegible]
नहीं रचा क्योंकि राजतरंगिणी में इसका उल्लेख नहीं है। कल्हण ने यह भी
है कि प्रवरसेन और विक्रमादित्य ने दुश्मनी की और प्रवरसेन के सिंहासन
आते ही उसके आदर करने पर भी मातृगुप्त वहाँ नहीं रहा।

कवि ने मेघदूत में दिङ्नाग शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार इस
से एक प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक का जो छठी शताब्दी में हुआ, [illegible] मानते हैं
इसी से वे कवि का समय छठी शताब्दी निश्चित करते हैं।

कवि ने कभी-कभी श्लेष का [illegible] अवश्य किया है पर [illegible] और
की तरह प्रचुर मात्रा में कभी नहीं। दूसरी बात यह कि "दिङ्नागानाम्
में यदि कवि का आशय [illegible] होता तो वह बहुवचन का प्रयोग करता। यदि [illegible]
नाम का [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] कवि के [illegible]
प्रसाद नहीं बदल। [illegible] [illegible] प्रोफेसर [illegible] दिङ्नाग का [illegible]
[illegible] को [illegible] मानते हैं। [illegible] [illegible] [illegible] में उल्लेख [illegible]

इन सब तर्कों के आधार पर यह निश्चय हो कहा जा सकता है
प्रथम शताब्दी ई० पू० का नहीं था।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी—रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय के प्रसंग में (तत्र प्रतस्थे कौबेरीं ... अमुष्य रघुवंशिषु ११ ६८) ... के किनारे हूणों को पराजित करने का उल्लेख है। प्रोफेसर पाठक का मत है कि यह आक्रमण कुमारगुप्त के अन्तिम समय में हुआ था। युवराज ... ने हूणों का सामना किया था। यह जूनागढ़ के समीप गिरनार के शिलालेख (४५६ ई०) से भी सिद्ध हो चुका है। रघुवंश में हूण वाक्षव नदी पर थे। यह परिस्थिति कालिदास के समय की होगी। इसी से वे उनका समय ... शताब्दी मानते हैं।

परन्तु ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक भारतीयों का हूणों से बिलकुल ... भी नहीं था—ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। पारसियों के अवेस्ता ग्रन्थ और महाभारत में भी हूणों का उल्लेख है। ईसवी तीसरी शताब्दी में ... 'ललित विस्तर' ग्रन्थ में बुद्ध ने बाल्यकाल में हूणों की लिपि सीखी थी ... प्रसंग आया है। दूसरी शताब्दी ई० पू० में ही हूणों ने यूएची—जिसका बदलकर कुषाण नाम हुआ—लोगों को वाक्षव नदी के दक्षिण किनारे पर मार भगा दिया था (१४० ई० पू० के लगभग)। तब से ही वे वहाँ रहने लगे ... पाँचवीं शताब्दी से हूणों ने वहाँ राज्य स्थापित किया। अतः यह कैसे संभव हो सकता है कि कवि को तब तक हूणों का पता न लगा हो।

छठी शताब्दी ईसवी—मैक्समूलर, हरप्रसाद शास्त्री, हीगले ... विद्वान् कवि को छठी शताब्दी ईसवी का मानते हैं। इन सबने कवि को यशोधर्मा का समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिसके मतों का विरोध करते हुए ए० बी० कीथ और बी० सी० मजूमदार ने योग्यतापूर्वक कर इस सिद्धान्त का परित्याग करना आवश्यक सिद्ध कर दिया है।

हुएनसाग जो भारतवर्ष में ६२९ से ६४५ ईसवी तक ... लिखता है कि मालव देश में (M ...

समर का वर्णन किया है। अत यह छठी शताब्दी का होना चाहिए। वि
दित्य का समय भी यही ठहरता है। हुएनसांग का शिलादित्य और यह वि
दित्य एक ही व्यक्ति होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों
पराजित किया था। इसी शताब्दी में मालव में यशोधर्मदेव एक पराक्रमशा
राजा हुए थे। इनके मंदसोर के लेख से मालूम होता है कि इन्होंने मि
नामक महायशी हूण राजा को हराया था और राजाधिराज परमेश्वर की
अपने नाम के साथ जोड़ी। अत यही कल्हण के विक्रमादित्य और ह
के शिलादित्य है। पराजित हूणों की प्रशंसा और मलयवती मे शक नाम
होगा। मातृगुप्त ही अत: कालिदास हुए।

इस सिद्धान्त पर आक्षेप यह है कि हुएनसांग का मोलापो देश कौन सा है
हुएनसांग ने उज्जयिनी का पृथक वर्णन किया है। अत मोलापो को
उज्जयिनी नहीं थी। प्रोफेसर सिल्वनलेवी का कहना है कि हुएनसांग ने
बहुत प्रशंसा की है वह यशोधर्मन नहीं अपितु वलभी का पहला शिलादि
होगा। राजतरंगिणी का प्राचीन इतिहास अविश्वसनीय है यद्यपि
नहीं—यह सिद्ध हो चुका है। एक और भी बात है—यदि यशोधर्मन ही वि
दित्य होता तो राजाधिराज परमेश्वर की तरह विक्रमादित्य की उपाधि का
तो नहीं छोड़ जाता। इसको शकारि बिलकुल नहीं कहा जा सकता
ईसा की छठी शताब्दी में शकों का नाम कहीं नहीं मिलता। यदि मातृगुप्त
कालिदास होता तो कल्हण ने जो १०० श्लोक मातृगुप्त के वर्णन में लिखे
नहीं तो कालिदास होने का प्रसंग देते। मातृगुप्त ने प्रवरसेन के लिए
नहीं रचा क्योंकि राजतरंगिणी में इसका उल्लेख नहीं है। कल्हण ने यह भी
है कि प्रवरसेन और विक्रमादित्य में दुश्मनी थी और प्रवरसेन के सिंहासन
आते ही उसके आग्रह करने पर भी मातृगुप्त वहाँ नहीं रहा।

कवि ने मेघदूत में दिङ्नाग शब्द प्रयुक्त किया है। टीकाकार इस
से एक प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक का जो छठी शताब्दी में हुआ प्रसंग मानते हैं
इसी से वे कवि का समय छठी शताब्दी निर्धारित करते हैं।

कवि ने कभी-कभी श्लेष का उपयोग अवश्य किया है पर बाण और
की तरह प्रचुर मात्रा में कभी नहीं। दूसरी बात यह कि 'दिङ्नागानाम्
से यदि कवि का आशय होता तो वह बहुवचन का प्रयोग करता। यदि दिङ्
नाग को व्यक्ति विशेष मान भी लिया जाए तब भी इससे कवि के समय पर
प्रकाश नहीं पड़ता। इसपर बौद्ध प्रोफेसर मैक्डानल दिङ्नाग को ई० सन्
५०० के लगभग मानते हैं। वामन ने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उल्लेख किया है कि

दिङ्नाग का गुरु वसुबन्धु महाराज चन्द्रगुप्त का मंत्री था। अतः
शताब्दी ईसवी के बीच में तथा दिङ्नाग ४ शताब्दी के अन्तिम भाग

अतः कालिदास का समय न पाँचवीं शताब्दी है, न छठी और न शताब्दी ईसा पूर्व। जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया जा चुका है, कवि पर वात्स्यायन के कामशास्त्र का काफी प्रभाव था। वात्स्यायन का काल तीसरी शताब्दी ईसवी है। (कर्तर्या कुन्तलः शातकर्णि शातवाहनो देवी मलयवती (जघान) कामसूत्र २।७)—इस सूत्र के आधार निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कामसूत्र की रचना तीसरी शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकती। कालिदास के ग्रन्थों में कामसूत्र के अनेक व्याख्या मिलती है।

कवि ने वात्स्यायन का उल्लेख किया है। कुमारसंभव के अष्टम सर्ग के विशेषकर ८–१० १४–१९ २२ २१ २५ ८३ ८६ ८८ कामसूत्र के स्थलों की व्याख्या-जैसे है। अतः जब तीसरी शताब्दी में वात्स्यायन हुए तब इन सूत्रों का प्रचार होते-होते एक शताब्दी बीत गई होगी। अतः कवि चौथी का होगा। दूसरे शब्दों में कवि का गुप्तकाल में होना अधिक सम्भव है इस सिद्धान्त को आवश्यक प्रमाण देते हुए अब देखना है कि कहाँ तक उनका गुप्तकालीन होना ठीक बैठता है।

मासकर्य आधार

(१) प्रभामण्डल—कालिदास ने प्रभामण्डल [1] छायामण्डल [2] तथा स्फुरत्प्रभामण्डल [3] का उल्लेख किया है। उत्तरी भारत में प्रभामण्डल का वास्तविक प्रदर्शन मूर्तिकला में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो कुषाणकाल से प्रारम्भ होता है। गुप्तकाल के प्रारम्भ में यह सर्वसम्मत रूप धारण कर सामान्य वस्तु हो जाता है। पहले मूर्तियों के पीछे जब दिखाया जाता था वही गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमा का
और सारनाथ

छायामण्डल[1] पत्रावली से संकेत किया है। कुषाण काल में यह विशेष सुविकसित हुआ था। सारनाथ के संग्रहालय में इसका नमूना पाया जाता। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी पुस्तक (Gupta Art) में इस पर प्रकाश डाला है।

(२) शंख और पद्म—कालिदास ने घर के द्वार पर शंख तथा पद्म के चित्रों का उल्लेख किया है। यक्ष ने मेघ को अपने घर की पहचान ही बताई है। गुप्त कला की यह विशेष वस्तु है जो देवगढ़ के मन्दिर में पाई गई है। बाहर की तीन दीवारों के द्वार पर (रथिका बिम्ब) जहाँ योग शेषशायी विष्णु और नर-नारायण दिखाए गए हैं वहाँ शंख और पद्म भी उत्कीर्ण रूप में सम्यक् प्रदर्शित है[2]। तत्कालीन मथुरा के अनेक में पद्मलता-युक्त पद्म और शंख देखने को मिलते हैं। कुषाणकाल की में यह सामान्य रूप से प्रचलित नहीं था। यद्यपि कहीं कहीं शंख और देखे जाते हैं पर वे द्वारोपान्त पर नहीं हैं तथा पत्रलता (running scroll) का कहीं चिह्न प्राप्त नहीं होता। अवश्य ही कवि ने तत्कालीन अनि- चित्रों को ही देख कर इन्हें अपने काव्य में स्थान दिया होगा।

(३) गंगा तथा यमुना की आकृति—कालिदास ने चामर हाथ लिए गंगा और यमुना को[3] दिखाया है। चामरग्राहिणी यह दोनों मूर्ति कुषाणकाल के पश्चात् गुप्तकला में शुरू की गई थीं। मथुरा और लखनऊ संग्रहालयों में इस प्रकार की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। गुप्तकाल के मन्दिरों द्वार कोमल विटप बल्लरी पत्रलता पुष्पावली आदि से अलंकृत मिलते। देवगढ़ के मन्दिर में इन सब के विविध उदाहरण देखे जा सकते हैं। वासुदेवशरण का कहना है कि हमारे पास इस बात का निश्चित प्रमाण है चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०) के शासनकाल में गंगा और यमुना मूर्तियों की अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई। उदयगिरि गुहा में जहाँ वराहावतार का उद्धार करते दिखाए गए हैं वहाँ विष्णु संगीत एवं आनन्दोत्सव के साथ ।

१ छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥
—रघु० ४।५

२ V S Agrawala Gupta Art (1947) Pl. XII & XI

३ कुमार० ७।४२

गंगा-यमुना' का अवतरण भी प्रदर्शित किया गया है जो गुप्त वंश की उन्नति का प्रतीक है[२]।

(४) विष्णु का वामन रूप—रघुवंश में कालिदास ने रानियों के स्वप्न का इस प्रकार वर्णन किया है—

> गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
> जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ —रघु० १०।६०

इस श्लोक मे गुप्त काल की कला को साक्षात् रूप से अभिव्यक्त किया है। इसमें तीन बातें ध्यान देने की है—(१) आयुध आयुध रूप में न होकर आयुध पुरुष के रूप मे चित्रित है। (२) इनका आकार 'वामन (छोटा बौना) है। (३) सब मूर्तिमान् है और किसी चिह्न से लांछित। ये तीनों गुण जो उपरोक्त श्लोक की प्रमुख विशेषता है, सबसे पहले गुप्त काल की विष्णु की मूर्ति में पाए जाते है। मथुरा संग्रहालय मे इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस संग्रहालय में संग्रहीत विष्णु की मूर्तियों में कुषाण काल एवं गुप्त काल का भेद भली भांति देखा जा सकता है। कुषाण काल की विष्णु की मूर्ति में आयुध अर्थात् शंख चक्र, गदा आदि अपनी स्वाभाविक अवस्था में है, परन्तु गुप्त काल की मूर्तियों में येही आयुध विशेषकर गदा और चक्र मानव आकार में विष्णु के दोनों ओर, वामन रूप में प्रदर्शित किए गए है परन्तु ये दोनों आकार ऊपरी रेखाओं में गदा और चक्र ही प्रतिभासित होते है।

---

१ V S Agarwal Gupta Art (1947) figs. 6 & 7

२ We have definite proof that the figures of Ganga and Yamuna had begun to be carved in the reign of Chandra Gupta II (375–413 A. D) as in the Udaigiri cave depicting a colossal figure of Mahavaraha in the act of lifting the earth, we find two flanking scenes showing the descent of Ganga and Yamuna on earth to the accompaniment of celestial music and universal rejoicing. The rivers Ganga and Yamuna seem to have become

कालिदास ने केवल कल्पना का आधार लेकर इस श्लोक को नहीं अपितु उन्होंने विष्णु की मूर्तियों को अच्छी तरह ध्यान में रखा है।

(५) शेषशायी विष्णु, विष्णु के ही अवतार—राम कृष्ण ... कार्तिकेय आदि सर्वप्रथम गुप्तकला में ही चित्रित मिलते हैं। कवि ने विष्णु 'भोगिभोगासनासीनम्' दिखाया है और लक्ष्मी को पैर सहलाते हुए[१]। वि- ऐसी ही मुद्रा कवि ने अवश्य किसी मूर्ति में देखी होगी।

देवगढ़ के मन्दिर में विष्णु को शेषासीन दिखाया गया है और शेष का फन पीछे छायामंडल के रूप में जो है वह सहसा कवि के ... 'फणामणिद्योतितविग्रहम्'[२] की ओर ध्यान केन्द्रित करता है इसका एक बैठी हुई लक्ष्मी के करों में है। ... यह वस्त्र में चित्रित ही कवि द्वारा ... इसी मन्दिर के एक द्वारोपान्त भाग में विष्णु के पैरों को दबाती ... भी दिखाई गई है।

रघुवंश में कवि की पंक्ति 'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन'[३] फिर गुप्त-कला की ओर ध्यान आकर्षित कर देती है। मथुरा के संग्रहालय में मयूरारूढ कार्तिकेय का नमूना देखा जा सकता है। कुषाणकाल की मूर्तियों में मयूर नहीं मिलता गुप्त काल की मूर्तियों में वे मयूरारूढ देखे जाते हैं[४]।

कपालाभरणा काली[५] का ... गुप्त युग की सामान्य आकृति है। ... प्रकार अर्धनारीश्वर[६] कैलास को उठाए रावण[७] सब गुप्तकला के ... हैं। एलोरा में काली की विशाल भयानक आकृति देखी जा सकती है और ... संग्रहालय में कैलास को उठाए रावण का सुन्दर नमूना है[८]।

---

१ रघु० १० १०।७-८ २ रघु० १०।१

३ रघु० ६।४

४ V S Agrawala A Handbook of the sculptures in the Mu... of Archeology Mathura (1939) Fig 40 A ... example of the Bharat Kala Bhawan Banaras.

५ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय 'ललितकला' ।—कुमार० ७।३९ रघु ११।११

६ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय ललितकला ।—कुमार ७।३२ १८

७ पूर्वोल्लेख देखिए, अध्याय ललितकला ।—कुमार ६२

८ Mathura Art Museum N 2577 V S Agrawala Images in Mathura J I L O A (1937) p. 127 Pt. X (Fig 1)

इसी प्रकार खिले कमल पर खड़ी[1] या कमलदंड हाथ में लिए हुए[2] या कमलनाल के साथ क्रीड़ा करती[3] लक्ष्मी जो कवि के ग्रन्थों में मथुरा और अन्य संग्रहालयों में देखी जा सकती है। ललितकला मूर्तिकला विभाग में इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है। संग्रहालय में कामदेव और रति की भी सम्मिलित मूर्तियाँ हैं।

कवि ने कुमारसंभव में शिव की समाधि का जो वर्णन किया है बोधिसत्व की प्रतिमाओं से बहुत समानता रखता है। ये मूर्तियाँ कुषाण से ही प्रारंभ हुई हैं[4]।

(६) मध्य में नीलमणि पिरोई हुई मोतियों की माला— गुप्त काल के आभूषणों में मोतियों की एकावली मुख्य है जिसके बीच में पिरोई हुई रहती थी। अजन्ता पेंटिंग में स्त्री और पुरुष दोनों के कंठ में मालायें देखी जाती हैं। कवि ने रघुवंश में चित्रकूट से बहती हुई गंगा को नायिका के गले में पड़ी मुक्तावली की संज्ञा दी है[5]। पूर्वमेघ में मुक्तावली के बीच में पिरोई हुई इन्द्रनीलमणि का स्पष्ट उल्लेख है[6]। चर्मण्वती का जल पीता मेघ ऐसा प्रतीत होगा मानों पृथ्वी के गले में पड़ी मुक्तावली के बीच बड़ी-सी इन्द्रनील मणि पोह दी गई हो। इसी प्रकार मोती की माला के बीच नील-मणि का प्रसंग रघुवंश में एक स्थान पर और भी प्राप्त होता है[7]। अजन्ता में अवलोकितेश्वर की मूर्ति में मुक्तावली के बीच में नीलमणि पिरोई मिलती है। कवि ने भी अनेक स्थानों पर इन मालाओं का प्रसंग किया है। गंगा और यमुना का संगम तक कवि को इन्द्रनीलमणियों से गुँथी माला के समान लगता है[8]। अतः गुप्त काल की यह विशेषता कवि का सामान्य गुण है।

(७) मृण्मूर्तियाँ—अभिज्ञानशाकुन्तल में 'वर्णचित्रिता मृत्तिकामयूर' का प्रसंग है। उसके लावण्य की प्रशंसा भी की गई है। मथुरा-संग्रहालय में एक

---

१ रघु० ५।१४ १०।८ २

४

मृण्मय मयूर प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि शुंग काल में मिट्टी आदि देखे जाते हैं परन्तु गुप्त काल से ही इन पर तूलिका प्रारंभ हुआ है।

राजघाट में कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिन पर रंग प्रयोग का चिह्न मिलता है। एक स्त्री को साड़ी लाल और धारों में दिखाई गई है और कुच-पट्टक काला। एक बच्चे को जिसका काकपक्ष कई रंगों को मानो धारियों में पृथक् दिखाया गया है। की मूर्तियों पर उनके शरीर के आभूषण का रेखाओं से ज्ञान अन्य मूर्तियों में भ्रू और पलक काली दिखाई गई हैं[1]। गुप्त काल प्रारंभ हुई है यह अजन्ता की गुफाओं से भी सिद्ध होता है। कवि की मूर्तियों का प्रसंग किया है जिनका रंग फीका पड़ गया है[2]।

(९) चतुःस्तम्भ—चार स्तंभों पर आश्रित छोटा-सा घर भी बना रहे गुप्त कला की विशेष वस्तु है। कवि ने प्रतिष्ठित विमान[3] कहा है। इसी वस्तु को काम में और स्पष्ट 'भावमण्डप' कहकर इसका परिमाण स्पष्ट किया और वास्तावलि से आधार की अभिव्यक्ति कर 'इस पर मोतियों लड़ी की लटकाकर उसके सौन्दर्य का भी परिचय दे दिया'[4]। में इसकी प्रतिकृति देखी जा सकती है[5]।

(१० नारी अंग-सौष्ठव—कालिदास द्वारा वर्णित पयोधरों का पीवर एवं पीन होना पृथक् दिखाता है। वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उनके स्तन पीन होकर इतने सट बीच में कमलनाल का एक सूत्र भी नहीं समा सकता था[1]। मूर्तियों में यह विशेषता नहीं मिलती है। गुप्तकाल की — मिलती है।

---

१ V S Agrawala Rajghat Terraccotas J U P (July 1941) P 9

२ [illegible]

३ रघु० १०।१९ ४ [illegible]

५ V S. Agrawala Art (1947) p 24 Fig 26

६ [illegible]

(११) केशविन्यास प्रणालियाँ— 'वेशभूषा' नामक अध्याय में । प्रकार की केश-रचनाओं पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ में उनकी पुनः कर कवि के समय पर कि वह निश्चय ही गुप्त काल प्रकाश डाला जायेगा ।

अमरकोश में अलक का अर्थ चूर्ण कुन्तल आया है। कवि ने , के बालों का वलीभृत[1] विशेषण वह अलक की व्याख्या घुँघराले स्पष्ट की है। कुंकुम कपूर आदि के चूर्ण से अर्थात् इनके पीछे अवलेप से बाल मरोड़ कर छल्लेदार बनाए जाते थे। रघुवंश में केरल देश की स्त्रियों के के सम्बन्ध में कवि ने चूर्ण का उल्लेख किया है[2]। लटों को अलकों के रूप आने से उनकी लम्बाई कम ही जाती होगी। कवि ने विरहिणी वनिताओं के को लम्बालक[3] कहा है। अर्थात् पति के विरह में शृंगारादि परित्यक्त देने से चूर्ण स्नान करने से और तैलादि का प्रयोग न करने के कारण केश लम्बे होकर बार-बार कपोलों पर आ जाते थे[4]। यह अलक विशेष प्रकार का केशविन्यास गुप्त काल की मृण्मयी नारी-मूर्तियों में देखा जा सकता है[5]।

इसी प्रकार एक और प्रकार की केश-विन्यास प्रणाली 'बर्हभार केश' था[6]। देवी और कालिदास दोनों ने इसे विशेष प्रकार की केशरचना कहा है। श्री वासुदेवशरण का कहना है कि इसमें माँग के दोनों ओर कनपटी तक लहराती हुई कुछ पट्टियाँ मिलती हैं। वे ही छोर पर ऊपर को मुड़कर घूम जाती हैं। देखने में यह मोर की लहराती पूँछ-सी मालूम होती है। कालिदास का 'बर्हभार' से इसी प्रकार की केशविन्यास प्रणाली से आशय है। यह प्रणाली भी कुछ मूर्तियों में देखी जा सकती है[7]। कुषाण कला में यह प्रणाली नहीं मिलती।

कवि ने अलकों को मुक्ताजाल ग्रथित[8] भी दिखाया है, यह भी गुप्त कला में ही देखने को मिलता है। कुषाण काल में इसका पता नहीं चला है।

(१२) हंसदुकूल—गुप्तकाल में हंस सामान्य रूप
अजन्ता पेंटिंग में कपड़ों पर

में कलहंसलक्षण दुकूल[1] हंसचिह्नदुकूल[2] आदि शब्दों का प्रयोग कर दी है कि वे गुप्त काल के ही थे।

भाषा सम्बन्धी आधार

(१) कीचक—कालिदास ने कीचक शब्द का प्रयोग अनेक किया है[3]। विशेष प्रकार के बाँसों को कीचक कहते थे। डाक्टर बागची ने किया है कि संस्कृत का कीचक शब्द चीनी भाषा से स्वाभाविक परिवर्तन के लिया गया है। लगभग गुप्त काल या इससे कुछ पूर्व यह शब्द संस्कृत में होगा। प्राचीन चीनी शब्द (kiook) को—चाक (की आदि था। श्री सिल्वन लेवी ने पहले पहल इस पर विचार किया था[4]।

(२) अप्रतिरथ—कवि ने इस शब्द का अभिज्ञानशाकुन्तल में साथ प्रयोग किया है। कण्व का शकुन्तला के प्रति वचन—

मूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण साधं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥

अदिति का राजा दुष्यन्त को आशीर्वाद—'वत्स अप्रतिरथो भव'[5]।
भरत के प्रति शुभकामना—

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः।
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ॥ —अभि० ७।३

नवमें भी अप्रतिरथ शब्द प्रयुक्त हुआ है। जो समुद्रगुप्त[6] का कहना है, शब्द कवि को इसलिए प्रिय है कि यह वास्तव में गुप्तवंश की विभूति है। गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में इसका स्पष्ट उल्लेख है—पृथिव्यामप्रतिरथस्य। अश्वमेधी मुद्रा पर अंकित है—राजाधिराजः पृथिवीमवित्वा दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः उसके समय अप्रतिरथ विक्रमादित्य का यह अभिमान है—

क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।

---

१ कलदुकूल कलहंसलक्षणा... —कुमार० ५
२ आमुक्ताभरणः ... हंसचिह्नदुकूलवान्। —रघु० १७।२५
३ रघु० २।१२, ४।७३ कुमार १।८
४ डाक्टर सुनीतिकुमार चटुर्ज्या—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० ७
५ अभि० ७।२०
६ अभि० अंक ७ पृ० १८९
७ कालिदास डॉ० वासुदेवशरण... पृ० २४

(१) पाटलादेशि—रघुवंश का श्लोक है—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ —रघु० ४

रघुवंश की प्रायः सभी प्रतियों में यह पाठ 'पाटलादेशि' मिलता है। 'कपोलपाटलादेशि' पाठ शुद्ध है। कई हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में ।
ही पाठ है। प्रोफेसर रामसुरेश त्रिपाठी (सनातन धर्म कालेज कानपुर
पास रघुवंश की एक जीर्ण हस्तलिखित प्रति है उसमें पाटलादेशि पाठ है।
यह है कि हूण वीर जब मर जाते थे उनके कपोलों के दोनों ओर छिद्र कर
जाते थे जिससे खून की धारा बह पड़ती थी। हूणों की इसी सामाजिक रीति
संकेत कवि ने यहाँ किया। इस दृष्टि से 'कपोल-पाटलादेशि' पाठ ही शुद्ध
मल्लिनाथ आदि ने पाटल पाठ मानकर 'पाटलिम्ना' अर्थ किया है जो एक स
स्पष्ट् भ्रम है। इस उदाहरण के आधार पर डाक्टर वासुदेवशरण जैसे वि
कालिदास को निश्चित रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में मानने की ओर
हैं। यह अन्वेषण अभी अगस्त १९५५ में हुआ है।

साहित्यिक प्रमाण

अभी हाल में ही श्री चन्द्रबली पाण्डे की एक पुस्तक 'कालिदास' प्रका
हुई है जिसके अनुसार भी कालिदास का समय चन्द्रगुप्त द्वितीय का स
ठहरता है।

राजशेखर का एक सूत्र है—

महानगरेषु च काव्यशास्त्रपरीक्षार्थं ब्रह्मसभाः कारयेत्।
तत्रपरीक्षितोत्तीर्णानां ब्रह्मरथयानं पट्टबन्धश्च। श्रूयते
चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा
इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ ।

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः ।
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना ॥

—रामचरित गायकवाड़ ग्रन्थमाला

कवि अभिनन्द इसी शकारि के सम्बन्ध में आगे कहते हैं—

शकभूपतिरिरमन्तरं कमपि कुरु पविममंकमा ।
युवराज इवामीषितो नृपतिः काव्यकलाकुतूहली ॥

—रामचरित

इस नृपति के विषय में उनका कहना है—

नमो नपतिचन्द्राय पृथ्वीपालाय येन सा ।
विकासमस्मिना दिशु दर्शिता कविपद्धतिः ॥—रामचरित

अत अभिनन्द की दृष्टि में पृथ्वीपाल नृपति चन्द्र ही शकारि और कवि की ख्याति के कारण है। उनका कथन है कि कालिदास की कीर्ति म का ह्रास है और उनके द्वारा उक्त कवि को ख्याति मिली है। दूसरी भी कथन है कि राजा विक्रमार्क की कवि कालिदास ने व्याख्यात किया—

अस्मोपश्रमदेव रामनृपातम्पश्चिम कर्मासिम ।
व्याख्यातः किल कालिदासकविना श्रीविक्रमार्को नृप ॥ (

अत कालिदास का एक ओर 'शकारि' से सम्बन्ध है दूसरी ओर से। इतिहास-वेत्ताओं का कथन है कि विक्रमार्क ही शकारि था अब सिद्ध यही करता है कि विक्रमार्क या शकारि चन्द्रगुप्त ही है।

'हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्' से विदित है कि काव्यकार भी था क्योंकि यह परीक्षा काव्यकारों की था। हरिचन्द्र के में बाण का कहना है 'भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते' (हर्षचरित उच्छ्वास)। पश्चात् कवि महेश्वर अपने विश्वप्रकाश कोश को लिखता है—

श्री साहसांकशशांकधवलकविचन्द्रवैद्यविद्यापदेन विभाते ।
चरकन्यासकर्ता हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलंचकार ॥ (

श्री साहसांक श्री जयदेव के अनुसार कवि भी था—

ख्यातो यश्चिरमीमिलो वररुचिः श्री साहसांकः कविः
मेण्ठो भारविकालिदासतरला स्कन्दः सुबन्धुश्च यः ।

—सूक्तिमुक्तावली

स्वर्गीय पण्डित वैजनाथप्रसाद मिश्र जी ने ... की ... वर्ली शादी के पास अभिज्ञानशाकुन्तल की अत्यन्त पुरानी ... सम्वत्

वि० की हस्तलिखित प्रति है, उसका निम्नलिखित लेख भी श्री के अनुसार चन्द्रगुप्त के पक्ष में अधिक है।

'आर्ये रत्नमालविशेषरीसामुरो श्रीविक्रमादित्यस्य भूमिच्छेयं परिषद्। अस्यां च पस्मातव्यमस्मामि'।"

इससे साहसांक और विक्रमादित्य की एकता सिद्ध होती है। गुप्तवंशी है यह निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध हो जाता है—

> हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
> लक्षं कोटिमलेखयत्किल कली दाता स गुप्तान्वयः॥
> —एपिग्राफिया इण्डिका भाग १८ पृ० २४८

गुप्तान्वय साहसांक का साहस बाण के कथन से भी स्पष्ट है। उच्छ्वास परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्च चन्द्रगुप्त शकपतिमशातयदिति। (५५ षष्ठ उच्छ्वास)।

इसी को टीकाकार शंकर कवि और स्पष्ट कर देते हैं—

शकानामाचार्य शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादितः।

अत चन्द्रगुप्त ही साहसांक विक्रमादित्य और शकाराति हुआ।

एक समस्या और भी है—राजशेखर का कथन है—गतः साहसांको नाम राजा (काव्यमीमांसा अध्याय १० पृ० ५०)। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त को मगध का सम्राट् या उज्जयिनी का राजा कैसे हो सकता है? डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—

मालव और सुराष्ट्र विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने उन प्रान्तों के लिए चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर पट्टलेख इस प्रकार लिखा है—

परमभागवत—महाराजाधिराज—श्री चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में विक्रमांक विरुद का प्रयोग भी किया

श्री गुप्तकुलस्य महाराजा

सिद्ध ही

दिग्विजय माना है। श्री चाडवली पाण्डे का कथन है कि ... के कवि हैं और इसी को आप अपने काव्य में दिखाते हैं[1]। मैं हम उनके प्रमाण देंगे।

(रघु० ४।४९-५२) इन श्लोकों को इसी सर्ग के १०वें मिलाइए—

> पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
> इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥

१० वें श्लोक में वे संयमी हैं परन्तु ४९ से ५२ तक पारस में उनका अर्जवम है। श्री चाडवली पाण्डे का कहना है कि ... खेत्र का स्वगुरपुर निवास होना था। समुद्रगुप्त भी ... दिग्विजय है और समुद्रगुप्त की गमुराल को कदम्बकुल में ... के कीर्तिविगुप्त राजा काकुस्थ वर्मा की प्रशस्ति में कहा गया ... द्वारा गुप्तकुल को उजागर किया[2]। ... इनका ... के किसी व्यक्ति के साथ कोई कदम्बकुल की कन्या ब्याही गई ... इसको समुद्रगुप्त ही मानते हैं। इसका आधार वे एरण का ...

> दत्तास्य पौरुषराक्रमदत्तशुल्का ...
> निर्यं गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रमणी कुलवधूः ...
>
> —हैदेर

इसके अनुसार दत्ता या दत्तदेवी को ... में पतिदेव पराक्रम की ही प्राप्ति हुई थी। इसका सीधा अर्थ यही ... इस योग्य नहीं हुए थे कि उनको पराक्रम से परिपूर्ण कर ...

इसी प्रकार पारसीक (रघु० ४।६०) भी इस ... जाता है। पारसीक कूटनीति के बल से ... उधर ... और वे पराजित हुए। कालिदास ने इसकी ... मधुवनी के ... के समान वर्णन किया है ... है कुछ पहले ... था वा नहीं। आज भी ... उस के समान कहीं किया न देखा जा सकता है।

---

1. कालिदास चाडवली पाण्डे पृ० १९
2. कालिदास चाडवली पाण्डे पृ० १८ डिटेक्टर ... का अभिलेख एपिग्राफिया इण्डिका ...
3. कालिदास चाडवली पाण्डे पृ० १९

मि० की हस्तलिखित प्रति है, उसका निम्नलिखित लेख भी भी के अनुसार चन्द्रगुप्त के पक्ष में अधिक है।

'आर्ये रसमावविशेषदीक्षागुरो श्रीविक्रमादित्यस्य भूमिष्ठैर्व परिषद्। अस्यां च . . . . . यस्यावयमस्मामि।

इससे साहसांक और विक्रमादित्य की एकता सिद्ध होती है। गुप्तवंशी है यह निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध हो जाता है—

हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
सर्वं कोटिमलेखयत्किल कली दाता स गुप्तान्वय ॥
—एपिग्राफिया इण्डिका भाग १८ पृ० २४८ सञ्जन

गुप्तान्वय साहसांक का साहस बाण के कथन से भी स्पष्ट है। परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्च चन्द्रगुप्त शकपतिमशातयदिति। (पष्ट उच्छ्वास)।

इसी को टीकाकार शंकर कवि और स्पष्ट कर देते हैं—

शकानामाचार्य शकाधिपति चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादित।

अत चन्द्रगुप्त ही साहसांक विक्रमादित्य और शकारि हुआ।

एक समस्या और भी है—राजशेखर का कथन है—सूयते चौर साहसांको नाम राजा (काव्यमीमांसा अध्याय १० पृ ५०)। इसके अनुसार चन्द्रगुप्त को मगध का सम्राट् या उज्जयिनी का राजा कैसे हो सकता है? डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—

मालव और सुराष्ट्र विजय के उपलक्ष्य में चन्द्रगुप्त ने उन प्रान्तों के लिए चाँदी के सिक्के भी ढलवाए थे। उन पर पटधोन इस प्रकार लेख है—

परमभागवत—महाराजाधिराज—श्री चन्द्रगुप्त—विक्रमादित्यस्य।

इसी लेख में विक्रमांक विरुद का प्रयोग भी किया

श्री गुप्तकुलस्य महाराज

सिद्ध हो

दिग्विजय माना है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का कथन है कि कालिदास के कवि हैं और इसी को आप। अपने काव्य में दिखाते हैं[1]। अब हम में हम उनके प्रमाण देंगे।

(रघु० ४।४९–५२) इन श्लोकों को इसी सर्ग के ६०वें श्लोक से मिलाइए—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी॥

६० वें श्लोक में वे संयमी हैं परन्तु ४९ से ५२ तक पाण्ड्य और अपरान्त में उनका असंयम है। श्री चन्द्रबली पाण्डे का तर्क है कि असंयम का कारण केरल का दक्षिणपुर निवास होना था। समुद्रगुप्त की दिग्विजय भी दिग्विजय है और समुद्रगुप्त की मथुरास भी करवारूक में ही है। के नीतिनिपुण राजा काकुत्स्थ वर्मा की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने द्वारा गुप्तकुल की उजागर किया[2]। अत इससे अवश्य प्रकट है कि के किसी व्यक्ति के साथ कोई गुप्तकुल की कन्या ब्याही गई थी।

इनको समुद्रगुप्त ही मानते हैं इसका आधार वे एरण का अभिलेख मानते

दत्तास्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
नित्यं गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रमणी कुलवधू व्रतिनी निविष्टा॥[3]

—कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम इ०

इसके अनुसार दत्ता या दत्तदेवी को दहेज में पतिदेव को मार से पराक्रम की ही प्राप्ति हुई थी। इसका सीधा अर्थ यही है कि सभी इस योग्य नहीं हुए थे कि उसको धनधान्य से परिपूर्ण कर देते।

इसी प्रकार पारसीक (रघु० ४।६) भी इस विषय पर अच्छा . . . डालता है। पारसीक कूटनीति के भय से अतः उनपर अचानक आक्रमण और वे पराजित हुए। कालिदास ने इसकी रात्रि (रघु० ४।६१) मधुपानों के उत्सव के समान वर्णन किया है पर आगामी काल का है कुछ पहले काल का नहीं। आज भी आगामी लड़कों की . . . उत्सव के समान कहो बिना न देखी जा सकती है। पारसीक नाम की

---

१ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ० १९
२ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ १८ विदेशवर श्लोक देखिए—
तालगुंड का अभिलेख एपिग्राफिया कर्णाटिका भाग ७ शिकारपुर १७६
३ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ० १०

काल में सापक होगा । चन्द्रबली जी का कहना है कि संवती
समय में 'पारसीक नहीं पह्लव प्रमुख थे वे और पारस पर
था । हूण भी इस समय थे । अतः रघुवंश के आधार पर यही
का ठीक बैठता है ।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आधार

समुद्रव्यवहारी सार्थवाह का संदर्भ इस प्रकार मिलता है—

'समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः ।
...त्य तपस्वी । राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम् ।
...पत्यता । वेत्रवति । बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम् ।
यदि काचिदापन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात् ।

प्रतिहारी उत्तर देता है—देव इदानीमेव साकेतकस्य श्रेष्ठिनो दुहिता
पुंसवना जायास्य श्रूयते ।

राजा निर्णय देता है—ननु गर्भः पित्र्यमृक्थमर्हति । गच्छ एवममात्यं ब्रूहि ।

—अभि

रघुवंश के सर्ग १९ में भी गर्भ का ही राज्याभिषेक होता है (रघु० १९।५५,
और यहाँ भी गर्भस्थ बालक ही अधिकारी होता है ।

इतिहास इसकी साखी देता है कि पारसीक शापुर जो समुद्रगुप्त
समकालीन प्रतापी सम्राट् था गर्भ में ही अभिषिक्त हुआ था और यहाँ
प्रभावती गुप्ता का शासन अपने बाल तनयों के लिए हुआ था । अतएव
आधारों पर फिर यह कहा जा सकता है कि वस्तुतः कालिदास चन्द्रगुप्त
विक्रमादित्य के राजकवि थे और अपने समय के इतिहास से पूर्ण परिचित थे ।
समुद्रव्यवहारी धनमित्र की चर्चा साकेत के श्रेष्ठी की कन्या है । श्री चन्द्रबली
जी का कहना है कि साकेत का नाम भी साभिप्राय लिया गया है ।
यहाँ तक जाता है कि चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिन ...
सार्थवाह धनमित्र रा ...
गयी ...

मालविकाग्निमित्र का आधार

इस नाटक में महादेवी का नाम धारिणी मिलता है। महाराज की दुहिता श्री प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र से पता चलता है उनका 'धारण' गोत्र में हुआ था। इधर नाटक में भी देवी ... अवरज भ्राता वीरसेन का प्रसंग आया है[1]। अतः धारिणी का ५ वंश से सम्बन्ध था, दूसरी ओर वह वर्धावर कुल की थी।

चन्द्रबली जी का कथन है कि मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र चन्द्रगुप्त को समाज की दृष्टि में ऊपर उठाने के लिए ही लिखा। जैसे विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में चन्द्रगुप्त मौर्य को निखार दिया, वैसे ही अग्निमित्र को कालिदास ने। वृद्ध पिता पुष्यमित्र और रामगुप्त के स्वप्न दिखाकर इस अपेक्ष शासक को प्रजाओं में और धारिणी से परिवार दिखलाना कि यदि बात इतना चित्त । जो अच्छा हो सब उसके अपराध ही लिए है।

इसी प्रकार श्री पाण्डे जी विक्रमोर्वशीय में विक्रम को ... और उर्वशी को ध्रुवदेवी मानते हैं। ज्येष्ठ माता को वे भी माता ध्रुवस्वामिनी मानते हैं। ज्येष्ठ रानी के लिए ... है। नागकुल के शासक अपने को भारशिव कहते थे और ... के पर्याय समझा जा इससे कुछ सम्बन्ध है। स्वर्गीय ... ने भी नागकुल का यह सिद्धान्त स्वीकार किया था[2]।

अतः यहां भारत गतिश्च दोनों ही आधार पर गुप्त काल अर्थात् चौथी शताब्दी ईसवी ठहरता है।

---

१ इण्डि हिस्ट क्वार्टरली भाग ५ संख्या १—मार्च
२ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ० २१
३ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे पृ० १५

परिशिष्ट [२]

कालिदास के समय में काम

कालिदास ने अपने युग के जीवन को विविध रूपों में देखा था।
उन्होंने कथा के व्याज से तत्कालीन राजाओं के त्याग और औदार्य का
किया है, वहाँ जीवन के विलासमय पक्ष का भरपूर वर्णन किया।
में विषय-सुख की अनुभूति के गीत गाने वाला कवि जीवन के इस
निरपेक्ष नहीं रह सकता था। अतः कालिदास की कृतियों में वैवाहिक
का चरम रूप एक ओर मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों की एकरसता का
है, दूसरी ओर उस युग के विषय सुख-भोग के प्रकार पर भी प्रकाश डालते हैं
भारतीय-सभ्यता में काम पुरुषार्थ के रूप में गृहीत है और जीवन में धर्म
अर्थ के समकक्ष ही इसका महत्त्व है। कालिदास के समय की [illegible]
इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विदिशा के सम्भ्रान्त नागरिकों के उद्दाम यौवन
की अभिव्यक्ति वहाँ के शिलागृहों से निकली रतिपरिमल गंध से भरपूर होती
थी और उज्जयिनी जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों की नगर वीथियाँ अभिसारिकाओं की
नूपुर-ध्वनि से गुंजरित रहा करती थीं। महाकाल के मन्दिर देवदासियों के चामर
नृत्य से आकर्षक रहते और नगर के बाहर के उपवन प्रणय के क्रीड़ा-स्थल थे।

कवि ने अप्सराओं से लेकर शिव और पार्वती तक को काम के नैसर्गिक
भाव से आक्रान्त दिखाया और इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्यावहारिक रूप का चित्रण
मनोयोग के साथ किया। उनके मत में बिना काम-क्रीड़ा
व्यक्ति रसहीन है। उनके

था। उन्होंने सकल अपत्य काव्यों में अपनी प्रेयसी से संयुक्त को सुखी माना शरीरधारियों का सुख काम के अधीन है (स्वाधीनं खलु देहिनां — कुमार० ४।१०)।

मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ —पूर्वमेघ ३
रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥—अभि ५।२

आदि श्लोकों में सुखी व्यक्ति से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जिनके समीप प्रणयिनी हो। प्रियाहीन जीवन को—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ —रघु०

के रूप में व्यक्त किया है। काम का जीवन में इतना व्यापक स्थान के कारण और प्रेम का काम से सम्बन्ध होने के कारण कालिदास के निरूपण में काम अति बैठा हुआ जान पड़ता है। ... प्रेम की ... आलिंगन के घेरे में आकर विश्रान्ति पाती है। यदि न काम को ... का स्वाभाविक स्नेह की अभिराम परिणति माना है (... इत्यादि पार्श्व ... —कुमार० ३।३६)। स्नेह की ... परिस्थिति में कालिदास ने प्रणयी के ... से निम्नलिखित व्यापार व्यक्त हैं जो तत्कालीन भारतीय जीवन में व्यापक रूप से देखे जाते थे—

(१) प्रेयसी के लिए हुए मधु को—और मद्य को उसी पात्र में पीना[1]

(२) प्रेयसी के विशेष अंगों में कण्डूति का होना और सींग द्वारा ... विशेष अंगों का स्पर्श[2]।

(३) गण्डूष की क्रिया—प्रणयी का अपने मुख में शराब भरकर मुख में डालना[3]।

(४) बिस द्वारा प्रणयी को रसासुक्त बनाने का दान[4]।

---

१ मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ —कुमार०

२ देखिए, परिशिष्ट सं० १

३ ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा ॥ —कुमार० ३।३७

४ देखिए, परिशिष्ट सं० १

(५) प्रेयसी द्वारा गीत गाना और गीतों के बीच-बीच में प्रेयसी द्वारा चुम्बन किया जाना[1]।

(६) आलिंगन[2]।

जैसा कि देखा जाता है कालिदास ने प्रेम और काम दोनों को यौवन के आरम्भ में कराई है[3]। उनके मत में नारी का यौवन उसकी का स्वाभाविक मंडन है मधु न होते हुए भी मदिरा की तरह मदमत्त करने है जो कामदेव का बिना फूलों का बाण है[4]। इसी प्रकार पुरुष का वनिताओं के नेत्रों से पिए जाने योग्य मधु है, मनसिज तरु का फूल है, ... प्रवाल है, सर्वांग को सुशोभित कर देने वाला अकृत्रिम आभरण है और ... का प्रथम चरण है[5]। किसी अज्ञात मनोहर सुन्दरी के दर्शन से कामदेव ... होता है। उसको देखते ही उसमें अनुराग के पल्लव फूट पड़ते हैं, उसके हाथ साथ से वह मुकुलित हो उठता है प्रेमियों का सर्वात्मना मिलन उसका फल और आस्वाद उसका रस है[6]। नारी के अन्दर उद्बुद्ध होती हुई कामभावना कवि ने अनेक प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है। नारी के प्रथम प्रणय-वचन को न... के प्रतीक से आप इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणाया
> संसर्पन्त्या स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभे ।
> निर्विन्ध्याया पथि भव रसाभ्यन्तर संनिपत्य
> स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ —पूर्वमेघ १

---

१ गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब ॥—कुमार० ३।३८

२ पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्य स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्य ।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ —कुमार०, ३।३९

३ कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् । —अभि० १।२०

४ असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं
कामस्य

उन दिनों स्त्रियों की कांची पहनती थीं उनमें किंकिणी लगी रहती थी और उसे बार-बार ऊपर की ओर सरकाते हुए ढ़ालना कर किसी को आकर्षित करने का यह सरस तरीका था। विशेषकर मौलिश्री के फूल की भी कांची पहनती थीं। वह आकृष्ट किया जाता था। पार्वती ने शिव को इसी प्रकार आकृष्ट

> स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुन पुन ।
> न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वी द्वितीयामिव

कभी कुमारियाँ नृत्य और गीत के द्वारा भी अपने प्रेम मालविका की अभिव्यक्ति इसी प्रकार की थी—

> दुर्लभ प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराशम्हो
> अपांगो मे परिस्फुरति किमपि वाम ।
> एष स चिरदृष्ट कथं पुनर्द्रष्टव्यो
> नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ॥

प्रिय के सम्मुख होने पर आँख फेर लेना किसी बहाने से कर किसी बहाने रुक जाना किसी झाड़ी में न उलझी के रूप में देर तक मुस्काते रहना आदि स्त्री के जाने थे। दुष्यन्त न इन्हीं भावों से शकुन्तला के

मिलन-स्थल

प्रेमियों के मिलने के स्थान मिलन-स्थल ऋतुभेद के अनुसार बदलते रहते थे। कालिदास ने स्थलों को प्रमदवन-भूमि माना है।

पर्वत-प्रदेश—हिम के युग में पर्वतीय प्रदेशों प्रवासी की फिर पर्वतों पर कामेवासना के लिए ही रहीधर उनके क्रीड़ा-स्थान थे। शिव न यदि

---

१ अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्य... विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न —स्त्रीडुरेण कतिपयान्येव गत्वा अकारणं परावृत्तनयना च स्थितेषु

जाते थे तो वे 'तिरस्करिणी' (परदे) का काम करते थे।
करती किन्नरियों की लज्जा बहुत-कुछ बची रह जाती थी[1]।
गृहों में वनिताओं के साथ विश्राम करने वाले वनेचरों के लिए
चमकती ओषधियाँ रात्रि में बिना तेल भरे सुरत-दीप का काम
विदिशा के नागरिक वहाँ की वेश्याओं के साथ उन शिलागृहों में
क्रीड़ा करते थे कि रति-सम्भार की गन्ध से वे भरे जाते थे और
उनमें से रति-परिमल चारों ओर विकीर्ण होता रहता था[3]। हिमालय
मत्स्य नगर के समीप गन्धमादन गिरि था। यक्षों और विद्याधरों का
स्थल था। सन्ध्या समय में और चाँदनी रात में उसकी शोभा अत्यन्त
हो जाती थी जो प्रणयलीला के लिए अति उपयुक्त थी। विवाह के
पार्वती को लेकर इस पर्वत पर भी विहार करने गए थे।
चित्रलेखा यह सूचना देती है कि उर्वशी राजर्षि को साथ लेकर
विहार करने गई है। यह सुन कर सहजन्या कहती है—'सम्भोग
वह है, जो ऐसे प्रदेशों में किया जाय'[४]।

क्रीड़ाशैल—नाम से ही स्पष्ट है कि यह विहारस्थल था। यह कृत्रिम
था। कवि ने इसका एक रेखाचित्र मेघदूत में दिया है। यक्ष मेघ से कह
है, उस बावड़ी के किनारे एक क्रीड़ा-पर्वत है। उसकी चोटी सुन्दर
मणियों के जड़ाव से बनी है। उसके चारों ओर सुनहले कदली वृक्षों का
देखने योग्य है उस क्रीड़ा-शैल में कुरबक की बाड़ से घिरा हुआ माधवी-मण्डप
है, जिसके पास एक ओर चंचल पल्लवों और लाल फूलों वाला अशोक है
और दूसरी ओर सुन्दर मौलसिरी है। इन दो वृक्षों के बीच सोने की बनी हुई
बसेरा लेने की छतरी है जिसके सिरे पर बिल्लौर का फलक लगा है और मूल

१ वनांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया ...
२ दरीगृहद्वारविलम्बि

में नए बाँस के समान हरे थोथा रंग की मरकत मणियाँ जड़ी हैं। ५४ हाथों में बजते कंगन पहने हुए सुन्दर ताल दे-देकर जिसे नचाती है प्रियतमा मीठे कण्ठ वाला मोर सन्ध्या के समय उस छतरी पर बैठता

उद्यान, उपवन और लता-गृह—उपवनों में नागरिकों के तथा विहार करने वाले की परम्परा बहुत पुरानी है। वाल्मीकि हेमभूषिता कुमारियों का नगर के बाहर के उद्यान में जाकर उल्लेख है (अयोध्या काण्ड ६७।१७)। शालभञ्जिका उद्दालक बालपुष्प प्रचायिका आदि क्रीडाएँ उपवनों और उद्यानों में स्त्रियों के खेल थे। फलतः ऐसे उद्यानों की ओर रसिक लोग भी रहते थे। दुष्यन्त जब शकुन्तला के प्रति अपना आकर्षण के है करता है और शकुन्तला के कामविकार को भी व्यक्त करता है वह देता है कि तुमने तो तपोवन को उपवन बना डाला (वनं वनमिति पश्यामि)[१]। स्त्रियों और वारवनिताओं के साथ बाग उपवनों में विहार करते थे। अलका में वभ्राज नाम का ७ तेरे दूतों के लिए प्रसिद्ध था[४]। चैत्ररथ उपवन के का रस लेना उत्तम समझा जाता था[५]। कोयल की कूक से वसन्त के वैभव से सुशोभित विदिशा के उद्यान में विहार कामदेव समझा था[६]।

लतागृह प्रायः प्रणय-व्यापार के लिए ही बनाए गए की कामिनियों और राजाओं के संकेतस्थल प्रायः लतागृह ही मुग्धतम अथवा पुष्पा की छाया किसी रानी की ओर ५ गूढ परिचित रानी थी[७]। कभी-कभी आश्रमों के ५१

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल-कृत हिन्दी अनुवाद—उत्तरमेघ १८,
२ 'लिलया तस्मिन्नवनवरवपुमत्सुहृदे सुरतं' —पूर्वमेघ १०
३ वही अंक २ पृ० ११
४ वैभ्राजाख्यं विबुधवनिता ...
  बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति। —उत्तरमेघ
५ पुष्पासवे चैत्ररथानुवर्ते निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्री।
६ परभृतकलत्रव्याहारैरनुवर्तितमदृ ... ५ ...
७ ... ।—१

के केन्द्र हो जाते थे । दुष्यन्त और शकुन्तला का संसर्ग लताकुञ्ज में ही हुआ था । गौतमी के डर से अलग होती हुई शकुन्तला लतावलय को सम्बोधित करती हुई, परन्तु वस्तुतः दुष्यन्त को पुनः भोग के लिए आमन्त्रित करती हुई कहती है 'लतावलय संतापहारक आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय' [1] ।

नदीतट—नदीतट प्रेमियों के मिलन-स्थान के रूप में सदा से प्रसिद्ध हैं । नदी के किनारे शब्द स्पर्श, रूप रस, गन्ध सभी विषयों का एक साथ समन्वय देखा जाता है । शीतल पवन श्रान्ति को दूर करता है और एकान्त रमणीयता कम उत्तेजक नहीं होती । कवि ने सबका एकत्र समावेश व्यञ्जित किया है—

दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ —पूर्वमेघ ३१

नदीतट अभिसार के उद्देश्य थे । नदीतट के वानीरगृह संकेत-स्थान के लिए परम उपयुक्त माने जाते थे । यों भी वे विश्राम के सुन्दर स्थल थे । किंतु वेतसगृहों के नदीतट सूने लगते थे और प्रेमियों से रहित वेतमण्डप और सरकते थे [2] । गोदावरी के तीर पर स्थित वानीर गृहों को स्मरण करते हुए राम सीता से एकान्त में व्यतीत किए हुए सुखमय दिनों की स्मृति कराते हैं [3] ।

दीर्घिकातट के मोहनगृह—कमलों से भरी हुई बड़ी-बड़ी वापियों के तट पर मोहनगृह (सुरतगृह) बने होते थे । वे प्रायः गुप्त रखे जाते थे । जलकेलि के अवसर पर विलासीजन विलासिनियों के साथ इन गृहों का उपयोग किया करते थे [4] ।

हर्म्य—नागरिक जीवन में यौवन की सरस अनुभूति हर्म्य में अधिकाधिक अभिव्यक्त होती थी । कालिदास ने प्रणय और काम-क्रीड़ा के सन्दर्भ में हर्म्यों के जो चित्र खींचे हैं वे एक ओर तत्कालीन भारत के विलास वैभव के द्योतक हैं और दूसरी ओर भारतीय [illegible] की कला-

कला का शृंगार और सुरुचि का यह संयोग पुरुष और नारी के साहचर्य की तरह रमणीय और स्पृहणीय है[1]।

इन्द्रिय-सुख का उपभोग जिन हर्म्यों में किया जाता था उनमें चित्र रहते थे[2]। वे मणि शोभा (आकृति रचना विन्यास) से युक्त रहते उनके गवाक्षों से स्त्रियों के केश-संस्कार वाले धूम बहा करते थे उनमें सुगन्धि फैली रहती था[4]। बीच-बीच में कान्तिमान् फूलों के गुच्छों से वे रहते थे। उनमें मदन का उद्दीपक वातावरण संगीत होता रहता था[5]। घोष भी होता रहता था[6]। मोर के बसेरा रहने रहते थे[7]। मुँडेर पालतू मोर नाचते थे[8]। वलभियों पर कबूतर विश्राम किया करते थे[9]। यहाँ में उत्सुक रमणियाँ अपने प्रेमी का हाथ-में-हाथ डाले (मालवि॰ ३।२१) प्रवेश करती थीं। वहाँ पृथ्वी पर शय्या बिछाई हुई थी[10]। उस पर हंस की तरह धवल चादर बिछी रहती थी[11]। ग्रीष्म की

---

१ देखिए, पूर्व उल्लेख अध्याय ललितकला

२ तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु संचिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥
—रघु॰ १

३ [illegible] मणिशिलामयं [illegible] ॥
—कुमार॰

४ जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै
बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ —पूर्वमेघ ३६

५ सुरभिगन्धिषु [illegible] विदामर्थ [illegible] मधु।
[illegible] वासभवने [illegible] ॥—मालवि॰

६ [illegible] ।—रघु॰ १६।४०

७ देखिए, मालविका॰ अं॰ १

८ देखिए, मालविका॰ अं॰ ४

९ तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम् । —पूर्वमेघ ४२

१० देखिए, मालविका॰ अं॰ १

११ [illegible] ।
[illegible] —कुमार॰ ८।८२

के केन्द्र हो जाते थे। दुष्यन्त और शकुन्तला का संगम लताकुञ्ज में ही हुआ था। गौतमी के डर से अलग होती हुई शकुन्तला लतावलय को सम्बोधित करती हुई परन्तु वस्तुतः दुष्यन्त को पुनः भोग के लिए आमन्त्रित करती हुई कहती है, 'लतावलय संतापहारक आमंत्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय'[1]।

नदीतट—नदीतट प्रेमियों के मिलन-स्थान के रूप में सदा से प्रसिद्ध हैं। नदी के किनारे शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध सभी विषयों का एक साथ समन्वय देखा जाता है। शीतल पवन श्रान्ति को दूर करता है और एकान्त रमणीयता कम उत्तेजक नहीं होती। कवि ने सबका एकत्र समावेश व्यञ्जित किया है—

> दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
> प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
> यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
> शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ —पूर्वमेघ ३१

नदीतट अभिसार के उपवेश्म थे। नदीतट के वानीरगृह संकेत-स्थल के लिए परम उपयुक्त माने जाते थे। यों भी वे विश्राम के सुन्दर स्थल थे। बिना वेतसगृहों के नदीतट सूने लगते थे और प्रेमियों से रहित वेतसगृह और खटकते थे[2]। गोदावरी के तीर पर स्थित वानीर गृहों को लक्ष्य करते हुए राम सीता से एकान्त में व्यतीत किए हुए सुखमय दिनों की स्मृति कराते हैं[3]।

दीर्घिकातट के मोहनगृह—कमलों से भरी हुई बड़ी-बड़ी वापियों के तट पर मोहनगृह (सुरतगृह) बने होते थे। ये प्रायः गुप्त रखे जाते थे। जलकेलि के अवसर पर विलासीजन विलासिनियों के साथ इन गृहों का उपयोग किया करते थे[4]।

हर्म्य—नागरिक जीवन में यौवन की सरस अनुभूति हर्म्य में अधिकाधिक लक्षित होती थी। कालिदास ने प्रणय और काम-क्रीड़ा के सन्दर्भ से हर्म्यों के जो चित्र खींचे हैं वे एक ओर तत्कालीन भारत के विशाल वैभव के द्योतक हैं और दूसरी ओर भारतीय-संस्कृति की कला-प्रियता के व्यञ्जक हैं। प्रणय और

कला का शृंगार और सुरुचि का यह संयोग पुरुष और नारी के मानवतन की तरह रमणीय और स्पृहणीय है[1]।

रम्य-सुख का उपभोग जिन हर्म्यों में किया जाता था उनमें चित्र रहते थे[2]। व मणि सोपान (आकृति रचना विन्यास) से युक्त रहते उनके गवाक्षों से स्त्रियों के केश-संस्कार वाले धूम उड़ा करते थे उनमें [illegible] सुगन्धि फैली रहती थी[4]। बीच-बीच में कान्तिमान् फूलों के गुच्छे से व रहते थे। उनमें मदन का उद्दीपक सम्भार संग्रह होता रहता था[5]। घोष भी होता रहता था[6]। मोम के [illegible] रंग रहते थे[7]। मुंडेर पर मोर नाचते थे[8]। वलभियों पर कबूतर विश्राम किया करते थे[9]। हर्म्यों में उत्सुक रमणियाँ अपने प्रेमी के हाथ-में-हाथ डाले ([illegible] कुमार० ११२१) प्रवेश करती थीं। कहीं पृथ्वी पर शय्या सजाई हुई थी[10]। उस पर हंस की तरह धवल चादर बिछी रहती थी[11]। ग्रीष्म की ।

---

१ देखिए, पूर्व उल्लेख अध्याय 'ललितकला'

२ [illegible] चित्रवत्सु ।
प्रासादेषु [illegible] मृगाक्ष्यपूर्वम् ॥
—रघु० [illegible]

३ [illegible] मणिसोपानमार्गं [illegible]
—कुमार

४ जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
लक्ष्मीं पश्यंल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ —पूर्वमेघ ३६

५ [illegible] ।
[illegible] ॥—ऋतु०

६ [illegible] ।—रघु [illegible]

७ देखिए, पादटिप्पणी सं० ३

८ देखिए, पादटिप्पणी सं० ४

९ [illegible] ।—पूर्वमेघ ४२

१० देखिए, पादटिप्पणी सं० ३

११ [illegible] ।
[illegible] —कुमार० [illegible]

यह सब छत पर होता था जो सुवासित होती थी[1]। वहाँ ललित गीत गाए जाते थे[2]। कुछ विदिश रसिक कार्तिक की रात्रियों में भी छत के ऊपर वितान तान कर छत पर ही ललितांगनाओं के साथ शरद् की चाँदनी का आनन्द लेते थे[3]। अति समृद्ध व्यक्तियों के गृहों में रत्नदीप जला करते थे जिन्हें बुझाने के लिए रात्रि में लज्जा से अवनत स्त्रियाँ उन पर मुट्ठी में भर-भर कर कुंकुम फेंका करती थीं पर अपने प्रयत्न में असफल रहती थीं[4]। उन महलों में चन्द्रकान्त मणि की झालरें लटकती रहती थीं जिनपर चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से जलबिन्दुओं की फुहार छूटने लगती थी जिससे कामिनियों की रतिश्रान्ति मिट जाती थी[5]।

प्रथम मिलन

अपने देश में कभी ऐसा भी समय था जब नव-परिणीता का अपने पति से प्रथम मिलन एक समस्या हो जाती थी। स्वाभाविक लज्जा स्त्रियों में आज तक ज्यों-की-त्यों है। स्वयं कालिदास ने भी इस लज्जा का पर्याप्त उल्लेख किया है। नव-परिणीता लज्जा में इतनी डूबी रहती थी कि अपने प्रिय की ओर आरम्भ में आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। प्रिय द्वारा देखे जाने पर अपनी आँखें मीच लेती थी। सखियाँ उसे किसी-किसी प्रकार शयनकक्ष की ओर ले जाती थीं। उसकी लज्जा को दूर करने के लिए किसी-न-किसी बहाने उसे हँसाने का प्रयास

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी नं० ५

२ व्रजतु तव निदाघः कामिनीभिः समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु० १।२८

३ कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥—रघु० १९।३९

४ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ —उत्तरमेघ ७

किया जाता था[1]। शयनगृह में पहुँचा दिए जाने पर भी नवोढ़ा का उत्तर नहीं देती थी। उत्तर में प्रायः सिर हिला दिया करती थी। आँचल पकड़ने पर वहाँ से हटने की-सी चेष्टा करती और सोने समय और मुँह फेर कर सोती थी[2]। जब पति अंगुल की ओर हाथ बढ़ाती हुई उसके चंचल हाथों को रोकने लगती थी[3]। परन्तु मिश्रित असहयोग भी पति को कम आनन्द देने वाला न होता था[4] के साथ अधूरे रस को भी पी भरकर पीते थे।

धीरे-धीरे नवोढ़ा की झिझक मिटने लगती थी और जैसे-जैसे झिझक लगता था, वह रति की दुःसहशीलता अनुभव नहीं करती थी तथा शनैः-शनैः का सुमोच रतिषु रागोत्सवाम्)[5]।

उस समय के प्रेमीजनों का अपने प्रणय की अभिव्यक्ति का ढंग था—अपनी प्रेयसी को फूलों से सजाना[6]। मन्दिरों में बालों में कुसुमों के आभूषण पहनाकर वे सौन्दर्य और आनन्द करते थे[7]।

मधुपान के बिना आनन्द अधूरा रह जाता था। कवि ... विविध प्रकारों का सुन्दर वर्णन किया है। कालिदास की का प्रयोग आवश्यक है। उन्होंने इसको अनंगदीपनम् (मदनीयमुत्तमम् 'कामरतिप्रदायकम् (रघु० ११।१०)

---

१ अवसरिमसमग्रामृतमां तत्र गौरी अतनुमदतराणी अपि मदनगतीम्यो वस्तवार्थ कर्णीचित् ॥

२ व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका। सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः

३ ... शयनं ... तदा ... । ... दुकूल ... ॥

४ देखिए, कालिदासी सं० २

५ कुमार० ८।१३

६ ... परिजनानुसुमै प्रसाधन् —... रतिरागिर ... । प्रियमे कुसुमाभरणं ...

यह सब छत पर होता था जो सुवासित होती थी[1]। वहाँ ललित गीत गाए जाते थे[2]। कुछ विशिष्ट रसिक कार्तिक की रात्रियों में भी छत के ऊपर वितान तान कर छत पर ही ललितांगनाओं के साथ शरद् की चाँदनी का आनन्द लेते थे[3]। अति समृद्ध व्यक्तियों के गृहों में रत्नदीप जला करते थे जिन्हें बुझाने के लिए रात्रि में लज्जा से अवनत स्त्रियाँ उन पर मुट्ठी में भर भर कर कुंकुम फेंका करती थीं पर अपने प्रयत्न में असफल रहती थीं[4]। उन महलों में चन्द्रकान्त मणि की झालरें लटकती रहती थीं जिनपर चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से जलबिन्दुओं की फुहार छूटने लगती थी जिससे कामिनियों की रतिश्रान्ति मिट जाती थी[5]।

प्रथम मिलन

अपने देश में कभी ऐसा भी समय था जब नव-परिणीता का अपने पति से प्रथम मिलन एक समस्या हो जाती थी। स्वाभाविक लज्जा स्त्रियों में आज तक ज्यों-की-त्यों है। स्वयं कालिदास ने भी इस लज्जा का पर्याप्त उल्लेख किया है। नव-परिणीता लज्जा में इतनी डूबी रहती थी कि अपने प्रिय की ओर आरम्भ में आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। प्रिय द्वारा देखे जाने पर अपनी आँखें मींच लेती थी। सखियाँ उसे किसी-किसी प्रकार शयनकक्ष की ओर ले जाती थीं। उसकी लज्जा को दूर करने के लिए किसी-न-किसी बहाने उसे हँसाने का प्रयास

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी नं० ५

२ ननु तव निशाम्य कामिनीभिः समेतो निशि मुखरितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।
—ऋतु० १।२८

३ कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥—रघु० १९।३९

४ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः॥ —उत्तरमेघ, ७

किया जाता था[1]। शयनगृह में पहुँचा दिए जाने पर भी नवोढा का उत्तर नहीं देती थी। उत्तर में प्रायः सिर हिला दिया करती थी। आँचल पकड़ने पर वहाँ से हटने की-सी चेष्टा करती और सोते समय और मुँह फेर कर सोती थी[2]। जब पति कंचुक की ओर हाथ काँपती हुई उनके चंचल हाथों को रोकने लगती थी[3]। परन्तु मिश्रित असहयोग भी पति को कम आनन्द देने वाला न होता था[4]। के साथ अधूरे रस को भी वे भरकर पीते थे।

धीरे-धीरे नवोढा की झिझक मिटने लगती थी और जैसे-जैसे मिलने लगता था वह रति की दुर्लभता अनुभव नहीं करती थी रसा शनैः-शनैः सा मुमोच रतिदुर्लभीत्वाम्)[5]।

उस समय के प्रेमीजनों का अपने प्रणय की अभिव्यक्ति का ढंग था—अपनी प्रेयसी को फूलों से सजाना[6]। अलकों में अंगों में कुसुमों के आभूषण पहनाकर वे सौन्दर्य और आनन्द करते थे[7]।

मधुपान के बिना आनन्द अधूरा रह जाता था। रति-प्रसंग विविध प्रभावों का खुलकर वर्णन किया है। कालिदास की का प्रसंग आत्मिक है। उन्होंने इसको 'अनंगदीपनम्' ('मदनोत्सुकम्' 'कामरतिप्रबोधकम्' (ऋतु ५।१)

---

१ नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं ... ।८६
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित्

२. व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ।
३ नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः ।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥
४ देखिए, पादटिप्पणी नं० २
५. कुमार ८।१३
६ तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
—रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमंगेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारुवपुर्न दृश्यते ॥
७ देखिए पादटिप्पणी नं० ६

यह सब छत पर होता था जो सुवासित होती थी[1]। वहाँ ललित गीत गाए जाते थे[2]। कुछ विशिष्ट रसिक कार्तिक की रात्रियों में भी छत के ऊपर वितान डाल कर छत पर ही ललितांगनाओं के साथ शरद् की चाँदनी का आनन्द लेते थे[3]। अति समृद्ध व्यक्तियों के गृहों में रत्नदीप जला करते थे जिन्हें बुझाने के लिए रात्रि में लज्जा से अवनत स्त्रियाँ उन पर मुट्ठी में भर-भर कर कुंकुम फेंका करती थीं पर अपने प्रयत्न में असफल रहती थीं[4]। उन महलों में चन्द्रकान्त मणि की झालरें लटकती रहती थीं जिनपर चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से जलबिन्दुओं को फुहार छूने लगती थी जिससे कामिनियों की रतिश्रान्ति मिट जाती थी[5]।

प्रथम मिलन

अपने देश में कभी ऐसा भी समय था जब नव-परिणीता का अपने पति से प्रथम मिलन एक समस्या हो जाती थी। स्वाभाविक लज्जा स्त्रियों में आज तक ज्यों-की-त्यों है। स्वयं कालिदास ने भी इस लज्जा का पर्याप्त उल्लेख किया है। नव-परिणीता लज्जा में इतनी डूबी रहती थी कि अपने प्रिय की ओर आरम्भ में आँख उठाकर भी नहीं देखती थी। प्रिय द्वारा देखे जाने पर अपनी आँखें मींच लेती थी। सखियाँ उसे किसी-किसी प्रकार शयनकक्ष की ओर ले जाती थीं। उसकी लज्जा को दूर करने के लिए किसी-न-किसी बहाने उसे हँसाने का प्रयास

---

१ देखिए, पिछले पृष्ठ की पादटिप्पणी सं० ५

२ व्रजतु तव निदाघ कामिनीभि समेतो निशि सुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन ।
—ऋतु० १।२८

३ कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥—रघु० १९।३९

४ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुंगानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टि ॥ —उत्तरमेघ, ७ ,

किया जाता था[1]। शयनगृह में पहुँचा दिए जाने पर भी नवोढ़ा प्रिय के का उत्तर नहीं देती थी। उत्तर में प्रायः सिर हिला दिया करती थी। पति आँचल पकड़ने पर वहाँ से हटने की-सी चेष्टा करती और सोते समय भी और मुँह फेर कर सोती थी[2]। जब पति अंशुक की ओर हाथ बढ़ाते काँपती हुई उनके चंचल हाथों को रोकने लगती थी[3]। परन्तु नववधू का मिश्रित असहयोग भी पति को कम आनन्द देने वाला न होता था[4]। वे के साथ मधुर रस को भी जी भरकर पीते थे।

धीरे-धीरे नवोढ़ा की झिझक मिटने लगती थी और जैसे-जैसे उसे मिटने लगता था वह रति की दुःखशीलता अनुभव नहीं करती थी (ज्ञात रसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम्)[5]।

उस समय के प्रेमीजनों का अपने प्रणय की अभिव्यक्ति का एक रूप था—अपनी प्रेयसी को फूलों से सजाना[6]। अलकों में फूल गूँथकर कानों में कुसुमों के आभूषण पहनाकर वे सौन्दर्य और आनन्द दोनों की करते थे[7]।

मधुपान के बिना आनन्द अधूरा रह जाता था। रति-प्रसंग में कवि विविध प्रभावों का खुलकर वर्णन किया है। कालिदास की सम्पूर्ण कृति का प्रसंग अत्यधिक है। उन्होंने इसको 'मदनदीपनम्' (कुमार॰ 'मनोभवमुत्तमम्' 'कामरतिप्रबोधकम्' (ऋतु ६।१०) 'स्मरसखम्' ।

---

१ नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास
—कुमार॰

२ व्याहृता प्रतिवचो न संदधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥ —कु

३ नाभिदेशनिहितः सकम्पया शंकरस्य रुरुधे तया करः ।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥ —कुमार॰

४ देखिए, पादटिप्पणी नं॰ २

५ कुमार ८।१३

६ तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् । —कुमार
—रचितं रतिपण्डित त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारुवपुर्न दृश्यते ॥ —कुमार॰

७ देखिए, पादटिप्पणी नं॰ ६

।३६) आदि माना है। वे इसको 'अबलामण्डनम्'¹ भी मानते हैं। मधु स्त्रियों के नयनों को विभ्रम की शिक्षा देने में दक्ष है²। मद के कारण उनकी आँखें घूमने लगती थीं। वाणी की गति स्खलित होने लगती थी। मधुप्रभावजन्य स्वेद ...ऐश्वर्य से विभूषित युवतियों के मुख को कामीजन नेत्रों से देर तक पिया करते थे³। मधु-जन्य विक्रिया केवल रसिकों को ही सुखद नहीं होती थी सज्जनों को भी मनोहर लगती थी (सतां मनोहराम्)⁴। कालिदास ने मधुपान से बढ़ी हुई रमणीयता को आम्रता का सहकारता में परिणत हो जाना माना है⁵। स्त्रियाँ अपने मुख को सुगन्धित करने के लिए भी मधुपान करती थीं⁶। अपने एक श्लोक में उन्होंने मधु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर दिया है—

> ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
> पतिषु निर्विविशुर्मधुमंगनाः स्मरसखं रसवंचनवर्जितम् ॥ —रघु० ९।३६

वृद्ध भी शक्ति में शैथिल्य आ जाने पर मधु पीते थे। वह विशेष प्रकार से तैयार किया गया रहता था। उसके पीते ही चैतन्य पुनः लौट आता था—

> यत्स कान्तसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
> तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशचित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥⁷ —रघु० १९।४६

निम्नलिखित श्लोक में कालिदास ने मधुपों के ब्याज से मधुपान के सम्पूर्ण वातावरण स्थान समय आदि का संकेत कर दिया है—

---

१. शृणोमि बहुशो मदः किल स्त्रीजनस्य विशेषमण्डनम् इति ।
—माल० अंक ३ पृ० ३०१

२. मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षम् । —उत्तरमेघ १२

३. घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥ —कुमार० ८।८

४, ५. पावनी तदुपयोगसंभवां विक्रियामपि सतां मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ॥ —कुमार० ८।७८

६. पुष्पासवामोदितवक्त्रपंकजाः । —ऋतु ५।५

यस्यां यक्षा सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छाया कुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहाया ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गंभीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥

रति प्रसंग में ग्रीष्म ऋतु में प्राय पुरानी शराब (पुराणसीधुम में जो सहकार की मंजरी के टुकड़े और ताजे पाटल के फूल थी[१] । बागों में पुष्पासव का पान किया करते थे[२] ।

समृद्ध व्यक्ति रत्नजटित के सूर्यकान्त मणि के प्याले में मधु करते समय प्रेयसी अपने प्रिय से सटी सट कर बैठती थी हाथ में लिए मधुपूर्ण प्याले में लहर उठ जाती थी[४] और झिलमिला उठती थीं[५] । उस दिन गंडूष की प्रथा मुख में शराब भरकर प्रेयसी के मुख में उड़ेल देता था और को शराब प्रिय के मुख में डाल देती थी । स्त्रियाँ बहुत थीं और पुरुष भी बकुल दोहद की तरह स्त्रीमुख-मधु के लि

रतिक्रीड़ा—नई ब्याही बहू करते-करते पति के नई ब्याही बहू के साथ संभोग भी धीरे-धीरे किया घबरा न जाए[८] । कालिदास ने इस सूक्ष्म बात म लेकर

---

१ पूर्व उल्लेख देखिए अध्याय 'खानपान
२ पूर्व उल्लेख देखिए अध्याय 'खानपान
३ लौहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रति
स्वामियं स्थितिमतीमुपायता
४ सुगन्धिनिश्वासविकम्पितोत्पलं मनोहरं ।
५ हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली या सिषेवे ।
६ छातिरेकभयकातरं रहस्येन स्तमभिसेतुरंगना
तामिरप्यनुहृतं मुखार्पणं शीधुविन्दु
—मघुमुखार्पितं मधु पीत्वा.........
७ शाम्यतादुपजन्यया कल्पमेव नवनीतया वर: ।
८ शयनं मुकुले महाभुज सद्मोद्वेगमिदं मनोहरि
अचिरोपनतां स मैथिली नवदामिवग्रहणां

प्रसिद्ध अनेक अनुभावों आसनों और प्रकारों तक का अपनी कृति में चित्रण किया है जो कहीं स्पष्ट कहीं प्रतीक के रूप में और कहीं सांकेतिक रूप में है। कालिदास ने संश्लिष्ट रति का पूरा चित्र दिया है[1]। विपरीत रति का संकेत किया है[2]। चित्रमरति का उल्लेख किया है[3]। कंठसूत्र आसन का भी वे नाम ही नहीं देते स्पष्ट अभिव्यक्ति भी कर देते हैं[4]। कहीं कहीं विशेष आसनों की व्यंजना बड़ी मार्मिक है जो तत्कालीन संस्कृति के रम्य स्वरूप का द्योतक है, जैसे उनका निम्नलिखित श्लोक—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥ —कुमार० ७।१९

कवि ने अपने समय में प्रचलित प्रकार (मैथुन) को भी किसी-न-किसी ब्याज से अपनी कृतियों में निःसंकोच स्थान दिया है। एक प्रसिद्ध प्रकार यह है—

तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥ —पूर्वमेघ ४१

मदन के साथ तो सदय-रति थी पर वैसे निर्दय-रति को ही अधिक प्रश्रय दिया जाता था। मेखला गुण छिन्न-भिन्न हो जाते थे नखपात इधर-उधर हो जाते थे केश बिखर जाते थे[5]। अधर का घाव दंशन स्वाभाविक बात थी[6]। तरुणियों के केश आकुल-आकुल हो जाते थे[7] और उनमें गुंथी पुष्पमाला गिर

---

१ शुद्धमैथुनपरस्परमर्दितं छिन्नहस्तसदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम्॥ —कुमार० ८।८

२ कुसुमनारसकर्पूरपूरितं शंकरोऽपि नयनं ललाटजम्।
बन्धुरवतलमलगन्धवे वशी पार्वतीवदनगन्धवाहिने॥ —कुमार० ८।११

३ पूर्वं वभूवुरिवसगाढ़ं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥ —रघु० १९।२५

४ रस निर्णयविमर्शात्मा ७५

जाती थी[1]। रंग-बिरंगे फूलों से बना केशविन्यास उनके केशों के साथ बिखर जाता था और उसको देखकर मयूरपंख की रंगीली शोभा जाती थी[2]।

कामक्रीडा के अन्य व्यापार यथा चुम्बन[3] उरसंवाहन[4] नखक्षत[5] सब का ही उल्लेख कवि के ग्रन्थों में है। दन्तक्षत से पत्नी अथवा के ओठ इतने दुखते थे कि बंसी बजाना भी कठिन हो जाता था[6]। वे स्तनप्रदेश[8] बदन[9] और नितम्ब[10] भर जाते थे।

परन्तु रति का सर्वस्व अधर[11] माना जाता था। कालिदास

---

१ केशपाशं ललितकुसुममाला कुञ्चिताग्रं वहन्ती। —ऋतु ५।१२
२ अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाण ...
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे ...
—रघु
३ किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्संचारयामि ...
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत ...
४ देखिए, पादटिप्पणी नं० ३
५६ नखपदचितभागान्वीक्षमाणाः स्तनान्तानधरकिसलयाग्रं दन्तभिन्नं ...
—ऋतु
—दन्तच्छदैः सव्रणदन्तचिह्नैः स्तनैश्च पाण्यग्रकृताभिमर्शैः।
संसूच्यते निर्दयमङ्गनानां रतोपभोगो नवयौवनानाम्॥ —ऋतु
—वैणवा दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः। —रघु०
७ देखिए, पादटिप्पणी नं० ५६ —रघु० १९।३५
८ स्तन-प्रदेश में नखक्षत के लिए देखिए, पादटिप्पणी नं० ५६
४।१५ ऋतु०, ४।१३
९. बदन प्रदेश के लिए देखिए पादटिप्पणी नं० ५६
—कस्तूरकासमार्गरचितमिलितत्वं हृतविलोचनी हृत।
वासस प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वती प्रियतमामवारयत्॥
१ नितम्ब के लिए—प्रियानितम्बोचितसंनिवेशैर्विपाटयामास युवा
—
११ करो व्यालम्बास्या पिबसि रतिसर्वस्वमधरं।
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ —अभि०, १।२२

गीत गाने में विभोर से जान पड़ते हैं[1] । कवि ने अधर-पान का अत्यन्त सुसंस्कृत प्रकार भी व्यक्त कर दिया है—

> अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन ।
> अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि गृह्यते रसोऽस्य ॥ —अभि०, १।२१

रति की परिसमाप्ति भी चुम्बन से ही होती थी[2] ।

आधार ग्रन्थों की तालिका

१ ऋग्वेद तथा अन्य वेद

२ शतपथ ब्राह्मण

३ ऐतरेय ब्राह्मण

४ शांखायन ब्राह्मण शांखायन ...

५ तैत्तिरीय संहिता तैत्तिरीय ब्राह्मण

६ कठोपनिषद्

७ छान्दोग्य उपनिषद्

८ बृहदारण्यक (उपनिषद्)

९ आपस्तम्ब धर्मसूत्र

१० बौधायन धर्मसूत्र ...

११ गौतम धर्मसूत्र गृह्यसूत्र

१२ वशिष्ठ धर्मसूत्र

१३ शौनक कारिका

१४ पारस्कर गृह्यसूत्र

१५ आश्वलायन गृह्यसूत्र

१६ ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) जैमिनि के

१७ कामसूत्र

१८ मनुस्मृति

१९ याज्ञवल्क्य स्मृति

२० पाणिनि कृत अष्टाध्यायी

२१ शबर तथा कैयट के महाभाष्य

२२ रामायण भगवद्गीता

२३ कादम्बरी—बाण

२४ हर्षचरित—बाण

२५ उत्तररामचरित

२६ राजतरंगिणी

२७ नाट्यशास्त्र

२८ स्वप्नवासवदत्ता

२९ शिशुपालवध

३० नागानन्द

३१ संगीत रत्नाकर

३२ संगीतदामोदर

३३ कौटिल्य का अर्थशास्त्र

३४ अमर कोष

३५ काव्य मीमांसा राजशेखर

३६ अभिज्ञानशाकुन्तल

३७ विक्रमोर्वशीय

३८ मालविकाग्निमित्र

३९ रघुवंश

४० कुमारसम्भव (प्रथम सर्ग ८

४१ मेघदूत

४२ ऋतुसंहार (कालिदास ग्रन्थावली द्वितीय संस्करण सीताराम च...

४३ मल्लिनाथ की टीका—रघुवंश कुमारसम्भव और मेघदूत

४४ कालिदास वी वी मिराशी

४५ कालिदास हिलब्रान्ड

४६ कालिदास : वै

४७ कालिदास अरविन्द
४८ कालिदास मासा
४९ कालिदास रामस्वामी शास्त्री (दोनों भाग)
५० कालिदास एस एम० भावे
५१ कालिदास चन्द्रबली पाण्डे
५२ दि बर्थ प्लेस आफ कालिदास लक्ष्मीधर कल्ला
५३ दि डेट आफ कालिदास के० सी० चट्टोपाध्याय
५४ इण्डिया इन कालिदास बी० एस० उपाध्याय
५५. मेघदूत एक अध्ययन वासुदेवशरण अग्रवाल
५६ कला और संस्कृति वासुदेवशरण अग्रवाल
५७ हर्षचरित —एक सांस्कृतिक अध्ययन वासुदेवशरण अग्रवाल
५८ प्राचीन वेषभूषा डा० मोतीचन्द्र
५९ प्रकृति और काव्य डा० रघुवंश
६० हिन्दू संस्कार राजबली पाण्डेय
६१ आर्य संस्कृति के मूलाधार आचार्य बलदेव उपाध्याय
६२ कल्याण (संस्कृति अंक)
६३ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी डा० सुनीतिकुमार चटर्जी
६४ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास डा० रांगेय राघव
६५. A History of Sanskrit Literature A B Keith
६६ A History of Indian Literature M. Winternitz
६७ A History of Classical Literature M. Krishnamachari
६८ History of Dharm Shastra P V Kane
६९ Cambridge History of India Vol I, Ancient India
७० Hindu Civilization R. K. Mukerjee
७१ Social Life in Ancient India H. C Chakladar
७२ Corporate Life in Ancient India R. C Majumdar
७३ Education in Ancient India Dr A. S Altekar

७९ Culture and Society Merrill & El

८० India s Culture through the Ages

८१ Glories of India on Indian Culture
pachyaya Dr Prasanna Kumar Ac

८२ Kulpati s Letter LXIII

८३ Annals of Bhandarkar Research

८४ Indian Antiquary Vol XXXIX

८५ Mythic Society Vol IX

८६ U P Historical Society Vol XXII Part
XIV (1941)

८७ Journal of the Royal Asiatic Society 19

८८ Annals Oriental Research University M
1941)

---

৭৯. Culture and Society Merrill & Eldredge
৮০ India s Culture through the Ages Mohan Lal v
৮১ Glories of India on Indian Culture and Civil
pachyaya Dr Prasanna Kumar Acharya
৮২. Kulotti s Letter LXIII
৮৩ Annals of Bhandarkar Research Institute Vol VIII
৮৪ Indian Antiquary Vol XXXIX
৮৫. Mythic Society Vol. IX
৮৬ U P Historical Society Vol, XXII Part I & II (
XIV (1941)
৮৭ Journal of the Royal Asiatic Society 1903 190
৮৮. Annals Oriental Research University Madras, Vol.
1941 }
